पातञ्जल महाभाष्य में प्रत्याख्यात सूत्र

एक समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ० मोम[illegible] वेदालङ्कार
प्राध्यापक संस्कृत विभाग
पंजाबी विश्वविद्यालय
पटियाला

प्रस्तावना-लेखक

डॉ० जार्ज कार्डोना
प्रोफेसर भाषा विज्ञान
पेन्सिलवानिया विश्वविद्यालय
फिलाडेल्फिया (अमेरिका)

वितरक
परिमल पब्लिकेशन्स
२७/२८ शक्तिनगर दिल्ली-११०००७

आचार्य विद्यानिधि शास्त्री
व्याकरणाचार्य, साहित्याचार्य, विद्याप्रभाकर,
सिद्धान्तशिरोमणि, दर्शनाचार्य तथा वेदाचार्य

समर्पणम्

प्रणम्य परमात्मान पाणिन्यादिमुनीस्तथा ।
नागेशकैय्यटादीन् स्मृत्वेम च ग्रन्थमारभे ॥१॥

यस्यानुकम्पासम्पादात् पाणिने सपतञ्जले ।
जन्मनैव मया बाल्ये पीत स्फीत पयोऽमृतम् ॥२॥

बालस्वभावचाञ्चल्येऽप्यभूद् यस्य दयोदय ।
यदीयो मधुर स्नेह प्रत्यह समवर्धत ॥३॥

तातपादाश्च मे सन्तोऽप्यभवन् गुरवो मम ।
तदाचार्यकृता नूनमृणा मोक्षमवाप्नवम् ॥४॥

वस्तुतस्त्वस्त्यनिर्मोक्षो ममाचार्यऋणादपि ।
विद्यादातुरत शास्त्रे न क्वचिन्निनिष्क्रयो मत ॥५॥

तदीय वस्तु तत्पादपद्मेष्वेव समर्प्यते ।
प्रीयता तेन देवेश स श्रीमान् भगवानपि ॥६॥

यत्किञ्चिदुत्तम वस्तु ग्रन्थेऽस्मिन् प्रतिपादितम् ।
तत्सर्वं हि गुरोरेव त्रुटयस्तु ममाखिला ॥७॥

विद्यानिधि स भगवान् मम विद्यानिधेर्गुरो ।
असीम नीनतन्त्राद्य दया कृत्वा प्रसीदतु ॥८॥

सम्मतयः

अस्मत्स्नेहसमादरोभयभाजा श्रीमता डॉ० भीमसिंहेन सद्य प्रणीतमिम प्रबन्ध केषुचित् प्रदेशेषु दृक्पातविषयतामनैषम्, मुद चोत्तमामापम्। सर्वत्र श्लक्ष्णा मधुराऽस्य वाक् परमतनिराक्रियायामपि मार्दव नोज्झति। नाय प्रबन्धो क्वचिच्छिष्टशैली विजहाति। पाणिनीयाष्टके क्वाचित्क वर्णाक्षर-प्रक्षेपमुररीकृत्यापि सन्दर्भ प्रक्षेपविरह एव सम्यक् प्रतिष्ठापित इति प्रशस्य प्रयास भाष्येऽपि प्रक्षेप व्युदस्यता विदुषा क्वाचित्क पाठभ्रश साधू-पदर्शित, अष्टाध्यायीगत क्रमव्यत्यासश्च विरलो भाष्यदिशा निर्दिशित। भाष्यकारस्य प्रत्याख्यानशैलीमधिकृत्य विततमुदित भ्रान्तयश्च तास्ता यथा प्रस्ताव प्रत्युदिता। प्रत्याख्यानस्य खण्डनस्य चार्थे विशेष इदम्प्रथमतया व्यक्ति नीत समोहश्च विदामपनीत। आशसे सर्वोलोको भाष्यहृदय जिघृक्षु समादरिष्यत इम प्रबन्ध सोत्सुक चाध्येष्यते।

चारुदेव शास्त्री

"पातञ्जल महाभाष्य मे प्रत्याख्यात सूत्र" शीर्षक ग्रन्थ संस्कृत व्याकरण के गम्भीर और गहन अध्ययन की दिशा मे महत्त्वपूर्ण कदम है। कात्यायन, पतञ्जलि और इस परम्परा के नागेश आदि मूर्धन्य आचार्यों की गहन मान्यताओ को हृदयङ्गम कर लेखक ने पौर्वापर्य का ध्यान रखते हुए उन पर निर्भीक किन्तु तर्कसम्मत समीक्षा प्रस्तुत की है। पतञ्जलि के द्वारा पूर्णत खण्डित सूत्रो को लक्ष्य बनाकर डॉ० सिंह ने पाणिनि और पतञ्जलि का पक्ष ईमानदारी के साथ प्रस्तुत कर फिर स्वतन्त्र रूप से उन पर अपना मत व्यक्त किया है और निजी निष्कर्ष स्थापित किये है—ऐसे निष्कर्ष जिनसे असहमत हो पाना कठिन है। व्याकरण जैसे नीरस और दुरूह विषय को सरल, सुबोध शैली में इस प्रकार प्रस्तुत करना कि विषय स अपरिचित व्यक्ति भी बात को समझ सके, डॉ० सिंह की विशिष्ट उपलब्धि है।

डॉ० प्रभुदयाल अग्निहोत्री

शोध के ह्रास के इस युग मे व्याकरण जैसे क्लिष्ट विषय पर सारगर्भित तथा सरल विश्लेषण अत्यन्त दुर्लभ है। परन्तु डॉ० भीमसिंह की यह कृति दोनो गुणो से युक्त है। मैंने इस ग्रन्थ के कुछ अश पढे हैं तथा अनेक प्रश्नो पर लेखक के साथ चर्चा भी हुई है। मुझे पूरा विश्वास है कि इस प्रकाशन से व्याकरण के जिज्ञासुओ को त्रिमुनि के विवादास्पद अशो को समझने मे यथेष्ट सहायता मिलेगी। मुझे उस दिन की अभी से प्रतीक्षा है जब डॉ० सिंह की अग्रिम कृति के सम्बन्ध में कुछ लिखने का या उसे पढने का अवसर प्राप्त होगा।

डॉ० बलदेव सिंह

PROLOGUE

In his doctoral dissertation पातञ्जल महाभाष्य मे प्रत्याख्यान सूत्र एक समीक्षात्मक अध्ययन, now being published, Dr Bhim Singh of the Panjabi University in Patiala deals in some detail with the pāninian sūtras which Kātyāyana and Patañjali consider possibly to be rejected The major part of this work consists of eight chapters, in which are considered the pertinent Mahābhāṣya discussions according to the types of sūtra in question samjñāsūtra, paribhāṣāsūtra, vidhisūtra, niyamasūtra, atideśasūtra, adhikārasūtra, Vedic rules, and nipātanasūtra This is followed by a brief section in which the author summarizes the results of his investigation In addition there is a rather long introduction in which Dr Singh considers various aspects concerning questions such as the possibility of interpolations in the Aṣṭādhyāyī and the Mahābhāṣya and the points of view taken by Kātyāyana and Patañjali with respect to sūtras possibly to be rejected

For each sūtra at issue, the author gives a summary of what is said in the Mahābhāṣya, considers the intent of the discussion, and gives, as far as possible, his conclusions Dr Singh's treatment of the issues is clear and well informed He considers not only what Pāniniyas, including later ones, have to say, but also what modern scholars have contributed to the question under discussion His conclusions are also generally well founded For example, after a fairly thorough treatment (pp 101-108) of the arguments concerning Aṣṭādhyāyī 3 1 32 सनाद्यन्ता धातव ।, Dr Singh concludes (p 108) वस्तुत सनादि प्रत्ययान्तो की धातुसज्ञा करने के लिये यह सूत्र रहना ही चाहिये । अन्यथा 'पुत्रीय' आदि की 'धातुसज्ञा' के बोध मे क्लिष्टता रहेगी । इसीलिये अर्वाचीन वैयाकरण पूज्यपाद देवनन्दी ने प्रकृत पाणिनीय सूत्र प्रतिरूप स्थानापन्न "तदन्ता धव" यह सूत्र बनाया है । ऐसी स्थिति मे प्रकृत सूत्र का अन्वाख्यान न्याय्य ही है ॥ It is also noteworthy that in his Uddyota

(Rohatak edition, III 109) Nāgeśa explicitly says the argument given in the Mahābhāsya to show that the sūtra in question is shown to be unnecessary emanates from an ekadeśin भगवतो भाष्यकारस्येति । एकदेशिन इति शेष । अनेन इमेऽपि तर्हि यद्यपो-त्यादिभाष्यग्रन्थ एकदेशिनोरुक्तिप्रत्युक्तिपरतया प्रौढिवाद एवेति ध्वनितम् । The sūtra is indeed necessary

In sum, Dr Bhim Singh has produced a research work that merits the careful attention of all scholars interested in Pāṇini's work

George Cardona
Professor of Linguistics
University of Pennsylvania
Philadelphia (U S A)

प्रस्तावना

डाक्टरित्युपाध्यलङ्कृतस्य भीमसिंहमहाभागस्य 'पाताञ्जल महाभाष्य में प्रत्याख्यात सूत्र—एक समीक्षात्मक अध्ययन' नामा शोधप्रबन्धस्वरूपो ग्रन्थोऽयमिदानीं प्राकाश्यं नीयते विदुषां परितोषाय। प्रस्तुते ग्रन्थे क्रमशः सञ्ज्ञासूत्राणि, परिभाषासूत्राणि, विधिसूत्राणि, नियमसूत्राणि, अतिदेश-सूत्राणि, अधिकारसूत्राणि, निपातनसूत्राणि चाधिकृत्याध्यायाष्टके वार्त्तिककार-भाष्यकारयोः प्रत्याख्यानपरोक्ती समीक्ष्य विविच्य च पाणिनीयपरम्परानुसारेण सिद्धान्तास्तिष्ठापयिषिताः। अपि चाधुनिकानां भारतीयानां पाश्चात्त्यानाञ्च विदुषां मतानि समीक्षितवान् भीमसिंहमहोदयः। किञ्च भूमिकायां प्रत्या-ख्यानशब्दस्याभिप्रायं प्रत्याख्यानप्रसङ्गे वार्त्तिककारभाष्यकृतोः दृष्टिकोणौ, अष्टाध्यायीमहाभाष्ययोः प्रक्षेपसम्भवम् अन्यांश्च विविधान् विषयान् विचार-यतो ग्रन्थकारस्य सूक्ष्मबुद्धित्वं प्रकटीभवति।

भीमसिंहमहाभागेन स्थापिताः सिद्धान्ताः प्रायेण स्वीकरणीया एव। तद्यथा 'सनाद्यन्ता धातवः' इति सूत्रभाष्यस्य प्रत्याख्यानसन्दर्भे समीक्ष्योक्तम् (पृ० १०८) "वस्तुतः सनादि प्रत्ययान्तों की धातुसंज्ञा करने के लिये यह सूत्र रहना ही चाहिये अन्यथा 'पुत्रीय' आदि की 'धातुसंज्ञा' के बोध में क्लिष्टता रहेगी। इसीलिये अर्वाचीन वैयाकरण पूज्यपाद देवनन्दी ने प्रकृत-सूत्र का प्रतिरूप स्थानापन्न "सदन्ता धवः" यह सूत्र बनाया है। ऐसी स्थिति में प्रकृत सूत्र का अन्वाख्यान न्याय्य ही है इति"। न केवलं जैनेन्द्रपरम्परायामपितु पाणिनीयपरम्परायामपि सनाद्यन्ता धातवः इति सूत्रस्यावश्यकता अप्रत्याख्येय-त्वञ्च स्वीकृतम्। तथा हि महाभाष्यप्रदीपोद्द्योते (गुरुकुलझज्झरसंस्करणस्य तृतीये भागे पृ० १०९) सूत्रप्रत्याख्यानस्य एकदेश्युक्तत्वं स्पष्टं प्रतिपादयता भगवतो भाष्यकारस्येति। एकदेशिन इति शेषः। अनेन इमेऽपि तर्हि यद्यपी-त्यादिभाष्यग्रन्थ एकदेशिनोरुक्तिप्रत्युक्तिपरतया प्रौढिवाद एवेति ध्वनित-मित्युक्तं नागेशेन।

अलमतिविस्तरेण। इयं कृतिः वैयाकरणानामुपयोगित्वं गमिष्यतीति श्रद्दधे।

जॉर्ज कार्दोना
प्रोफेसर भाषाविज्ञान
पेनसिलवानिया विश्वविद्यालय
फिलाडेलफिया (अमेरिका)

FOREWORD

The present work embodies the results of an intensive study of a well-defined subject The book discusses Pāninian rules rejected by Patañjali The discussion shows that the author has a profound knowledge of the grammatical tradition in-particular he has thoroughly studied the Mahābhāsya as well as other grammatical schools like those of Candragomin, Devanandin, Śākaṭāyana etc This is borne out by the fact that in rejecting or justifying the arguments of the Bhāsyakāra he has taken recourse to the other schools of Sanskrit grammar

While discussing the subject he has classified the rules which are rejected by Patañjali, into several groups, namely *samjñā-sūtrom kā pratyākhyāna'*, *vidhisūtrom kā Pratyākhyāna* etc In each case he gives both sides of the argument namely, sthāpanā (establishment) and Pratyākhyāna (rejection) His method of dealing with the subject is quite clear and systematic He has stated the principles on which he (The author or Patañjali) has based his rejection These include *'jñāpakamūlaka Pratyākhyāna' 'paribhāsāmūlaka Pratyākhyāna* etc

It is quite clear that the gradual development and the evolving form of the Sanskrit language might have prompted Patañjali to consider the redundancy of some of Pānini's rules or forms But there are some cases where Patañjali adopted the view of *naikam udāharanam prayojayati* or *lāghavadrsti* Consequently, there remains the worthwhile task of determining in each case what prompted Patañjali to reject a particular rule The groundwork for this task has been laid by the author's examination of the rules in Pānini which Patañjali rejects

Apart from presenting what the tradition has said about these rejections, he has given his own thought in the critical discussions of the following rules P 1 1 29, *na bahuvrihau*, P 1 1 109 *parah samnikarsah Samhitā* P 3 1 91 *dhatoh* p 2 3 1, *anabhihite*, P 1 1 46 *sthānivadādes onal vidhāu*

etc With critical analysis of the examples of these rules (given by Patañjali) and with the comparative study of the arguments taken from the other schools of grammar, the author has established the necessity of the rules of Pānini

It is also important that the author has taken into consideration not only the rules which are directly rejected by Patañjali but also those which are indirectly rejected by him (e g P 4 1 79 gotrāvayavāt)

The author seems to be in favour of Patañjali when Patañjali rejects the *apādāna* rules (ie rules from P 1 4 25 to P 1 4 31) and *ekaśeṣa* rules It would have been better if he had discussed the subject from the view-point both of Pāṇini and of semantics For instance P 1 4 24 defines the syntactic meaning *apādāna* Other rules pertaining to *apādāna* bring out different shades of the nonlinguistic-semantic features Why did Pānini pay special attention to those non linguistic features, instead of letting them fall within the purview of *śeṣatva*? Perhaps he wanted to emphasize their salience in the spoken Sanskrit of his time, or perhaps, he simply wanted to be as specific as possible

To sum up, the book shows that the author has a keen critical spirit, a good knowledge of the tradition and a systematic approach to the subject

Dr. S. D. JOSHI
Director C A S S.
University of Poona
POONA

पुरोवाक्

संस्कृत वाङ्मय में पाणिनीय अष्टाध्यायी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह सुचिंतित एवं परिष्कृत सूत्रशैली में लिखी गई है। इसमें सूत्रशैली की महनीय विशेषता—लघुता एवं संक्षेप के साथ-साथ व्यापकता—का मणिकाञ्चन-संयोग हुआ है। अपने प्रादुर्भावकाल से ही यह विद्वानों का कण्ठहार रही है। भारतीय पठन-पाठन परम्परा में पाणिनि की इस सविशेष कृति अष्टाध्यायी का इतना प्रभाव रहा है कि संस्कृत व्याकरण का अभिप्राय साधारण जन के लिये प्राय पाणिनि-व्याकरण (अष्टाध्यायी) ही होता है।

पातञ्जल महाभाष्य, अष्टाध्यायी पर लिखा गया एक प्रामाणिकतम विवरणग्रन्थ है। इसमें अष्टाध्यायीसूत्रों की व्यापक परिप्रेक्ष्य में साधक-बाधक आलोचना-प्रत्यालोचना की गई है। यह पाणिनिव्याकरण के सभी महत्त्वपूर्ण विषयों का 'आकर' (उपजीव्य) ग्रन्थ है। अर्वाचीन ग्रन्थों में बहुधा 'आकर' शब्द से महाभाष्य का ही संकेत किया गया है। महाभाष्य की इससे अधिक और क्या महत्ता होगी कि व्याकरणशास्त्र में महाभाष्यकार का मत ही सूत्रकार तथा वार्तिककार की अपेक्षा अधिक प्रामाणिकतम माना जाता है।

प्रकृत-ग्रन्थ मूलत कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध के रूप में प्रस्तुत किया गया था। आज मैं उसे यथोचित परिवर्तन के साथ विद्वानों के चरणकमलों में, पुस्तकाकार में, समर्पित करते हुए अपार हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ। इस ग्रन्थ में महाभाष्य के अन्दर आने वाले उन्हीं स्थलों को पुनर्विचार का विषय बनाया गया है जहाँ अष्टाध्यायी के किसी भी सूत्र का पूर्णत प्रत्याख्यान हुआ है। भाष्येतर केवल प्रदीप तथा शब्दकौस्तुभ आदि ग्रन्थों में ही पूर्णत प्रत्याख्यात-सूत्र यहां विवेचित नहीं हुए हैं। इसी प्रकार अंशत प्रत्याख्यात सूत्रों तथा वार्तिकों का भी यहां अध्ययन नहीं किया गया है।

यद्यपि ऐसे भी अनेक स्थल देखने में आये हैं जहां भाष्य में तो सूत्र का एकदेश ही प्रत्याख्यात हुआ है या सर्वथा ही सूत्र का प्रत्याख्यान नहीं हुआ है किन्तु उत्तरवर्ती ग्रन्थों में विशेष युक्ति-प्रयुक्तियों द्वारा उस सूत्र को पूर्णत ही प्रत्याख्यात कर दिया गया है। तद्यथा—"पञ्चमी विभक्ते" (पा०

२ ३ ४२) यह सूत्र है। भाष्य मे इस सूत्र का प्रत्याख्यानपरक कोई कथन नही मिलता। किन्तु तत्त्वबोधिनीकार भाष्यकार द्वारा प्रत्याख्यात अपादान प्रकरण के अन्य सूत्रो की तरह "इदं च सूत्र बुद्धिपरिकल्पितापायमाश्रित्या-पादानप्रकरणे भाष्ये प्रत्याख्यातम्" ऐसा कहते हुए इसको भी प्रत्याख्येय घोषित करते हैं। इसीप्रकार 'मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मन" (पा० ६ ४ १४१) इस सूत्र के विषय मे भी भाष्यकार ने तो केवल "आदि" इस सूत्रांश का ही प्रत्याख्यान किया है किन्तु कैयट आदि ने "एवं च ब्रुवता सूत्रमेव प्रत्याख्यातम्" ऐसा कहकर सम्पूर्ण सूत्र को ही प्रत्याख्येय माना है। ऐसे भाष्य से बहिर्भूत प्रत्याख्यान-स्थल यहा छोड दिये गये है। भाष्येतर ग्रन्थो का अध्ययन तो भाष्य में साक्षादुपात्त, पूर्णत प्रत्याख्यात सूत्रो को लेकर उनके सन्दर्भ मे ही किया गया है। प्रसङ्गवश आचार्य चन्द्रगोमी आदि अर्वाचीन वैयाकरणो के प्रत्याख्यान से सम्बद्ध सूत्रो की भी तत्तद् व्याकरणो मे स्थिति की समीक्षा की गई है और उपयोगिता की दृष्टि से यथास्थान प्रत्याख्यान का भी समर्थन नही किया गया है। परिणामत ग्रन्थ मे विवेचित कुल १०७ सूत्रो मे से ४१ सूत्रो का प्रत्याख्यान युक्तिसगत नही माना गया है

प्रत्याख्यान प्रसङ्ग में नागेशभट्ट का "प्रत्याख्यान सग्रह" नामक लघुग्रन्थ पर्याप्त सहायक रहा है। प्रत्याख्यात सूत्रो का सग्रह करते समय उक्त ग्रन्थ से यथोचित सकेतग्रहण किया गया है। यद्यपि महाभाष्य के आलोक में, पाणिनीय अष्टाध्यायी के सम्बन्ध में पर्याप्त अध्ययन हो चुका है तथापि पाणिनि के प्रत्याख्यात-सूत्रो की विशेष दृष्टि को लेकर अब तक कोई शोध-ग्रन्थ प्रस्तुत नही किया जा सका है। इसी कमी को पूरा करने के लिये लेखक का यह विनम्र प्रयास है। अपि च, वर्तमान शोध ग्रन्थ भी केवल पूर्णत प्रत्याख्यात सूत्रों पर ही आधारित है। अत अभी भी प्रत्याख्यात सूत्राशों तथा वार्तिक/वार्तिकांशो पर विचार करना शेष है। यदि परमपिता परमात्मा की कृपा से परिस्थितियाँ अनुकूल रही तो लेखक उक्त विषयों पर लिखने के लिये भी कृतसकल्प है। यद्यपि सन् १९७४ मे केन्द्रीय सस्कृत विद्यापीठ तिरुपति (आन्ध्रप्रदेश) से "प्रत्याख्यानविमर्श" शीर्षक से उक्त विषय को लेकर एक पी एच०डी० शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया गया था तथापि विषय के अतिव्याप्त होने के साथ-साथ यहा कुछेक ही प्रत्याख्यात-सूत्रो एव सूत्राशो का केवल सग्रहमात्र किया हुआ है तथा अनेक नवीन आधुनिक शोधोपयोगी सन्दर्भ-ग्रन्थो के अभाव के कारण उनको ध्यान मे रखते हुए सूत्रो का जितना गम्भीर अध्ययन अपेक्षित था, उतना किया गया प्रतीत नहीं

होता । प्रस्तुत ग्रन्थ उक्त शोध प्रबन्ध द्वारा छोडी गई कमी का पूरक है । इस दृष्टि से उक्त विषय मे शोध का पर्याप्त अवकाश है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे प्रत्येक सूत्र पर पुनर्विचार करते समय उसे निम्न चार शीर्षकों मे विभाजित किया गया है । तद् यथा—

१ सूत्र का प्रतिपाद्य अथवा सूत्र की आवश्यकता पर विचार या सूत्र की सप्रयोजन स्थापना ।
२ प्रत्याख्यान का आधार एव अभिप्राय ।
३ समीक्षा एव,
४ निष्कर्ष ।

इस प्रकार सारे प्रत्याख्यात सूत्रों को प्रकरणानुसार यथास्थान रखते हुए ग्रन्थ को सज्ञा तथा परिभाषा आदि के आधार पर अष्टाध्यायी का अनुकरण करते हुए निम्न आठ अध्यायो मे विवेचित किया गया है । किन्तु प्रतिपाद्य विषय की पृष्ठभूमि के रूप मे सर्वप्रथम भूमिका भाग मे सूत्र का लक्षण एव उसके प्रकार, सूत्रशैली और अष्टाध्यायी, अष्टाध्यायी और महाभाष्य मे प्रक्षेप, प्रत्याख्यान की पृष्ठभूमि एव उसके विभिन्न आधार, प्रत्याख्यानशैली तथा सूत्र-प्रत्याख्यान के सन्दर्भ मे वार्तिककार एव भाष्यकार का दृष्टिकोण इत्यादि विषयो पर स्वमन्तव्य प्रकट किया गया है ।

प्रथम अध्याय	२३ सज्ञासूत्रो का प्रत्याख्यान
द्वितीय अध्याय	५ परिभाषा सूत्रो का प्रत्याख्यान
तृतीय अध्याय	४४ विधि सूत्रो का प्रत्याख्यान
चतुर्थ अध्याय	३ नियम सूत्रो का प्रत्याख्यान
पञ्चम अध्याय	३ अतिदेश सूत्रो का प्रत्याख्यान
षष्ठ अध्याय	८ अधिकार सूत्रो का प्रत्याख्यान
सप्तम अध्याय	१६ वैदिक सूत्रो का प्रत्याख्यान
अष्टम अध्याय	५ निपातन सूत्रो का प्रत्याख्यान

इसके बाद ग्रन्थ का उपसहार करते हुए एक बार पुन सक्षेप मे महत्वपूर्ण प्रत्याख्यान दृष्टियो तथा उनके आधारो का सिंहावलोकन कराया गया है । अन्त मे, परिशिष्ट मे, सभी प्रमुख सन्दर्भग्रन्थ तथा प्रत्याख्यात सूत्र-सूची के अतिरिक्त कुछ अन्य विस्तृत उपयोगी सूचियाँ भी दी गई हैं ।

कृतज्ञता प्रकाशन के सन्दर्भ मे, मैं सर्वप्रथम आदरणीय गुरुदेव **डॉ० कपिलदेव शास्त्री, दयानन्द प्रोफेसर, कुरुक्षेत्र** का हृदय से कृतज्ञ हूँ जिनके सुचिंतित निर्देशन मे यह ग्रन्थ इस रूप म सम्मानित हो सका। इसके बाद मैं **डॉ० जार्ज कार्डोना, प्रोफेसर भाषा विज्ञान, अमेरिका** का सादर आभार व्यक्त करता हू जिन्होने मुझे न केवल प्रोत्साहित ही किया वरन "स्थालीपुलाकन्यायेन" गुणग्राही प्रस्तावना लिखकर अनुगृहीत भी किया। श्रद्धेय युधिष्ठर मीमासक जी बहालगढ (सोनीपत) को सादर साधुवाद देना भी मैं अपना पूत कर्तव्य समझता हू जिन्होंने सर्वथा अप्राप्य "प्रत्याख्यानसग्रह" इस लघुग्रन्थ को मेरे लिए उपलब्ध कराया तथा यथामति मेरी शङ्काओ का समाधान किया। महाभाष्य मे कृतभूरिपरिश्रम एव उसके अधिकारी विद्वान् डॉ० एस०डी० जोशी, पूना का भी मैं हृदय से आभारी हू जिनके शोधलेखो तथा पत्र-व्यवहार से मैंने प्रेरणा तथा अष्टाध्यायी पर विचार करने की एक नूतनदृष्टि प्राप्त की। इस प्रसङ्ग मे मैं **डॉ० धर्मेंद्र कुमार गुप्त, अध्यक्ष सस्कृत विभाग पटियाला** का भी विशेषरूपेण वशवद हूँ जिन्होने ग्रन्थ के प्रकाशन मे आने वाली समस्याओ मे मेरा मार्ग प्रशस्त किया तथा शास्त्रीय विषयो मे भी रुचि लेकर यथाप्रसङ्ग अपने बहुमूल्य सुझाव दिये।

इसी प्रकार मैं **आचार्य चारुदेव शास्त्री, दिल्ली, डॉ० बलदेव सिंह,** अध्यक्ष सस्कृत विभाग, शिमला तथा डॉ० प्रभुदयाल अग्निहोत्री, भूतपूर्व कुलपति, जबलपुर का हार्दिक कृतज्ञ हू जिन्होने मेरे निवेदन करने पर अपनी उत्साहवर्धिनी एव उपयोगिनी सम्मति से मुझे उपकृत किया। ऐसे अवसर पर अग्रजकल्प डॉ० अभिमन्यु मलिक, रीडर सस्कृत विभाग, पटियाला का सम्मान करना भी मैं अपना दायित्व समझता हू जिन्होने पदे-पदे व्यावहारिक सुझाव देकर मुझे सोत्साह किया तथा मेरा मार्गनिर्देशन किया।

और श्रद्धेय तातपाद आचार्य विद्यानिधि शास्त्री, गुरुकुल मटिण्डू खरखौदा के विषय मे क्या कहूँ, कुछ समझ नही आता। क्योकि इस ग्रन्थ मे जो कुछ उत्तम है वह उन्ही के शुभाशीर्वाद का प्रतिफलन है तथा जो कुछ उतना उत्तम नही बन सका है वह मेरा ही अनवधानजन्य दोष समझना चाहिये। यहा यह निवेदन करना भी मैं अनुचित नही समझता कि प्रस्तुत ग्रन्थ आज से पर्याप्त समय पूर्व ही विद्वत्करकमलो मे पहुच जाता यदि मेरे घर मे आयुष्मान् "प्रदीप" का शुभ जन्म बीच मे न होता। इसके कारण भी अवान्तर उपाधियो मे व्यापृत रहने से ग्रन्थ कुछ अयाचित विलम्ब से

निकल सका है। अब प्रभु से प्रार्थना है कि आयुष्मान् "प्रदीप" भी कैयट के प्रदीप के समान महाभाष्य का अधिकारी विद्वान् बने।

इसीप्रकार डॉ० ईश्वरसिंह चौहान, कुरुक्षेत्र डॉ० वाचस्पति 'कुलवन्त', हिसार, श्री नीलकण्ठराव विद्यालङ्कार, धनबाद तथा श्री बलवीरसिंह शास्त्री, गुरुकुल मटिण्डू के निःस्वार्थ सहयोग एवं स्नेह भावना का भी मैं समादर करता हूं जिनकी सतत प्रेरणा तथा उत्साहवर्धन से यह कार्य सम्पन्न हो सका है। इसके अतिरिक्त मैं उन सभी स्वविभागीय सहकर्मियों, इष्ट मित्रों तथा संस्थाओं का भी हृदय से ऋणी हूं जिनके प्रत्यक्ष या परोक्ष सहयोग से प्रस्तुत शोध ग्रन्थ रूपायित हो सका है।

अब, अन्त में, मैं श्री सोमप्रकाश गोयल तथा श्री कन्हैयालाल जोशी प्रकाशक महोदयों का भी सस्नेहादर अभिनन्दन करता हूं जिन्होंने कागजगत अनेक विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी "विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमाना प्रारभ्य त्तमजना न परित्यजन्ति" के अनुसार प्रारब्ध इस दीर्घमवरूप कार्य को पूरा करके ही छोड़ा। यहां यह अवश्य स्मरणीय है कि इस प्रकार के शास्त्रीय विषय वाले ग्रन्थों में कुछ प्रूफ रीडिंग सम्बन्धी प्रमाद-जन्य असावधानियाँ हो जाया करती हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ भी इसका पूर्ण अपवाद नहीं रह सका है, अतः पाठकों से नम्र निवेदन है कि वे जहाँ कहीं किसी पाठ को सन्दिग्ध या भ्रष्ट पायें वहाँ उसके सही ज्ञान के लिए शुद्धिपत्र देखने का कष्ट करें जोकि परिशिष्ट के अन्त में दिया गया है।

आश्विन शुक्ला विद्वानों का अनुचर
विजयादशमी भीमसिंह वेदालङ्कार
विक्रमी सं० २०४३
(१२-१०-८६)

सांकेतिक शब्द

१ अथर्व०	अथर्ववेद
२ ऋक्०	ऋग्वेद
३ का०	काशिकावृत्ति
४ चा० सू०	चान्द्रव्याकरण सूत्र
५ जै० सू०	जैनेन्द्र व्याकरण सूत्र
६ त० बो०	तत्त्वबोधिनी
७ प० म०	पदमञ्जरी
८. परि०	परिभाषेन्दुशेखर
९ पस्पशा०	पस्पशाह्निक
१०. पा०	पाणिनीय अष्टाध्यायी
११ प्रा०	प्रातिशाख्य
१२ प्रौ० म०	प्रौढ मनोरमा
१३ बृ० श० शे०	बृहच्छब्देन्दुशेखर
१४ भा०	भाग
१५ भू०	भूमिका
१६ महा०	महाभाष्य, कीलहानसंपादित
१७ महा० प्र०	महाभाष्य प्रदीप
१८ महा प्र० उ०	महाभाष्य प्रदीपोद्द्योत[1]
१९ व० शि०	वर्णोच्चारण शिक्षा
२० वा० प०	वाक्यपदीय
२१ वा०	वार्तिक
२२ मा० यजु०	माध्यन्दिन शुक्ल यजु संहिता

---

१ प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में मूल महाभाष्य के साथ प्रदीपोद्द्योत टीकाओं के उद्धृत अंश का पृष्ठाङ्कन क्रमशः कीलहान सम्पादित तृतीय संस्करण तथा गुरुकुल झज्जर रोहतक, संस्करण से किया गया है।

२३ वै० सि० कौ०	वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी
२४ श० कौ०	शब्द-कौस्तुभ
२५ शा० सू०	शाकटायन व्याकरण-सूत्र
२६ स० सू०	सरस्वतीकण्ठाभरण व्याकरण सूत्र
२७ सं०	संस्करण
२८ सं० व्या० शा० इ०	संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास
२९ साम०	सामवेद
३० है० सू०	हैम व्याकरण सूत्र

विषय-सूची

पञ्चम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

"अष्टम अध्याय"

भूमिका

सूत्र शैली और पाणिनीय अष्टाध्यायी

संस्कृत वाङमय मे पाणिनीय अष्टाध्यायी अपनी विधा का एक विलक्षण ग्रंथ है। यह कहना अनुचित न होगा कि यदि संस्कृत भाषा अपने पुरातन गौरव तथा समग्रता के साथ आज भी अक्षुण्ण रूप से वर्तमान है तो उसका एकमात्र कारण उत्कृष्ट सूत्रशैली मे निबद्ध अष्टाध्यायी है। आचार्य पाणिनि ने जिस सूक्ष्मेक्षिका से अखिल शब्दसागर का अवलोकन करते हुए संस्कृत भाषा का अन्वाख्यान किया है वह उनके अनल्पमति होने मे पर्याप्त उपोद्बलक है और अष्टाध्यायी इसका जीवन्त प्रमाण है। 'सूत्र वेष्टने' धातु से अच् प्रत्यय' अथवा पक्षान्तर मे 'घञ् प्रत्यय' करने पर निष्पन्न 'सूत्र' शब्द का शाब्दिक अर्थ यद्यपि उक्त धातु के आधार पर धागा है तथापि भारतीय वाङमय मे 'सूत्र' शब्द का प्रयोग विशेष पारिभाषिक अर्थ मे भी किया जाता है। कोषो के अनुसार 'सूत्र' शब्द के अनेक अर्थ है। किन्तु प्रकृत प्रसङ्ग को दृष्टिगत रखते हुए यही कहा जा सकता है कि 'सूत्र' धागे के समान स्वयं लघुकाय होते हुए भी व्यापकता की दृष्टि से अन्य अनेक अर्थों को अपने अन्दर समाहित करने वाले सङ्केतमात्र होते हैं। 'सूत्र' की परिभाषा के लिए साहित्य मे निम्न उक्तिया प्रसिद्ध हैं—

> "अल्पाक्षरमसन्दिग्ध सारवद् विश्वतोमुखम्।
> अस्तोभमनवद्य च सूत्र सूत्रविदो विदु"।[1] अथवा
> "लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च।
> सर्वत सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिण"॥[2]

भाव यह है कि बाहरी आकार की दृष्टि से लघु होते हुए भी अर्थ की सूक्ष्मता एव व्यापकता के दृष्टिकोण से बहुर्थबोधकत्व होना ही सूत्रत्व है। स्थूलतया, सूत्र के दो भेद हैं—'सामान्य' और 'विशेष'। ये दोनो ही

---

१ विष्णुधर्मोत्तरपुराण, खण्ड-३, अध्याय ५, श्लोक स० १। अथवा वायुपुराण, ५९ १४२।

२ ब्रह्मसूत्रीय शाङ्करभाष्य की भामती टीका से उद्धृत, १ १ १।

वैयाकरणों की पारिभाषिक शब्दावली में क्रमशः उत्सर्ग तथा अपवाद कहे जाते हैं।[1] अर्थलाघव तथा शब्दलाघव की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए भाषाशास्त्रियों ने इन छोटे-छोटे सूत्रों को भी संज्ञा, परिभाषा, विधि, नियम, अतिदेश तथा अधिकाररूप में षोढा विभक्त किया है।[2] तद्यथा—

संज्ञा सूत्र—किसी वस्तु या पदार्थ का बोधक उच्चारित शब्द ही संज्ञा कहलाता है।[3] अथवा अनेक अर्थों के अभिधान में समर्थ होने पर भी शब्द-शक्ति का किसी विशेष अर्थ में नियमन कर देना ही संज्ञाकरण है।[4] प्रत्येक शास्त्र में अपेक्षित लाघव को प्राप्त करने के लिये कुछ सांकेतिक संज्ञाओं के निर्माण की आवश्यकता होती है।[5] इसीलिए आचार्य पाणिनि ने भी शब्दकृत तथा अर्थकृत दोनों प्रकार के लाघव को दृष्टिगत रखते हुए सूत्र रचना की है।[6] शाब्दी तथा आर्थी संज्ञाएं भी कृत्रिम-अकृत्रिम भेद से दो प्रकार की बनायी गई हैं। इनमें कृत्रिम संज्ञायें आकार में लघु तथा निरर्थक होती हैं तथा अकृत्रिम संज्ञायें महती एवं अन्वर्थक हैं। इस प्रकार जिन सूत्रों द्वारा साक्षात् किसी संज्ञा का विधान किया जाये वे संज्ञासूत्र कहलाते हैं। अष्टाध्यायी में गुण-वृद्धि आदि लगभग १०० संज्ञा सूत्र हैं।

---

१ द्र०—महा० पस्पशा०, पृ० ६ "किञ्चित् सामान्यविशेषवल्लक्षण प्रवर्त्यम्। किं पुनस्तत्। उत्सर्गापवादौ"।

२ द्र०—"संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम्"॥

तुलना करो—"अतिदेशोऽनुवादश्च विभाषा च निपातनम्।
एतच्चतुष्टयं ज्ञात्वा दशधा सूत्रमुच्यते"॥

३ द्र०—महा० भा०, १, सू० १-२-५३, पृ० २२६, "संज्ञानं संज्ञा" अर्थात् रूढि शब्द ही संज्ञा है। तुलना करो, महा० प्र० भा०, ४, सू० ५ २ ६१, पृ० १४५, "संज्ञायतेऽनयेति संज्ञा"।

४ द्र०—"सर्वार्थाभिधानयोग्यशब्दस्य शक्तिनियमनमात्रं संज्ञाकरणम्"।

५ द्र०—महा० भा०, १ सू० ११२३, पृ० ८१, "संज्ञा च नाम यतो न लघीयः लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम्"।

६ यद्यपि संज्ञासूत्रों का धर्मसंज्ञा नामक एक तीसरा भेद और भी हो सकता है। क्योंकि उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित ये स्वरों के धर्म या गुण ही हैं। इस विषय में द्रष्टव्य—स्टडीज इन पाणिनि, पृ० ३१।

परिभाषा सूत्र—अनियम प्रसग मे नियम का विधान करने वाली[1] अथवा एकदेश मे स्थित हुई भी आगे-पीछे सवत्र व्याप्त रहने वाली[2] उक्ति को परिभाषा कहते है। सज्ञा और परिभाषाओ के विषय मे दो पक्ष हैं—यथोद्देश और कार्यकाल।[3] यथोद्देश पक्ष मे सज्ञा और परिभाषासूत्र एक स्थान पर पठित हुए ही विधि सूत्रों के उपकारक होते हैं। कार्यकालपक्ष मे जहा उनकी आवश्यकता होती है, वही मे पहुच जाती है। वही उनका स्थान हो जाता है। अष्टाध्यायी मे २० के लगभग परिभाषा सूत्र हैं।

विधि सूत्र—अत्यन्त अप्राप्ति की विशेष अवस्था मे विधान करने वाले सूत्र विधि सूत्र कहलाते है।[4]

नियम सूत्र—विधि के सवथा प्राप्त होने पर विशेष अवस्था मे उसका नियमन करने वाले सूत्र नियम सूत्र कहलाते हैं।[5]

अतिदेश सूत्र—एक के तुल्य दूसरे को मानकर काम करना ही अतिदेश है।[6] दूसरे शब्दो मे अन्य धर्म का अन्यत्र आरोपण करना[7] अथवा विकृति को प्रकृति मानकर काम करना ही अतिदेश सूत्रों का कार्य है। यह अतिदेश सस्कृत व्याकरण मे ६ या ७ प्रकार का माना जाता है।

अधिकार सूत्र—"स्वदेशवाक्यार्थबोधशून्यत्वे सति परदेशे वाक्यार्थ-बोधकत्वम्" अर्थात् अपने स्थान पर वाक्यार्थबोध न होने पर अन्य सूत्रों के स्थलो पर वाक्यार्थबोध कराने वाले सूत्र को अधिकार सूत्र कहते है। अधिकार सूत्रो को भाष्यकार ने त्रेधा माना है। प्रथम जो एक स्थान पर पठित होकर भी सारे शास्त्र को व्यापृत करता है, जैसे—सम्यक् प्रदीप्त

---

१ का० भा० १, सू० १ १ ३,—"परिभाषेय स्थानिनियमार्था। अनियम-प्रसङ्गे नियमो विधीयते"।

२ महा० प्र० उ० भा०-२, सू० २ १ १, पृ० ४६३—"परितो व्यापता भाषा परिभाषा प्रचक्षते"।

३ द्र०—परि० स० २-३,—"यथोद्देश सज्ञापरिभाषम्। कार्यकाल सज्ञापरिभाषम्"।

४ द्र०—तन्त्रवार्तिक, १ २३४,—"विधिरत्यन्तमप्राप्ते—"।

५ द्र० वही, "नियम पाक्षिके सति"।

६ द्र०—महा० भा० १, सू० १ १ २३, पृ० ८१,—तद्वत् अतिदेशोऽयम्"।

७ द्र०—आप्टे कोश—"अतिदेश नाम इतरधर्मस्य इतरस्मिन् प्रयोगायादेश।

८ द्र०—वही,—"प्रकृतिवत् विकृति"।

दीपक घर के एक कोने में रखा हुआ ही सारे घर को प्रकाशित करता है।[1] दूसरा अधिकार अनुवृत्ति रूप है जोकि 'च' शब्द लगाकर ऊपर से खींचा जाता है, जैसे – रस्सी या लोहे से बधी लकड़ी खींची जाती है।[2] तीसरा अधिकार—"स्वरितेनाधिकार"[3] इस सूत्र के अनुसार स्वरित चिन्ह से समझा जाता है जबकि वह अधिकृत सूत्र हर जगह निर्दिष्ट (उच्चारित) न किया जाकर भी स्वरित चिन्ह द्वारा जहा तक जरूरत होती है, वहा तक प्रत्येक सूत्र मे स्वय उपस्थित होता है। यह बात अलग है कि वर्तमान मे ये स्वरित चिन्ह लुप्त हो गए है। अत अष्टाध्यायी के प्रामाणिक व्याख्याता वृत्तिकारो आदि के व्याख्यान[4] के आधार पर ही अब स्वरित चिन्ह की अवधि को जाना जाता है।

भाष्य मे सूत्र' शब्द के समान अर्थ रखने वाले अनेक शब्द दृष्टिगोचर होते है। भाष्यकार ने यथावसर इन सभी का प्रयोग किया है। इनमे सर्वप्रथम 'सूत्र' शब्द का प्रयोग करते हुए पतजलि लिखते हैं—"न चेदानीमाचार्या सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति"[5] इत्यादि। इसी प्रकार 'योग' शब्द का भी उल्लेख करते हुए भाष्यकार कहते है—"अथवा योग विभाग करिष्यते"[6] इत्यादि। इसी प्रकार 'लक्षण' शब्द से भी 'सूत्र' को बताने वाला भाष्यवार्तिक है—

---

१ महा० भा०, १, सू० १-१ ४९, पृ० ११६—"अधिकारो नाम त्रिप्रकार। कश्चिद् एकदेशस्थ सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति यथा प्रदीप सुप्रज्वलित सर्वं वेश्माभिज्वलयति।

२ वही, "अपरोऽधिकारो यथा रज्ज्वाऽयसा वा बद्ध काष्ठमनुकृष्यते तद्वनु-कृष्यते चकारेण"।

३ पा० १३११।

४ द्र०—परि० स० १ "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति न हि सन्देहाद-लक्षणम्"। तुलना करो—महा० पस्पशा०, पृ० १२, "ननु चोक्त न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानम वृद्धि आत् ऐजति, किं तर्हि, उदाहरणं प्रत्युदाहरण वाक्याध्याहार इत्येत् समुदित व्याख्यान भवति"। अपि च—"पदच्छेद पदार्थोक्ति विग्रहो वाक्ययोजना।
आक्षेपोऽथ समाधान व्याख्यान षड्विध मतम्"॥

५ महा० पस्पशा०, पृ० १२।

६ वही, भा० १, सू० ११ १२, पृ० ६६।

"लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्" ।[1] भाष्यकार के मन मे व्याकरण शब्द भी 'सूत्र' का बोध कराता है—"सूत्राणि चाप्यधीयान इष्यते वैयाकरण इति" ।[2] इसी प्रकार 'निपातन' शब्द भी सूत्रपर्यायवाची रूप मे प्रयुक्त हुआ मिलता है—कि निपातनम्— द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्याण्यन्यतरस्यामिति" ।[3] इसी प्रकार अनेकत्र भाष्यकार ने इस प्रसङ्ग मे "वाऽन्यन्यायेन" इत्यादि कहकर 'न्याय' शब्द का भी प्रयोग किया है।

उपर्युक्त सभी शब्दो मे 'सूत्र' शब्द का प्रयोग प्राचीनतम है। इसका प्रारम्भिक प्रयोग अथर्ववेद मे मिलता है।[4] यद्यपि वहा ऐहिक अभिप्राय वाली सूत्रशैली से उसका कोई सम्बन्ध नही है तथापि अभिधा वृत्ति के आधार पर 'सूत्र' शब्द के अपने यौगिक अर्थ के अनुसार नियमपूर्वक चलने वाली यह सृष्टि स्वय भी सम्भवत एक 'सूत्र' ही है। इसका सचालक 'सूत्र' ब्रह्म है। वही इस 'सूत्र' का 'सूत्र' है।

सूत्रशैली के मूल मे मूलरूपेण सम्भवत सक्षेपीकरण की प्रवृत्ति मुख्य रूप से रही है। क्योकि सक्षेप मे ही कण्ठस्थ करके शास्त्रो का ज्ञान प्राप्त करने की पद्धति प्रशसनीय मानी गई है। इसके अतिरिक्त पुरातन युग मे छापाखाने के अभाव के कारण भी इस परम्परा का अधिक विकास हुआ है।[5] बाद में जब वैदिक सहिताओ का अध्ययन-अध्यापन विशेष श्रम से किया जाने लगा तो वैदिक यज्ञो के विकास और जटिल विधि-विधानो को सक्षिप्त एव सरल बनाने के लिए इस सूत्र शैली का और अधिक तेजी से आविर्भाव

---

१ वही, पस्पशा, पृ० १२।

२ वही, पृ० १२।

३ वही, भा० ३, सू० ६४२, पृ० १८१।

४ अथर्व०—१० ८ ३८—
"यो विद्यात् सूत्र विततं यस्मिन्नोता प्रजा इमा ।
सूत्रस्य सूत्र यो विद्यात् स विद्यात् ब्राह्मण महत् ।।"

५ द्र० Panini A Servey of Research, Foot Note 11, page 316 "Recently, Bahulikar has discussed the possible reasons for the use of Sutra style She notes approving a suggestion made by D H H Ingalls that this style arose when writing was introduced and because of srcacity of writing material at the period"

और विकास हुआ। परिणामत डा० कपिलदेव शास्त्री के शब्दो मे—कर्मकाण्ड की विस्तृत, जटिल एव नानाभेद-प्रभेदो वाली प्रक्रिया को अच्छी प्रकार से स्मरण करके उसके ठीक-ठीक परिपालन की अनिवार्यता (अन्यथा प्रत्यवायभाक् होने का डर था) को देखते हुए कल्प ग्रन्थो मे प्राचीनतम सूत्रो की उपलब्धि स्वाभाविक ही है।[1] ब्राह्मण ग्रन्थो मे भी सूत्रशैली की प्राणभूत उन सज्ञाओ का स्पष्ट उल्लेख मिलता है जो आजकल सस्कृत व्याकरण मे पायी जाती है।[2] आरण्यको एव उपनिषदो मे सूत्रशैली के कुछ और विकसित स्वरूप के दर्शन होते है। उत्तरकाल में शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्दस्, श्रौत, गृह्य एव धर्म सूत्र आदि में भी सफलता पूर्वक सूत्रशैली का प्रयोग हुआ। इस प्रकार सूत्रशैली के विकास यात्रा के सन्दभ मे विभिन्न विषयो को सुगम, सक्षिप्त परन्तु सरल बनाने का सार्थक प्रयास किया गया। किन्तु कहना न होगा कि व्याकरण शास्त्र मे तो यह सूत्रशैली इतनी माज दी गई, इतनी निखार दी गई कि इस पद्धति ने अपनी पूर्ण पराकाष्ठा को प्राप्त किया और परिणामत सूत्र व्याकरण का पर्यायवाची ही बन गया[3] और पाणिनि ही सूत्रकार' कहे जाने लगे।[4]

उत्तरवैदिक युग म भी सूत्र साहित्य विभिन्न विषयक ग्रन्थो के प्रेरणा स्रोत रहे है। किन्तु मध्यकाल मे जाकर अवश्य सूत्र शैली की परम्परीण धारा विच्छिन्न अथवा लुप्त प्राय सी रही है तथापि वर्तमान २०वी शताब्दी मे भी कतिपय सूत्र ग्रन्थो का प्रणयन किया गया है[5] जो भाव भाषा तथा

---

१ द्र०—सस्कृत व्याकरण मे गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि, पृ० ७।

२ गोपथ ब्राह्मण, १ २४—"ओङ्कार पृच्छाम को धातु कि वै व्याकरणम्" इत्यादि। लघुवाक्यपरक सूत्रशैली का एक प्रारूप शतपथ ब्राह्मण से भी द्रष्टव्य है, भाग-१, अण्डिका ४, पृ० १—सत्य वै देवा अनृत मनुष्या"। वही, १२ ४ १ १ जरामर्य वै एतत् सत्र यदग्निहोत्रमिति"।

३ द्र०—महा० भा० २, सूत्र० ३ १ २६ पृ० ३८—'व्याकरण सूत्रयति" तथा महा० पस्पशा०, पृ० १२ सूत्राणि चाप्यधीयान इष्यते वैयाकरण इति"।

४ द्र०—वही, भा० १, सू० २ २ ११, पृ० ४०४ "पाणिने सूत्रकारस्य"।

५ उदाहरणार्थ द्रष्टव्य—श्री डॉ० सी० शर्मा रचित 'गाधि सूत्राणि' अथवा अम्बालाल पुराणी प्रणीत 'पूर्णयोगसूत्राणि' इत्यादि। विशेष

सिद्धान्त प्रतिपादन की दृष्टि से अनुपम है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि सूत्रशैली का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है तथा व्याकरण के अतिरिक्त अन्य अनेक विषयो से सम्बद्ध सस्कृत वाङ्मय के अमूल्य ग्रन्थ भी इस शैली मे रचे गए।

प्राचीन काल मे व्याकरण के प्रवचन का शुभारम्भ सम्भवत प्रतिपदपाठ से हुआ था। उसके आधार पर 'शब्दपारायण' नामक कतिपय व्याकरणो की रचना भी हुई थी।[1] किन्तु इस प्रतिपदपाठ शैली के अतिविस्तृत होने के कारण अलएव व्याकरण का समुचित प्रकार न होने से आगे चलकर वैयाकरणो ने सक्षेप के लिए तथा स्मरण रखने मे सुविधा के लिये श्लोकात्मक या छन्दोबद्ध व्याकरण लिखने प्रारम्भ कर दिये। किन्तु इस पद्धति मे भी सूत्रशैली के प्राणभूत तत्त्व (सूक्ष्मता, लघुता तथा व्यापकता) के लिए पर्याप्त अवकाश न होने के कारण श्लोको के स्थान पर सूत्रो का विस्तार होता गया और सम्भवत पाणिनि तक आते-आते श्लोक शैली सर्वथा लुप्त हो गई।[2] सस्कृत व्याकरण मे इस काल को सूत्रो की पूर्ण स्थापना का स्वर्ण युग भी कहा जा सकता है। कारण कि व्याकरण के सूत्र अन्य क्षेत्रो मे रचित सूत्रो की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक एव सजीव प्रमाणित हुए। अत प्रयत्न पूर्वक

अध्ययन के लिए देखें—रामगोपाल मिश्र लिखित शोध लेख—'अर्वाचीन सस्कृत सूत्र साहित्य' प्रकाशित गुरुकुलपत्रिका शिक्षाविशेषाक, कागडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, वर्ष १७, अङ्क-८, मार्च-अप्रैल, १९६५। अद्यत्वे गणित आदि विषयो मे सवाल आदि निकालने के लिये जो फैक्टर या सूत्र काम मे लाये जाते हैं, वे भी सम्भवत इसी परम्परा से प्रभावित होकर बनाय गए हैं।

१. द्र०—महा० पस्पशा० पृ० ५—'एव हि श्रूयते। बृहस्पतिरिन्द्राय—प्रतिपदोक्तानां शब्दाना शब्दपारायण प्रोवाच"। इसी पर महा६ प्र६, पृ० २४—"शब्दपारायणशब्दो योगरूढ शास्त्रविशेषे"।

२ किन्तु अवशेष रूप मे उसकी छाया परोक्षरूपेण पाणिनि पर भी यत्र तत्र स्पष्ट दिखाई पडती है। तद् यथा—पा० १ १ १-२, "वृद्धिरादैजदेङ् गुण"। पा० ४ ४ ३५-३६ "पक्षिमस्य मृगान् हन्ति परिपन्थ च तिष्ठति"। विशेष अध्ययन के लिये देखें—पाणिनि व्याकरण का अनुशीलन, पृ० ८६-८८। अथवा स्टडीज इन पाणिनि, पृ० २६-२७।

माजे एव निखारे हुए सूत्र को पाणिनि ने 'प्रतिष्णत' कहा है।[1] पाणिनि के लिए 'सूत्रकार' संज्ञा इस विषय मे प्रबल उपोद्बलक है।[2] 'वृद्ध से बाल तक पाणिनि का यश'[3] इतना बढा कि प्रत्येक व्यक्ति के मुख से "शोभना खलु पाणिने सूत्रस्य कृति"[4] यह वाक्य साभिमान दुहराया जाने लगा। काशिकाकार तो पाणिनि की सूक्ष्मेक्षिका पर इतने मुग्ध है कि उन्होने अनेकत्र पाणिनि के लिए "महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य"[5] तक कहा है। पाणिनि के महान् तेज के कारण ही लोक मे सर्वत्र "इति पाणिनि"[6] का नाद सुनायी देने लगा। इसका कारण सुहृद्भूत आचार्य पाणिनि के द्वारा सामान्य-विशेष, प्रत्याहार रचना, अनुबन्धकरण, ज्ञापक, निपातन अधिकार तथा परिभाषा आदि अनेक गुणयुक्त सूत्रशैली को वह प्रौढता तथा अनुपम निखार प्रदान करना था जिसने संस्कृत भाषा के गम्भीरतम रहस्यो को अभिव्यक्त किया। परिणामत समग्र संस्कृत व्याकरण 'सूत्रमय' ही हो गया तथा लोक मे "पाणिनीय महत् सुविहितम्"[7] जैसे प्रशसा के स्वर सुनाई पडने लगे।

सक्षेपीकरण के कारण ही पाणिनि ने काल आदि सज्ञाओ के अव्याख्यान को आवश्यक नही समझा।[8] इस सक्षेपीकरण के सन्दभ मे ही राजशेखर ने

---

१ द्र०—पा० ३ ६ ०—"सूत्र प्रतिष्णातम्"।

२ द्र०—महा० सू० २ २ ११, पृ० ४१४—"पाणिने सूत्रकारस्य"।

३ द्र०—वही सू० १ ४ ८६ पृ० ३४७— आकुमार यश पाणिने" युधिष्ठिर मीमासक के अनुसार भाष्योक्त वचन का अर्थ – "आ कुमार्या आकुमारम्" अर्थात् दक्षिण मे कुमारी अन्तरीय पर्यन्त पाणिनि का यश पहुच गया होना अधिक सगत है।

द्र०—स० स० व्या० शा० इ०, भाग-१, पृ० १८६।

४ वही०, सू० २ ३ ६६, पृ० ४६८।

५ का० भाग-३, सूत्र ४ २ ७४, पृ० ५६८।

६ वही, भा०-२, सू० २ १ ६, पृ० २२।

७ महा० भा०, २, सू० ४ ३ ६६, पृ० २८५।

८ का०, भा० २ ४ २१ पृ० २६६ "पाणिनुपज्ञमकालक व्याकरणम्"। पाणिनि व्याकरण के 'अकालक' होने का एक दूसरा आधार यह भी रहा है कि पाणिनि मध्यमार्गी रहे है। अत उन्होने काल आदि की परिभाषा न करके स्वय को विवादग्रस्त होने से बचाया है। क्योकि उक्त काल आदि की परिभाषा वैयाकरणो के मध्य विवाद का विषय रही है।

पाणिनीयो को 'तद्धितमूढ'[1] कहा है अर्थात् पाणिनि ने अपना तद्धित प्रकरण अपेक्षाकृत सक्षिप्त किया है। आगे चलकर सक्षेपीकरण की यह प्रवृत्ति वैयाकरणो मे यहा तक व्याप्त हो गई कि वे आधी मात्रा के लाघव को भी बहुत बडी उपलब्धि मानने लगे थे।[2] आचार्य पाणिनि ने शाब्दिक लाघव के साथ-साथ अर्थलाघव को भी प्रश्रय दिया है परिणामत उन्होने अनेक सूत्र बडे-बडे सत्रो या महती सज्ञाओ का प्रयोग किया है। इसका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि मन्द बुद्धियो को भी स्फुटबोध कराने के लिये वृतज्ञ[3] आचार्य ने स्वत व्याख्यात (अन्वर्थ) बडे शब्दो या प्रतीको का प्रवचन किया है। यद्यपि कुछ स्थानो पर प्राचीन परम्परा भी प्रभावित करती रही है।[4] इसके अतिरिक्त केवल आचार्य पाणिनि ही एक ऐसा 'अनल्पमति'[5] वैयाकरणाचार्य था जिसने अतिविस्तृत वैदिक लौकिक शब्दार्णव को चौदह प्रत्याहारसूत्रो से बनने वाले केवल इकतालीस प्रत्याहारो के एक ही ताने-बाने मे बुनने का सफल प्रयास किया। इसीलिए इन्होने लोक के समान वेद को भी भाषागत दृष्टि से एक ही रचना प्रक्रिया का अ ग घोषित किया। आचार्य पाणिनि यह सब कुछ अपनी सूक्ष्म किन्तु उतनी ही अधिकार पूर्ण एव स तुलित सूत्र शैली के कारण ही करने मे समर्थ हुए। अत ठीक ही कहा गया है—

"सूत्रेष्वेव हि तत् सर्वं मद्वृत्तौ यच्च वार्तिके।
सूत्र योनिरिहार्थाना सूत्रे सर्वं प्रतिष्ठितम्" ॥[6]

---

१ काव्यमीमासा अध्याय ६,—"तद्धितमूढा पाणिनीया"। तुलना करो— महा० पस्पशा०, पृ० ८,—"प्रियतद्धिता दाक्षिणात्या"।

२ द्र०—परि० सू० १३३—"अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सव मन्यन्ते वैयाकरणा"।

३ महा०, भा० १, सू० १ ३ ६, पृ० २६६,—"वृत्तज्ञो ह्याचार्योऽनुबन्धाना-सजति"।

४ पाणिनि व्याकरण मे सारी महती सज्ञायें परम्परीण तथा अन्वर्थक होती हैं। परन्तु एकमात्र 'नदी' सज्ञा है जो महती होती हुई भी अन्वर्थक नही है। इससे प्रमाणित होता है कि यहा पाणिनि प्राचीन परम्परा से प्रभावित है।

५ महा० भा० १, सू. १, स० १ ४ ५१, पृ० ३३५—"एतदनल्पमतेराचार्यस्य वचन स्मर्यताम्"।

६ तन्त्रवार्तिक, २ ३ ११।

दूसरे तर्क के विषय में यह निवेदन है कि अष्टाध्यायी एक 'प्रोक्त' ग्रन्थ है और प्रोक्त ग्रन्थों में पूर्वाचार्यों का पर्याप्त अंश यथातथरूप में संगृहीत होता है जैसा कि अष्टाध्यायी में मिलता भी है।[1] इसीलिए भाष्यकार अष्टाध्यायी को "सर्ववेदपारिषद हीदं शास्त्रम्"[2] अर्थात् इसमें प्राय सभी पूर्ववर्ती व्याकरण सम्प्रदाय प्रतिबिम्बित हुए है, ऐसा कहते है। पी० एस० सुब्रह्मण्यम् शास्त्री के शब्दों मे—"It is quite possible that Pānini may have incorporated some Sutras of the previous authors like Āpiśali and Kāśakṛtsna whose works are definitely understood from the Mahābhāṣya to have been preceded Pānini's"[3]

लेकिन यह संग्रह स्वयं आचार्य पाणिनि द्वारा किया गया है, इनके बाद किसी अन्य के द्वारा नहीं, यह निश्चित है। पूर्वाचार्य निर्देश यदि प्रक्षेप माने जाने अभीष्ट है तो अवश्य अष्टाध्यायी में पर्याप्त अंश प्रक्षिप्त माना जा सकता है। अष्टाध्यायी महाभारत की तरह समुदाय की सामूहिक रचना न होकर केवल एक व्यक्ति यानि पाणिनि की रचना है, इस विषय में भाष्यकार के निम्न कथन प्रमाण है—

"प्रणयति स्म" (सूत्र १ १ १), "प्रयुङ्क्ते" (सूत्र १ १ १) 'पश्यति' (सूत्र ८ ३ ५६) "क्रियन्ते" (सू० ५ ३ ५५), 'शास्ति" (सूत्र ४ २ ६२) "आह" (सूत्र ३ १ ६४) तथा "कृति" (सूत्र २ ३ ६६) इत्यादि। सूत्रों की अन्तःसाक्षी भी इस बात का प्रमाण है कि सारे सूत्र स्वयं पाणिनि के द्वारा उपज्ञात है।[4]

पाणिनीय शब्दानुशासन की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते है कि यहां लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के शब्दों का अन्वाख्यान हुआ है। और व्याकरण का मूर्धाभिषिक्त प्रयोजन वेदों की रक्षा रहा है—"रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्"। तब यह कैसे माना जा सकता है कि वैदिक सूत्र तो ऐसे ही पीछे से यथा-प्रसङ्ग जोड़ दिये गए। माना कि वे विभिन्न स्रोतों (पूर्वाचार्यों के) से सम्बद्ध हैं तथापि वे स्वयं आचार्य पाणिनि के द्वारा ही संगृहीत है, उत्तरवर्तियों के द्वारा नहीं। निपातनसूत्रों के विषय

१ द्र०—महा० भा० १, सूत्र १ १ १, पृ० ४०—"इहापि कृतं पूर्वैरभिसम्बन्धं ? कं। आचार्यं"।

२ वही, सूत्र २ १ ५८, पृ० ४००।

३ लैक्चर्स आन पतंजलि, भा० १, पृ० १६।

४ द्र० पा० २ ४ २१—"उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्"।

मे भी पाणिनि के कई उद्देश्य रहे हैं। तद्यथा—१ स्वरविशेष, २ अर्थ विशेष तथा ३ सिद्धि प्रक्रिया मे विशेष लाघव इत्यादि अर्थात् निपातन सूत्र रचना भी निरद्देश्य न होकर सोद्देश्य है। अत यह अ श भी पाणिनि के बाद का जोडा गया प्रतीत नही होता।

दूसरी बात यह है कि ५०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक कोई इतना बडा युग नही गुजर जाता जो कात्यायन तथा पतजलि को अष्टाध्यायी मे हुए इस प्रक्षेपरूप घपले का पता न चल पाता। विशेष रूप से कात्यायन तो जोकि कुछ विद्वानो द्वारा पाणिनि का कटु आलोचक माना जाता है, ऐसा अवश्य सकेत देता जैसा कि महाभाष्य की लुप्त स्थिति बारे भर्तृहरि ने किया है। इसके अतिरिक्त यदि अष्टाध्यायी को प्राचीन व्याकरण सम्प्रदाय (५००-२०० ई० पू०) का प्रतिनिधि माना जायेगा तो स्वभावत यह जिज्ञासा पैदा होगी कि फिर इसे अन्तिम रूप किसने दिया तथा कात्यायन-पतजलि ने भी इस बहती हुई गगा मे क्यो नही हाथ धोए अर्थात इन्होने भी अपने वार्तिक या भाष्येष्टि रूप वचनो को सूत्र का रूप देकर क्यो नही मूलपाठ मे मिला दिया। जबकि सत्य यह है कि इन्होने मूलपाठ की पवित्रता (Sancitity) बनाये रखने के लिए अपने भाष्यवार्तिक अलग ही रखे। यहा यह भी अवश्य ध्यातव्य है कि यदि कही पर वार्तिक या भाष्यवचन सूत्र मे प्रक्षिप्त भी हो गया है तो वह स्वय भाष्यवार्तिककार द्वारा इरादे या पूर्वसुनियोजित ढग से नही किया गया अपितु उत्तरवर्ती व्याख्याकारो द्वारा ही वैसा किया गया है। अष्टाध्यायी मे जहा कही पर प्राचीन प्रयोग या पूर्वाचार्य सज्ञा रूपी अवैज्ञानिकता दिखाई देने की बात है इस विषय मे भी यह नही कहा जा सकता है कि वृत्तिकारो को इसका ज्ञान नही था। किन्तु इन्हे आर्षप्रयोग या पूर्वाचार्य निर्देश समझकर वृत्तिकार ऐसा कहकर ही शान्त हो जाते है—"विचित्रा हि कृति सूत्रस्य पाणिने"।[1]

प्रस्तुत लेखक की दृष्टि मे अष्टाध्यायी मे जो थोडे बहुत प्रक्षेप समाविष्ट हो गये है, उसके कई रूप हैं। तद्यथा—

१ कही तो पूरा का पूरा सूत्र ही पूर्वाचार्य निर्देश बनाम प्रक्षेप है। यथा—"अनुपसर्जनात्"।[2]

---

१ का० भा०, ५, सू० ७ २ ७८, पृ० ७५१।

२ द्र०—महा० भा० २, सू० ४ १ १४, पृ० २१५—"पूर्वसूत्रनिर्देशो वा पुनरय द्रष्टव्य"।

२ अथवा कही पर पूरा वार्तिक ही सूत्र के रूप मे मान लिया गया है। यथा—"द्वित्रिपूर्वादण् च" ।[1]

३ अथवा कही पर वार्तिकांश ही मूल सूत्रपाठ मे मिल गया है। यथा—"स्वाङ्गाच्चेतोऽमानिनि" ।[2] काशिकावृत्ति मे इस प्रकार की प्रवृत्ति अधिक परिलक्षित होती है।

४ कहीं-कहीं सूत्रो मे योग विभाग कर लेने से भी सूत्र सख्या मे भेद दिखाई देता है यथा—"प्रादय उपसर्गाः क्रियायोगे" यह सूत्र है। भाष्य मे इसे "प्रादय" "उपसर्गाः क्रियायोगे" इस प्रकार अलग-अलग योग विभाग करके व्याख्यात किया गया है।[3] वैसे कहीं-कहीं इसका व्यतिक्रम भी दृष्टिगोचर होता है अर्थात पाणिनि के दो सूत्रो के स्थान पर एक सूत्र ही बना देने का आग्रह भी परिलक्षित होता है। यथा—ईशः से+ईड्जनोर्ध्वे च—ईडीशजना मे द्वयो'[4]

५ कहीं-कहीं गणसूत्र भी मूल सूत्रपाठ मे प्रक्षिप्त हो गया है। यथा—"एति सज्ञायामगात्" । "नक्षत्राद् वा' ।[5]

६ कहीं-कहीं सूत्रो का पौर्वापर्यक्रमविपर्यय भी देखने मे आता है। यथा—"नपुसकमनपुसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्"[6] यह सूत्र है। यह भाष्य में "भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्"[7] इस सूत्र से पूर्व विचारित किया गया है। जबकि मूल सूत्रपाठ मे यह इसके बाद आता है। इसका कारण सम्भवत यह रहा होगा कि पाणिनि "पिता मात्रा", 'श्वशुर श्वश्र्वा'[8]

---

१ द्र०—प० म० भा० ४, सू० ५ १ ३६, पृ० ४६—"वार्तिके दर्शनात् सूत्रेष्वेतत् प्रक्षिप्तम्"।

२ द्र०—वही, भा० ५, सू० ६ २ ४०, पृ० २३६—"अमानिनीतिवार्तिके दर्शनात् सूत्रे प्रक्षिप्तम्"।

३ द्र०—महा० भा० १, सू० १ ४ ५८, पृ० ३४१,—"प्रादय इति योग-विभाग कर्तव्य । तत उपसर्गा क्रियायोगे"।

४ का०, भा० ५, सूत्र ७ २ ७८, पृ० ८४१—"ईडीशजना मेद्वयोरित्येकमेव सूत्र न पठितम्। विचित्रा हि कृति सत्रस्य पाणिनि"।

५ तत्त्वबोधिनी, सूत्र ८ ३ ९९-१००—'सुषामादिगणसूत्रमेतत्"।

६ पा० १ २ ६९।

७ पा० १ २ ६८।

८ पा० १ २ ७०-७१।

यहा दोनो स्थानो पर नपुसकसूत्रस्थ 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण की अनुवृत्त करने के लिए—"नपुसक" सूत्र को इन दोनो से पूव उपन्यस्त करते है। क्योंकि "भ्रातृपुत्रौ०" यहा नित्य एकशेष इष्ट है। तथा "पिता मात्रा" इत्यादि मे वैकल्पिक एकशेष। किन्तु भाष्यकार ने सूत्रगत विषय साम्य को देखकर सूत्रपाठ को भग करते हुए तीनो का एक साथ विवेचित किया तथा इनके मध्य से "नपुसक सूत्र" को निकाल कर उस पर पहले विचार किया।

इस सन्दर्भ मे एक स्थान पर तो एक साथ ही पाच सूत्र अर्थात् पूरा का पूरा प्रकरण ही स्थानभ्रष्ट या पूर्वापरक्रमविरहित सा हो गया प्रतीत होता है। न जाने कैसे यह प्रमाद हो गया। इसके स्थानभ्रष्ट होने का सकेत भाष्यकारोक्त उदाहरणो से मिलता है। तद्यथा—अष्टाध्यायी सूत्रपाठ मे अब "दीर्घादाचार्याणाम्"[1] इस सूत्र के बाद "झला जश् झशि", "अभ्यासे चर् च", "खरि च", "वावसाने", "अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिक"[2] ये पाच सूत्र पठित है और इनके बाद "अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण", "वा पदान्तस्य", "तोर्लि", "उद स्थास्तम्भो पूर्वस्य", "झयो होऽन्यतरस्याम्", "शश्छोऽटि"[3] इन छह सूत्रो का पाठ वृत्त्यादिग्रन्थो मे मिलता है। किन्तु भाष्य म "दीर्घादाचार्याणाम्" सूत्र के अनन्तर "अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण" "वा पदान्तस्य", "तोर्लि", "उद स्थास्तम्भो पूर्वस्य", "झयो होऽन्यतर-स्याम्", "शश्छोऽटि" इस षट्सूत्री का पाठ इष्ट है। और इसके बाद "झला जश् झशि" इत्यादि पूर्वोक्त पञ्चसूत्री का पाठ अभिप्रेत है।

इन सूत्रो के पौर्वापर्यविपर्यय मे भाष्यकार प्रदत्त 'उत्कन्द' यह उदाहरण ही ज्ञापक है। 'उत्कन्द' यहा पर 'उद्' उपसर्ग से परे 'स्कन्द्' धातु को "स्कन्देश्छन्दस्युपसख्यानम्"[4] इस कथन से सकार के स्थान मे पूर्वसवर्णभूत थकार मे जाना है और उसको "खरि च" से चर् होने से तकार होकर उत्कन्द ऐसा रूप निष्पन्न हो जाता है। किन्तु वृत्त्यादिसम्मत सूत्रपाठ मे तो पूर्वसवर्णभूत थकार के "खरि च" की दृष्टि मे असिद्ध होने के कारण

---

१ पा० ८ ४ ५२।

२ पा० ८ ४ ५३-५७।

३ पा० ८ ४ ५८-६३।

४ पा० ८ ४ ६१ पर वार्तिक।

'उत्कन्द' यहां पर थकार को तकार प्राप्त नहीं होता। हां, भाष्यसम्मत सूत्रपाठ मे तो "खरि च" के प्रति पूर्वगवर्णभूत थकार के सिद्ध होने के कारण थकार को तकार निर्बाध सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार भाष्यसम्मत सूत्रपाठ मे 'उत्थानम्, उत्तम्भनम्' इत्यादि प्रयोगो मे भी "खरि च" से थकार का तकार सिद्ध हो जाता है। उनके मत मे थकारद्वय ठीक नही। जबकि वृत्त्यादि ग्रन्थों के पाठ मे दो थकार अवश्य प्राप्त होगे।[1]

कही-कही पर पदकारो के द्वारा भी भ्रान्तिवश प्रक्षेप हो गये है। जैसा हि भाष्यकार सकेत करते है कि सूत्रपाठ पहले सहितापाठ मे था।[2] बाद मे इसे पदकारो द्वारा अलग-अलग किया गया। पृथक्करण की प्रक्रिया मे भी एकाध सूत्र भ्रष्ट हो गया प्रतीत होता है। तद्यथा—"यजुष्युरो" यह सूत्र है।[3] सर्वत्र अष्टाध्यायी मे "यजुष्युरो" के स्थान पर "यजुष्युर" ऐसा विसर्गान्त ही पढ़ा जाता है जोकि अपपाठ है। क्योकि इसका प्रयोग सत्यापित Attested नही मिलता। सारे यजुर्वेद मे वक्ष-स्थलवाची एडन्त 'उरस्' शब्द से परे ह्रस्व अकार नहीं मिलता जबकि महान् अर्थ के वाचक एडन्त 'उरु' शब्द से परे तो ह्रस्व अकार का प्रयोग उपलब्ध है। इस अपपाठ का वास्तविक कारण सम्भवत यह रहा होगा कि मूल सहितापाठ मे "यजुष्युर आपो जुषाणो०"[4] ऐसा सन्धियुक्त पाठ था। सन्धिच्छेद करते समय यहा

---

१ द्र०—बालमनोरमा, भा० १, सूत्र ८४६३, पृ० १२८। "वस्तुतो" 'दीर्घादाचार्याणाम्' इत्युत्तरम् 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण', 'वा पदान्तस्य", 'तोर्लि', 'उद स्थास्तम्भो पूर्वस्य', 'झयो होऽन्यतरस्याम्', 'शश्छोऽटि' इति षट्सूत्रीपाठोत्तर 'झलां जश् झशि', 'अभ्यासे चर् च', 'खरि च', 'वावसाने', 'अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिक' इति पञ्चसूत्री पाठ इति 'हलो यमा' इति सूत्रस्थभाष्यसम्मत सूत्रक्रम। एव च 'खरि च' इति चर्त्वे कर्तव्ये 'उद स्थास्तम्भो' इति पूर्वसवर्णस्य थकारस्यासिद्धत्वाभावाच्चर्त्वे उत्थानम् इति द्वितकारमेकथकार च रूपम्। उत्तम्भनमिति तु त्रितकारमेव रूपमिति शब्देन्दुशेखरे प्रपञ्चितम्।

२ द्र०—महा० भा० १, सूत्र ४१५०, पृ० १२१—"उभयथापि तुल्या सहिता। स्थानेऽन्तरतम उरण् रपर इति।'

३ पा० ६ १.११७।

४ पा० १ १ ११७-११८।

दोनो तरह का पाठ निकल सकता है। यथा—यजुष्युर आपो जुषाणो०" तथा "यजुष्युरो आपो जुषाणो०"। किन्तु यहा पदकारो द्वारा भ्रान्तिवश "यजुष्युर" ऐसा भ्रान्त अपपाठ ग्रहण कर लिया गया तथा शुद्ध पाठ "यजुष्युरो" छोड दिया गया जिसका कि प्रयोग भी सत्यापित मिलता है तथा जिसकी ओर स्वय काशिकाकार ने सकेत भी किया है—"अपरे तु यजुष्युरो इति सूत्र पठन्ति, उकारान्तमुरशब्द सम्बुद्धयन्तमधीयते । त इदमुदाहरन्ति—उरा अन्तरिक्ष सजूरिति"।[1]

इस प्रकार अष्टाध्यायी मे छुटपुट प्रक्षेप है, यह तो सभी को मानना पडेगा।[2] लेकिन उतने अव्यवस्थित तथा उतनी अधिक मात्रा में नही जितने कि डा० जोशी आदि आधुनिक विद्वान् मानते है। भाष्यकार के शब्दो मे—"यो ह्युत्सूत्र कथयेन्नादो गृह्येत"।[3] अर्थात् अष्टाध्यायी मे उत्सूत्र (प्रक्षप) कथमपि नही हैं। प्रकृत प्रसग मे डा० जाज कार्डोना का निष्कर्ष अवश्य स्मरणीय है—

"In the present state of our knowledge, I think it is wise to accept as a working hypothesis Keilhorn's view that the Aṣṭādhyāyī has at least from the time of the Mahābhāṣya been well preserved Moreover, I think it is reasonable to say that attempts to demonstrate massive interpolation or borrowing in the text received by Kātyāyana and Patañjali cannot be deemed successful There remain many details to be studied concerning precise formulations of given rules"[4]

---

१ का० भा० ४, सूत्र ६ १ ११७, पृ० ५६२। इस सूत्र पर विशेष विचार के लिए देखे, मेरा लेख, 'प्रयोजन की दृष्टि से पाणिनि के चार सूत्रो की समीक्षा,' भारतीशोधसारसग्रह, जयपुर, वर्ष-७, अक १-२, दिसम्बर, १९८०, पृ० २७-३६।

२ अष्टाध्यायी मे प्रक्षिप्त अशो का सग्रहरूप मेरा एक लेख भी इस विषय मे द्रष्टव्य है जो स्वरमगला जयपुर, सितम्बर, १९८४, पृ० १८-२६ पर प्रकाशित हुआ था—'पाणिनीयाष्टाध्यायी सूत्रपाठेऽव्यवस्था'।

३ महा० पस्पशा०, पृ० १२।

४ Pānini A Servey of Research, p 160

प्रक्षेप के प्रसग मे तो डा० जोशी ने महाभाष्य को भी नही छोडा। फलत इन्होने उसमें भी अनेकत्र प्रक्षेपो का सकेत किया है। खैर, इस पर तो आगे की पक्तियो मे विचार किया जायेगा। जहा तक प्रत्याख्यात सूत्रो के मूलपाठ मे प्रक्षिप्त होने की स्थिति का सम्बन्ध है, इस विषय मे इतना ही कहना है कि लेखक को कोई भी प्रत्याख्यात सूत्र प्रकटरूपेण प्रक्षेप नही प्रतीत हुआ है। पूर्वाचार्य निर्देश रूप तथाकथित प्रक्षेप आदि जहा पर हुए है, वे यथा स्थान सकेतित कर दिये गए है।

महाभाष्य में प्रक्षेप

जहा तक महाभाष्य मे प्रक्षेप का प्रश्न है, इस विषय मे यह कहा जा सकता है कि सम्भवत इसमे भी कुछ शब्द—वाक्याश प्रक्षिप्त हो गये हैं। क्योकि महाभाष्य के ऐतिहासिक अध्ययन से पता चलता है कि इसका तीन बार प्रचार-प्रसार बन्द हो जाने के कारण यह प्राय लुप्त सा हो गया था। तब पुन इसे उद्धार करने के प्रसग मे छुट-पुट शाब्दिक प्रक्षेपो की सम्भावना से नकारा नही जा सकता। किन्तु उस रूप म या उतनी अधिक मात्रा मे यहा पर भी प्रक्षेप स्वीकार नही किया जा सकता जितना कुछ आधुनिक विद्वान् कहते है। अस्तु, इन विद्वानो का विचार है कि भाष्य मे अनेकत्र प्रक्षिप्त अ श विद्यमान है। क्योकि जब एक सूत्र या सूत्राश को पतजलि एक स्थान पर खण्डित कर चुके है तब उस पूर्ण खण्डित अ श को आधार मानकर किसी अन्य सूत्र का खण्डन करना सयुक्तिक नही लगता। इसे युक्तिसगत बनाने के लिये यह कल्पना करना अधिक उचित जान पडता है कि उस पूर्व प्रत्याख्यात अ श को प्रक्षिप्त अ श ही मान लिया जाये। इस सन्दर्भ मे 'गत्यर्थकर्मणि०'[1] सूत्र का प्रत्याख्यान उद्धृत हो सकता है। यह सूत्र "कर्मणा यमभिप्रैति"[2] सूत्रस्थ 'क्रिया' ग्रहण के आधार पर खण्डित किया गया है। लेकिन यहा विचारणीय स्थिति यह है कि 'क्रिया' ग्रहण तो स्वय वहा "क्रियाऽपि कृत्रिम कर्म"[3] ऐसा कहकर खण्डित कर दिया गया है। तब उसके आधार पर "गत्यर्थकर्मणि०" सूत्र का खण्डन ठीक नही लगता। इस कारण से डा० एस० डी० जोशी का मत है कि यह 'क्रिया' ग्रहण के खण्डन

१ पा० २ ३ १२।
२ पा० १ ४ ३२।
३ महा० भा० १, सू० १ ४ ३२, पृ० ३३०।

वाला अ श प्रक्षिप्त है, बाद मे जोडा गया है।[१] इसी प्रकार "अनभिहिते" सूत्रभाष्य के बारे म भी प्रत्याख्यानाधिकरण अ श, डा० जोशी के अनुसार, प्रक्षिप्त-सा लगता है। क्योंकि एक बार सूत्र के प्रयोजनों पर पूरा विचार किया जा सकता है। तब अन्त मे पुन उन पर विचार करना प्रक्षेप का सा सकेत देता है।[२]

---

१ द्र०—भाष्य (जोशी), अनभिहिताह्निक, Introduction P XIVIII "But how can Patañjalı say this ? The fact is that in the discussion on P 1 4 32, the addition of the work क्रिया i e क्रियया to this rule has been rejected To remove this apparent contradiction in the Bhāsya, Kaiyata suggests that the use of the dative endings in examples like ग्रामाय गच्छति can be established even without the use of the word क्रिया in P 1 4 32 In this discussion at the end of this rule the Bhāsyakara or a Bhāşykara has stated that As indicated allready, the appcent contradiction in the Bhāşya can also be removed by assuming that Bh Nos 12-14 on P 1 4 32 is a latter addition that is to say, it can be assumed that the author of Bh Nos 1-11 on the rule who adds the word क्रिया to this rule and rejects P 2 3 12, is not aware of the desvice of supplying an action as the कर्मन् in connection with intrasitive verbs which for the author of Bh Nos 12-14 on P 1 4 32 form the ground, by which be rejects the addition of the word क्रिया on this rule and by which he accepts P 2 3 12"

५ भाष्य (जोशी) अनभिहिताह्निक, Introduction P XXXVIII "The discussion rather surprisingly to the very first topic, that of the purpose of the rule. It consists of four vts and eight Bhāsyas and it looks lips a reconsideration of the same problem in the light of more developed grammatical, technical thought If this section has been added later on, the question is who did it ? Patañjali himself in later stage of the composition of the Mbh Or somebody else ? The second question is whose Vts are quoted here ?"

किन्तु लेखक की सम्मति में डा जोशी का यह मत विचारणीय ही प्रतीत होता है। क्योंकि यह तो भाष्यकार की प्रत्याख्यान करने की एक शैली रही है कि वे एक स्थान पर उसका खण्डन करते है तथा दूसरे स्थान पर उसी का मण्डन या उसके आधार पर तीसरे का खण्डन करते दिखाई देते है। एक सूत्र के आधार पर दूसरे का खण्डन तथा दूसरे के आधार पर पहले का खण्डन तो भाष्य में अनेकत्र दिखाई पड़ता है। किन्तु इससे यह मान लेना कि यह अ श प्रक्षिप्त है, कथमपि उचित प्रतीत नही होता। जैसे 'सन्निपात परिभाषा'[1] के आधार पर "न धातुलोप०"[2] सूत्र का खण्डन तथा "न धातुलोप०" सूत्र के आधार पर 'सन्निपात परिभाषा' का खण्डन करना तो भाष्यकार की अपनी शैली है। इसीलिए कैयट ने स्पष्ट कहा है कि यद्यपि 'क्रिया ग्रहण' वहा खण्डित कर दिया गया है तथापि वहा पर विद्यमान न्याय जिसके आधार पर 'क्रियाग्रहण' को अनावश्यक सिद्ध किया था, का स्मरण कराने के लिये ही "गत्यर्थकर्मणि०" सूत्र का 'क्रिया' ग्रहण से खण्डन किया गया है।[3] भाष्य मे इस प्रकार के पूर्वापर विरुद्ध स्थान अनेकत्र टीकाकारो द्वारा भी सकेतित किये गये है। तद्यथा—

(क) "एतच्चणो नडीति सूत्र भाष्येण विरुध्यते"।[4]

(ख) "उक्त प्रयोजनमपि किंचिन्न वचनानुरूप्यमिति पौर्वापर्यविरोधादयुक्तम्"।[5]

(ग) "अस्थितोऽपि पक्ष क्वचिदुपन्यस्यते इत्येव विरोध परिहार्य"।[6] इत्यादि।

इसी प्रकार "अनुपसर्जनात्"[7] यह सूत्र है। इधर इसका खण्डन भी कर

---

१ परि० स० ८५।

२ पा० १ १ ४।

३ द्र०—महा० प्र० भा० २, सू० २ ३ १२, पृ० ७८३—"यद्यपि क्रियाग्रहण तत्र प्रत्याख्यात तथापि तत्रैव न्यायस्योक्तत्वाद्वचनमाश्रित्यास्य सूत्रस्य प्रत्याख्यान कृतमथवा तत्रत्यन्यायस्मरणार्थमिदमुक्तम्"।

४ वही, भा० सू० ७ ४ ९३, पृ० २७७।

५ वही, सू० ७ ४ ८२, पृ० २७१।

६ वही, सू० ७ ४.२, पृ० २४८।

७ पा० ४ १ १४।

रहे है और उधर एकदेशी पूर्वपक्ष के रूप में ही महो, सर्वनाम सज्ञा म उसकी उपयोगिता भी बता रहे है—"अनुपसर्जनात् इत्येष योग प्रत्याख्यायते नमेवमभिममस्याम अनुपसजन अ अत् इति—"।[1] यह विसगति कैसे। अत ऐसे स्थलो में यही मानना युक्तिसगत लगता है कि भाष्यकार की यह शैली रही है कि वे "पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति" इस न्याय का आश्रयण करके चलते हैं। उस समय में वे यह नही देखते हैं कि उसका खण्डन करना चाहिये या नही, इसका पहले भी कही खण्डन या मण्डन हो चुका या नही। अथवा इसको युक्तिरूप मे प्रस्तुत किया भी जा सकता या नही। यदि ऐसे स्थलो को प्रक्षिप्त माना जायेगा तब तो भाष्य में ऐसे अनेक स्थलो को भी प्रक्षिप्त मानना होगा। अत ऐसे प्रसङ्गो में यह मानना अधिक समीचीन लगता है कि भाष्यकार अपनी बात को कई ढग से प्रस्तुत करते हैं। इसमें उनका यह उद्देश्य प्रतीत होता है कि विद्यार्थी के मस्तिष्क को विकसित करना तथा पूर्वापरविरोधी नाना दृष्टियो से सोचने के लिये प्रेरित करना। यही कारण है कि वे कही कुछ कह जाते हैं तथा कही पूर्वोक्त से उलट कह देते है। इस सन्दभ मे कैयट की टिप्पणी स्मरणीय है—"ननु सुवामन्त्रिते इत्यत्रोक्तम् अविशेषेणेतद् भवति—पूर्वपदमुत्तरपदमिति, तेन चर्मतमन्त्रित्यत्र णत्व न भविष्यतीति। उच्यते, स्वरग्रहणप्रत्याख्यानाय तदुक्त न त्वेष पक्ष स्थित"।[2] "इह तु प्रतिषेधवचनमर्थान्तरज्ञापनायोक्तमिति ग्रथविरोध तस्मान्यायाश्रयेण हलचोरादेशो न स्थानिवदित्यर्थ पक्षो ग्राह्य। इह तु अभ्युपेत्य स्थानिवत्व ज्ञापकत्वमाश्रितम्। शिष्यबुद्धिव्युत्पादनायास्थितोऽपि पक्ष क्वचिदुपन्यस्यत इत्येव विरोध परिहार्य"।[3] और यही व्याख्याकारो के मत मे भाष्यकार की एकदेश्युक्ति है—"अल्लोपिना नेत्यपि तर्हि प्राप्नोती-त्यारभ्य एकदेश्युक्तिरिद भाष्यमिति तत्वम्"।[4]

भाष्यकार की एक और भी प्रत्याख्यानशैली है। उसके अनुसार एक बार तो वे सूत्र का प्रत्याख्यान कर डालते हैं। भले ही वह प्रत्याख्यान एक पक्षीय हो, किन्तु सूत्र यदि वस्तुत वजनदार या अनुपेक्षणीय है तो खण्डन

---

१ महा० भा० १, सू० १ १ २७ पृ० ८७।

२ महा० प्र० सू० ८ ४ १४, भा० ८, पृ० ४६७।

३ वही, सू० ७ ४ २, भा० ७, पृ० २४८।

४ महा० प्र० उ० सू० ७ ४ २, भा० ७, पृ० २४८।

करने के बाद पुन "आरम्यमाणेऽप्येतस्मिन् योगे—" इत्यादि कहकर उस सूत्र की सत्ता को मौन स्वीकृति दे देते हैं। इस दृष्टि से "स्थानिवत्०" आदि सूत्र देखे जा सकते हैं। "अनभिहिते" सूत्र का प्रत्याख्यानाधिकरण अंश भी इसी शैली का अंगभूत है। मीमांसक जी के अनुसार खण्डन और प्रत्याख्यान शब्दों के अर्थों में विद्यमान अन्तर भी लेखक की उक्त धारणा की पुष्टि करता है क्योंकि खण्डन शब्द का मतलब तो सूत्र को सर्वथा त्याज्य बनाना है जबकि प्रत्याख्यान का तात्पर्य प्रकारान्तर से प्रयोग निदर्शन करना ही है। इसीलिए प्रत्याख्यात अंश सूत्रादि तो बार-बार उद्धृत भी किये जाते हैं जबकि खण्डित अंश उद्धृत नहीं किया जा सकता।[2] इसीलिए भाष्यकार ने प्रत्याख्यान किया है, खण्डन नहीं। अतः ऐसे प्रसंगों में यही मानना अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता है कि भाष्यकार की यह अपनी ही प्रत्याख्यान करने की शैली है।

वैसे भाष्य में भ्रष्ट या नष्ट तो अवश्य मिलते हैं। नष्ट पाठ जैसे—"अस्य च्वावव्ययप्रतिषेध उच्यते" यह वचन "अव्ययीभावश्च"[3] इस सूत्र के भाष्य में पठित है। किन्तु भाष्य में "अस्य च्वौ"[4] यह सूत्र ही नहीं मिलता। प्रतीत होता है कि पहले उस पर भाष्य तथा उक्त भाष्यवार्तिक रहा होगा। सम्प्रति वह नष्ट हो गया। इसी प्रकार भ्रष्ट पाठ जैसे—"अनचि च"[5] सूत्र के भाष्य में "नाय प्रसज्यप्रतिषेध अचि नेति किं तर्हि, पर्युदासोऽयम् यदन्यदच इति" ऐसा भ्रष्ट पाठ है। यहां पाठ निम्न होना चाहिए—"नाय पर्युदासो यदन्यदच इति, किं तर्हि, प्रसज्यप्रतिषेध अचि नेति"। प्रसज्यप्रतिषेध मानने पर ही 'वाक्, वाक्क्' यहां अवसान में द्वित्व सिद्ध हो सकता है, पर्युदास में नहीं। प्रदीपकार कैयट ने भी स्पष्ट रूप से इसे भ्रष्ट पाठ माना है।[6] इसी प्रकार

---

१ पा० १।१।५६।
२ खण्डन और प्रत्याख्यान शब्दों के अर्थों में अन्तर के लिए द्र० पृ० २४-२५।
३ पा० १।१।४१।
४ पा० ७।४।३२।
५ पा० ८।४।४७।
६ द्र०—महा० प्र० भा० ८, सू० ८।४।४७, पृ० ५०७,—"नाय प्रसज्य-प्रतिषेध इति। पाठोऽयं लेखकप्रमादान्नष्ट। पर्युदासो ह्यन्यहणस्य

कहीं-कहीं पर मूलपाठ के स्थान पर शब्दान्तर या वर्णान्तर भी प्रक्षिप्त देखा जा सकता है। तद्यथा—

१ भाष्यपाठ "अपर्याप्तश्चैव हि यासुट् 'समुदायस्य ङित्वे'।[1]
प्रदीप "केषाञ्चित्पाठ सुपर्याप्तश्चैव होति"।

२ प्रदीप "किम्पुनरिति—वार्तिकानुसारेण इड्ग्रहणमिति पाठो युक्त। इण्ग्रहणमिति तु भाष्ये प्रायेण पाठ"।[2]

३ प्रदीप क्वचित् पाठो नैप युक्त परिहारो विप्रतिषेधे पुन प्रसङ्ग इति"।[3]

४ उद्द्योत न चैव दोषा साकल्येनेति भाष्य विरोध, नष्टायेति या देशो दीर्घत्वस्येति ग्रन्थो भाष्यपुस्तकेप नष्टोऽतो न दोष"[4] इत्यादि।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भाष्य के मूलपाठ मे छुटपुट शाब्दिक प्रक्षेप तो सम्भावित हो सकते हैं किन्तु पूरे प्रकरण या अ श कदापि नही।

'प्रत्याख्यात' शब्द का अभिप्राय.

'प्रत्याख्यात' शब्द 'प्रति' तथा 'आङ्' उपसर्ग पूर्वक 'ख्या प्रकथने' अथवा "चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शनेऽपि"[5] धातुओ से निष्ठा प्रत्यय क्त, करने पर निष्पन्न होता है। दोनो उपसर्गों को छोडकर केवल 'ख्यात' शब्द का अर्थ है—जो कहा गया है अथवा प्रसिद्ध है। 'प्रति' को छोडकर केवल 'आङ्' उपसर्गयुक्त 'आख्यात' शब्द का अर्थ है—'आ समन्तात् ख्यातम्' अर्थात् जो पूर्णतया कह दिया गया है अथवा जिसका नि शेषेण कथन कर दिया गया

वर्णान्तरस्य निमित्तत्वेनोपादानादवमाने द्विर्वचनस्याप्रसगात्। तस्मान्नाय पर्युदासो यदन्यदच् इति। कि तर्हि, प्रसज्यप्रतिषेध अचि न इत्यय पाठ। तत्र प्रसज्यप्रतिषेधे विधिरनुमीयते"—।

१ महा०, भा०-१, सूत्र १ १ ५, पृ० ५५।

२ महा० प्र० भा०-८, सू० ८ ३ ७८, पृ० ४७६।

३ वही, भा०—८, सू० ७ ४ ६, पृ० २५१।

४. महा० प्र० उ० भा०—५, सू० १ १ ३६, पृ० ३१८।

५ पा० २ ४,५४ "चक्षिङ ख्याञ्"।

है। यद्यपि वैयाकरण निकाय में 'आख्यात' शब्द 'तिङ्' प्रत्यय या तिङन्त पद के लिए भी व्यवहृत हुआ है[1]। तथापि प्रस्तुत प्रसंग में वह पारिभाषिक अर्थ अभिप्रेत नहीं है अपितु प्रख्यात, विख्यात आदि शब्दों के समान 'ख्या' धातु का सामान्य अर्थ 'प्रकथन' ही लिया गया है। 'प्रति' सहित 'आख्यात' शब्द (प्रत्याख्यात) का अर्थ हुआ कि जो कहा गया है उसका प्रतिकूल कथन। 'प्रत्याख्यान' शब्द का विलोम 'अन्वाख्यान' शब्द मिलता है, जिसका अर्थ है—अनुकूल कथन। तात्पर्य यह है कि एक ही व्याख्यान के उपसर्गभेद से अर्थभेद होने के कारण वही अनुकूल कथन होने पर अन्वाख्यान तथा प्रतिकूल कथन होने पर 'प्रत्याख्यान' कहलाता है। कोशों में 'प्रत्याख्यात' शब्द के निम्न अर्थ हैं—दूरीकृत, प्रत्यादिष्ट, निरस्त, निराकृत निहृत विप्रकृत तथा खण्डित[2] इत्यादि। इस प्रकार उपर्युक्त विभिन्न पर्यायवाचियों में दूरीकृत निरस्त, निराकृत तथा खण्डित शब्द ही प्रस्तुत सन्दर्भ में 'प्रत्याख्यात' शब्द के अधिक निकटवर्ती हैं।

किंतु खण्डन और प्रत्याख्यान इन दोनों शब्दों में भी एक सूक्ष्म अन्तर यह हो सकता है कि खण्डन शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में है जबकि 'प्रत्याख्यान' शब्द सीमित अर्थ में ही प्रयुक्त होता है अर्थात् खण्डन तो मूर्त-अमूर्त सभी वस्तुओं या बातों का हो सकता है जबकि 'प्रत्याख्यान' केवल आख्यान कथन या वचन का ही प्रतिकूल कथन है। प्रकृत सन्दर्भ में पं० युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार सूत्र में दोष दिखाकर उसको सर्वथा अग्राह्य बना देना खण्डन है। जबकि बुद्धि चातुर्य से प्रकारान्तर द्वारा प्रयोगसिद्धि का निदर्शनमात्र करना 'प्रत्याख्यान' होता है। खण्डित सूत्र शास्त्र में किसी भी प्रयोजन को ज्ञापित करने के लिए ग्राह्य नहीं होना चाहिए जबकि 'प्रत्याख्यात' सूत्र पदे-पदे प्रयोजनों को ज्ञापित करने में तात्पर्यग्राहक होता है। सम्भवतः इसीलिए भाष्यकार ने सम्पूर्ण भाष्य में पाणिनि या कात्यायन के वचन का विरोध करते हुए कहीं पर भी खण्डन शब्द का प्रयोग या व्यवहार नहीं किया है।[3] प्रत्युत सर्वत्र 'प्रत्याख्यान' शब्द का ही प्रयोग किया है। सरल शब्दों में—'प्रत्याख्यान' शब्द का तात्पर्य सूत्र के सर्वथा हटाने में नहीं होता जबकि

---

१ टेक्नीकल टर्मस् आफ संस्कृत ग्रामर, पृ० ७१ से ८३ तक देखें।

२ शब्दकल्पद्रुम, वाचस्पत्यम् आप्टे कोश, मोनियर विलियम शब्द कोश आदि।

३ वर्ड इण्डेक्स टु पतञ्जलिज महाभाष्य, श्रीधर शास्त्रि सम्पादित।

सम्भवत खण्डन में होता होगा'। लेकिन अद्यत्वे व्यवहार मे 'प्रत्याख्यान' शब्द के स्थान म खण्डन शब्द का प्रयोग रुढ हो चुका है। अत 'प्रत्याख्यान' शब्द का खण्डन अर्थ समझ लिया जाता है। दोनो मे कोई विरोध नही है।

प्रत्याख्यान की पृष्ठभूमि तथा उसके प्रकार

सस्कृत व्याकरण मे प्रत्याख्यान की परम्परा कब तथा क्यो प्रारम्भ हुई इस विषय मे यद्यपि निश्चय से तो कुछ कह सकना कठिन है तथापि सम्भवत सूत्रो के सक्षेप पर अधिक बल देना ही उसके मूल मे सन्निहित है। अथवा 'किमर्थमिदमुच्यते, किं प्रयोजनम्' इत्यादि के रूप मे सूत्रो के प्रयोजन जानने की आकाक्षा भी इसका कारण हो सकती है। क्योकि जब सूत्र का कोई प्रयोजन ही नही होता तो उस सूत्र का प्रत्याख्यान आवश्यक समझ लिया जाता है। इसके अतिरिक्त उस समय अन्वाख्यान या प्रत्याख्यान करने की एक रीति या प्रवृत्तिविशेष ही चल पडी थी। यह रीति भी इस परम्परा का कारण सम्भव है। बाद मे इस प्रत्याख्यान परम्परा की पराकाष्ठा "अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सव मन्यन्ते वैयाकरणा"[२], के रूप मे व्याकरण जगत् मे अधिक प्रतिष्ठित हुई। अथवा प्रत्याख्यान की पृष्ठभूमि के रूप मे यह एक कारण भी सम्भावित हो सकता है कि शायद भाष्यवार्तिककार आदि के मनो मे यह भाव रहा हो कि चिन्तन के धरातल पर शिष्यो या उत्तरवर्ती वैयाकरणो का मस्तिष्क अधिक विकसित हो सके। वे सूत्रो पर और अधिक गहराई से विचार कर सकें। यही कारण है कि अर्वाचीन वैयाकरणो ने भाष्यवार्तिककार के द्वारा प्रस्तावित सशोधनो को आधार मानकर ही सूत्रो की रचना की है और यह परम्परा भी केवल भाष्यवार्तिककार तक ही सीमित नही रही है अपितु आगे आने वाले कैयट, हरदत्त, भट्टोजिदीक्षित तथा नागेशभट्ट तक अक्षुण्ण रही है। यह बात अलग है कि भाष्येतर ग्रन्थो मे प्रत्याख्यात सूत्र मेरे अध्ययन के विषय नही है।

किन्तु सूत्रो का प्रत्याख्यान करना इतना सहज नही है। इसके लिए प्रत्याख्यानवादी को सूत्रकार की अपेक्षा अधिक व्यापक दृष्टि वाला होना पडता है। ऐसी स्थिति मे उसे यह देखना आवश्यक हो जाता है कि सूत्र

---

१ उक्त अर्थभेद के विषय मे द्र०, महाभाष्य हिन्दीव्याख्यासहित, युधिष्ठिर मीमासक, भा०—१, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ, १९७९, पृ० २८७-२८६।

२ परि० स० १३३।

रचना से लाघव है या सूत्ररचना के बिना भी लक्ष्य सिद्ध हो जाती है या फिर सूत्र के बने रहने से कोई दोष तो नहीं आता। महाभाष्य में पतञ्जलि ने कहीं तो वार्तिकों के परिप्रेक्ष्य में सूत्रों का प्रत्याख्यान किया है और अन्यत्र स्वतन्त्र रूप से भी सूत्रों को खण्डित किया है। ऐसे भी अनेक स्थल देखने में आये है जहां भाष्यकार की वार्तिककार से असहमति है। यह सब दोनों के प्रातिस्विक दृष्टिभेद के कारण हुआ है तथा यत्र लाघव या स्पष्ट प्रतिपत्ति भी इसके कारण रहे जा सकते है। ऐसे प्रसङ्गों में 'यथोत्तर मुनीनां प्रामाण्यम्'[1] इस उक्ति की गरिमा को अनुभव करते हुए भी हमारा आग्रह नहीं रहा है। इस विषय में आकालिकाद्यन्तवचने[2] सूत्र की समीक्षा द्रष्टव्य है।

वाक्यवार्तिकों के समान कुछ श्लोकवार्तिक भी प्रत्याख्यान में सहायक रहे है। ये श्लोकवार्तिक किसके है यह एक अलग विचारणीय विषय है। इसी प्रकार "अपर आह" कहकर भाष्यकार जो दूसरी व्याख्या प्रदर्शित करते हैं, वह स्वयं उन्हीं की है या किसी अन्य वैयाकरणाचार्य की, यह भी विद्वानों के विचार का विषय है अर्थात् 'अपर' शब्द से किसकी ओर संकेत है। कुछ सूत्रों का प्रत्याख्यान भाष्यवार्तिककार द्वारा साक्षात् शब्दोपात्त नहीं है। किन्तु आद्योपान्त देखने पर भाष्यकार का अभिप्राय इस सूत्र के प्रत्याख्यान में प्रतीत होता है। भाष्यकार के विषयप्रतिपादन के शैलीवैचित्र्य के कारण ऐसे स्थलों में उनके गम्भीर आशय को समझ पाना बहुत कठिन हो जाता है। इसीलिए टीकाकारों में भी इस विषय में स्पष्ट मतभेद दिखाई पड़ता है जोकि यथास्थान निर्दिष्ट कर दिया गया है। इस दृष्टि से सूत्रों का प्रत्याख्यान भी स्पष्टलिङ्ग तथा अस्पष्टलिङ्ग भेद से दो प्रकार का हो जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में ऐसे प्रसंगों की समीक्षा करते समय यद्यपि पर्याप्त गाम्भीर्य तथा संयम से काम लिया गया है तथापि सम्भव है, कहीं पर गाम्भीर्य के कारण अवधेयगाथ भाष्याशय को पूरी तरह से न समझा जा सका हो, उसके लिए, आशा है, विद्वान् क्षमा करेंगे।

अस्तु, वैसे तो वार्तिककार तथा भाष्यकार द्वारा किये गये किसी भी सूत्र के प्रत्याख्यान में अन्यथासिद्धिमूलक दृष्टि का ही उपयोग हुआ है तथापि

१ वै० सि० कौ०, भा०—१, पृ० २२३।
२ पा० ५ १ ११४।

सूक्ष्मेक्षिकया परिशीलन करने के बाद इन दृष्टियों का वर्गीकरण कुछ इस तरह से किया जा सकता है—

१ ज्ञापकमूलक प्रत्याख्यान ।
२ "नैक प्रयोजन योगारम्भं प्रयोजयति" दृष्टि मूलक प्रत्याख्यान ।
३ लोकविज्ञान या लोकव्यवहारमूलक प्रत्याख्यान ।
४ परिभाषामूलक प्रत्याख्यान ।
५ न्यायान्तरमूलक प्रत्याख्यान ।
६ "दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति" दृष्टि मूलक प्रत्याख्यान ।
७ दार्शनिकसिद्धान्तमतभेदमूलक प्रत्याख्यान ।
८ लक्षणावृत्ति या उपचारमूलक प्रत्याख्यान ।
९ विशेष के स्थान पर सामान्य विवक्षामूलक प्रत्याख्यान ।
१० प्रवृत्तिनिमित्तैकतामूलक प्रत्याख्यान ।
११ (सूत्र के अभाव में भी) अनिष्टादर्शनमूलक प्रत्याख्यान ।
१२ लाघवमूलक प्रत्याख्यान ।
१३ स्वतन्त्र प्रकृत्यन्तरमूलक प्रत्याख्यान ।
१४ निपातनमूलक प्रत्याख्यान ।
१५ अव्याप्ति-अतिव्याप्तिदोषमूलक प्रत्याख्यान ।
१६ प्रकृत्या अभिधानमूलक प्रत्याख्यान ।
१७ योगविभागमूलक प्रत्याख्यान ।
१८ अनुवृत्तिमूलक प्रत्याख्यान ।
१९ विवक्षामूलक प्रत्याख्यान ।
२० पुनरुक्तिमूलक प्रत्याख्यान ।
२१ पक्षान्तरमूलक प्रत्याख्यान ।
२२ अभिधान-अनभिधानमूलक प्रत्याख्यान ।
२३ अन्वर्थसंज्ञाविज्ञानमूलक प्रत्याख्यान ।
२४ गणपाठमूलक प्रत्याख्यान ।
२५ उपसंख्यानवार्तिकमूलक प्रत्याख्यान ।

इस प्रकार सूत्रों के प्रत्याख्यान में अनेक दृष्टियां रही हैं, यह सुस्पष्ट हो जाता है। इन सब उक्त प्रत्याख्यानों के आधारों या दृष्टियों के उदाहरण तो तत्तच्छीर्षकोपात्त सूत्र तो यथास्थान ही द्रष्टव्य है।

प्रत्याख्यान शैली :

भाष्यकार की व्याख्यान शैली की यह एक महनीय विशेषता है कि वे जब जिसका व्याख्यान कर रहे हो तब उसी की सिद्धि के लिये पूरा जोर लगा देते हैं। इसलिये वे जब पूर्वपक्ष की स्थापना कर रहे होते हैं तो उसके पक्ष में ऐसी प्रबल युक्ति प्रस्तुत कर देते हैं कि यदि पाठक प्रबुद्ध या जागरुक न हो तो वह उसे उत्तरपक्ष मानने की भूल कर बैठता है। किन्तु बाद में भाष्यकार जब उत्तरपक्ष पर आते हैं तब पूर्वोक्त युक्तियों के ठीक विपरीत ठोस तर्क प्रस्तुत करके उत्तर पक्ष या सिद्धान्तपक्ष को पुष्ट करते हैं।

भाष्यकार की तो यह शैली ही रही है कि वे जैसा समय देखते हैं वैसा समाधान कर देते हैं। 'पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति' इस न्याय का आश्रयण करके वे खण्डन करते समय मण्डनीय वस्तु का भी खण्डन करने से नहीं चूकते। भले ही सैद्धान्तिक रूप से वह सिद्धान्त मान्य न हो। कैयट के शब्दों में— ननु सुवर्णाभिधाने दूषणोक्तम् अविशेषेणैतद् भवति—पूर्वपदमुत्तरपदमिति तेन चमसमस्त्रितयत्र णत्वं न भविष्यतीति। उच्यते, स्वरूपग्रहणप्रत्याख्यानाम तदुक्तं न त्वेष पक्षः स्थितः"[2] इस उदाहरण से बात और स्पष्ट हो जायेगी। यथा—ऋकारोपदेश के समय भाष्यकार ने शब्दों की चतुष्टयी प्रवृत्ति स्वीकार कर ली। अर्थात् जातिवाचक गुणवाचक एवं द्रव्यवाचक शब्दों के साथ यदृच्छा शब्दों की सत्ता को भी मान लिया। बाद में जब ऌवर्ण के प्रत्याख्यान का समय आया तो चतुष्टयी शब्द प्रवृत्ति न मानकर केवल त्रयी प्रवृत्ति को ही अंगीकार कर लिया। "न सन्ति यदृच्छाशब्दा" कहकर यदृच्छाशब्दों की सत्ता पर ही प्रश्नचिह्न लगा दिया।

---

१ महा० भा० १, प्रत्याहाराह्निक, ऋलृक् सूत्र, पृ० २०।

२ महा० प्र०, भा०, ५, सू० ८ ४ १४, पृ० ४६७।
तुलना करो—महा० भा० १, प्रत्याहाराह्निक, 'एओङ् ऐऔच्' सूत्र, पृ० २२, 'प्रत्याख्यान एतत् ऐचोश्चोत्तरभूयस्त्वादिति। यदि प्रत्याख्यानपक्ष इदमपि प्रत्याख्यायते सिद्धमेङ सस्थानत्वादिति'।

३ महा० भा० १, प्रत्याहाराह्निक ऋलृक् सूत्र पृ० २०, 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः। जातिशब्दा गुणशब्दाः क्रियाशब्दाः। यदृच्छाशब्दाश्चतुर्था इति।"

४ वही, "त्रयी च शब्दानां प्रवृत्तिः—न सन्ति यदृच्छाशब्दाः"।

यहां यह कहना ठीक नही कि जिस पक्ष को लेकर मण्डन किया था उसी पक्ष को लेकर उसका खण्डन किया जाना चाहिये। क्योंकि एक ही पक्ष को लेकर किसी बात का खण्डन और मण्डन नहीं किया जा सकता। इसलिये यह कहना व्यर्थ होगा कि यदृच्छा शब्दों की प्रवृत्ति मानते हुए ही लृकारोपदेश का प्रत्याख्यान करना चाहिये। ऐसी स्थिति में भाष्यकार का अपना क्या सिद्धान्त है यह जानना बहुत कठिन हो जाता है। इन्होंने दोनों बात मान भी ली तथा दोनों को ही निरस्त भी कर दिया। भाष्यकार की यह विचित्र शैली प्राय समस्त ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर दृष्टिगोचर होती है।

इसी प्रकार कुछ स्थलों पर भाष्यकार की प्रत्याख्यान शैली अन्योन्याश्रित या इतरेतराश्रित भी रही है अर्थात् एक सूत्र के आधार पर दूसरे सूत्र का तथा दूसरे के आधार पर पहले का प्रत्याख्यान भी दृग्गोचर होता है। इस विषय में "न धातुलोप"[1] सूत्र की समीक्षा द्रष्टव्य है। यह बात अलग है कि भाष्यकार द्वारा किया गया इस प्रकार का प्रत्याख्यान टीकाकारों के मत में प्रौढिवाद तथा एकदेशीयुक्तिप्रयुक्त है।[2] किन्तु इस प्रकार के प्रत्याख्यानों से भाष्यकार का यदि यह अभिप्राय या तात्पर्य ग्रहण किया जाये कि वे शिष्यों की बुद्धि के विकास हेतु (शिष्य बुद्धिव्युत्पादनाय) ही साधक-बाधक आलोचना-प्रत्यालोचना के साथ प्रत्येक सूत्र का कोना कोना झांक कर देखते तथा दिखाते हैं तो उक्त प्रत्याख्यान कथमपि मान्य हो सकता है। क्योंकि प्रस्तुत ग्रन्थ में अनेक सूत्र ऐसे भी आये हैं जो आपातत भाष्यकार द्वारा प्रत्याख्यात कर दिये गये हैं किन्तु हृदय से भाष्यकार उन सूत्रों की गरिमा अनुभव करते हैं और परिणामत प्रत्याख्यान करके भी भाष्यकार पुन पूछते हैं—'आरम्यमाणे

---

१ पा० १ १ ४ पृ०।

२ तुलना करो, महा० प्र० उ० सूत्र ३ १ ३२, भा० ३, पृ० १०६, "भगवतो भाष्यकारस्येति—एकदेशिन इति शेष। अनेन इमेऽपि नहि यद्यपि इत्यादि भाष्यग्रन्थ एकदेशिन उक्ति प्रत्युक्तिपरतया प्रौढिवाद एवेति ध्वनितम्'। इसी प्रकार महा० प्र० उ० सूत्र १ १ ६, भा० १, पृ० १५३, "वस्तुतस्त्वत्रत्यमिद भाष्यमेकदेश्युक्ति"।

३ महा० भा० १, सू० १ १ ५६, पृ० १३४। इससे अनुमान होता है कि भाष्यकार ने व्युत्पन्न मतियों के लिए सूत्र का प्रत्याख्यान करके भी

ऽप्येतस्मिन योगे०"[1] इत्यादि। इस दृष्टि से "स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ", "असिद्धवदत्राभात्" इत्यादि सूत्र विशेषरूपेण द्रष्टव्य हैं। इसे ही भाष्यकार के शब्दो में कुछ यों समझा जा सकता है—"न हि दोषा सन्तीति परिभाषा न कर्तव्या लक्षण वा न प्रणेयम्। न हि भिक्षुका सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते। न च मृगा सन्तीति यवा नोप्यन्ते। दोषा खल्वपि साकल्येन परिगणिता प्रयोजनानामुदाहरणमात्रम—दोषाणा लक्षण नास्ति प्रतिविधेय च दोषेषु"।[2] उक्त विचार के प्रसङ्ग मे प्रत्याख्यान और खण्डन शब्दो के अर्थो में विद्यमान अन्तर भी उपोद्बलक हो सकता है। अन्यथा यदि उक्त प्रत्याख्यान को शिष्य बुद्धिव्युत्पादननिमित्तक नही माना जायेगा तो भाष्यकार का निम्न कथन कैसे सुसगत हो सकेगा—

"तत्राशक्य वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितु किं पुनरियता सूत्रेण"[3]

इसके अतिरिक्त अनेकत्र भाष्यकार की ऐसी भी प्रत्याख्यान शैली रही है जहा प्रकटत तो प्रस्तुत सूत्र का ही खण्डन किया गया है किन्तु सूक्ष्मेक्षिका से विचार करने पर तत्सम्बद्ध अन्य सूत्र भी स्वत एव व्यर्थ होकर प्रत्याख्यात हो जाते हैं। इस दृष्टि से "दीधीवेवीटाम्"[4] तथा "अधिरीश्वरे"[5] इत्यादि सूत्र द्रष्टव्य है।

आचार्य पाणिनि ने स्पष्ट प्रतिपत्ति को अधिक महत्त्व दिया है। परिणामत अनेकत्र गन्धभाव ही सूत्रो में रखा है। इसी प्रकार अनेकत्र प्रकरणविशेष को लेकर किसी मूलभूत लक्षणसूत्र की रचना करके आचार्य पाणिनि आगे के कुछ सूत्रो में उसी विषय को और अधिक स्पष्ट करते हैं अर्थात आगे के सूत्र उसी मूलभूत लक्षण सूत्र के प्रपञ्च होते हैं। उदाहरण के रूप मे जैसे—"विशेषण विशेष्येण बहुलम्" यह सामान्य लक्षण सूत्र है।

स्पष्ट प्रतिपत्ति की दृष्टि से मन्दबुद्धियो के लिए सूत्र को गौरभाव से स्वीकार कर लिया—"अन्वाख्यानमेव तर्हि मन्दबुद्धे"। सभी उत्तरवर्ती व्याख्याकार भी इस विषय में सहमत हैं। तुलना करो, महा० पस्पशा०, पृ० १२, "न चेदानीमाचार्या सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति"।

१ पा० १-१ ४६, ६ ४ २२।

२ महा० भा० १ १ ३६, पृ० ६६-१००।

३ वही, सू० १ १ १, पृ० ३६।

४ पा० १ १ ६।

५ वही, १ ४ ६७।

इस प्रकरण के अग्रिम सूत्र इसी के प्रपञ्च या व्याख्या है। ऐसा करने के मूल मे आचार्य पाणिनि की स्पष्टप्रतिपत्तिपरक दृष्टि रही है।[1] इस सन्दर्भ मे भाष्यकार भी सहमत हैं—"एते खल्वपि विषय सुपरिगृहीता भवन्ति येषु लक्षण प्रपञ्च एव। केवल लक्षण केवल प्रपञ्चो वा न तथाकारक भवति"।[2] लेकिन आश्चर्य तो तब होता है जब भाष्यकार सवत्र इस पद्धति का अनुसरण नही करते। अपादान प्रकरण के सभी सूत्र ध्रुवमपायेऽपादानम्"[3] इस सामान्य सूत्र के प्रपञ्च है। भर्तृहरि के शब्दो मे—

"निर्धारणे विभक्ते यो भीत्रादीना च विधि ।
उपात्तापेक्षितापाय सोऽबुधप्रतिपत्तये" ।।[4]

लेकिन यहाँ भाष्यकार स्पष्ट प्रतिपत्ति वाली सरणि का परित्याग कर उन सबका प्रत्याख्यान कर देते हैं। इस विषय मे प्रदीपकार की टिप्पणी ध्यातव्य है—"अबुधबोधनार्थ तु किञ्चिद्वचनेन प्रतिपाद्यते। न्यायव्युत्पादनार्थ ।चाचार्य किञ्चित्प्रत्याचष्टे न ह्यत्रैक पन्था समाश्रीयते"। भाष्यकार की यह शैली वैचित्र्य अनेकत्र दिखाई देता है।

महाभाष्य मे सूत्रो या सूत्राशो के प्रत्याख्यान के लिए बहुत प्रकार की शैलिया उपलब्ध होती हैं। वार्तिककार द्वारा किये गये प्रत्याख्यान स्थलो पर प्राय 'अशिष्यो वा', 'आनर्थक्यम्', 'न वा', 'अपरिभाष्यम्' 'असप्रत्यय', 'अप्रसिद्धि', 'उक्त वा', 'उक्तम्', 'अनर्थकम्', 'अग्रहणम्', अप्रतिषेध' तथा 'सिद्धम्' अथवा 'सिद्धन्तु' पदो से युक्त शैली अक्षिलक्षी होती है। यत्र तत्र 'अनिर्देश', 'अप्रसग' तथा 'अनुपपत्ति' इत्यादि शब्दो का प्रयोग भी देखने

---

१ द्र० महा० प्र० सू० ४ २ ७०, भा० ३, पृ० ६६०, "शिष्याणां सुखावबोधाय लाघव प्रति अनवधानलक्षणेन प्रमादेन कृतमित्यर्थ"। कात्यायन द्वारा पञ्चविंशति (पा० ५ १ ५९) सूत्र का प्रत्याख्यान करने पर स्वय भाष्यकार भी उन पर इसी दृष्टि से आपत्ति करते हैं—'नामूया कर्तव्या यत्रानुगम आचार्येण क्रियते"।

२ महा० भा० १, सू० २ १ ५८, पृ० ४००। इसी स्थान पर महा० प्र० केवलेन लक्षणेन मन्दबुद्धि विषयविभाग नावधारयति। केवलप्रपञ्चेन वा सामान्यलक्षणरहितेन प्रतिपदपाठवत् शास्त्रस्य गौरवप्रसङ्ग"।

३ पा० १ ४ २४।

४ वा० प० ३ ७ १४७।

५ महा० प्र०, भा० ५, सू० ७ १ ९५, पृ० ९० ९१।

में आता है। जहाँ तक भाष्यकार का सम्बन्ध है उन्होंने प्रत्याख्यान करते समय सामान्येन नार्थः', 'शक्योऽवक्तुम्', 'शक्यमकर्तुम्', 'आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति', 'नैतदस्ति प्रयोजनम्', 'किमर्थमिदमुच्यते', 'लोकत एतत् सिद्धम्' तथा (एकदेशिसमासो) नारप्स्यते' इत्यादि शैली का प्रयोग किया है। इस प्रकार भाष्य में प्रत्याख्यान सम्बन्धी अनेक प्रकार की शैलियाँ मिलती हैं जो कि उनके गूढ़ अध्ययन से और भी खोजी जा सकती हैं।

प्रत्याख्यानप्रसंग में वार्तिककार तथा भाष्यकार का दृष्टिकोण

वार्तिककार कात्यायन का उद्देश्य तात्कालिक भाषा के आधार पर अभिधान-अनभिधान की दृष्टि से इष्टानिष्ट का विवेक करते हुए पाणिनि की सविशेष कृति अष्टाध्यायी में केवल प्रतिसंस्कारमात्र करना रहा है। इसीलिये इन्होंने पाणिनिसूत्रों को विकृत न करके अपने प्रस्तावित वार्तिकों का पृथक् ही पाठ किया है। इस सन्दर्भ में इन्होंने कहीं पर पाणिनिसूत्रों का खण्डन किया है तथा अनेकत्र मण्डन भी किया है। कहीं दूसरे की शंकाओं का उत्तर दिया है तथा कहीं पर नूतन शंका स्थलों का संकेत भी किया है। कात्यायन के वार्तिकों को देखकर यह सर्वथा प्रतीत नहीं होता कि वे पाणिनिसूत्रों के प्रति 'दूसरा भाव' रखते हैं। न जाने कैसे शबरस्वामी को यह भ्रान्ति हो गई और वे कह उठे—"सद्वादित्वाच्च पाणिनेर् वचनं प्रमाणमसद्वादित्वान्न कात्यायनस्य"।[1] इसी प्रकार गोल्डस्टुकर आदि पाश्चात्य विद्याविशारदों का भी कात्यायन को पाणिनि का आलोचक[2] मानना चिन्त्य ही है। सम्भवतः इन लोगों का ऐसा मानने का आधार वार्तिककार के विषय में भाष्यकार का निम्न वचन रहा होगा "नासूया कर्तव्या यथान्यासम् आचार्येण क्रियते"।[3] जबकि उक्त प्रसंग में भाष्यकार की अपेक्षा वार्तिककार का वचन

---

१ मीमांसा शाबरभाष्य, १० ८ १।

२ पाणिनि हिज प्लेस इन संस्कृत लिटरेचर, पृ० १३२

"Kātyāyana did not mean to justify and to defend the rules of Pāṇini, but to find faults with them Kātyāyana in short, does not leave the impression of an admirer or friend of Pāṇini, but that of an antagonist, often, too of an unfair antagonist"

३ महा० भा० २, सू० ५ १ ५६, पृ० ३५५-५६।

अधिक तर्क सगत रहा है। कात्यायन ने एक भाषाशास्त्री होने के नाते तात्कालिक शिष्ट प्रयुक्त भाषा के आधार पर तटस्थ भाव से पाणिनिसूत्रो की समीक्षा प्रस्तुत की है। इसीलिये वे जो बात कहते है वह सूत्रकार पाणिनि से भी अधिक प्रामाणिकतर मानी जाती है।[1] इस प्रकार वस्तुत न कोई किसी का मित्र है तथा न कोई किसी का शत्रु। सबका लक्ष्य केवल शब्दसिद्धि मात्र है और वह भी सक्षेपीकरण के आधार पर जिससे अल्प समय और अल्प यत्न मे ही बहुत बडा शब्दसागर हृदयगम किया जा सके।[2]

जहा तक भाष्यकार का सम्बन्ध है इन्होने कात्यायन द्वारा किसी सूत्र या सूत्रांश का प्रत्याख्यान किये जाने के अवसर पर यथासम्भव सूत्रकार पाणिनि का ही पक्ष लिया है। अधिकतर इनकी यही इच्छा रहती है कि यथाशक्ति सूत्रकार के सूत्रो से ही काम चलाया जाये। व्यर्थ ही वार्तिको का भार सूत्र पर न पडे, चाहे उसमे कितनी ही क्लिष्ट कल्पना क्यो न करनी पडे। जैसा कि प्रसिद्ध है—"सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद्वृत्तौ यच्च वार्तिके"[3]।

किसी-किसी स्थान पर इन्होने सूत्रो के शब्दो में अन्तर प्रस्तावित किए तथा वैसा करने के लाभ भी बताये किन्तु अन्त मे यह कहकर कि ऐसा परिवतन करने पर तो सूत्र का रूप अपाणिनीय हो जायेगा, उन्होने सूत्रो को ज्यो का त्यो छोड दिया।[4] किन्तु यदि पाणिनि के सूत्र भी विशेष युक्ति-प्रयुक्तियो से अयथासिद्ध हो सके तो इन्हे कोई आपत्ति नही। दूसरे शब्दो मे, सूक्ष्मता एव सक्षेप के साथ व्यापकता की पाणिनीय धारणा को इन्होने इतना आगे बढाया है कि कात्यायन के साथ-साथ स्वय आचाय पाणिनि के सूत्रो में भी यदि कही व्यर्थता या पुनरावृत्ति की गध मिलती है तो इसका

१ द्र०—वै० सि० कौ०, भा० १, पृ० २२३,—"यथोत्तर मुनीना प्रामाण्यम्"।

२ द्र०—महा० पस्पशा०, पृ० ६—"येनाल्पेन यत्नेन महतो महत शब्दौघान् प्रतिपद्येरन्"।

३ तन्त्रवार्तिक, २ ३ ११।

४ (क) महा० भा० १, सू० ११६, पृ० ६१,—"सिद्धयति। सूत्र तु भिद्यते। यथान्यासमेवास्तु"।
(ख) वही, पृ० १४,—"सिद्धयति। अपाणिनीय तु भवति। यथान्यासमेवास्तु"।

भी इन्होने विरोध किया है। किन्तु यह विरोध 'विरोध के लिये विरोध' न होकर सुधार और समन्वय की कोटि मे आ जाता है।[1] ये अपनी तरफ से सूत्र को उन सब परिस्थितियो पर पूरा विचार करते हैं जिनमें सूत्र अनावश्यक सिद्ध हो सकता है। जहा तक सम्भव होता है पतजलि उन उन सूत्रो से ही ज्ञापक देकर[2] योगविभाग करके, लोकविज्ञान को आधार मानकर अथवा इसी प्रकार अन्य निपातन आदि समाधानो का आश्रय लेकर काम चलाने का प्रयास करते है। जहाँ तो सूत्र के बिना भी सब लक्ष्यो को निर्दोष सिद्ध करने मे पतजलि सफल हो जाते हैं वहाँ तो ठीक है। किन्तु जहाँ पूरा बुद्धिबल लगाने पर भी सूत्र का प्रत्याख्यान नही कर पाते हैं, वहाँ स्वय सिर झुका लेते हैं और उनके मुख से सहज ही निम्न शब्द फूट पडते हैं।

सामर्थ्ययोगान्न हि किञ्चिदत्र पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्[3]

फिर भी इनकी दृष्टि मे सूत्रकार और वार्तिककार दोनो के प्रति आदरभावना स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। क्योकि सूत्रकार के साथ साथ इन्होने वार्तिककार के लिए भी 'भगवान्' तथा 'आचार्य' जैसे विशेषणो का प्रयोग किया है।

---

१ एफ० कीलहार्न, कात्यायन एण्ड पतजलि।

२. तुलना करो—महा० भा० ३, सू० ८ २ ३ पृ० ३८८, —'इङ्गितेन चेष्टितेन निमिषितेन महता वा सूत्रनिबन्धनेनाचार्याणामभिप्रायो लक्ष्यते"।

३ महा०, भा० ३, सू० ६ १ ७७, पृ० ५४।

प्रथम अध्याय

सज्ञा सूत्रों का प्रत्याख्यान

नाज्झलौ ॥ १ १ १० ॥

सूत्र की आवश्यकता पर विचार

यह सूत्र अचो और हलो की परस्पर 'सवर्ण' सज्ञा का निषेध करता है। इससे पूर्ववर्ती "तुल्यास्यप्रयत्न सवर्णम्"[1] यह सूत्र 'सवर्ण' सज्ञा विधायक है। इसका अर्थ है कि जिन वर्णों के तालु आदि स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न तुल्य हो, आपस मे मिलते हो, उनकी आपस मे 'सवर्ण' सज्ञा होती है। इस प्रकार यदि अचो और हलो में भी किन्ही वर्णों के स्थान-प्रयत्न तुल्य हो तो उनकी भी आपस मे 'सवर्ण' सज्ञा प्राप्त होती है। उसका निषेध करने के लिए उक्त सूत्र है।

यहा 'अच्' शब्द से "अ इ उण्" के अकार से लेकर 'ऐ औच्' के चकार तक अक्षर समाम्नाय मे पठित वर्णों का ही ग्रहण अभिप्रेत है। उनके दीर्घ प्लुत आदि भेदो का इस सूत्र मे ग्रहण नही है। क्योकि इस सूत्र की निष्पत्ति से पूर्व "अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय"[2] इस ग्रहणक शास्त्र की उत्पत्ति या प्रवृत्ति नही होती।[3] अत ह्रस्व अकार इकार आदि ही यहाँ 'अच्' माने जाते हैं, दीर्घ आकारादि नही।

अचो मे भी केवल 'अ', 'इ', 'ऋ', 'लृ' ये चार वर्ण ही ऐसे हैं जिनके स्थान प्रयत्न हलो मे आने वाले 'श', 'ष', 'स', 'ह' इन चार ऊष्मा सज्ञक वर्णों से

---

१ पा० १ १ ९।

२ पा० १ १ ६८।

३ द्र० पा० १ १ ९ पर वार्तिक "वाक्यापरिसमाप्तेर्वा" का महा० भा० १, पृ० ६४ "किमिद वाक्यापरिसमाप्तेरिति—वर्णानामुपदेशस्तावत्। उपदेशोत्तरकालेत्सज्ञा। इत्सज्ञोत्तरकाल "आदिरन्त्येन सहेता" इति प्रत्याहार। प्रत्याहारोत्तरकाला सवर्णसज्ञा। सवर्णसज्ञोत्तरकाल-मणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय इति सवर्णग्रहणम्। एतेन सर्वेण समुदितेन वाक्येनान्यत्र सवर्णाना ग्रहण भवति। न चात्रेकार शकार गृह्णाति ... ।"

मिलते हैं। तद्यथा-आकार और हकार का कण्ठस्थान तुल्य है।[1] "विवृतमूष्मणा स्वराणां च"[2] इस प्राचीन वचन के अनुसार इन दोनों का विवृत प्रयत्न भी तुल्य है। इसलिये अकार और हकार की परस्पर 'सवर्ण' संज्ञा प्राप्त होती है। इस सूत्र से उसका निषेध हो जाएगा तो 'दण्डहस्त' इत्यादि में 'सवर्ण' संज्ञा के निषेध होने से 'सवर्ण' ग्रहण न होने के कारण "अकः सवर्णे दीर्घः"[3] से दीर्घ नहीं होता यह इष्ट रूप सिद्ध हो जाता है। 'मालाहस्त' में तो आकार के 'अच्' न होने के कारण यह सूत्र 'सवर्णसंज्ञा' का निषेध नहीं करेगा। इसलिए वहां आकार और हकार की 'सवर्ण' संज्ञा बनी रहेगी। किन्तु 'सवर्ण' संज्ञा बनी रहने पर भी 'मालाहस्त' में 'सवर्णदीर्घ' नहीं होगा। क्योंकि "अणुदित्सवर्णस्य०" सूत्र से जब तक 'अण्' सवर्ण का ग्रहण नहीं कर लेता तब तक हकार को 'अच्' नहीं माना जा सकता। 'अणुदित्०' सूत्र के 'अण्' ग्रहण में हकार के आ जाने पर भी "रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति"[4] इस वचन से हकार का कोई सवर्ण न होने वह किसी 'अच्' को ग्रहण नहीं कर सकता। इस प्रकार "अणुदित्०" सूत्र के 'अण्' प्रत्याहार में रेफ और हकार के अन्तर्गत हो जाने पर भी उन दोनों का कोई सवर्ण न होने से वे किसी का ग्रहण नहीं कर सकते। किन्तु कौमुदीकार भट्टोजिदीक्षित ने भाष्यकार के "रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति" इस वचन पर पूर्णरूपेण ध्यान न देकर "नाज्झलौ" इस सूत्र में 'आ+अच्=आच्' इस प्रकार आकार का प्रश्लेषण करके आकार और हकार की 'सवर्ण' संज्ञा का निषेध स्वीकार किया है।[5] उससे 'विश्वपाभि' इत्यादि प्रयोगों में आकार का हकार मानकर "होढः"[6] से 'ढत्व' नहीं होता।

अकार और हकार के समान इकार और शकार के भी स्थानप्रयत्न मिलते हैं। इकार शकार का तालुस्थान तुल्य है।[7] विवृत प्रयत्न भी तुल्य है।[8] दोनों की 'सवर्ण' संज्ञा का इस सूत्र में निषेध हो जाने के कारण 'दधि शीतलम्'

---

१ द्र० व० शि० १ २२ "अकुहविसर्जनीया कण्ठ्या"।
२ वै० सि० कौ० भा० १, पृ० १६।
३. पा० ६ १ १०१।
४. महा० हयवरट् सूत्र, पृ० २८ तथा व० शि० ६ ७।
५ द्र० वै० सि० कौ० भा० १, प्रकृते सूत्र पृ० २४-२५ आकार सहितोऽच् आच् स च हल् चेत्येतौ मिथ सवर्णौ न स्त'।
६ पा० ८ ३ ३१।
७ द्र० वै० सि० कौ० भा० १, पृ० १६ 'इचुयशानां तालु'।
८ वही, पृ० १६ 'विवृतमूष्मणां स्वराणां च'।

यहाँ 'सवर्ण दीर्घ' नही होता। 'कुमारी शेते' यहाँ तो दीर्घ ईकार तथा शकार की 'सवर्ण' सज्ञा का निषेध यह सूत्र नही कर सकता। अत 'सवर्ण' सज्ञा बनी रहेगी। किन्तु 'सवर्ण' सज्ञा बनी रहने पर भी 'अणुदित्' सूत्र से शकार का ग्रहण न होने से 'सवर्ण दीर्घ' नही होगा। क्योकि ईकार और शकार मे से कोई सा भी 'अण्' नही जो एक दूसरे सवर्ण का ग्रहण कर सके। इसलिए "अक सवर्णे दीर्घ" सूत्र मे 'अचि' की अनुवृत्ति करके 'अक सवर्णे अचि परे दीर्घ एकादेश स्यात्' ऐसा अर्थ किया गया है। यदि वहा 'अचि' की अनुवृत्ति न की जाए तो केवल 'सवर्ण' कहने से 'कुमारी शेते' मे अनिवार्य रूप से दीर्घ प्राप्त होता है। 'अ, इ' के समान ऋ, लृ' भी हलो के समान स्थान-प्रयत्न वाले हैं। ऋकार और षकार का मूर्धा स्थान तुल्य है।[1] दोनो का विवृत प्रयत्न भी तुल्य है। इस सूत्र से दोनो की 'सवर्ण' सज्ञा का निषेध हो जाने से 'मातृषट्कम्' यहाँ 'सवर्ण दीर्घ नही होता। इसी प्रकार लृकार और सकार का भी दन्त स्थान तुल्य है।[2] विवृत प्रयत्न भी दोनो का तुल्य है। इस सूत्र मे उनकी 'सवर्ण' सज्ञा का निषेध हो जायेगा तो 'गम्लृ साधनम्' जैसे प्रयोगो मे 'सवर्ण दीर्घ' नही होता।

इस प्रकार ह्रस्व अकार आदि मे तो 'सवर्ण' सज्ञा का निषेध हो जाने से कोई दोष नही होगा तथा दीर्घ आकार आदि मे 'सवर्ण' सज्ञा होने पर भी सवर्ण ग्रहण न होने से कोई दोष नही आयेगा। इसलिए 'वैपाशो मत्स्य' तथा 'आनडुह चर्म' यहाँ क्रम मे शकार को इकार मानकर तथा हकार को अकार मानकर "यस्येति च"[3] इस सूत्र से इकार और अकार का लोप नही होता। सभी इष्ट लक्ष्यो के सिद्ध हो जाने से इस सूत्र की स्थापना सप्रयोजन स्थिर हो जाती है।

प्रयत्नभेद मानकर सूत्र का प्रत्याख्यान

अचों अचो और हलो हलो की परस्पर 'सवर्ण' सज्ञा मानने मे तो किसी को कोई आपत्ति नही है। अचो मे जैसे अकार के ह्रस्व, दीर्घ प्लुत आदि भेद हैं, वे आपस मे सवर्ण हैं, उसी प्रकार इकार, उकार, ऋकार तथा लृकार के भी अपने-अपने भेद आपस मे सवर्ण हैं। ऋकार और लृकार के परस्पर स्थान-प्रयत्न न मिलने पर भी वार्तिककार ने "ऋलृवर्णयो मिथ सावर्ण्यं वाच्यम्"[4] यह कहकर लक्ष्यसिद्धि के लिये उनकी 'सवर्ण' संज्ञा मानी है।

'ए,' 'ऐ', 'ओ', 'औ' के अपने-अपने भेद आपस मे सवर्ण हैं। 'ए', 'ऐ', के

---

१ वै० सि० कौ० भा० १ पृ० १७ 'ऋटुरषाणा मूर्धा'।
२ वही, लृतुलसाना दन्ता'।
३ पा० ६ ४ १४२।
४ वै० सि० कौ० भा० १, पृ० २४।

परस्पर स्थान-प्रयत्न मिलने पर भी दोनो की आपस मे 'सवर्ण' सज्ञा नही होती। इसी प्रकार 'ओ', 'औ' के भी आपस मे स्थान-प्रयत्न मिलने पर दोनो की 'सवर्ण' संज्ञा नही होती।[1] इस विषय मे "ऐ औ च्" इस पृथक् सूत्र का आरम्भ ही ज्ञापक है अन्यथा "ए ओङ्" इस सूत्र से ही क्रमश: 'ऐ', 'औ' का भी ग्रहण हो जाता तो पृथक् "ऐ औच्" सूत्र बनाने की क्या आवश्यकता थी। दोनो के आपस मे सवर्ण न होने से ही "एङ् ह्रस्वात्सम्बुद्धे"[2] सूत्र से जहाँ 'हे वायो'[1] इत्यादि प्रयोगो मे ओकार से परे सम्बुद्धि का लोप हो जाता है वहा 'हे ग्लौ'[1] यहाँ औकार से परे नही होता। इसी प्रकार 'गाम्', 'गा' की तरह 'ग्लावम्', 'ग्लाव' यहाँ "औतोऽम्शसो."[3] से आकार भी नही होता। इस प्रकार अचो अचो की परस्पर 'सवर्ण' सज्ञा स्पष्ट है केवल अपवाद विषयो को छोडकर।

हलो मे भी 'कु', 'चु', 'टु', 'तु', 'पु' मे पाचो उदित् वर्ग अपने-अपने वर्ग के सवर्ण है। 'क', 'ख', 'ग', 'घ', 'ङ' ये पाँचो वर्ण आपस मे सवर्ण है। इसी तरह चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग तथा पवर्ग मे क्रमश जा चाहिए।[4] 'य', 'व', 'ल' ये तीन निर-नुनासिक वर्ण 'यँ', 'वँ', 'लँ' इन तीनो सानुनासिक वर्णों के सवर्ण है जो कि "अणुदित्०" सूत्र के 'अण्' ग्रहण मे आने से अपने सवर्ण सानुनासिक 'यँ', 'वँ', 'लँ' का ग्रहण करते है।

कहने का तात्पर्य यह है कि सब वर्णों की इतनी प्रसिद्ध 'सवर्ण' सज्ञा होने पर भी अकार-हकार इकार-शकार, ऋकार-षकार तथा लृकार-सकार इन चार अज्हल् वर्णों का विवाद बना ही रहता है। जब तक इन वर्णों के स्थान-प्रयत्न तुल्य माने जायेंगे तब तक 'सवर्ण' सज्ञा का विवाद भी बना रहेगा। इस विवाद की निवृत्ति के लिये ही "नाज्झलौ" यह सूत्र बनाया गया है। किन्तु भाष्यकार ने वार्तिककार के साथ मिलकर इस सूत्र का प्रत्याख्यान करने के लिये अभ्युपाया-न्तर सोचा है—"सिद्धमनच्त्वात्"[5] अर्थात् "नाज्झलौ" इस निषेध सूत्र के बिना भी इष्ट-सिद्धि हो जायेगी। अकार, हकार आदि चार ही तो अच् हल् वर्ण हैं जिनके स्थान प्रयत्न मिलने से 'सवर्ण' सज्ञा प्राप्त होती है। इन चारो का यदि प्राचीन आचार्यों के वचन के आधार पर प्रयत्न भेद कर लिया जाये तो 'सवर्ण' सज्ञा कैसे प्राप्त होगी। अकार आदि सभी स्वरो का तो विवृत प्रयत्न सर्वसम्मत

---

१ वै० सि० कौ० भा० १ पृ० २६ 'एदैतोरोदौतोश्च न मिथ सावर्ण्यम्'।
२ पा० ६ १ ६९।
३ पा० ६ १ ९३।
४ वै० सि० ६ ८ 'वर्ग्यो वर्ग्येण सवर्ण'।
५ महा० भा० १ प्रकृत सू०, पृ० ६४।

है। 'श', 'ष', 'स', 'ह' इन ऊष्मवर्णों के प्रयत्न मे मतभेद है। कुछ आचार्य स्वरो के समान इन ऊष्मसञ्ज्ञक वर्णों का विवृत प्रयत्न भी मानते हैं।[1] किन्तु कुछ इनका ईषद्विवृत प्रयत्न स्वीकार करते हैं।[2] स्वरो का केवल विवृत है तथा 'श', 'ष', 'स', 'ह' इन चारो का ईषद् विवृत है—इस तरह प्रयत्न-भेद मान लेने पर 'सवर्ण' सञ्ज्ञा की प्रसक्ति ही नहीं। तब इस निषेध सूत्र की क्या आवश्यकता है। सुतरा—'श', 'ष', 'स', 'ह' इन चारो ऊष्म वर्णो का ईषद्विवृत प्रयत्न मान लेने पर इनकी आकार, इकार, ऋकार तथा ऌकार इन चारो अचो से कोई तुल्यता ही नही। क्योकि केवल स्थान तुल्य होने पर 'सवर्ण' सञ्ज्ञा नही हो सकती। उसके लिए आभ्यन्तर प्रयत्न की तुल्यता भी तो आवश्यक है। इस प्रकार 'सवर्ण' सञ्ज्ञा न होने से अकार आदि चारो अच् 'श', 'ष', 'स', 'ह' इन चारो हलो का ग्रहण न कर सकेंगे तो इनके 'अच्' न होने के कारण 'दण्डहस्त' इत्यादि प्रयोगो मे सवर्णदीर्घ नही होगा। अन्यत्र कही दोष सम्भव नही, इसलिए "नाज्झलौ" यह सूत्र निष्प्रयोजन होने के कारण प्रत्याख्येय है। इसका प्रयोजन तो अकार हकार आदि के तुल्य प्रयत्न मानने पर ही था। जब दोनो के प्रयत्न ही भिन्न मान लिए गये तब यह सूत्र निरर्थक है।

भट्टोजिदीक्षित ने शब्दकौस्तुभ मे इस विषय पर अच्छा विचार किया है। उनके कथन का आशय यह है कि यदि "नाज्झलौ" यह सूत्र रखना ही है तो "नाज्झलौ" की जगह "नाक्शलौ" ऐसा सूत्र का न्यास करना चाहिये।[3] वहां 'अक्' प्रत्याहार मे 'अ', 'इ', 'ऋ', 'ऌ' इन चारो वर्णो का ग्रहण हो जायेगा और 'शल्' प्रत्याहार मे तो 'श', 'ष', 'स', 'ह' ये चार वर्ण हैं ही। उन सबकी आपस मे 'सवर्ण' सञ्ज्ञा का निषेध हो जाने से सब इष्ट रूप सिद्ध हो जायेंगे। कहीं पर दोष नहीं होगा। वस्तुत "नाज्झलौ" की अपेक्षा "नाक्शलौ" यह न्यास अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण लगता है। क्योकि उक्त सूत्र मे 'अच्' ग्रहण की अपेक्षा 'अक्' ग्रहण करने मे लाघव है।

किन्तु नागेश भट्ट के अनुसार यह न्यास भी दोषयुक्त होने से ग्राह्य नही है। क्योकि किन्ही के मत मे एकार का स्थान कण्ठतालु न होकर केवल तालु है। यहा एकार और शकार का तुल्य स्थान हो जायेगा। विवृत प्रयत्न तो दोनो का तुल्य है ही। ऐसी अवस्था मे एकार और शकार की 'सवर्ण' सञ्ज्ञा प्राप्त होगी।

---

१ वै० सि० कौ० भा० १ पृ० १० 'विवृतमूष्मणा स्वराणा च'। तुलना करो—पाणिनीय शिक्षा 'स्वराणामूष्मणां चैव विवृत करण स्मृतम्।

२ द्र० व० शि० ६ ७ 'ईषद्विवृतकरणा ऊष्माण'।

३ द्र० श० कौ० भा० १, पृ० १२१ 'वस्तुतस्तु नाक्शलौ इत्येव सूत्रयितुमुचितम्।

उसको रोकने के लिये "नावशलो" यह पर्याप्त नहीं है। क्योंकि 'अक्' प्रत्याहार मे एकार के न होने से वह 'सवर्ण' संज्ञा का निषेध नहीं कर सकेगा। अत "नाज्झलो" या "नाच्शलो" यही न्यास उपयुक्त है।[1] यहाँ यह अवश्य चिन्त्य है कि एकार का तालु स्थान मानना एकीय मत है, सर्वसमत नहीं। सामान्येन एकार का कण्ठतालु स्थान ही प्रसिद्ध है।

समीक्षा और निष्कर्ष

जहाँ तक सूत्र के प्रत्याख्यान का सम्बन्ध है उसके लिए तो स्वरों और ऊष्म 'श', 'ष', 'स', 'ह' इन चारों वर्णों का प्रयत्न-भेद मान लेना ही उपयुक्त है। क्योंकि केवल अकार, हकार आदि चार अन् हल् वर्णों मे 'सवर्ण' संज्ञा की प्राप्ति को रोकने के लिये "नाज्झलौ" यह सूत्र बनाया गया है। एक पृथक् निर्मित सूत्र का इतना छोटा सा प्रयोजन कुछ महत्त्व नहीं रखता।[2] अत भाष्यवार्तिक द्वारा किया गया इस सूत्र का प्रत्याख्यान समुचित ही है। सम्भवत इसी कारण अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी इस सूत्र को अपने व्याकरणों मे स्थान नहीं दिया है। प्राय सभी मे इसका अभाव दृष्टिगोचर होता है। जैनेन्द्र और शाकटायन व्याकरणों को क्रमश महावृत्ति और अमोघवृत्ति मे ही एतत्कार्यविषयक संकेत मिलता है[3] किन्तु वहां भी स्वरों और ऊष्मवर्णों का प्रयत्न भिन्न-भिन्न दिया है। इस दृष्टि से इसकी अनर्थकता स्पष्ट ही है।

हां, मन्दबुद्धियों की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये यदि यह सूत्र माना जाये तो बात दूसरी है। क्योंकि "नाज्झलौ" यहां सन्धि मे भी कुत्व न करके जो जश्त्व किया है वह भी असंदिग्ध एवं विस्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये नितरां आवश्यक है। अन्यथा "न+अच्हलौ=नाग्घलौ" ऐसा कहने पर 'अक्' प्रत्याहार की भी भ्रान्ति सम्भव थी। अत सूत्रनिर्देश ठीक ही है।

---

१ द्र० वृ० शे० शे० भा० १, पृ० ६१ 'अकारहकारयोरिति—एकारस्य केवल तालव्यत्वमोकारस्य केवलौष्ठ्यत्वमितिमते एकारशकारादीना-मप्युपलक्षणम्। एतेन नावशलौ इत्येव सूत्रयितुमुचितमित्यपास्तम्'।

२ तुलना करो—महा० भा० १ सू० १ १ १२, पृ० ६४ 'नैक प्रयोजन योगारम्भं प्रयोजयति'।

३ जै० महावृत्ति सू० १ १ २, पृ० २ 'ईषद्विवृतकरणा ऊष्माण, विवृत-करणा स्वरा'।
शा० अमोघवृत्ति सू० १ १ ६, पृ० ३ 'विवृत स्वराणामीषद्विवृत-मूष्मणाम'।

बहुगण वतु डति सख्या ॥ १ १ २३ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र 'सख्या' सज्ञा करता है। यह सज्ञा व्याकरण की अपनी शास्त्रीय है। लोक प्रसिद्ध एक, दो आदि तो सख्यायें हैं ही। अत उनका निर्देश पाणिनि ने लोक मे प्रसिद्ध होने के कारण "सख्याया अतिशदन्ताया कन्"[1] इत्यादि सूत्रो द्वारा ज्ञापक सिद्ध होने के कारण अथवा "सख्यायतेऽनया सा सख्या"[2] अर्थात् जिससे सख्यान या गणन किया जाता है वह 'सख्या' होती है—इस प्रकार 'सख्या' सज्ञा के अन्वर्थक होने के कारण नही किया। यद्यपि उनका निर्देश करने मे भी कोई हानि नहीं थी। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि व्याकरण शास्त्र मे "कृत्रिमाकृत्रिमयो कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययो भवति"[3] यह न्याय या परिभाषा प्रसिद्ध है। इसका अथ है कि 'कृत्रिम' और 'अकृत्रिम' के ग्रहण की सभावना मे 'कृत्रिम' का ही ग्रहण होता है यानि 'कृत्रिम' मे कार्य किया जाता है, 'अकृत्रिम' मे नही। यहा 'कृत्रिम' से तात्पर्य है कि जो क्रिया द्वारा निष्पन्न है अर्थात् सूत्र प्रोक्त सज्ञा द्वारा विहित है तथा 'अकृत्रिम' जो असूत्रोक्त अनुक्त स्वत सिद्ध अथवा अन्वर्थ है। इस प्रकार उक्त परिभाषा के आधार पर यहा सूत्र प्रोक्त सज्ञा द्वारा विहित 'बहु,' 'गण', 'वतु' तथा 'डति' इन चार शब्दो की ही 'सख्या' सज्ञा प्राप्त होती है। असूत्रोक्त, लोक प्रसिद्ध 'एक' 'द्वि' आदि शब्दो की नही।

किन्तु इस परिभाषा की बाधक अगली परिभाषा भी है—

"उभयगतिरिह भवति"[4]

अर्थात् इस व्याकरण शास्त्र मे दोनो तरह की बातें होती हैं। 'कृत्रिम' के साथ 'अकृत्रिम' का भी ग्रहण होता है। न केवल इस 'सख्या' सज्ञा मे ही, अपितु अन्यत्र सर्वत्र व्याकरण शास्त्र के कार्य मे भी 'कृत्रिम' के साथ 'अकृत्रिम' का भी ग्रहण किया जाता है। जैसे—"कर्तुरीप्सिततम कर्म"[5] यह 'कर्म' सूत्रप्रोक्त होने से 'कृत्रिम' है। किन्तु 'कर्म' शब्द से शास्त्रमे दोनो का ही ग्रहण होता है। यथा—"कर्मणि द्वितीया"[6]—यहा 'कर्म' शब्द से 'कृत्रिम कर्म" का ग्रहण है तथा "कर्त-

---

१ पा० ५ १ २२।
२ महा० भा० १, सू० १ १ २३, पृ० ८१।
३ वही, पृ० ८०।
४ परि० स० ९।
५ पा० १ ४ ४९।
६ पा० २ ३ २।

रिकर्मव्यतिहारे''[1] महा 'कर्म' शब्द से 'अकृत्रिम' अर्थात् असूत्रोक्त, क्रियावाचक 'कर्मशब्द' का ग्रहण है। इसी प्रकार 'करण सञ्ज्ञा'[2] तथा 'अधिकरण सञ्ज्ञा'[3] आदि प्रदेशो मे भी 'कृत्रिम' के साथ 'अकृत्रिम' का भी ग्रहण होता है। इसलिये ''उभयगतिरिहभवति'' इस परिभाषा के अनुसार 'कृत्रिम' 'बहु', 'गण', वतु' तथा 'डति' की 'सख्या' सञ्ज्ञा के साथ साथ अकृत्रिम' लोक प्रसिद्ध 'एक', 'द्वि' आदि शब्दो की भी 'सख्या' सञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है।[4]

प्राक् क्रीतीय अर्थों मे ''सख्याया अतिशदन्ताया कन्'' इस सूत्र से विहित 'कन्' प्रत्यय मे जो 'ति' तथा 'शत्' शब्दान्त 'सख्या' का निषेध किया गया है वह इस बात का ज्ञापक है कि लोक प्रसिद्ध एक, दो आदि सख्यायें भी इस शास्त्र मे 'सख्या' शब्द से व्यवहृत या गृहीत होती है। अन्यथा नव निर्मित 'बहु', 'गण', 'वतु' तथा 'डति' इन चारो सख्या सञ्ज्ञको मे तो 'ति' और 'शत्' शब्दान्त एक भी शब्द नही है जिसका ''अतिशदन्ताया कन'' से निषेध अभीष्ट है। 'ति' और 'शत्' शब्दान्त 'सख्यायें' तो लोकप्रसिद्ध 'षष्टि', 'सप्तति', 'अशीति', 'नवति' तथा 'त्रिंशत्', 'चत्वारिंशत्' तथा 'पचाशत्' है। 'डति' मे 'अति' शब्द है। 'ति' शब्द नहीं है। उसमे 'अति' शब्द अर्थवान् है। उसका अवयव 'ति' शब्द अनर्थक है। अत ''अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य''[5] इस परिभाषा के बल से अनर्थक 'ति' शब्द का ग्रहण नही हो सकता।

---

१ पा० १ ३ १४।

२ पा० १ ४ ४२ 'साधकतम करणम्'।

(क) कृत्रिम, पा० २ ३ १८ 'कर्तृकरणयोस्तृतीया'।

(ख) अकृत्रिम, पा० ३ १.१७ 'शब्द वैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्य करणे'।

३ १ ४ ४५ 'आधारोऽधिकरणम्'।

(क) कृत्रिम, पा० २ ३ ३६ 'सप्तम्यधिकरणे च'।

(ख) अकृत्रिम, पा० २ ४ १३ 'विप्रतिषिद्ध चानधिकरणवाचि'।

४ 'सख्या' सञ्ज्ञा के अन्वर्थ होने पर 'एक', 'द्वि' आदि तो 'सख्या' मान लिये जायेंगे किन्तु लक्ष्यानुरोध से 'बहु,' 'गण', 'वतु' तथा 'डति' से अतिरिक्त 'भूरि', 'प्रभूत', 'बहुल' आदि 'सख्या' नही होगे। जैसे— सर्वनाम सञ्ज्ञा मे अन्वर्थक होने पर भी 'सर्व' 'विश्व' आदि गण पठित शब्द ही सर्वनाम सञ्ज्ञक होते हैं। 'सकल', 'कृत्स्न' आदि सब के नाम होते हुए भी 'सर्वनाम' नही कहाते हैं।

५. परि० सं० १४।

यहा 'बहु' और 'गण' ये शब्द है तथा 'वतु' और 'डति' ये प्रत्यय हैं। केवल प्रत्ययो का प्रयोग न होने से "प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्या"[1] इस नियम के आधार पर 'वतु' प्रत्ययान्त' और 'डति प्रत्ययान्त' शब्द की 'सख्या' सज्ञा होती है। इस विषय मे "सज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहण नास्ति"[2] अर्थात् प्रत्ययों की सज्ञा करने मे तदन्तविधि नही होती—इस परिभाषा का यहा सकोच करना होगा। उक्त परिभाषा की प्रवृत्ति न होने पर 'वत्वन्त' और 'डत्यन्त' का ग्रहण सिद्ध हो जाएगा।

'वतुप्' प्रत्यय "यत्तदेतेभ्य परिमाणे वतुप्"[3] से विहित है। वह तद्धित है। अतः उसके साहचर्य से "किम सख्यापरिमाणे डति च"[4] सूत्र से विहित 'डति' प्रत्यय भी तद्धित ही लिया गया है, औणादिक "पातेडति"[5] सूत्र द्वारा 'पा' धातु से विहित 'डति' प्रत्यय नही। जिस प्रकार "कृत्तद्धितसमासाश्च"[6] सूत्र में केवल 'कृत्', 'तद्धित' प्रत्ययो की 'प्रातिपदिक' सज्ञा न होकर कृदन्त और तद्धितान्त शब्दो की 'प्रातिपदिक' सज्ञा होती है उसी प्रकार यहा भी 'वत्वन्त' और 'डत्यन्त' की 'सख्या' सज्ञा की जाती है। भाष्य मे कहा भी है—

"कृत्तद्धितान्त चैवार्थवत्। न केवला कृत तद्धिता वा इत्यादि"।[7]
इसीलिये "सुप्तिडन्त पदम्"[8] सूत्र मे 'अन्त' ग्रहण किया है जिससे 'सुबन्त' तथा 'तिडन्त' की 'पद' सज्ञा हो, केवल 'सुप्' या 'तिङ्' प्रत्यय की न हो। अन्यथा "सज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे०" इस उक्त परिभाषा के बल से तदन्त का निषेध होकर 'सुबन्त' और 'तिडन्त' की 'पद' सज्ञा नही प्राप्त होती थी। क्योंकि 'सुप्' और 'तिङ्' ये दो प्रत्यय हैं इनकी पद सज्ञा विधान करनी है। "सज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहण नास्ति" इस परिभाषा का प्रयोजन तो अन्यत्र स्पष्ट ही है। यथा—"तरप्तमपौ घ।"[9] यहा 'तरप्' और 'तमप्' की 'घ' सज्ञा करने मे

---

१ परि स० २४।
२ परि० स० २७।
३ पा० ५ २ ३९।
४ पा० ५ २ ४१।
५ उणादि, ४ ४८७॥
६ पा० १ २ ४६॥
७ महा० भा० १ सू० १ ४ १४, पृ० ३१९।
८ पा० १ ४ १४।
९ पा० १ १ २२।

'तदन्त' का निषेध होकर 'तरबन्त' और 'तमबन्त' की 'घ' सज्ञा न होने से केवल 'तरप्' और 'तमप्' प्रत्ययो की 'घ' सज्ञा सिद्ध होती है। इससे 'कुमारी गौरितरा, यहा 'गौरितरा इस 'तरबन्त' को 'घ' सज्ञा नही होती। उससे "घ रूप कल्प चेलट्०"[1] इस सूत्र से विहित ह्रस्व 'ङ्यन्त कुमारी' शब्द को नही होता। केवल 'तरप्' प्रत्यय परे रहते उसकी 'घ' सज्ञा होकर 'गौरी' को ह्रस्व हो जाता है।

'बहु', 'गण', 'वतु' तथा 'डति' इन चारो की 'सख्या' सज्ञा करने में मुख्य रूप से चार पाच ही प्रयोजन है। यथा—'बहुधा', 'गणधा', 'तावद्धा', 'कतिधा' यहा 'सख्याया विधार्थे धा"[2] सूत्र से 'धा' प्रत्यय सिद्ध हो जाता है। 'बहुश', 'गणश', 'तावच्छ', 'कतिश',—यहा "सख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्"[3] सूत्र से 'शस्' प्रत्यय सिद्ध हो जाता है। 'बहुक' 'गणक', 'तावत्क', 'तावतिक', 'कतिक'—यहा "सख्याया अतिशदन्ताया कन्"[4] सूत्र से 'कन्' प्रत्यय सिद्ध हो जाता है। 'बहुकृत्व', गणकृत्व', तावत्कृत्व 'कतिकृत्व'—यहा "सख्याया क्रिया भ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्"[5] सूत्र स 'कृत्वसुच्' प्रत्यय सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार 'बहुतिथ', गणतिथ', 'कतिथ', 'तावतिथ'—यहां भी 'सख्या' सज्ञा होने से 'डट्' प्रत्यय होने पर 'तियुक्'[6] 'इथुक्'[7] तथा 'थुक्'[8] का आगम सिद्ध हो जाता है।

यहा पर यह अवश्य ध्यातव्य है कि सख्यावाचक 'बहु' और 'गण' शब्दो की ही 'सख्या' सज्ञा की गई है। वैपुल्यवाची 'बहुशब्द' तथा स घवाची 'गणशब्द' की 'सख्या' सज्ञा नही होती।[9] उक्त 'सख्या' विषयक सूत्रो सम्बन्धी कार्यों के अतिरिक्त अन्य प्रयोजन प्रयोग मे अनुपलब्ध होने के कारण अन्वेष्टव्य हैं। "सख्या

---

१ पा० ६ ३ ४३।
२ पा० ५ ३ ४२।
३ पा० ५ ४ ४३।
४ पा० ५ १ २२।
५ पा० ५ ४ १७।
६ ५ २ ५२ 'बहु पूग गण सघस्य तियुक्'।
७ पा० ५ २ ५३ 'वतोरियुक्'।
८ पा० ५ २ ५१ 'षट् कति कतिपय चतुरा थुक्'।
९. तुलना करो—शा० सू० १ १ १० 'बहुगणं भेदे'।
　　　है० सू० १.१ ४० 'बहुगणं भेदे'।

वचनेन"[१] तथा "सङ्ख्याव्ययासन्नाधिक०"[२] इत्यादि 'सङ्ख्याशब्द' वाले सूत्रों में 'बहु', 'गण', 'वतु' तथा 'डति' का प्रयोग कहीं पर दृष्टिगोचर नहीं होता। 'कृत्वसुच्' प्रत्यय का प्रयोग वेद में तो 'बहु', 'गण', 'वतु' तथा 'डति' से अन्यत्र भी उपलब्ध होता है।[३]

ज्ञापक द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार तथा भाष्यकार दोनों ने मिलकर सुगमतया इस सूत्र का प्रत्याख्यान कर दिया है। तद्यथा भाष्यवार्तिक हैं—

"बह्वादीनामग्रहणम्। ज्ञापकात्सिद्धम्। योगापेक्षं ज्ञापकम्"।[४]

इनका भाव यह है कि 'बहु', 'गण', 'वतु' तथा 'डति—इनकी 'सङ्ख्या' संज्ञा करने की कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि पाणिनीय सूत्र ही इस बात में ज्ञापक हैं कि इनकी 'सङ्ख्या' संज्ञा होती है। तद्यथा—"तस्य पूरणे डट्" यह सूत्र 'सङ्ख्यासंज्ञक' शब्दों से 'पूरण' अर्थ में 'डट्' प्रत्यय करता है। इसी 'डट्' प्रत्यय के परे रहते "बहु पूग गण सङ्घस्य तिथुक्"[५] सूत्र से 'तिथुक्' का आगम होता है। 'बहुतिथ', 'गणतिथ' इत्यादि। इसी प्रकार 'डट्' प्रत्यय परे रहते ही "वतोरिथुक्"[६] सूत्र से 'वतु प्रत्ययान्त' को 'इथुक्' का आगम होता है। 'तावतिथ' इत्यादि। "षट् कति कतिपय चतुरां थुक्"[७] सूत्र से भी 'डट्' प्रत्यय परे रहते 'कति' शब्द को 'थुक्' का आगम किया गया है 'कतिथ' इत्यादि। इसी प्रकार "वतोरिड् वा"[८] सूत्र से "सङ्ख्याया अतिशदन्ताया कन्" से विहित 'कन्' प्रत्यय को 'वतु' से परे 'इड्' विकल्प किया गया है। 'तावतिक', 'तावत्क' इत्यादि। 'तावता क्रीत'[१०] इस अर्थ में उक्त दो रूप बनते हैं।

---

१ पा० २ १ १६।
२ पा० २ २ २५।
३ (क) ऋक्० ५ ५४ १ 'शश्वत्कृत्व.'।
(ख) वही ३ १८ ४। भूरिकृत्व
४ महा० भा० १, सू० १ १ २३, पृ० ८३।
५ पा० ५ २ ४८।
६ पा० ५ २ ५२।
७ पा० ५ २ ५३।
८ पा० ५ २ ५१।
९ पा० ५ १ २३।
१० पा० ५ १ ३७। 'तेन क्रीतम्'

इस प्रकार आचार्य पाणिनि के पूर्वापरसूत्रपर्यालोचना द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि वे 'बहु', 'गण', 'वतु' तथा 'डति' को 'सख्या' मानते हैं। तभी तो वे 'सख्या' सम्बन्धी कार्यों 'डट्' आदि प्रत्यय तथा 'तियुक्' आदि आगमो का विधान करते है। इस दृष्टि से कात्यायन तथा पतञ्जलि ने उक्त सूत्र का प्रत्याख्यान कर दिया है।

समीक्षा एव निष्कर्ष

वार्तिककार तथा भाष्यकार द्वारा किया गया 'सख्या' सज्ञा विधायक इस सूत्र का प्रत्याख्यान ही न्याय्य है। क्योकि जिस प्रकार 'एक', 'दो' आदि लोकप्रसिद्ध सख्याये सख्या' सज्ञा किये बिना ही 'सख्या' समझ ली जाती हैं उसी प्रकार ज्ञापकशास्त्रप्रसिद्ध 'बहु', गण', 'वतु' तथा 'डति' भी 'सख्या' सज्ञा किये बिना ही 'सख्या' समझ लिए जायेगे। एक सख्या' लोक से सिद्ध है तथा दूसरी शास्त्र से। दोनो मे कोई अन्तर नही है। इसके अतिरिक्त इस शास्त्रीय सज्ञा का प्रयोजन भी तो अत्यल्प ही है तथा वह स्वय शास्त्र से ही सिद्ध हो जाता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग मे अर्वाचीन वैयाकरण भी प्राय कोई विशेषता नहीं पैदा कर सके हैं। इनमे आचार्य चन्द्रगोमिन् ने कति', गण' तथा 'वतु' को ही 'सख्या' सज्ञा मानी है। 'बहु' को छोड दिया है।[1] भाष्यकारकृत प्रत्याख्यान का अनुकरण करते हुए केवल पूज्यपाद देवनन्दी ने ही कति' की 'सख्या' सज्ञा का कथन किया है।[2] जो कि सर्वथा आवश्यक भी है। शाकटायन, भोजराज तथा हेमचन्द्र ने इस विषय मे पाणिनि का समर्थन करते हुए इन सूत्रो को अपने यहां रखा है।[3] हां, शाकटायन तथा हेमचन्द्र ने वैपुल्य एव सघवाची 'बहु', 'गण' शब्दो की 'सख्या सज्ञा रोकने के लिये स्पष्ट प्रतिपत्ति हेतु 'भेद' शब्द का प्रयोग अवश्य किया है। इस प्रकार लाघव की दृष्टि से यह अनावश्यक गौरव ही कहा जा सकता है। अत सूत्र का प्रत्याख्यान ही उचित है।

डति च ॥१ १ २५॥

---

१ चा० सू० ४ १ ३३-३४ 'कतिगणौ तद्वत्'। 'वतो'। तुलना करो—महा० भा० १ सू० १ १ २३, पृ० ८१ 'अथवा नेद सज्ञाकरणम्। तद्वदतिदेशोऽयम् बहु गण वतु डतय सख्यावद् भवन्तीति'।
२ जै० सू० १ १ २३ 'कति सख्या'।
३ (क) शा० सू० १ १ ९-१० 'घड्डति सख्या'। 'बहुगण भेदे'।
(ख) स० सू० १.१.१७ 'बहुगण वतु डतयश्च सख्या'।
(ग) है० सू० १ १,३९-४० 'डत्यतु सख्यावत्'। 'बहुगण भेदे'।

सूत्र की आवश्यकता पर विचार

यह सूत्र 'डतिप्रत्यान्त' शब्द की 'षट्' सञ्ज्ञा करता है। 'डतिप्रत्ययान्त' शब्द का उदाहरण 'कति' है। यहा 'किम सख्यापरिमाणे डति च'[1] इस सूत्र के द्वारा 'किम्' शब्द के 'सख्या' के 'परिमाण' अर्थ मे 'डति' प्रत्यय होकर 'डित्' होने के कारण 'किम्' के 'टि' का लोप हो जाता है तो 'कति' शब्द बनता है। 'का सख्या येषा ते कति' यह बहुवचनान्त शब्द है। 'षट्' सञ्ज्ञक होने से तीनो लिङ्गो मे समान है। 'षट्' सञ्ज्ञा होने पर "षड्भ्यो लुक्"[2] से 'जस्', 'शस्' का लुक् होकर 'कति' यह शुद्ध रूप बनता है।

यदि इसकी 'षट्' सञ्ज्ञा न की जाए तो 'जस्', 'शस्' का लुक् न हो सके। तब 'कतय', 'कतीन्' इस प्रकार अनिष्ट रूप बनने लगेंगे। उनकी व्यावृत्ति के लिये इसकी 'षट्' *सञ्ज्ञा करनी आवश्यक है। इसीलिये यह सूत्र बनाया गया है।* इससे पूर्व "बहु गण वतु डति सख्या"[3] इस सूत्र से 'डति प्रत्ययान्त' की 'सख्या' सञ्ज्ञा भी की है। उसका प्रयोजन 'कतिधा', 'कतिश', 'कतिकृत्व' तथा 'कतिक' ये हैं—यह पूर्व प्रतिपादित किया जा चुका है। इस प्रकार 'डति प्रत्ययान्त' 'कति' शब्द की 'सख्या' सञ्ज्ञा तथा 'षट् सञ्ज्ञा' दोनो अभीष्ट हैं। दोनो सञ्ज्ञाओ का प्रयोजन स्पष्ट ही है।

लाघवार्थ सूत्र का प्रत्याख्यान

आचार्य पाणिनि ने 'डति' शब्द को दो स्थानो पर पढा है। एक "बहु गण वतु डति सख्या" यहा 'सख्या' सञ्ज्ञा मे तथा दूसरा "डति च" इस 'षट्' सञ्ज्ञा मे। प्रस्तुत प्रसङ्ग मे वार्तिककार चुप हैं। वे 'डति' ग्रहण के खण्डन या मण्डन में मौन हैं। किन्तु भाष्यकार का विचार है कि लाघव की दृष्टि से इनमे एक 'डति' ग्रहण हटाया जा सकता है। यदि 'सख्या' सञ्ज्ञा वाले "बहु गण वतु डति सख्या" इस सूत्र मे 'डति' को रखा जाता है तो 'षट्सञ्ज्ञा' करने के लिये "डति च" इस पृथक् सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं। "बहु गण वतु डति सख्या" वाला 'डति' ग्रहण ही "ष्णान्ता षट्"[4] इस सूत्र मे अनुवृत्त हो जायेगा। क्योकि "क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते"[5] इस न्याय के अनुसार "बहु गण वतु०" इस समस्त सूत्र के एक-

---

१ पा० ५ २ ४१।
२ पा० ७ १ २२।
३ पा० १ १ २३।
४ पा० १ १ २४।
५ परि० स० १८।

देश 'डति' शब्द की ही ''ष्णान्ता षट्" सूत्र मे अनुवृत्ति करके षकारान्त नकारान्त 'सख्या' शब्दो के साथ 'डति' प्रत्ययान्त 'सख्या' शब्द की भी 'षट्' सज्ञा सिद्ध हो जायेगी। ऐसी स्थिति मे प्रकृत सूत्र व्यर्थ है।

अथवा यदि 'षट्' सज्ञा वाला "डति च" सूत्र रखना अभीष्ट है तो "बहुगण वतु डति" सख्या मे से 'डति' ग्रहण हटाया जा सकता है। क्योकि "डति च" इस सूत्र मे 'सख्या' सज्ञा की अनुवृत्ति करके 'डत्यन्त' सख्या शब्द की 'षट्सज्ञा' सिद्ध हो जायेगी अर्थात् षट्' सज्ञा के साथ-साथ 'डति प्रत्ययान्त' की 'सख्या' सज्ञा भी आवश्यक मानी जायेगी। जब तक 'डति प्रत्ययान्त' की 'सख्या' सज्ञा न होगी तब तक उसकी 'षट्सज्ञा' नही होगी। इस प्रकार एक ही 'डति' ग्रहण से दोनो सज्ञाओ की सिद्धि हो जाने से दो बार 'डति' ग्रहण करना अनावश्यक है यह सम्यक् उपपन्न हो जाता है।

समीक्षा एव निष्कर्ष

वास्तव मे यह बडे आश्चर्य की बात है कि पाणिनि जैसे सूक्ष्मेक्षिका' वाले आचार्य को 'डति प्रत्ययान्त' शब्दो की दो सज्ञा करने के लिये दो बार अलग-अलग डति' ग्रहण करना पडा। इनके सामने दो बार डति' ग्रहण करने के अतिरिक्त और कोई चारा ही नही था। किन्तु उससे भी अधिक आश्चर्य इस बात का है कि पाणिनि के निष्पक्ष समालोचक वार्तिककार कात्यायन भी इस विषय मे मौन हैं। केवल भाष्यकार ने विपुल बुद्धि कौशल से इस बात को समझा कि यदि किसी प्रकार एक ही 'डति' ग्रहण से दोनो सज्ञाओ की अभीष्ट सिद्धि हो जाये तो वह अभ्युपाय सोचना चाहिए और उन्होने वह उपाय ढूढ भी निकाला तथा जिसमे कोई अधिक क्लिष्ट कल्पना भी नही थी। दोनों सज्ञायें एक ही 'डति' ग्रहण से निर्बाध रूपेण सिद्ध हो जाती हैं। अर्वाचीन वैयाकरणो मे केवल देवनन्दी ने ही पतजलि का अनुसरण किया तथा एक ही 'कति' ग्रहण करके, उसकी 'सख्या' सज्ञा मानी तथा उसे अग्रिम 'इस्' ('षट्') सज्ञाविधायक सूत्र मे अनुवृत्त किया है।[2] यहा 'षट्' सज्ञा को 'इस्' शब्द से सकेतित किया गया है। शेष वैयाकरणो ने प्राय 'षट्'सज्ञा को नही रखा है। अत तत्तत्प्रयुक्त प्रदेशो मे इन्होंने साक्षात् 'डति' का ग्रहण करके 'जस्-शस्-लुक्' रूप इष्ट साधन किया है।[3]

---

१ द० का० भा० ३, सू० ४ २ ७४ पृ० ५६८ 'महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य'।

२ जै० सू० १ १ ३३-३४ 'कति सख्या'। 'ष्णान्तेस्'।

३ (क) चा० सू० २ १,२२ 'कते'।

इसके अतिरिक्त यदि "बहु गण वतु सख्या", "डति षट् च" तथा "ष्णान्ता" इस प्रकार सूत्र की रचना की जाये तो भी एक 'डति' ग्रहण से ही काम चल सकता है। 'डति' की दोनो सज्ञायें "डति षट् च" इस सूत्र से सिद्ध हो जायेंगी। "ष्णान्ता" मे केवल 'षट्' की अनुवृत्ति होगी। "चानुकृष्ट नोत्तरत्र"[1] के अनुसार चकार से अनुकृष्ट 'सख्या सज्ञा' की अनुवृत्ति न होगी तो इष्ट सिद्ध हो जायेगा। इस प्रकार प्रबल युक्ति-जालो से भाष्यकार द्वारा किया गया उक्त सूत्र का प्रत्याख्यान न्याय्य है।

न बहुव्रीहौ ॥१ १ २६॥

सूत्र का प्रतिपाद्य

सामान्य रूप से इस सूत्र का अर्थ यह है कि बहुव्रीहि समास मे सर्वादि शब्दो की सर्वनाम सज्ञा नही होती। किन्तु विशिष्ट रूप से विचार करने पर भाष्यकार तथा वृत्तिकारो के मत मे उसके दो अर्थ होते हैं। सूत्र मे 'बहुव्रीहि' ग्रहण किया है। वह दो प्रकार का है। एक तो मुख्य बहुव्रीहि, जिसे बहुव्रीहि समास कहते हैं, जिसमे एक पद, एक विभक्ति तथा एक स्वर होता है।[2] जैसे—'प्रिय विश्व यस्य स प्रियविश्व'। 'द्वौ अन्यौ यस्य स द्व्यन्य'। 'त्र्यन्य' इत्यादि। यहा 'प्रियविश्व', द्व्यन्य', 'त्र्यन्य'इन बहुव्रीहि समासो मे 'विश्व', 'अन्य' शब्दो की सर्वनाम सज्ञा का यह सूत्र निषेध कर देता है तो "सर्वनाम्न स्मै"[3] से 'स्मै' आदेश न होकर'प्रियविश्वाय', 'द्व्यन्याय', 'त्र्यन्याय' ये इष्ट रूप सिद्ध हो जाते हैं।

मुख्य बहुव्रीहि समास वाले इस प्रथम अर्थ मे "न बहुव्रीहौ" यह सप्तमी विभक्ति प्रथमा के अर्थ मे समझनी चाहिये अर्थात् सर्वादि शब्दान्त बहुव्रीहि समास सर्वनाम सज्ञक नही होता। भाष्यकार ने इस अर्थ को अन्यथा सिद्ध कर

(ख) शा० सू० १ २ १५२ 'डतिष्णा सख्याया जश्शस'।
(ग) स० सू० ३ १ १८० 'क्ते'।
(ग) है० सू० १ ४ ५४ 'डतिष्ण सख्याया लुप्'।

१. परि० स० ७६।

२ द्र० महा० भा० १, सू० १ १ २६, पृ० ६१ 'अय खल्वपि बहुव्रीहिरस्त्येव प्राथमकल्पिक-। यस्मिन्नैकपद्यम्, ऐकस्वर्यम् एकविभक्तिकत्व च'। तुलना करो—
"विभक्तिर्लुप्यते यत्र तदर्थस्तु प्रतीयते।
पदानां चैकपद्य च समास सोऽभिधीयते ॥"

३ पा० ७ १ १४।

दिया है। उनका कथन है—"उपसर्जनप्रतिषेधेनाप्येतत् सिद्धम्"[1] अर्थात् "सर्वादीनि सर्वनामानि"[2] इस सर्वनाम संज्ञा विधायक सूत्र मे पठित 'संज्ञोपसर्जन प्रतिषेध" इस वार्तिक द्वारा संज्ञा या उपसर्जन (गौण) बने हुए सर्वादि शब्दो को सर्वनाम संज्ञा का निषेध हो जाता है। 'प्रियविश्व' इस बहुव्रीहिसमास मे 'विश्व' शब्द के उपसर्जन होने से सर्वनाम संज्ञा प्राप्त ही नही तो उस सूत्र से निषेध करना व्यर्थ है।

इसलिये इस सूत्र का दूसरा अर्थ करने के लिए 'बहुव्रीहि' शब्द का अर्थ बदलना होगा। 'बहुव्रीहौ' यह विषय सप्तमी है। बहुव्रीहि के विषय मे अर्थात् बहुव्रीहि समास के लिए जो अप्रयोगार्ह अलौकिक विग्रह वाक्य का प्रयोग किया जाता है, वह भी बहुव्रीह्यर्थ होने से उपचारात् बहुव्रीहि मान लिया जायेगा।[3] इस प्रकार सूत्र का अर्थ यह होगा कि बहुव्रीहि समासार्थ किये गये अलौकिक विग्रह वाक्य मे ही सर्वादि शब्दो की सर्वनाम संज्ञा का निषेध हो जाता है।[4] यथा—'त्वम्', 'अहम्' ये सर्वनाम शब्द हैं। इनसे 'अज्ञात', 'कुत्सित' आदि अर्थों मे प्राप्त 'क'[5] प्रत्यय को बाधकर "अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टे"[6] सूत्र से 'टि' के पूर्व 'अकच्' होकर 'त्वकम्', 'अहकम्' रूप बनते हैं। 'त्वक पिता यस्य स त्वत्कपितृक। 'अहक पिता यस्य स मत्कपितृक' यहा बहुव्रीहि समासार्थ प्रयुक्त लौकिक विग्रह वाक्य का अप्रयोगार्ह अलौकिक वाक्य 'युष्मद्+सु पितृ+सु', 'अस्मद्+सु पितृ+सु' ऐसा होता है। उस अलौकिक विग्रह वाक्य मे ही उक्त सूत्र से 'युष्मद्', 'अस्मद्' की सर्वनाम संज्ञा का निषेध हो जाएगा। उससे 'अकच्' प्रत्यय न होकर 'क' प्रत्यय होगा। समासान्तर्वर्ती 'सु' विभक्ति का लोप तथा 'युष्मद्' 'अस्मद्' के 'म' पर्यन्त भाग को "त्वमावेकवचने"[7] से क्रमश 'त्व' और

---

१ महा० भा० १, सू० १ १ २६, पृ० ६१।

२ पा० १ १ २७।

३ द्र० महा० भा० १, सू० १ १ २६, पृ० ६१ 'अस्ति तादर्थ्यात् ताच्छब्द्य बहुव्रीह्यर्थानि पदानि बहुव्रीहिरिति।'

४ "न बहुव्रीहौ" यहाँ 'बहुव्रीहौ' यह सप्तमी निर्देश भी यह सूचित करता है कि बहुव्रीहि समास मे अलौकिक विग्रह वाक्य में, जो सर्वादि हैं, उनकी सर्वनाम संज्ञा नही होती। अन्यथा 'न बहुव्रीहि' ऐसा प्रथमान्त निर्देश ही कर दिया जाता।

५ पा० ५ ३ ७३-७४ "अज्ञाते, कुत्सिते"।

६ पा० ५ ३ ७१।

७ पा० ७ २ ९७।

'म' आदेश हो जायेंगे तो 'त्वत्कपितृक', 'मत्कपितृक' ये रूप बनेंगे जो कि इष्ट हैं। सभी वृत्तिकारों ने ये रूप स्वीकार किये हैं। "नद्यृतश्च"[1] से समासान्त 'कप्' प्रत्यय होकर 'पितृक' मे ककार का श्रवण होता है। इस निषेध सूत्र के अभाव मे 'अकच्' होकर 'त्वकत्पितृक', 'मकत्पितृक' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होगा। इसलिए बहुव्रीहि समास के अलौकिक विग्रह वाक्य मे ही सर्वनाम संज्ञा का निषेध करने के लिए इस सूत्र को आवश्यकता है। उससे 'युष्मद्', 'अस्मद्' आदि व्यञ्जनान्त सर्वादि शब्दो मे सर्वनाम संज्ञा का निषेध हो जाने से 'अकच्' की निवृत्ति हो जायेगी। यही इस सूत्र का प्रयोजन है।

'सर्व', 'विश्व' आदि अजन्त शब्दो मे तो 'क' और 'अकच्' प्रत्यय के करने मे कोई अन्तर नही पडता। हलन्तो मे 'टि' से पूर्व 'अकच्' प्राप्त होने पर अन्तर हो जाएगा। इसीलिए 'त्वत्कपितृक', 'मत्कपितृक' ये हलन्तो के उदाहरण दिए गये हैं। वैसे 'द्वौ पुत्रौ यस्य स द्विकपुत्र' यहा अजन्त 'द्वि' शब्द मे भी 'क' और 'अकच्' में अन्तर हो जाता है। 'अकच्' करने पर 'द्विकिपुत्र' ऐसा रूप प्राप्त होता है। इस सूत्र से 'द्वि+औ पुत्र+औ' इस अलौकिक प्रक्रिया वाक्य मे ही 'द्वि' शब्द की सर्वनाम संज्ञा का निषेध हो जाने से 'अकच्' न होकर 'क' प्रत्यय होगा तो 'द्विकपुत्र' यह इष्ट रूप बन जाएगा। इस प्रकार सूत्र की स्थापना सप्रयोजन स्थिर हो जाती है।

अन्यथासिद्धि के आधार पर सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र के प्रत्याख्यान मे वार्तिककार कात्यायन सर्वथा मौन हैं। केवल भाष्यकार पतञ्जलि ने ही इसे अनावश्यक घोषित किया है। उनका कथन है—

"गोनर्दीयस्त्वाह—अकच्स्वरौ तु कर्तव्यौ प्रत्यङ्गं मुक्तसंशयौ।
त्वकत्पितृक मकत्पितृक इत्येव भवितव्यमिति॥"[2]

इनका भाव यह है कि 'युष्मद्+सु पितृ+सु', 'अस्मद्+सु पितृ+सु', इस अलौकिक विग्रह वाक्य मे इस सूत्र की प्रवृत्ति स्वीकार करने पर भी इस निषेध से पूर्व अन्तरङ्ग होने से 'अकच्' और "स्वाङ्गशिटामदन्तानाम्"[3] इस फिट् सूत्र से सर्वनाम को विहित आद्युदात्तस्वर ये दोनो हो जायेंगे तो 'त्वकत्पितृक', 'मकत्पितृक' ये 'अकच्' प्रत्यय वाले प्रयोग ही अभीष्ट हैं। 'त्वत्कपितृक', 'मत्कपितृक' ये 'क' प्रत्ययवाले सकलवृत्तिकारसम्मत प्रयोग अभीष्ट नही हैं।

---

१ पा० ५ ४ १५३।
२ महा० भा० १, सू० १ १ २९, पृ० ६१।
३ फिट् सूत्र २९।

'प्रियविश्वाय' इत्यादि सर्वाद्यन्त बहुव्रीहि मे तो इस सूत्र की आवश्यता पहले ही अन्यथासिद्ध हो चुकी है। वे प्रयोग तो उपसर्जनप्रतिषेध से ही सिद्ध हैं अतः उनके लिये यह सूत्र अनावश्यक है। रह गये 'त्वत्कपितृक', मत्कपितृक', 'द्विकपुत्र' इत्यादि प्रयोग, जिनमे 'अकच्' के निषेध के लिये इस सूत्र की आवश्यकता बनती थी, वह भी भाष्यकार ने अन्तरङ्ग होने से 'अकच्' प्रवृत्ति को आवश्यक मानकर खण्डित कर दी है। भाष्यकार की सम्मति मे 'त्वकत्पितृक.' के समान 'द्विकपुत्र' के स्थान पर 'द्वकिपुत्र' यह प्रयोग ही एष्टव्य है।[1]

समीक्षा एव निष्कर्ष

प्रस्तुत सदर्भ मे विचारणीय यह है कि इसी सूत्र पर विचार करते हुए पहले तो भाष्यकार ने 'त्वत्कपितृक', 'मत्कपितृक' इन्ही 'क' प्रत्ययवाले प्रयोगो को इष्ट स्वीकार किया था। जैसे कि वे कहते हैं—"किं च स्याद् यद्यत्र अकन् स्यात्। को न स्यात्। कश्चेदानी काकचोर्विशेष। व्यजनान्तेषु विशेष अहक पिता यस्य स मकत्पितृक, त्वक पिता यस्य स त्वकत्पितृक इति प्राप्नोति। मत्कपितृक, त्वत्कपितृक इति चेष्यते।"[2] इन पक्तियो से स्पष्ट है कि वे 'त्वत्कपितृक', मत्कपितृकः इन 'क' प्रत्ययवाले प्रयोगो को ही इष्ट मानते हैं परन्तु पीछे से उनको क्या सूझा कि "गोनर्दीयस्त्वाह—अकच् स्वरौ तु कर्तव्यौ' इत्यादि कहकर अनिष्ट प्रयोगो को ही इष्ट मान लिया। बहुव्रीहिसमास के अलौकिक प्रक्रियावाक्य मे इस सूत्र की प्रवृत्ति स्वीकार करने पर भी वे इसका प्रत्याख्यान करना ही उचित मानते हैं। युष्मद् +सु पितु+सु' इस अवस्था में प्राप्त 'अकच्' को त्वक पिता यस्य' इस लौकिक वाक्य मे प्रयुक्त 'अकच्' के समान कैसे रोका जा सकता है इसलिये उनकी सम्मति मे 'युष्मद्+सु' मे अन्तरङ्ग प्राप्त स्वार्थिक 'अकच्' करके "युष्मक्द्+सु पितु+सु' यही अलौकिक प्रक्रियावाक्य रखा जायेगा। ऐसी अवस्था मे केवल 'अकच्' की व्यावृत्ति के लिए तो सूत्र की आवश्यकता है नही। हाँ 'प्रियविश्वाय' इत्यादि सर्वाद्यन्त शब्दो मे सर्वनाम सज्ञा रोकने के लिये तात्पर्य ग्राहक हो सकता है।

प्रौढमनोरमाकार भट्टोजीदीक्षित ने इस सूत्र पर विचार करते हुए न्यास

१ कैयट के अनुसार गोनर्दीय आचार्य भाष्यकार पतजलि ही हैं। द्र० महा० प्र० भा० १, सू० १ १,२१, पृ० २५२ 'गोनर्दीयस्त्वाह भाष्यकारस्त्वाह' जबकि कुछ विद्वानो को इसमे विप्रतिपत्ति है। विशेष अध्ययन के लिये देखें, स० व्या०शा० इ० भा० १, पृ० ३३४-३५।

२ महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ०६१।

आदि वृत्तिग्रन्थ तथा उनके व्याख्याताओं की विस्तार के साथ समालोचना की है। उनके अभिमत सूत्रार्थ में परस्पर विरोध दिखाकर इस बात का भी निराकरण किया गया है कि सर्वादिशब्दों की सर्वनामसंज्ञा विधान में सूत्रकार, वार्तिककार तथा भाष्यकार का भिन्न-भिन्न मत है। तद्यथा—प्राचीनों ने जो यह कहा कि सूत्रकार के मत में बहुव्रीहिसमास में सर्वनामसंज्ञा का निषेध है तथा वार्तिककार एवं भाष्यकार के मत में गौणत्वमात्र में, यह उनका कथन आपातरमणीय (ऊपर से ही अच्छा लगने वाला) है। तीनों मुनियों के मत में गौण में सर्वनामसंज्ञा का निषेध है। सूत्रकार भी गौण अथवा उपसर्जन में सर्वनामसंज्ञा को स्वीकार नहीं करते।' इस प्रकार अन्त में भाष्यसम्मत सूत्रार्थ को व्यवस्थित किया है।[1]

"न बहुव्रीहौ" में 'बहुव्रीहि' शब्द को सत्सप्तमी या भावलक्षणासप्तमी न मानकर विषयसप्तमी माना गया है। सत्सप्तमी' में अर्थ में होता—'बहुव्रीहौ कृते सति' अर्थात् बहुव्रीहि समास कर लेने पर सर्वादिशब्दों की सर्वनामसंज्ञा नहीं होती। जब बहुव्रीहि कर ही लिया गया तब सर्वनामसंज्ञा का निषेध करना ही व्यर्थ हो जायेगा। विषयसप्तमी में अर्थ होगा कि—बहुव्रीहि के विषय में। 'बहुव्रीहौ चिकीर्षिते' बहुव्रीहि करने के लिए अर्थात् बहुव्रीह्यर्थ जो प्रयोगानर्ह अलौकिक विग्रह वाक्य है, उसी समय सर्वनामसंज्ञा का निषेध हो जाता है। 'युष्मद्+सु पितृ+सु' इस अवस्था में सर्वादिशब्दों की सर्वनामसंज्ञा निषिद्ध हो जाती है। 'त्वक पिता यस्य' इस प्रयोगार्ह लौकिक विग्रह वाक्य में तो सर्वनाम संज्ञा का निषेध नहीं होता। क्योंकि न तो यह बहुव्रीहिसमास है और न ही तदर्थ अलौकिक विग्रहवाक्य ही। इसीलिए 'त्वकम्' में 'अकच्' प्रत्यय हो रहा है, 'क' प्रत्यय नहीं।

बृहच्छब्देन्दुशेखरकार नागेशभट्ट भी इससे सहमत हैं।[2] शब्दकौस्तुभ में इतना विशेष है कि वहां भट्टोजीदीक्षित स्वाभिमत उक्तसूत्रार्थ में कैयट की सम्मति भी

---

१ द्र० प्रौ० म० भा० १, पृ०३४५ (वासुदेवशरण अग्रवाल) 'यत्तु प्राचोक्तम् बहुव्रीहौ सर्वादि सर्वनामता न स्यात्। प्रियसर्वाय। सूत्रकारमते बहुव्रीहौ न सर्वनामता। भाष्यकारमते गौणत्वमात्रे। त्वत्कपितृको मत्कपितृक इत्यत्र समासावयवयो युष्मदस्मदो सर्वनामत्वादनङ्कार्यत्वेनाक्च् स्यात् स मा भूत्। क प्रत्यय एव स्यादित्येतदर्थमिदं सूत्रमिति न्यासकृन्मतमिति। तच्च न। सूत्रवार्तिकमतेऽपि गौणपर्युदासस्येष्टत्वात्।'

२ द्र० बृ० श० शे० भा० १, पृ० ४२७ 'यत्तु बहुव्रीहौ सर्वनामता न। प्रियविश्वाय। सूत्रमते बहुव्रीहौ न सर्वनामता। भाष्यमते गौणत्वमात्रे ·· इति न्यासकृन्मतमिति। तन्न। बहुव्रीह्यवयवानामुपसर्जनतया

उद्धृत करते हैं। "तादर्थ्यात् ताच्छब्द्यम्" इस भाष्य-वचन की प्रदीप व्याख्या मे कैयट लिखते हैं—"सूत्रोपारूढ एवायमर्थ इति प्रतिपादयति। अप्रयोगसमवायि यत् प्रक्रियावाक्य तत्राय प्रतिषेध । न लौकिके वाक्ये प्रयोगार्हे तस्य पृथगेव प्रयोगात् तादर्थ्याभावात् ।"[1] अलौकिक विग्रह से लौकिक विग्रह मे भेद होने के कारण ही 'दृष्टा सर्वे येन' इस बहुव्रीहिसमास के लौकिक विग्रह मे 'सर्वे' शब्द की सर्वनामसज्ञा का निषेध न होकर 'सर्वे' प्रयुक्त होता है, 'सर्वा' नही। इन दोनो मे भेद होने के कारण ही 'राज्ञ पुरुष' मे "अल्लोपोऽन"[2] से अल्लोप होता है, 'राजन्+ङस् पुरुष+सु' मे नही।

भाष्यकार ने तो 'युष्मद्+सु पितृ+सु' इस अलौकिक विग्रह मे सर्वनामसज्ञा का उक्त सूत्र से निषेध मानकर भी 'त्वक पिता यस्य' इस लौकिक विग्रह मे 'त्वकम्' यहा किए गए 'अकच्' के समान अलौकिक विग्रह 'युष्मद्+सु पितृ+सु' मे भी अन्तरङ्गता के आधार पर 'अकच्' लाकर 'त्वकत्पितृक', 'मकत्पितृक', ऐसे स्वोपज्ञ रूप स्वीकार किए हैं। परन्तु भाष्यकार की यह स्थिति विचारणीय ही है। यदि अन्तरङ्गता के आधार पर बहुव्रीहि के प्रयोगो मे 'अकच्' प्रत्यय का सन्नियोग स्वीकार किया जाय तो सर्वनामसज्ञा का निषेध करना अनावश्यक हो जाता है। 'अकच्' प्रत्यय के आने से तो इसका सर्वनामत्व ही सिद्ध होता है। अत इस स्थिति मे भाष्यकार की दृष्टि से यह सूत्र प्रत्याख्यात हो जाता है। सम्भवत भाष्यकार को प्रमाण मानने के कारण ही[3] चान्द्र, शाकटायन तथा हैम आदि अर्वाचीन व्याकरणतन्त्रो मे प्रकृतसूत्र को नही रखा गया है।[4] अत इनकी दृष्टि से

(सर्वादि बहिर्भावे) तदन्तस्य, तदवयवस्य चाप्राप्त्या, सूत्रमते इत्यादेरसङ्गतत्वात् ।"

१ महा० प्र० भा० १, सू० १ १ २६, पृ० २६३।

२ पा० ६ ४ १३४।

३ तुलना करो वै० सि० कौ० भा० १, पृ० २२३ 'यथोत्तर मुनीना प्रामाण्यम्'।

४ शाकटायन व्याकरण की अमोघवृत्ति मे तो 'बहुव्रीहौ सर्वादि' (शा० सू० १ २ १७४, पृ० ५७) अर्थात् बहुव्रीहिसमास सर्वादि (सर्वनाम) सज्ञक होता है, यह कहकर भाष्यकार का ही समर्थन किया गया है और सूत्रकारसम्मत रूपों को एकपक्षीय माना है—"बहुव्रीहौ सर्वादि । त्वत्क-पितृक मत्कपितृक इति हृ येके।" शाकटायन व्याकरण मे सर्वनामसज्ञा को 'सर्वादि' शब्द से अभिहित किया गया है। अत यहा बहुव्रीहि समास मे सर्वनाम सज्ञा ही इष्ट मानी गई है।

भी प्रकृतसूत्र प्रत्याख्यात ही समझना चाहिये। हां, भाष्यकार द्वारा "उपसर्जन-प्रतिषेधेनाप्येतत् सिद्धम्" यह कहकर किये गये इस सूत्र के एकपक्षीय प्रत्याख्यान के आधार पर आचार्य चन्द्रगोमी ने 'सर्वादीनि सर्वनामानि'[1] सूत्र पर पठित "संज्ञोपसर्जनप्रतिषेधश्च' इस वार्तिक को अवश्य सूत्र के रूप में स्वीकार किया है।[2] अमोघवृत्तिकार ने भी 'असंज्ञाया सर्वादि' कहकर इसी की पुष्टि की है।

ऐसी स्थिति में निर्णायक केन्द्रबिन्दु 'त्वत्कपितृक', 'मत्कपितृक' ये 'क' प्रत्ययवाले तथा त्वकत्पितृक', 'मकत्पितृक' ये 'अकच्' प्रत्यय वाले रूप ही हो जाते हैं अर्थात् सूत्र की प्रयोजनवत्ता तथा निरर्थकता उक्त 'क' और 'अकच्' प्रत्ययसन्नियोगविशिष्ट शब्दरूपों पर ही आश्रित है। इनमें सूत्रकार और वृत्तिकारों को तो 'क' प्रत्ययवाले 'त्वत्कपितृक' इत्यादि रूप इष्ट हैं तथा भाष्यकार को 'अकच' प्रत्यय वाले त्वकत्पितृक' इत्यादि। इन दोनों प्रत्ययों वाले शब्दों की प्रतिस्पर्धा में अभीष्ट साधु शब्द का निर्णय करने के लिए जब कोशग्रन्थों पर दृष्टिपात करते है तो वहां पर भी परस्पर विरुद्ध वदतोव्याघात स्वरूप दिखाई देता है अर्थात् कोशों में भी 'युष्मद्' शब्द के तो 'अकच्' प्रत्यययुक्त तथा 'अस्मद्' शब्द के 'क' प्रत्यययुक्त रूप मिलते हैं।[3] भाव यह है कि 'क' और 'अकच् वाले' प्रयोगों में कोशग्रन्थ भी व्यामुग्ध हैं।

इस प्रकार दोनों पक्षों वाले रूपों की यथातथ समीक्षा करने पर यही निष्कर्ष निकालना उचित प्रतीत है कि जो रूप स्वयं सूत्रकार को तथा सकल वृत्तिकारों को अभिमत हैं, वे ही रूप अर्थात् 'क' प्रत्यय वाले 'त्वत्कपितृक,'

---

१ पा० १ १ २७

२ तुलना करो, चा० सू० २ १ १० "नान्यच्च नामाप्रधानात्।"

३ (क) वाचस्पत्यम्, भा ०४, पृ० ३४१ "त्वत्तन्-क्विप् अनो वस्तुक् च। अन्यार्थे सर्वनामायम् सर्वनामत्वात् टेरकच् त्वकत् इति बोध्यम्।"

(ख) वही, 'मत्क-मम इदम्, कन्, मदादेशश्च। नैतन्मत मत्कमिति ब्रुवाण सहस्रशोऽसौ शपथानशप्यत् इति भट्टि।"

(ग) शब्दकल्पद्रुम, काण्ड ३, पृ० ५८०, 'मत्क (पु) मम अयम्। अस्मद्शब्दादिदमर्थे कन् मदादेशश्च यथा भट्टि नैतन् मत मत्कमिति ब्रुवाण महस्रशोऽसौ शपथानशप्यत्।" यहां एक में 'अकच्' प्रत्यय तथा दूसरे में 'क' प्रत्यय स्पष्ट ही है। मोनियर विलियम शब्दकोश में तो पतंजलि को उद्धृत करके 'त्वत्क', 'त्वकत्' तथा 'मत्क', 'मकत्' ये चारों ही शब्द दिए गए हैं।

इत्यादि रूप ही अभीष्ट तथा साधु माने जाने चाहियें तथा जिन्हें प्रारम्भ में भाष्यकार ने स्वयं भी "इतिश्चेष्यते" कहकर इष्ट स्वीकार किया है। 'अकच्' प्रत्यय वाले 'त्वकत्पितृक' इत्यादि रूप साधु नहीं माने जा सकते। इसीलिए अर्वाचीन वैयाकरण पूज्यपाद देवनन्दी ने बहुव्रीहि समास की सर्वनामसंज्ञा का निषेध करने वाले प्रकृत सूत्र के स्थान में "न कसे" या "न के" ऐसा सूत्र बनाते हुए शङ्का समाधानपूर्वक अन्त में सूत्र का समर्थन ही किया है। उनके कहने का भाव यह है कि सर्वनाम संज्ञा के अन्वर्थसंज्ञा विज्ञान होने के कारण ही सज्ञोपसर्जन की निवृत्ति हो जायेगी। अत सूत्र की क्या आवश्यकता है यह ठीक नहीं। क्योंकि 'त्वत्कपितृक', 'मत्कपितृक' इत्यादि प्रयोगों में अकच्' प्रत्यय न हो, 'क' ही हो, इस प्रयोजन के होने से प्रकृत सूत्र की प्रयोजनवत्ता बनी रहती है। अत इनकी दृष्टि में भी क' प्रत्यय वाले प्रयोग ही शिष्ट हैं 'अकच' वाले नहीं।[1]

ऐसी स्थिति में बहुव्रीहिसमासगत सर्वनाम सज्ञक शब्दों को "अव्ययसर्वनाम्ना मकच प्राक् टे"[2] सूत्र से प्राप्त होने वाले 'अकच्' की व्यावृत्ति के लिए सूत्र की आवश्यकता प्रतीत होती है अर्थात् त्वत्कपितृक' इत्यादि में 'क' प्रत्यय ही हो, अकच्' प्रत्यय न हो इसके लिए सूत्र की सार्थकता है। इसके अतिरिक्त 'प्रिय-विश्वाय' इत्यादि में 'विश्व' शब्द की सर्वनामसज्ञा को रोकने के लिए भाष्यकार द्वारा प्रस्तावित 'उपसर्जनप्रतिषेधेनाप्येतत् सिद्धम्' यह वचन भी समुचित नहीं जचता। क्योंकि सूत्रकार पाणिनि की दृष्टि में कात्यायन का उक्त वार्तिक विद्यमान नहीं था अर्थात् वार्तिकों के परिप्रेक्ष्य में पाणिनि ने सूत्र रचना नहीं की थी। अत प्रत्येक स्थिति में सूत्र की आवश्यकता अप्रत्याख्येय है॥

तद्धितश्चासर्वविभक्ति ॥ १ १ ३८ ॥

सूत्र का प्रतिपाद्य

यह सूत्र अव्ययसज्ञा करता है। इसका अर्थ है कि जिससे सारी विभक्तियां उत्पन्न नहीं होती, अपितु कुछ निश्चित विभक्ति ही उत्पन्न होती है, ऐसे तद्धित प्रत्यय की अव्ययसज्ञा होती है। यथा—'तत्र', 'यत्र'। तत', 'यत'। 'तदा',

---

१ जै० सू० १ १ ३७ पृ० ९ (महावृत्ति) 'ननु सर्वनामसज्ञायामन्वर्थसज्ञा-विज्ञानात् सज्ञोपसर्जन निवृत्तिरक्ता। सज्ञोपसर्जनश्च कस इति सर्व-नामसंज्ञाया प्राप्त्यभावात् सूत्रमिदमनर्थकम्। नानर्थकमेतत्, प्रयोजन सद्भावात्। त्वक पिताऽस्य अहक पिताऽस्य, त्वत्कपितक-मत्कपितृक।'

२ पा० ५ ३ ७१।

'यदा' इत्यादि। 'तस्मिन् स्थाने इति तत्र'। यहा 'तद्' शब्द से सप्तमी विभक्ति के अर्थ मे "सप्तम्यास्त्रल्"[1] से 'त्रल्' प्रत्यय होता है। वह तद्धित है। उसकी "प्राग् दिशो विभक्ति"[2] से 'विभक्तिसज्ञा' होकर "त्यदादीनाम"[3] से 'तद्' शब्द के दकार को अकार और "अतोगुणे"[4] से पररूप हो जाना है तो 'तत्र' बन जाना है। 'त्रल्' प्रत्यय के केवल सप्तमी विभक्ति के अर्थ मे होने से यह 'असर्वविभक्ति' है। उसको इस सूत्र से 'अव्ययसज्ञा' हो जाती है तो उससे परे होने वाले 'सुप्' का 'अव्ययादाप्सुप'[5] से 'लुक्' होकर 'तत्र' सिद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार 'तत' यहा 'तद्' शब्द से पञ्चमी विभक्ति के अर्थ मे "पञ्चम्यास्तसिल्"[6] से 'तसिल्' प्रत्यय होता है। वह भी तद्धित है। 'तस्मात् स्थानात्' इति तत'। 'तसिल्' प्रत्यय के केवल पचमी विभक्ति के अर्थ मे होने से वह भी 'असर्वविभक्ति' है। उसकी इस सूत्र से 'अव्ययसज्ञा' हो जानी है तो 'तत' से परे आने वाले 'सुप्' का 'अव्ययादाप्सुप' से 'लुक्' होकर 'तत' बन जाता है।

'तदा' मे 'तद्' शब्द से "सर्वैकान्यकियत्तद: काले दा"[7] से 'काल' रूप सप्तमी विभक्ति के अर्थ मे 'दा' प्रत्यय होता है। 'तस्मिन् काले इति तदा'। केवल सप्तमी के अर्थ मे होने से 'दा' प्रत्यय 'असर्वविभक्ति' है। उसकी इस सूत्र से 'अव्ययसज्ञा' हो जानी है तो "अव्ययादाप्सुप." से 'सुप्' का 'लुक्' होकर 'तदा' यह शब्द बन जाता है।

सूत्र में 'तद्धित' ग्रहण इसलिये किया गया है कि 'एक', 'द्वौ', 'बहव' यहा 'एक', 'द्वि,' 'बहु' शब्दो की 'अव्ययसज्ञा' न हो। क्योंकि 'एक', 'द्वि', 'बहु', शब्दो से भी केवल अपनी-अपनी विभक्ति का एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन ही उत्पन्न होता है। अत वे भी 'असर्वविभक्ति' हैं, किन्तु तद्धित नही है, इसलिए उनकी 'अव्ययसज्ञा' नहीं होती। 'असर्वविभक्ति' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'औपगव', 'औपगवौ', 'औपगवा' यहा 'औपगव' शब्द मे तद्धित 'अण्' प्रत्यय की 'अव्ययसज्ञा' न हो। 'उपगोरपत्यम् औपगवा' यहा 'उपगु' शब्द से 'अपत्य' अर्थ में सभी विभक्तियो से 'अण्' प्रत्यय होता है। अत वह 'सत्रविभक्ति' है।

---

१. पा० ५ ३ १०।
२ पा० ५ ३ १।
३ पा० ७.२ १०२।
४ पा० ६ १ ९७।
५. पा० २.४.८२।
६. पा० ५ ३ ७।
७. पा० ५. ३ १५

'असर्वविभक्ति' न होने से उसकी 'अव्ययसंज्ञा' नही होती। इस प्रकार सूत्र का प्रयोजन स्थिर होता है।

गणपाठ का आश्रयण करके किया गया सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र के प्रत्याख्यान से पूर्व भाष्यकार 'असर्वविभक्ति' शब्द के अर्थ पर विचार करते हैं कि यदि 'असर्वविभक्ति' शब्द का यह अर्थ है कि जिससे सब विभक्तियाँ उत्पन्न नही होती है, ऐसे तद्धित की 'अव्ययसंज्ञा' होती है, तब तो 'विना', 'नाना' यहा 'ना' और 'नाञ्' इन तद्धित प्रत्ययो की अव्ययसंज्ञा नही प्राप्त होगी। क्योकि 'विनञ्भ्यां नानाञौ न सह'[1] से उत्पन्न होने वाले 'ना', 'नाञ्' प्रत्यय किसी भी विभक्ति के अर्थ को निमित्त नही मानते। 'ना-नाञ्' प्रत्ययो के विधान मे किसी भी विभक्ति को निमित्त नही माना गया है। जिससे कोई भी विभक्ति उत्पन्न नही होती, वह अविभक्तिक होता हुआ एक प्रकार से 'सर्वविभक्ति' ही है। उसके 'असर्वविभक्ति' न होने से यहा 'अव्ययसंज्ञा' इस सूत्र से नहीं प्राप्त होती। इसलिये 'असर्वविभक्ति' के स्थान पर 'अविभक्तिनिमित्त' का भी उपसंख्यान करना चाहिए।[2] "अविभक्ति शब्दोऽव्ययसंज्ञो भवति" ऐसा कहना चाहिये। अथवा 'अलिङ्गमसंख्यमव्ययं भवति' ऐसा सूत्र होना चाहिए।[3] उससे लिङ्गसंख्यारहित तथा विभक्तिरहित 'ना नाञ्' प्रत्ययो की भी 'तल्', 'तसिल्' आदि की तरह 'अव्ययसंज्ञा' सिद्ध हो जायेगी। सम्भवत उक्त भाष्य वचन के आधार पर ही अर्वाचीन वैयाकरण आचार्य चन्द्रगोमिन् तथा पूज्यपाद देवनन्दी ने अपने अपने तन्त्रो मे 'अव्यय' के लिये 'अव्यय' शब्द का प्रयोग न करके 'असंख्य' शब्द का व्यवहार किया है। इसके विपरीत शाकटायन और हेमचन्द्र ने 'अव्यय' शब्द को ही रखा है। वैसे सूत्र के प्रत्याख्यान मे ये सारे वैयाकरण सहमत हैं। इसीलिये इन्होंने इस सूत्र को अपने व्याकरण मे नही रखा।

अस्तु, 'अविभक्ति' इस न्यास के बिना भी 'असर्वविभक्ति' शब्द से ही 'ना-नाञ्' प्रत्ययो की 'अव्ययसंज्ञा' सिद्ध करने के लिये भाष्यकार 'असर्वविभक्ति' शब्द का अर्थान्तर करते हुए कहते हैं—"अथाप्यसर्वविभक्तिरित्युच्यते, एवमपि न दोष.। न ह्येवं विग्रहं करिष्यते न सर्वा असर्वा असर्वा विभक्तियो यस्मात् इति। कथं तर्हि। न सर्वा असर्वा। असर्वा विभक्तिरस्मादिति"[4] अर्थात् जिससे

---

१ पा० ५ २ २७

२ द्र० महा० भा० १, सू० १ १ ३८, पृ० ९४ "असर्वविभक्तावविभक्ति-निमित्तस्योप संख्यानं कर्तव्यम्,।

३ महा० भा० १ प्रकृत सूत्र, पृ० ९५ "अलिङ्गमसंख्यमिति वा।"

४, वही, पृ० ९५।

सारी यानि पूरी विभक्ति उत्पन्न नहीं होती, अपितु विभक्ति का कुछेक वचन ही उत्पन्न होता है, वह 'असर्वविभक्ति' है। एकवचन को सबके लिये उत्सर्ग मानकर[1] लिङ्गसङ्ख्यारहितों से भी उसका विधान हो जायेगा तो 'बिना', 'नाना' शब्दों के भी 'असर्वविभक्ति' बन जाने से 'अव्ययसंज्ञा' सिद्ध हो जायेगी।[2] उस अवस्था में 'असर्वविभक्तिरव्ययम्' इतना सूत्र ही पर्याप्त है। 'कृन्मेजन्त' "क्त्वातोसुन्कसुन" ये सूत्र भी न बनाने पड़ेंगे।[3]

किन्तु "असर्वविभक्तिरव्ययम्" ऐसा कहने पर जहाँ इष्टसिद्धि होगी वहां अनिष्ट भी प्राप्त होगा। 'एक', 'द्वौ', 'बहव' में भी अव्ययसंज्ञा प्राप्त होने लगेगी। क्योंकि ये भी 'असर्वविभक्ति' हैं। इनमें भी सारी पूर्ण विभक्ति उत्पन्न नहीं होती। 'एक' से केवल एकवचन, 'द्वि' से केवल द्विवचन तथा 'बहु' से केवल बहुवचन होता है। इनमें 'अव्ययसंज्ञा' को रोकने के लिए सूत्र में 'तद्धित' ग्रहण अवश्य करना होगा। 'असर्वविभक्ति' तद्धितों की ही अव्ययसंज्ञा हो, 'एक', 'द्वि' 'बहु' शब्दों की न हो। परन्तु 'तद्धित' ग्रहण करने पर कृदन्तों की अव्ययसंज्ञा नहीं प्राप्त होती। उसके लिये 'तद्धित' के साथ-साथ 'मान्त', 'एजन्त' तथा 'कृत्' प्रत्यय अर्थात् 'कृन्मेजन्त' यह सूत्र और "क्त्वा तोसुन्कसुन" ये भी बनाने आवश्यक हैं। 'तद्धित-कृत्' प्रत्ययों के साथ स्वरादि शब्दों की भी 'अव्ययसंज्ञा' के लिए

---

१ द्र० महा० भा० १ सू० १ १ ३८ पृ० ९५ 'एकवचनमुत्सर्गं करिष्यते।'

२. यदि "प्रथमातिक्रमे कारणाभाव" इस न्याय को मानकर केवल प्रथमा विभक्ति का एकवचन ही लिङ्गसङ्ख्यारहित अव्ययों से माना जाये, द्वितीयादि शेष विभक्तियों का एकवचन न माना जाये, तब तो 'असर्वा विभक्तियो यस्मात्' इस विग्रह में भी दोष नहीं। उस अवस्था में केवल प्रथमा का ही एकवचन होने से 'बिना', 'नाना' भी 'असर्वविभक्ति' बन जाते हैं। किन्तु 'खले कपोतन्याय' से एकसाथ जब सब विभक्तियों का एकवचन सामान्यविहित होगा तब 'बिना', 'नाना' के 'सर्वविभक्ति' हो जाने से 'अव्ययसंज्ञा' नहीं प्राप्त होती। उसके लिये 'असर्वविभक्ति यस्मात्' यह विग्रह करना आवश्यक हो जाता है।

३ पा० १ १ ३९, ४०।

४ इस बात को भाष्यकार ने श्लोकरूप में इस प्रकार कहा है—
महा० भा० १, सू० १ १ ३८, पृ० ९६
"एवगते कृत्यपि तुल्यमेतन्मान्तस्य कार्यं ग्रहणं न तत्र।
तत परे चाभिमता न कार्यास्त्रय कृदर्था ग्रहणेन योगा॥"

'स्वरादिनिपातमव्ययम्'' यह सूत्र भी अवश्य ही बनाना पडेगा जिससे स्वरादिति गणपठित शब्दो तथा निपातो की 'अव्ययसज्ञा हो सके'।

ऐसी स्थिति मे यदि स्वरादि के गणपाठ मे ही 'कृन्मेजन्त', क्त्वातोसुन् कसुन' ये सूत्र पढ दिये जाते है तो कृदन्तो की 'अव्ययसज्ञा' के लिए तो पृथक् सूत्र बनाने की आवश्यकता नही है। रह गये तद्धित, इनकी अव्ययसज्ञा करने के लिए भी स्वरादिगणपाठ मे ही 'तद्धितश्चासर्वविभक्ति' यह सूत्र न बनाकर कुछ निश्चित तद्धित प्रत्ययो का परिगणन कर देना चाहिए जिससे 'ना', 'नाज्' प्रत्ययो की भी 'अव्ययसज्ञा' सिद्ध हो सके तथा 'पचतिरूपम्',' पचतिकल्पम् इत्यादि मे 'रूपम्', 'कल्पप्' इन तद्धितप्रत्ययो की न हो। इसलिए भाष्यकार ने अन्त मे श्लोक रूप मे कहा है —

''तस्मात्स्वरादिग्रहण च कार्यम्, कृत्तद्धिताना ग्रहण च पाठे।''[1] इसकी व्याख्या मे कैयट लिखते हैं—''तस्माद् गणपाठ एव आश्रयितव्य । प्रपञ्चार्थस्तु सूत्रारम्भ इति।''[2]

वार्तिककार भी कहते हैं—''सिद्धन्तु पाठात'' अर्थात् स्वरादिगण मे ही कुछ निश्चित तद्धितो का पाठ कर देना चाहिए जिनकी 'अव्ययसज्ञा' इष्ट है और वह पाठ इस प्रकार है—

''तसिलादय प्राक् पाशप । शस्प्रभृतय प्राक् समासान्तेभ्य ।
मान्त । तसिवती । कृत्वोऽर्था । नानाञाविति।''[4]

इस प्रकार गणपाठ का आश्रयण करके भाष्यवार्तिककार द्वारा प्रकृतसूत्र का प्रत्याख्यान किया गया है। क्योकि कुछ निश्चित तद्धितो का स्वरादिगण मे पाठ कर देने से ही जब अभीष्ट सिद्ध हो जायेगा तो यह सूत्र व्यर्थ है।

समीक्षा एव निष्कर्ष

भाष्यवार्तिककार द्वारा किया गया प्रकृत सूत्र का प्रत्याख्यान ठीक ही है किन्तु अव्ययसज्ञाविधायक इन चारो सूत्रो को गणपाठ मे पढ देने से भी इन सूत्रो की उपयोगिता या आवश्यकता का तो अपलाप नही किया जा सकता। आवश्यकता होने के कारण ही तो इन्हे गणपाठ मे पढने के लिए कहा जा रहा है

---

१ पा० १ १ ३७।

२ महा० भा० १, सू० १ १ ३८, पृ० ६६।

३ महा० प्र० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० ३०७।

४ महा० भा० १, सू० १ १,३८, पृ० ६५।

अन्यथा इनके गणपाठ में भी पढने की क्या अनिवार्यता थी। यह बात अलग है कि इन सूत्रों को गणपाठ मे पढ देने से पुन सूत्रपाठ मे इनका पढना अप्रयोजक होगा। अष्टाध्यायी के वर्तमान मुद्रित सस्करणो मे तो ये सूत्रपाठ और गणपाठ दोनो जगह विद्यमान हैं। दोनो जगह इनके पढने की कोई आवश्यकता नही है। अत यदि इन्हे एक ही स्थान पर अर्थात् स्वरादि के गणपाठ मे पढ दिया जाता है तो लाघव के साथ-साथ स्फुटबोध भी हो जायेगा।

वैसे इन सूत्रो को गणपाठ मे पढने की अपेक्षा यदि सूत्रपाठ मे ही पढा जाये तो भी कोई अनौचित्य प्रतीत नही होता। क्योंकि आचार्य पाणिनि ने प्राचीन आचार्यों के अव्यवस्थित गणपाठ को परिमार्जित करके प्रकृतसूत्र के रूप मे परिष्कृत किया था। सम्भवत इसीलिए अर्वाचीन वैयाकरण शाकटायन तथा हेमचन्द्र ने एतत् सूत्र प्रतिपाद्य विषय को तथा 'क्त्वा', 'तोसुन्' आदि अन्य अव्यय विषयक कार्यों को अपने तन्त्र मे गणपाठ की अपेक्षा केवल सूत्रपाठ मे स्थान दिया है।[1] तथापि स्पष्ट प्रतिपत्ति तो गणपाठ से ही सभव है। जिन तद्धितो की 'अव्ययसज्ञा' अभीष्ट है, उनका स्वरादिगण मे पाठ कर देना चाहिए, जैसा कि किया भी हुआ है। सम्भवत इसी अनुकरण पर पूज्यपाद देवनन्दी ने इन सूत्रो को अपने सूत्रपाठ मे नही रखा। अभयनन्दीकृत जैनेन्द्र महावृत्ति मे इन्हे स्वरादि के साथ पढा गया है।[2] ऐसी अवस्था मे प्रकृत सूत्र को अलग से सूत्रपाठ मे पढने की आवश्यकता नहीं है। अथवा जैसे "पूर्वपरावर दक्षिणोत्तरापराधराणि", "स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्", "अन्तर बहिर्योगोपसव्यानयो"[3] ये तीनों सूत्र सर्वादिगण मे इसी रूप मे पढे गये हैं। इनकी 'जस्' मे विकल्प से 'सर्वनाम सज्ञा' करने के लिए वे अष्टाध्यायी सूत्रपाठ मे भी पढ दिये गये हैं। उनका तो गणपाठ के साथ-साथ सूत्रपाठ मे भी पढना सार्थक है किन्तु "तद्धितश्चासर्व-

---

१ (क) शा० सू० १ १ ३६ "तस्वनडाम् अधण तसि आम् क्त्वा अम् तुम् वि सुङ् प्तसु आभा स्वरादीनि अव्ययम्।'
(ख) है० सू० १ १ ३०-३५ "स्वरादयोऽव्ययम्"। 'चादयोऽसत्वे।' 'अधणतस्वाद्याशस।' 'विभक्तिथमन्ततसाद्याभा।' 'वत्तस्याम्।' 'क्त्वातुमम्।'

२ द्र० जै० महावृत्ति, सू० १ १ ७४ 'के पुनरसख्या —स्वर्, अन्तर्, इत्येवप्रकारा, निसज्ञकाश्च सर्वे 'चे, वा, ह, अह' एवम्प्रभृतयो हृतश्च तसादयस्तत इत्यादयश्च्व्यर्था कृत मुमाम् तुमादय क्त्वाप्यादेशश्चेति।'

३ पा० १ १ ३४-३६।

विभक्ति" इत्यादि चतु सूत्री का गणपाठ से अतिरिक्त सूत्रपाठ मे भी पढने का कोई प्रयोजन नजर नही आता। अत सूत्रपाठ की दृष्टि से इन सूत्रो का प्रत्याख्यान समुचित ही प्रतीत होता है। किन्तु भाष्यकार के "तस्मात्स्वरादिग्रहण च कार्यम्" इत्यादि वचन के आधार पर यह अनुमान निकाला जा सकता है कि भाष्यकार के समय मे उक्त चतु सूत्री "तद्धितश्चासर्वविभक्ति", "कृन्मेजन्त", "क्त्वा तोसुन् कसुन", 'अव्ययीभावश्च' गणपाठ मे विद्यमान नही थी और न ही तद्धित प्रत्यय भी गणपाठ मे थे। अन्यथा भाष्यकार 'कार्यम्' (पाठ करना चाहिए) ऐसा न कहते। बाद मे अर्वाचीन वैयाकरण तथा वृत्तिकारो आदि ने उन्हे भाष्यवचन को आधार मानकर गणपाठ मे पढ दिया हो, ऐसी सभावना है।[2] ऐसी स्थिति मे भाष्यकार का यह कहना "कृत्तद्धिताना ग्रहण च पाठे" युक्तिसगत ही है॥

अव्ययीभावश्च ॥ १ १ ४१ ॥

सूत्र का प्रतिपाद्य

यह सूत्र अव्ययीभाव समास की 'अव्ययसज्ञा' करता है। एक और दूसरे 'अव्ययीभावश्च'[3] सूत्र द्वारा अव्ययीभावसमास की नपुसकलिङ्गता का विधान किया जाता है। उसका प्रयोजन 'अधिगोपम्', 'अनुगङ्गम्' इत्यादि प्रयोगो मे अव्ययीभाव के नपुसकलिङ्ग होने से 'ह्रस्वो नपु सके प्रातिपदिकस्य'[4] से 'गोपा', 'गङ्गा' आदि शब्दो को ह्रस्व हो जाता है, यह स्पष्ट है। अव्ययीभावसमास की 'अव्ययसज्ञा' करने के वृत्तिकारो तथा भाष्यकार आदि ने केवल तीन ही प्रयोजन माने हैं। वे प्रयोजन है—(१) 'लुक्' (२) 'मुखस्वरनिवृत्ति' तथा (३) 'उपचार'[5]

'लुक्' जैसे—'उपाग्नि'। 'अग्ने समीपम् उपाग्नि' यह अव्ययीभावसमास है। इसकी 'अव्ययसज्ञा' होने से इससे परे आनेवाले 'सुप्' का 'अव्ययादाप्सुप'[6] से

१ पा० १ १ ३८-४१।
२ इस विषय मे विशेष अध्ययन के लिए देखें गणपाठ एस्त्राइण्ड टु पाणिनि, पृ० २७४।
३ पा० २ ४.१८।
४ पा० १,२ ४७।
५ द्र० महा० भा० १, सू० १ १ ४१, पृ० १०० 'अव्ययीभावस्याव्ययत्वे प्रयोजन लुङ् मुखस्वरोपचारा। तुलना करो, स० सू० १ १ १८८ 'लुङ् मुखस्वरयोरव्ययीभाव।'
६ पा० २ ४ ८२।

'लुक्' हो जाता है।

'मुखस्वरनिवृत्ति' जैसे—'उपाग्निमुख ।' उपाग्नि मुख यस्य स'उपाग्निमुख' यहा बहुव्रीहिसमास मे 'उपाग्नि' इस अव्ययीभाव के अव्यय होने से 'मुखस्वाङ्गम्'[1] से प्राप्त उत्तरपदा तोदात्तस्वर का "नाव्ययदिक्शब्द गोमहत्"[2] इत्यादि सूत्र से निषेध हो जाता है। क्योकि उक्त सूत्र अव्यय से परे 'मुख' शब्द को प्राप्त उत्तरपदान्तोदात्त स्वर का निषेध करता है। 'उपाग्निमुख' मे उत्तरपदान्तोदात्तस्वर का निषेध होने पर "बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्"[3] से विहित अपना पूर्वपदप्रकृतिस्वर समासान्तोदात्त सिद्ध हो जाता है।

'उपचारनिवृत्ति' जैसे— 'उपपय कार'। प्राचीन आचार्यों के मत मे विसर्ग के स्थान मे होने वाले सकार की 'उपचार' सज्ञा है।[4] 'उपपयकार' मे 'उपपय' इस अव्ययीभाव के अव्यय होने से "अत कृ कमि कस कुम्भपात्र"[5] इत्यादि सूत्र से प्राप्त विसर्ग के सकार का 'अनव्ययस्य' से विहित निषेध सिद्ध हो जाता है अर्थात् 'उपपय' के विसर्ग को सकार नही होता।

अव्ययीभावसमास की 'अव्ययसज्ञा' करने के ये तीन ही प्रयोजन हैं। अन्यशास्त्रीय कार्यों मे अव्ययीभाव को अव्यय नही माना जाता। जैसे—'उपाग्न्यधीयान' यहाँ 'अधीयान' इस आमन्त्रित के परे रहने 'उपाग्नि' इस सुबन्त को "सुबामन्त्रितेपराङ्गवत्स्वरे'[6] से पराङ्गवद्भाव होकर 'आमन्त्रितस्य च'[7] से आद्युदात्त हो जाता है, पराङ्गवद्भाव मे अव्ययीभाव को अव्यय न मानने से 'अव्ययाना प्रतिषेधो वक्तव्य "[8] यह निषेध नहीं होता। 'उपाग्निकम्' यहा 'उपाग्नि' इस अव्ययीभाव को अव्यय न मानने से 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टे'[9] सूत्र से 'अकच्' नही होता, किन्तु 'क' प्रत्यय ही होता है। 'उपकुम्भम्मन्य' यहा उपकुम्भम् इस अव्ययीभाव

१ पा० ६ २ १६७।

२ पा० ६ २ १६८।

३ - पा० ६ २ १।

४ द्र० का० भा० १, सू० १ १ ४१, पृ० १५४ 'विसर्जनीयस्थानिकस्य सकारस्य उपचार इति सज्ञा।'

५ पा० ८ ३ ४६।

६ पा० २ १ २।

७ पा० ६ १.१९८।

८. पा० २ १ २ पर वार्तिक।

९. पा० ५ ३ ७१।

को अव्यय न मानने से 'खित्यनव्ययस्य'[1] से अधिकृत "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्"[2] से 'मुमागम' सिद्ध हो जाता है। अर्थात् यहाँ 'अनव्ययस्य' यह निषेध न लगकर 'मुमागम' हो जाता है। 'उपकुम्भीभूतम्' यहाँ 'उपकुम्भ' इस अव्ययीभाव के अव्यय न होने से 'अस्य च्वौ'[3] से विहित ईत्व-विधान मे "अव्ययाना च्वावीत्व नेतिवाच्यम्"[4] यह निषेध नही लगता अर्थात् 'अनव्यय' होने के कारण 'अस्यच्वौ' से ईत्व हो जाता है। इस प्रकार अव्ययीभाव-समास की 'अव्ययसज्ञा' करने के केवल तीन ही प्रयोजन सोदाहरण सिद्ध हो जाते हैं।

अल्पप्रयोजनवत्ता, ज्ञापकसिद्धि तथा अन्यथासिद्धि के आधार पर सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार इस सूत्र के खण्डन मे मौन हैं। इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए केवल भाष्यकार कहते हैं कि यदि केवल उक्त तीन ही प्रयोजन इस सूत्र के हैं तो यह सूत्र अनावश्यक होने से प्रत्याख्येय है। इन तीनो प्रयोजनो को अन्यथासिद्ध किया जा सकता है। जैसे 'उपाग्नि' यहाँ 'सुप्' का 'लुक्' प्रयोजन बताया गया है, यह ज्ञापक से ही सिद्ध हो जायेगा। "अव्ययीभाव से परे 'सुप्' का 'लुक्' होता है" इस विषय मे "नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपचम्याः"[5] इस सूत्र द्वारा अव्ययीभाव से परे 'सुप' के 'लुक्' का निषेध करना ही ज्ञापक है। यदि अव्ययीभाव से परे 'सुप्' का 'लुक्' न होता तो इसका निषेध करने की क्या आवश्यकता थी। 'लुक्' का निषेध करना ही इस बात का ज्ञापक या बोधक है कि अव्ययीभाव से 'सुप्' का 'लुक' होता है।

---

१ पा० ६ ३ ६६।
२ पा० ६ ३ ६७।
३ पा० ७ ४ ३२।
४ यह वार्तिक महाभाष्य मे उपलब्ध नही है। केवल सिद्धान्तकौमुदी मे "अस्य च्वौ" सूत्र पर पठित है। तत्त्वबोधिनीकार, शब्दकौस्तुभकार तथा पदमञ्जरीकार ने इसे औपसख्यानिक माना है। प्रकृत सूत्र पर भाष्यकार ने "अस्य च्वौ अव्ययप्रतिषेधश्चोद्यते" केवल इतना ही कहा है किन्तु अद्यत्वे "अस्य च्वौ" सूत्र पर भाष्य या वार्तिक कोई उपलब्ध नही है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कभी इस सूत्र पर भी भाष्यकार ने भाष्य लिखा होगा। यह विद्वानो के विचार का विषय है। द्र० स० व्या० शा० इ० भा० १, पृ० ३५३
५ पा० २ ४ ८३।

'उपपय कार' यहा 'उपचारनिवृत्ति' भी अन्यथा सिद्ध हो जायेगी। "अत कृ कमि०"[1] इस सूत्र मे "नित्य समासेऽनुत्तरपदस्थस्य"[2] इस पूर्वसूत्र से 'अनुत्तरपदस्थस्य' की अनुवृत्ति आती है। उससे उत्तरपद मे स्थित विसर्ग को सकार नहीं होता। 'उपपय' मे 'पय' का विसर्ग उत्तरपद मे स्थित है। अत वहा सकार नही होगा। उत्तरपद से भिन्न मे स्थित विसर्ग को सकार का विधान माना गया है।

अब केवल 'मुखस्वरनिवृत्ति' प्रयोजन शेष रह जाता है। 'उपाग्निमुख' मे "मुख स्वाङ्गम्"[3] के स्वर को रोकने के लिए अव्ययीभावसमास की 'अव्ययसञा' करना कोई विशेष महत्त्वपूर्ण बात नही है। अव्ययीभावसमास की 'अव्ययसञा' करके यदि 'नाव्ययदिक्शब्द'[4] इस सूत्र से केवल 'मुखस्वर' को रोकना ही लक्ष्य है तब वह तो अव्यय के साथ अव्ययीभाव और अधिक पढकर अर्थात् "नाव्ययाव्ययीभावदिक्शब्द" ऐसा करके भी 'मुखस्वरनिवृत्ति' हो जायेगी। भाव यह है कि केवल एक छोटे से प्रयोजन के लिए इतना बडा सूत्र बनाना अच्छा नही मालूम होता। यदि कुछ और भी प्रयोजन होते, जिनकी सिद्धी इस सूत्र के विना नही हो सकती तो इस सूत्र का बनाया जाना सार्थक होता। पर यहां तो ऐसी बात नही है। इसीलिए भाष्यकार कहते हैं—

> "नैक प्रयोजन योगारम्भ प्रयोजयति। यद्येतावत् प्रयोजन स्यात् तत्रैवाय ब्रूयात् नाव्ययाव्ययीभावाच्चेति।"[5]

समीक्षा एव निष्कर्ष

वार्तिककार ने इस सूत्र के प्रयोजनमात्रो का परिगणन किया है। इन्होंने

---

१ पा० ८ ३ ४६।

२ पा० ८ ३ ४५।

३ पा० ६ २ १६७।

४. पा० ६ २ १६८।

५ महा० भा० १, सूत्र० १ १ ४१, पृ० १००। तुलना करो, वही, भा० ३, सू० ७ १ ९६, पृ० २७४ 'नैकमुदाहरण योगारम्भ प्रयोजयति'। यहाँ यह अवश्य स्मरणीय है कि सञा और परिभाषा सूत्र अनेक कार्यों के लिए ही रचे जाते हैं, दूसरे विशिष्ट प्रयोगसाधक विधिसूत्र तो एक प्रयोजन के लिए भी बनाये जाते हैं यथा—'मुद्गादण्' (पा० ४ ४ २५) इत्यादि। (महा० प्र० सू० १ १ १२ 'नैकमिति। अनेक कार्यसिद्ध्यर्थम् सञासूत्र नैकेन प्रयुज्यत इत्यर्थ। अन्यसूत्रमेकेनापि प्रयुज्यते-मुद्गादण्

इसके खण्डन की ओर ध्यान नही दिया है। इससे इनकी सम्मति मे प्रकृतसूत्र प्रत्याख्येय नही है। किन्तु भाष्यकार ने इस सूत्र के प्रयोजनो को ज्ञापक से तथा पूर्वसूत्र से अनुवृत्तिलाकर खण्डित करके केवल एक 'मुखस्वरनिवृत्ति' रूप प्रयोजन को स्वीकार करते हुए तन्निमित्त (उसके लिये) इतने बडे सूत्र के बनाये जाने को अनावश्यक घोषित करके इस सूत्र का प्रत्याख्यान किया है। अत इस दृष्टि से प्रकृत सूत्र खण्डन का विषय है। कैयट आदि टीकाकारो की दृष्टि मे तो भाष्यकार के इस कथन का कि "नैक प्रयोजन योगारम्भ प्रयोजयति। यद्येतावत् प्रयोजन स्यात् तत्रैवाय ब्रूयात् नाव्ययाव्ययीभावाच्चेति" यह अभिप्राय लिया गया है कि आचार्य पाणिनि ने अपने "नाव्ययदिक्शब्द" सूत्र मे अव्ययीभाव को 'अव्यय' के साथ पृथक् नही पढा है इसलिये 'उपाग्निमुख' मे 'मुखस्वर' हो जाना अभीष्ट ही है।"[1]

कुछ लोग, 'अनव्ययम् अव्यय भवति इति अव्ययीभाव' इस प्रकार अव्ययीभाव सज्ञा के अन्वर्थ होने से अव्ययीभाव का मुख्य कार्य अव्ययत्वसम्पादन करना ही है। उससे 'अव्ययसज्ञा' स्वत सिद्ध हो जाती है, ऐसा मानते हैं।[2] वैसे भी 'स्वरादिनिपातमव्ययम्'[3] इस अव्ययसज्ञा विधायक सूत्र के स्वरादिगण मे 'तद्धितश्चासर्वविभक्ति', 'कृन्मेजन्त', 'क्त्वा तोसुन कसुन', 'अव्ययीभावश्च'[4] इन चारो सूत्रो के पठित होने से इन सूत्रो द्वारा पुन 'अव्ययसज्ञा' का विधान करना उक्त सज्ञा की अनित्यता को ही सूचित करता है। अनित्य मानने पर कुछ अव्यय कार्य

इत्यादि',) भाष्यकार ने अन्यत्र भी इसे स्पष्ट किया है। जैसे 'नैकमुदाहरण ह्रस्वग्रहण प्रयोजयति' (महा० भा० ३, सू० ६ ४ ३, पृ० १८१) नव्यव्याख्याकार इस विषय मे कहते हैं—एकस्य शब्दस्य-साधनाय सामान्यसूत्र नारम्भणीयमित्यर्थं। अन्यथा मुदगादण् इत्यनुपपत्तेरिति कैयट बालमनोरमा, भा० १, पृ० २०५)

१ द्र० महा० सू० १ १ ४१, पृ० ३२० "तत्रैवायमिति—न चोक्तम्, तस्मान्मुखस्वरेणात्र भवितव्यमित्याहु"। किन्तु उद्द्योतकार नागेश का इस विषय मे वैमत्य है। उनका कथन है— "तस्मात्तत्राव्ययीभावग्रहण कर्तव्य, सूत्र च न कार्यमिति भाष्याशय इति वयम्।"

२ वही, पृ० ३२० 'अन्ये तु वर्णयन्ति, अनव्ययमव्यय भवतीत्यन्वर्थसज्ञा विज्ञानात् मुखस्वरनिवृत्ति भविष्यति इतिनार्थ सूत्रेण।'

३ पा० १ १ ३७।

४ पा० १ १ ३८-४१।

होंगे तथा कुछ नहीं।[1] अथवा 'अव्ययीभाव' इस शब्द मे 'च्वि' प्रत्यय के कारण भी अव्ययीभावसमास की अव्ययता आरोपित है और अनव्ययता वास्तविक है, यह प्रतीत होता है। इससे भी कुछेक अव्ययनिमित्तक कार्य होंगे, कुछ नहीं। इस प्रकार लक्ष्यानुरोध से व्यवस्था होने पर 'मुखस्वर' की निवृत्ति हो जायेगी।

प्रस्तुत सदर्भ मे शब्दकौस्तुभकार का मतव्य है कि स्वरादिगण मे पठित होने के कारण उसी से 'अव्यय सज्ञा' सिद्ध हो जायेगी तो "तद्धितश्चासर्वविभक्ति" "कृन्मेजन्त", "क्त्वा तोसुन् कसुन्", "अव्ययीभावश्च" ये चारो सूत्र न भी बनाये जायें तो भी कोई हानि नहीं। "अव्ययीभावश्च" यह सूत्र तो चाहे स्वरादिगण मे भी न रखें। क्योंकि 'अनव्ययमव्ययं भवतीत्यव्ययीभाव' इस अन्वर्थसज्ञा से ही अव्ययीभाव की 'अव्ययसज्ञा' स्वत सिद्ध हो जाती है।[2] 'पुरा सूर्यस्योदेतोराधेय'[3] 'पुरा क्रूरस्य विसृप'[4] यहा 'उदेतो', 'विसृप' इन वैदिक शब्दो मे 'तोसुन्' 'कसुन', इन अव्ययसज्ञक प्रत्ययो के प्रयोग मे "न लोकाव्यय"[5] से प्राप्त षष्ठी निषेध को रोकने के लिये "तोसुन्कसुनोरप्रतिषेध" यह वार्तिक तो पढना आवश्यक है।[6] अर्थात् इस चतु सूत्रपाठापेक्षया गणपाठ मे पढ देने पर भी एतत्सूत्रसम्बद्ध 'तोसुन्-कसुनोरप्रतिषेध' यह वार्तिक तो अवश्य पढना पडेगा जिससे उक्त उदाहरणो मे "न लोकाव्यय" से प्राप्त षष्ठीनिषेध रोका जा सके। क्योंकि यहा षष्ठीनिषेध इष्ट नहीं है।[7] इस प्रकार भट्टोजि के मत मे प्रकृतसूत्र व्यर्थ हो जाता है। लेकिन स्पष्टप्रतिपत्ति के दृष्टिकोण से प्रकृतसूत्र को सूत्रपाठ के साथ-साथ गणपाठ मे भी न पढना और अन्वर्थसज्ञाविज्ञान से ही काम चलाना दोषावह ही होगा।

---

१ द्र० महा० प्र० मू० १ १ ४१, पृ० ३२० "केचित्तु स्वरादिपाठात् सिद्धायामव्ययसज्ञाया पुनर्वचनमनित्यत्वज्ञापनार्थम्। तेन कतिपयान्येव अव्ययकार्याणि भवन्तीति नार्थ परिगणनेनेत्याहु।"

२ "तद्धितश्चासर्वविभक्ति" (पा० १ १ ३८) सूत्र के भाष्य मे कहा भी गया है 'कृत्तद्धितानां ग्रहण च पाठे।' इस पर प्रदीपकार लिखते हैं 'तस्मात् गणपाठ एवाश्रयितव्य। प्रपञ्चार्थस्तु सूत्रारम्भ इति।'

३' कृष्ण यजुर्वेदीय मैत्रायणी सहिता, १ ६ १०।

४ मा० यजु, १ २८।

५ पा० २ ३ ६९।

६ पा० २.३ ६९ पर वार्तिक।

७ श० कौ० भा० २, पृ० १८३ वस्तुतस्तु माऽस्तु चतु सूत्री। अव्ययीभावश्चेतिगणेऽपि माऽस्तु। उक्तरीत्यान्वर्थसज्ञयैव सिद्धे। तोसुन् कसुनोरप्रतिषेध इत्येव लाघवात् पठ्यतामिति युक्त पन्था इति।'

क्योंकि उससे सामान्यबुद्धियों को स्फुटबोध न हो सकेगा। हाँ, यह अधिक अच्छा होगा कि इस सूत्र को सूत्रपाठ की अपेक्षा "तद्धितश्चासर्वविभक्तिः" इत्यादि के समान स्वरादि के गणपाठ में ही पढ़ दिया जाये। किन्तु इसे गणपाठ में पढ़ देने से भी इसकी उपयोगिता कम नहीं होती। इस प्रकार प्रकृतसूत्र सूत्रपाठ की दृष्टि से प्रत्याख्येय हो जाता है।

सम्भवतः इसीलिये चन्द्रगोमी आदि अर्वाचीन वैयाकरणों ने इस सूत्र को अपने व्याकरणों में सर्वथा ही नहीं रखा।[1] किन्तु उनका यह मत विचारणीय ही है। ऐसी स्थिति में पाणिनि व्याकरणानुसार प्रकृत सूत्र द्वारा अव्ययीभाव समास की 'अव्यय संज्ञा' होने के कारण उससे परे 'सुप्' का लुक् करने के लिये जहां "अव्ययादाप्सुपः" इस सूत्र सहित केवल दो सूत्रों से ही काम चल जाता है वहां अर्वाचीन वैयाकरणों को भी उक्त पाणिनीय सूत्र के स्थानापन्न स्वतन्त्रीय सूत्र के साथ-साथ अव्ययीभाव से परे सुप्' का 'लुक्' करने लिये एक और अन्य सूत्र बनाना पड़ा है अर्थात् पाणिनि के समान इनको भी दो सूत्र बनाने पड़े हैं।[2] ये भी कोई विशेष लाघव का आधान नहीं कर सके हैं। तब सूत्रकार पाणिनि के सूत्र को रखने में ही क्या अनौचित्य है? इस दृष्टि से पाणिनि के सूत्र का समर्थन न्याय्य ही है। इसीलिए भोजराज ने पाणिनि के समान अव्ययीभाव समास की 'अव्ययसंज्ञा' मानी है। यह बात अलग है कि इसे सूत्रपाठ और गणपाठ दोनों में पढ़ने की अपेक्षा गणपाठ में ही पढ़ना अधिक ज्यायान् है जैसाकि सरस्वतीकण्ठाभरण में किया गया है।।[3]

८

न वेति विभाषा ॥ १ १ ४४ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र निषेध और विकल्प की 'विभाषा' संज्ञा करता है। यहां 'न' का

---

१ तुलना करो—जै०सू० १ १ ७४ पर महावृत्ति 'हश्चेति (अव्ययीभावश्चेति) केचित् पठन्ति। तत्तु चिन्त्यम् उपाग्निकमित्कोऽसम्भवात। उपकुम्भम्मन्य इति मुमोदर्शनात्। उपकुम्भीकृत्य इतीत्वविधानाच्च।'

२ द्र० (क) चा०सू २ १ ३८ 'गुरोऽलग्व्याल्लुक्'।
(ख) वही, २ १ ४० 'तन प्राक् कारकात्'।
(क) जै०सू० १ ४ १५० 'सुपो हे'।
(ख) वही, १ ४ १५१ 'हात्'।
(क) है०सू० ३ २ ६ 'अनतो लुप्'।
(ख) वही, ३ ७ ७ 'अव्ययस्य'।

३ द्र० स० सू० १ १.११८ 'लुङ्मुपस्वरयोरव्ययीभाव'।

अर्थ निषेध और 'वा' का अर्थ विकल्प है। सूत्र मे 'इति' शब्द अर्थ निर्देश के लिए रखा गया है। 'न वा' शब्द का अर्थ, जो निषेध और विकल्प है, उसकी 'विभाषा' सज्ञा होती है। अन्यथा "स्व रूप शब्दस्य"[1] इस सूत्र से 'न वा' शब्द के स्वरूप का ग्रहण होकर विभाषा प्रदेशो मे 'न वा' शब्द का आदेश प्राप्त हो जाता। यद्यपि 'विभाषा' शब्द का अन्यत्र विकल्प अर्थ ही प्रसिद्ध है, निषेध अर्थ प्रसिद्ध नही है, तो भी व्याकरण शास्त्र मे केवल विकल्प की 'विभाषासज्ञा' नही मानी जाती अपितु निषेध और विकल्प दोनो की मिलकर 'विभाषा सज्ञा' स्वीकार की जाती है।

यदि सूत्र मे 'न' शब्द हटाकर 'वेतिविभाषा' ऐसा कर दिया जाये तो केवल विकल्प की *'विभाषा सज्ञा' प्राप्त हो जायेगी। उस अवस्था मे यह सूत्र ही व्यर्थ* हो जायेगा। क्योकि शास्त्र मे तीन प्रकार की 'विभाषायें' है। एक—प्राप्त, दूसरी-अप्राप्त तथा तीसरी—प्राप्त अप्राप्त, मिली हुई या 'उभयत्र विभाषा'। इन तीनो मे जो 'प्राप्तविभाषायें' हैं उनमे विध्यश तो पहले से ही सिद्ध है। *'विभाषा' कहने से पक्ष मे निषेध हो जायेगा तो दो रूप स्वयमेव बन* जायगे। 'प्राप्त विभाषाओं' मे तो 'वा' या 'विभाषा' का अर्थ विकल्प से नही होता, इस प्रकार निषेधमुख से किया जायेगा। 'अप्राप्तविभाषाओं' मे निषेधाश तो पहले से सिद्ध ही है। 'विभाषा' कहने से पक्ष मे विधि हो जायेगी तो वहा भी दो *रूप स्वयमेव बन जायेंगे। वहा 'विभाषा' या 'वा' का अर्थ 'विकल्प से होता है'* इस प्रकार विधिमुख से किया जायेगा। इस ढग से उक्त दोनो प्राप्त या अप्राप्त 'विभाषाओं' मे दो रूपो की सिद्धि स्वयमेव हो जाने से इस सूत्र की आवश्यकता नही रहती। किन्तु तीसरी जो प्राप्ताप्राप्त या उभयत्र 'विभाषा' है वहा इस सूत्र के बिना काम नही चल सकता। इसलिये उक्त सूत्र 'उभयत्र विभाषाओं' के लिये ही है। 'प्राप्नाप्राप्त विभाषाओं' मे प्राप्त अश मे भी दो रूप बनाने है और अप्राप्त अश मे भी दो रूप बनाने हैं। दोनो मे दो-दो रूपो की सिद्धि इस सूत्र के बिना नही हो सकती। यथा—"विभाषा श्वे"[2] यह 'उभयत्रविभाषा' का सूत्र है। यह 'श्वि' धातु को लिट् परे रहते विकल्प से सम्प्रसारण करता है। कित्-अकित् भेद से लिट् दो प्रकार का है[3]। 'अतुस्', 'उस्' आदि कित् लिट् मे तो "वचिस्वपि यजादीना किति"[4] से नित्य सम्प्रसारण प्राप्त है। क्योकि 'श्वि' धातु यजादिगण

१ पा० १ १ ६८।
२ पा० ६ १ ३०।
३ पा० १ १ ५ "असयोगाल्लिट् कित्"
४ पा० ६ १ १५।

मे पठित है। इसलिये किदश मे नित्य प्राप्त संप्रसारण को 'विभाषा' कहने से विकल्प से नही होता, यह अर्थ हो जायेगा तो केवल कित् लिट् मे ही 'शुशुवतु' 'शिश्वियतु', 'शुशुवु', 'शिश्वियु' ये दो रूप बन जायेंगे। 'णल्', 'थल्' आदि अवित् (पित्) लिट् मे किसी से सम्प्रसारण प्राप्त न होने से यह खाली रह जायेगा। वहां केवल 'शिश्वाय', 'शिश्वयिथ' ये ही रूप बन सकेंगे। 'शुशाव', 'शुशविथ' ये सम्प्रसारण वाले रूप न बन सकेंगे। क्योकि 'वा' इस अकेले शब्द मे इतना सामर्थ्य नही कि वह एक साथ ही 'विकल्प से होता है और विकल्प से नही होता' इन दोनो विधिनिषेधरूप मुखो से प्रवृत्ति कर सके। यदि 'विकल्प से होता है' यह कहा जाये तो 'शुशाव', 'शिश्वाय' ये दो रूप बन सकते है और यदि 'विकल्प से नही होता है' यह कहा जाये तो 'शशुवतु', 'शिश्वियतु' ये दो रूप बन सकते हैं। विधि निषेध-रूप मुख से एक साथ 'वा' की प्रवृत्ति न हो सकने से "विभाषा श्वे"[1] इत्यादि 'उभयत्रविभाषा' सूत्रों मे एक साथ दोनों जगह दो-दो रूप सिद्ध नही हो सकते। इस आपत्ति को दूर करने के लिए सूत्र मे 'न' शब्द और जोड़कर निषेध और विकल्प की 'विभाषा सज्ञा' की गई है। 'न' शब्द के लगने पर क्या हो जायेगा कि कित् और अकित् दोनो लिटों मे पहले सम्प्रसारण का निषेध कर दिया जायेगा। अकित् अश मे तो पहले ही निषिद्ध है। कित् अश में प्राप्त सम्प्रसारण का, 'न' से निषेध हो जायेगा तो कित् तथा अकित् दोनो लिट् बराबर हो जायेंगे। फिर 'वा' से विकल्प करके 'विकल्प से होता है' इस प्रकार विधिमुख मे प्रवृत्ति हो जायेगी तो कित्-अकित् दोनों जगह दो-दो रूप सिद्ध हो जायेंगे। यह कार्य 'न' शब्द की 'विभाषासज्ञा' बिना किए नही हो सकता था। इसीलिए आचार्य पाणिनि ने अन्य से विलक्षण यह निषेध और विकल्प की 'विभाषासंज्ञा' की है। केवल विकल्प की 'विभाषासज्ञा' अन्य शास्त्रों मे प्रसिद्ध ही है। "मेध्य पशु विभाषित", "मेध्योऽनड्वान् विभाषित" इस वाक्य मे मेध्य यज्ञिय पशु के आलम्बन सम्बन्धी विकल्प को सभी मीमांसा-शास्त्रज्ञ विद्वान् समझते हैं।

लोकव्यवहार द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र के प्रत्याख्यान मे वार्तिककार तथा भाष्यकार दोनो सहमत हैं। इस विषय मे भाष्यवार्तिक है। "अशिष्यो वा विदितत्वात्। यदनेन योगेन प्राथ्यते तस्यार्थस्य विदितत्वात्। येऽपि ह्येता सज्ञा नारभन्ते तेऽपि विभाषेत्युक्तेऽनियत्व

---

१ पा० ६।१।३०।

मवगच्छन्ति"[1] इत्यादि ।

इसका भाव यही है कि 'विभाषासंज्ञा' विधायक इस सूत्र की आवश्यकता नही है। क्योंकि इस संज्ञा के बिना भी 'विभाषा' कहने से विकल्प का अर्थ सभी लोग समझते हैं। आचार्य पाणिनि ने भी यह 'विभाषासंज्ञा' सूत्र बनाकर 'विभाषा' शब्द से भिन्न 'वा'[2], 'अन्येषाम्'[3], 'एकेषाम्'[4], 'अन्यतरस्याम्'[5], 'बहुलम्'[6] तथा 'उभयथा'[7] इत्यादि शब्दो से भी एतत्सूत्रप्रतिपाद्य अर्थ का बोध कराया है। यदि यह संज्ञा वजनदार या अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती तो अन्य शब्दो से इसका अभिधान संभव नही था। जो संज्ञायें लोकव्यवहार-प्रसिद्ध हैं या अन्य शास्त्रो से अवगत कर ली जाती हैं, उनके लिए विशेष यत्न करके सूत्रनिर्माण करना उचित मालूम नही होता।[8] इसलिये यह सूत्र अनावश्यक है, ऐसा वार्तिककार तथा भाष्यकार दानो का आशय है। अर्वाचीन वैयाकरण चन्द्र, देवनन्दी आदि भी इस विषय मे भाष्यवार्तिककार के साथ सहमत हैं और इसीलिये इन्होंने इस संज्ञासूत्र को नही बनाया है। वैसे पाणिनि के समान इन वैयाकरणो ने भी 'विभाषा' के स्थान पर 'वा' आदि शब्दो का ही प्रयोग किया है।

प्रस्तुत प्रसङ्ग मे कुछ आधुनिक गवेषक मनीषियो का विचार है कि पाणिनि के द्वारा विकल्प के लिये पठित शब्दो का व्यवहार एकाएक अव्यवस्थित नही है। उनके मत मे, पाणिनि के द्वारा स्मृत 'बहुलम्', 'अन्यतरस्याम्', 'वा, 'विभाषा' 'उभयथा' इत्यादि विकल्प के वाचक शब्द वस्तुगत्या समानार्थक होते हुए भी पूर्णत समानार्थक नही है। उनमे सूक्ष्म अन्तर विद्यमान है। यही कारण है कि इनके तन्त्र मे विकल्प के लिए सर्वत्र एक शब्द का व्यवहार नही मिलता।

---

१ महा० भा० १, सू० १ १ ४४ पृ० १०५ ।
२ पा० १ २ १३ 'वा गम'।
३ पा० ६ ३ १३६ 'अन्येषामपि दृश्यते'।
४ पा० ८ ३ १०२ 'यजुष्येकेषाम्'।
५ पा० ८ ४ ६२ 'झयो होऽन्यतरस्याम्'।
६ पा० ७ १ ८ बहुल छन्दसि'।
७ पा० ३ ४ ११७ "छन्दस्युभयथा'।
८ का० भा० सू० १ २ ५६ पृ० २६३ 'यच्चार्थो लोकत सिद्ध किं तत्र यत्नेन'।

एतद्विषयक संकेत सर्वप्रथम डा० जोशी ने किया है। तद् यथा —

"If a rule proves to be applicable in the majority of cases, Panini says Bahulam Whenever a rule is applicable to one of the two vedic recensions or regional languages only, Panini says Anyatarasyam When a Vedic word appears in two forms Panini says Ubhayatha To indicate simply option, Panini says Va When he wants to refer to the opinion of grammatical authorities who differ from him, Panini says Ekesam Thus, to indicate the varying degrees of applicability of his rules, the uniform use of Va would not do One should not form the impression that Panini uses his terms for option indiscriminately"[1]

किन्तु उक्त तथ्य का पूर्ण प्रतिपादन एवं विवेचन *Paul Kiparsky* की पुस्तक "Panini as a variationist" में देखने को मिलता है जहाँ इन्होंने निम्न तथ्य प्रतिपादित किये हैं —

"To indicate that a rule is to be applied optionally, Panini uses 106 times Va, 112 times Vibhasa and 93 times Anyatarasyam Why this variety when one word would do? Contrary to tradition, the three words are not synonymous but are used to denote different preferences among optional variants They are to be translated as follows—

Va 'or rather', 'usually', 'preferably'

Vibhasa 'Or rather not', 'rarely', 'peferably not', 'marginally'

Anyatarasyam 'Either way', 'some times', optionally 'alternatively'"

---

१ भाष्य (जोशी), कर्मधारयाह्निक, भू० २ १५८ पृ० १५६।

२ Introduction, page 1

किन्तु इस विषय मे विद्वानो मे मतभेद है।[1] जहा G V Devasthalı जैसे आलोचको ने उक्त विचार को भ्रान्त ठहराया है[2] वहा Dr Madhav Deshpandey आदि ने इसे अन्ततो गत्वा स्वीकार भी किया है।[3] प्रस्तुत प्रसङ्ग मे अन्य यह विद्वान मानते हैं कि उक्त शब्द प्राक् पाणिनीय व्याकरण सम्प्रदायो मे प्रचलित थे और पाणिनि ने उन सम्प्रदायो के मतो को लेने के लिए उन सब पारिभाषिक शब्दो को भी यथास्वरूप ग्रहण कर लिया "सर्ववेदपारिपद हीद शास्त्रम्"।[4] इस प्रकार ये विकल्पार्थक शब्द इनके मत मे पाणिनिभिन्नकर्तृक है।[5]

अस्तु, कहने का भाव यह है कि जब 'वा', 'अन्यतरस्याम्' इत्यादि शब्दो के बिना परिभाषित किये ही विकल्प अर्थ का बोध हो जाता है तो 'विभाषा' शब्द बिना परिभाषित किये ही विकल्प अर्थ का बोध क्यो न करा देगा। दूसरे, यदि इनमे से किसी एक को परिभाषित किया जाता है तो अन्य विकल्पार्थक शब्दो को भी क्यो नही परिभाषित किया जाता। यदि 'अन्यतरस्याम्' आदि की परिभाषा किये बिना ही हमारा काम चल सकता है तो 'विभाषा' को बिना

---

१ उक्त विचारभेदज्ञापन के लिए मैं डॉ० जार्ज कार्डोना (प्रोफेसर भाषा विज्ञान, पेन्नसिलवानिया विश्वविद्यालय, सयुक्तराष्ट्र अमेरिका) का ऋणी हू। मेरे एक पत्र के उत्तर मे उन्होंने यह सूचना दी थी। पत्र मे आवश्यक अश इस प्रकार है—

"केपाचिदाधुनिकाना विदुपा वाविभाषान्यरस्याम् पदानामर्थभेदोऽस्ति। इद। वाशब्दस्य साधीय इति, विभाषापदस्यासाधीय इति चार्थ इति मतम्। दन्तु, न विचारक्षमम्। तयाहि यद् धात्वनन्तरवर्तिन प्रत्ययस्य 'स्वरतिमूतिसूयति धूञूदितो वा इति 'उदितो वा' इत्यनेन वा विकल्पेनेड् विहित तद धात्वनन्तरवर्तिन्या निष्ठाया 'यस्य विभाषा' इत्यनेन इट् प्रतिषेध्य। तत् ज्ञायते विभाषा वा शब्दयो र्नास्त्यत्यन्तमर्थभेद इति"।

२ इस विषय मे द्रष्टव्य Annals of the B O R I Poona, Panını and the Astadhyaye A crtıquı 1981 PP 193—212

३ Language, (lıguıstıc society of Amerıca) Review of Panını as a varıatıonist, March 1984, PP 161-64

४ महा० भा० १ सू० २ १ ५८ पृ० ८००।

५ इस विषय मे द्रष्टव्य पाणिनि व्याकरण का अनुशीलन पृ० ८५

परिभाषित किये ही क्यो नही चल सकता।[1] इस प्रकार भाष्यवार्तिककार की दृष्टि मे प्रकृतसूत्र प्रत्याख्येय हो जाता है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यह सूत्र 'उभयत्रविभाषाओ' के लिये बनाया गया है। केवल प्राप्त या अप्राप्त 'विभाषाओ' के लिए इसकी आवश्यकता नही, यह पहले कहा जा चुका है। 'उभयत्रविभाषाओ' मे भी यदि 'विभाषा' शब्द से एक साथ 'विकल्प से होता है' इस विधिमुख से और विकल्प से नही होता है' इस निषेधमुख से प्रवृत्ति स्वीकार कर ली जाये तो उनके लिये भी यह सूत्र अनावश्यक सिद्ध हो सकता है। "विभाषा श्वे" इस उभयत्रविभाषासूत्र मे 'विभाषा' शब्द से एक साथ भावाभावरूप विकल्प का विधान कर लिया जायेगा तो 'शुशाव, शिश्वाय' यहा अकित् (पित्) लिट् मे विकल्प से सम्प्रसारण होता है, ऐसा अर्थ हो जायेगा और '*शुशुवतु, शिश्वियतु*' यहा कित् लिट् मे विकल्प से सम्प्रसारण नहीं होता—ऐसा अर्थ हो जायेगा। इस प्रकार दोनो जगह दो दो रूप सिद्ध हो जायेंगे। क्योकि विकल्प या 'विभाषा' मे विधि और निषेध दोनो रहते है। सूत्रकार पाणिनि ने तो सम्भवत वाक्यभेद के भय से विधिनिषेध रूप दोनो मुखो से 'विभाषा' की प्रवृत्ति नहीं मानी। तभी उन्होने 'न' शब्द और लगाकर निषेध और विकल्प की नूतन 'विभाषा' सज्ञा स्वीकार की है। उपयोगिता की दृष्टि से 'विभाषा' का अर्थ विकल्प ही है। यह विकल्प वाक्यभेद से कही विधि-मुख, कही निषेधमुख और कही विधिनिषेधोभयमुख मान लिया जाये तो यह सूत्र प्रत्याख्यान का विषय बन जाता है।

इस सूत्र पर विचार करते हुए शब्दकौस्तुभकार कहते है—"आकृतौ पदार्थे समुदाये सकृल्लक्षण प्रवर्तते इति दर्शने इद सूत्रमारभ्यते। वस्तुतस्तु आकृतिपक्षेऽपि प्रदेशेष्वेव 'न वा श्वे' इत्यादि पठित्वा इद सूत्र त्यक्तु शक्यम्। युक्त चैतत्। अन्यथा अन्वार्थमप्याख्या सज्ञा 'विभाषोर्णो' (पा०१.२.३) इत्यप्राप्तविभाषायामपि प्रवर्तेत। प्रतिषेधाश्च बलीयासो भवन्तीति 'प्रोर्णुवि' इत्यत्रापि सार्वधातुकमपित् (पा० १ २ ४) इत्यस्य निषेध ततो विकल्पश्च स्यात्।"[2] इसका भाव यह है कि आकृति (जाति) पदार्थ है, इस पक्ष मे समस्त

---

१ प्रस्तुत विचार विमर्श भाष्यकार 'विभाषा', 'वा', 'अन्यतरस्याम्' इत्यादि शब्दो को सामान्य विकल्प का वाचक मानकर कर रहे हैं।

२ श० क० कौ० भा०१, पृ०१८४-८५।

लक्ष्यसमुदाय मे एक बार लक्षण (सूत्र) प्रवृत्त होगा। वह चाहे विधिमुख से हो या निषेधमुख से। दोनो मुखो से प्रवृत्त नही हो सकता। अत सूत्र की आवश्यकता है। किन्तु वास्तव मे आकृतिपक्ष मे भी "विभाषा श्वे" इत्यादि 'विभाषा स्थलो' मे ही "न वा श्वे"[1] इत्यादि पढ देने से इस सूत्र का प्रत्याख्यान हो सकता है। अन्यथा इस सूत्र की सत्ता मे 'उभयत्र विभाषाय' बनाया हुआ यह सूत्र "विभाषोर्णो"[2] यहाँ 'अप्राप्तविभाषा' मे भी प्रवृत्त होने लगेगा। ऐसी अवस्था मे निषेध के बलवान् होने से 'प्रोर्णुवि' यहा 'ऊर्णु' धातु के लट् लकार मे उत्तम पुरुष का एकवचन 'इट्' प्रत्यय है। वह "सार्वधातुकमपित्"[3] से ङित् है। उसका "विभाषोर्णो" से निषेध प्राप्त होकर फिर विकल्प भी प्राप्त होने लगेगा तो अनिष्ट रूप की प्रसक्ति होगी।

इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि यदि स्वकल्पित नूतन 'विभाषा' संज्ञा से ही दो रूपो की उत्पत्ति मानी जायेगी और उसे स्वत सिद्ध अनादि नित्य दो रूपो का अन्वाख्यान करने वाली नही स्वीकार किया जायेगा तो रूपविकल्प के साथ उनके साधुत्व मे भी विकल्प प्राप्त होगा। दोनो रूप विकल्प से साधु समझे जायेंगे। जबकि दोनो रूपो का साधुत्व नित्य अभीष्ट है। नित्य शब्दवाद मे तो विकल्प भी नित्य है। उसके विधान की आवश्यकता नही। इसीलिये भाष्यवार्तिककार नूतन 'विभाषासंज्ञा' करने मे यह आक्षेप उठाते हैं—"साध्वनुशासनेऽस्मिन् शास्त्रे यस्य विभाषा तस्य साधुत्वम्। आचार्यदेशशीलने च तद्विषयता।"[4] अर्थात् जिन कार्यों मे किसी विशेष आचार्य तथा देश का नाम लिया गया है वे कार्य उन्ही मे ही हो सकेंगे। अन्यत्र न हो सकेंगे तो वहा दो रूप कैसे बनेंगे। इसलिये रूपो का विकल्प स्वभाव से ही नित्य व्यवस्थित है यह जानकर संज्ञाविधान करना व्यर्थ है। इस प्रकार सूत्र का प्रत्याख्यान ही न्याय्य है॥

स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा॥ १ १ ६८॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

कुछ लोग इस सूत्र को परिभाषासूत्र मानते हैं। और परिभाषा अनियम मे

---

१ तुलना करो—जै०सू० ४ ३ २७ 'न वा श्वे'।
२ पा० १ २ ३।
३ पा० १ २ ४।
४. महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० १०४-१०५।

नियम करने वाली होती है।[1] यह भी शब्द के स्वरूपग्रहण का नियम करता है। पर दूसरे लोग कहते है कि परिभाषा विध्यन्तर का शेषभूत होती है। यह सूत्र किसी दूसरी विधि का शेषभूत नही है। अत परिभाषा न होकर यह सज्ञासूत्र है।[2] इसका अर्थ है कि शब्द का स्वरूप उसकी सज्ञा होता है। बोधक या प्रत्यायक होता है। शब्द बोध्य है, ग्राह्य है। उसका स्वरूप उसका बोधक है, ग्राहक है। यहा 'स्व रूपम्' यह सज्ञा है, और 'शब्दस्य' यह सज्ञी है। जिस प्रकार "अणुदित्सवर्णस्य"[3] मे 'अण्' और 'उदित्' सज्ञा है और 'सवर्णस्य' सज्ञी है। "तपरस्तत्कालस्य"[4] मे 'तपर' सज्ञा है और 'तत्कालस्य' सज्ञी है। "येन विधिस्तदन्तस्य"[5] मे 'येनविधि' सज्ञा है और 'तदन्तस्य' सज्ञी है। आदिरन्त्येन सहेता"[6] मे तो आचार्य ने अन्त्येनेता सह आदि' यह सज्ञामात्र ही निर्दिष्ट की है। उन्होने सज्ञी का निर्देश स्वत बोधगम्य होने के कारण वहा नही किया है। परन्तु यह आचार्य की एक त्रुटि ही है जो सज्ञा के साथ सज्ञी का निर्देश नही किया है। इन सब सज्ञा विधायक सूत्रो मे सज्ञा का निर्देश प्रथमा विभक्ति से किया है और सज्ञी का निर्देश षष्ठी विभक्ति से।

'अशब्दसज्ञा' का अर्थ है कि शब्दशास्त्र मे जो 'टि', 'घु', 'घ', 'भ' आदि सज्ञायें की गई हैं उनमे स्वरूपग्रहण नही होना। इस सूत्र के अर्थ मे काशिकाकार तथा कौमुदीकार ने 'स्व रूपम्' को सज्ञी माना है। जो कि भाष्यविरुद्ध है।[7] भाष्यकार बार-बार लिखते हैं कि 'स्व रूप शब्दस्य सज्ञा भवति, स्व रूप

---

१ द्र० का० भा० १, सू० १ १ ३, पृ० ७१ 'अनियमे नियमकारिणी परिभाषा' अथवा 'अनियमप्रसङ्गे नियमो विधीयते'।

२ द्र० महा० प्र० भा० १, सू १ १ ६८ पृ० ५१८ "स्वरूपस्य पर्यायाणां तद्विशेषाणां च ग्रहणे प्राप्ते नियमार्था परिभाषेयमिति केचिदाहु। अन्ये तु लिङ्गाभावात् विध्यन्तरशेषाभावाच्च नेय परिभाषा, अपितु सज्ञासूत्रमिदमितिप्रतिपन्ना।"

३ पा० १ १ ६६।

४ पा० १ १ ७१।

५ पा० १ १ ७२।

६ पा० १ १,७०।

७ (क) द्र० का० भा० १, सू० १ १ ६८, पृ० २३६ "शास्त्रे स्वमेव रूप शब्दस्य ग्राह्य बोध्य प्रत्याय्य भवति, न बाह्योऽर्थ शब्दसज्ञा वर्जयित्वा।"

शब्दस्य सज्ञा यथा स्यात्[1] इत्यादि । यद्यपि पर्यवसान मे शब्द और उसका स्वरूप दोनो के एक होने से स्वरूप को भी सज्ञी कहा जा सकता है ।

शब्द का स्वरूप जातिवाद पक्ष मे जाति या सामान्य है और व्यक्तिवाद पक्ष मे व्यक्ति है । "अग्नेर्ढक्"[2] यहा जातिपक्ष मे अग्नि का स्वरूप अग्नित्व है । और व्यक्तिपक्ष मे अग्नित्व का स्वरूप अग्नि है । इन दोनो का फलित अर्थ एक ही है । केवल गुणप्रधानभाव का ही भेद है ।[3] इसलिये प्रदीपकार कैयट लिखते हैं—"व्यक्ति कार्यं प्रतिपद्यमाना सामान्यप्रतिबद्धैव प्रतिपद्यते । सामान्यमपि कार्य प्रतिपद्यमान व्यक्तिद्वारेणैव प्रतिपद्यते इति फले न कश्चिद् भेद "।[4]

'स्व शब्दस्य' इतना कहने पर भी शब्द के अपने रूप का ग्रहण हो जाता, क्योंकि रूप के सिवाय शब्द का अपना और है क्या । तो इस प्रकार 'रूप' ग्रहण व्यर्थ होकर इस बात का ज्ञापक है कि रूप के सिवाय कुछ और भी शब्द का अपना है और वह है अर्थ । इस प्रकार 'रूप' ग्रहण से "अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य"[5] यह परिभाषागतार्थ हो जाती है । इससे शब्द के स्वरूप ग्रहण मे अर्थवान् का ही ग्रहण होगा, अनर्थक का नही, तो 'काशे', 'कुशे', 'वशे', मे 'शे' शब्द के अनर्थक होने से "शे"[6] इस सूत्र से प्रगृह्यसज्ञा नहीं होगी, यह इष्ट सिद्ध हो जायेगा । सूत्र का उदाहरण इस प्रकार है—"अग्नेर्ढक्" ।[7] यहा 'अग्नि' शब्द से प्राग्दीव्यतीय[8] 'सास्य-

---

(ख) वै० सि० कौ० भा० १, सू० १ १ ६८, पृ०३५ "शब्दस्य स्व रूप सज्ञि, शब्दशास्त्रे या सज्ञा ता विना ।"

१ महा० भा० १ प्रकृत सूत्र, पृ० १७५-७६ ।

२ पा० ४ २ ३३ ।

३ वा० प० १ ६८-६९

"स्व रूपमिति कैश्चित्तु व्यक्ते सज्ञोपदिश्यते ।
व्यक्ते कार्याणि ससृष्टा जातिस्तु प्रतिपद्यते" ॥
"सज्ञिनी व्यक्तिमिच्छन्ति सूत्रे ग्राह्यामथापरे ।
जातिप्रत्यायिता व्यक्ति प्रदेशेषूपतिष्ठते ॥

४ महा० प्र० भा० १, सू० १ १ ६८, पृ० ५१६ ।

५ परि० स० १४ ।

६ पा० १ १ १३ ।

७ पा० ४ २ ३३ ।

८ पा० ४.१ ८३ "प्राग्दीव्यतोऽण्" ।

देवता" आदि अर्थों मे 'ढक्' प्रत्यय करने मे 'अग्नि' के स्वरूप का ग्रहण होगा। 'अग्नि' के पर्यायवाची 'वह्नि', 'पावक' आदि से तथा तद्विशेषवाची 'चित्रभानु' आदि से 'ढक्' प्रत्यय नही होगा। शब्दशास्त्र मे शब्द मे ही कार्य सभव है, अर्थ मे नही, इसलिये 'अग्नि' का अर्थ जो 'अगारा' है, उससे 'ढक्' प्रत्यय असभव होने से न होगा। सूत्र मे 'अशब्दसज्ञा' कहने से शब्दशास्त्रीय सज्ञाओ मे स्वरूपग्रहण का निषेध हो जायेगा तो 'उपसर्गे घो कि'[१] यहा 'घु' शब्द के स्वरूप का ग्रहण न होकर घुसज्ञक दा धा रूप धातुओ से ही 'कि' प्रत्यय होता है। अन्यथा 'घु' धातु से 'कि' प्रत्यय प्रसक्त हो जाता। इस प्रकार सूत्र का प्रयोजन सोदाहरण सिद्ध हो जाता है।

स्वत सिद्धि होने से सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र के प्रत्याख्यान मे वार्तिककार तथा भाष्यकार दोनो सहमत हैं। ये दोनो पहले तो इस सूत्र का प्रयोजन बताते हुए यह वार्तिक पढते हैं— 'शब्देनार्थावगतेरर्थे कार्यस्यासभवात् तद्वाचिन सज्ञाप्रतिषेधार्थं स्व रूपवचनमिति'।"[२] तदनन्तर उक्त प्रयोजन को अन्यथासिद्ध करने के लिए ये अलग वार्तिक पढते है— 'न वा शब्दपूर्वकोह्यर्थे सप्रत्यय', तस्मादर्थनिवृत्ति'"[३] अर्थात् शब्दज्ञानपूर्वक ही अर्थ का ज्ञान होता है। जब तक शब्द नही जाना जाता तब तक अर्थ की प्रतीति नही होती। क्योकि इस व्याकरणशास्त्र मे सब कार्य शब्द मे ही सम्भव हैं, अर्थ मे सम्भव नही हैं। शब्द ही व्याकरणशास्त्र का विषय एव इसके लिए प्रमाणभूत है। इसलिये शब्द के स्वरूप का ही ग्रहण होगा। अर्थ की निवृत्ति स्वत हो जायेगी।

यदि यह कहा जाये कि शब्दशास्त्रीय सज्ञाओ मे स्वरूपग्रहण का निषेध करने के लिये यह सूत्र आवश्यक है, वह भी बात ठीक नही। क्योंकि "सज्ञाप्रतिषेधानर्थक्य वचनप्रामाण्यात्"[४] अर्थात् शब्दशास्त्रीयसज्ञाओ मे स्वरूप ग्रहण का निषेध तो उन सज्ञाओ के वचन-सामर्थ्य से ही हो जाएगा। अन्यथा सज्ञा करना ही व्यर्थ हो जायेगा। प्रयोगो मे सज्ञी के ग्रहण करने के लिये ही सज्ञाओं का विधान किया गया है। यदि यहां भी स्वरूपग्रहण माना जाएगा तो सज्ञियो

---

१ पा० ४ ३ २४।
२. पा० ३ ३ ९२।
३ महा० भा० १, सू० १ १ ६८, पृ० १७५।
४ वही, पृ० १७६।
५ वही, पृ० १७६।

का उपयोग किस जगह होगा। इसलिए सञ्ज्ञाओं के वचन-सामर्थ्य से ही वहाँ स्वरूपग्रहण की निवृत्ति हो जाएगी।

यहा यह शङ्का करना ठीक नहीं कि वचन-सामर्थ्य से सञ्ज्ञियों का ग्रहण हो जाए तथा स्वरूपग्रहण से सञ्ज्ञाओं का भी। क्योंकि आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि सञ्ज्ञाओं मे स्वरूप का ग्रहण नहीं होता। उन्होने 'ष्णान्ता षट्'[1] सूत्र मे, जो षकारान्त सख्या की 'षट्' सञ्ज्ञा की है, उससे ज्ञात होता है कि सञ्ज्ञाओं मे सञ्ज्ञियों का ही ग्रहण होता है, सञ्ज्ञाओं के स्वरूप का नहीं। अन्यथा 'षट्' इस सञ्ज्ञा के स्वरूपग्रहण से ही 'षष्' इस षकारान्त सख्या का ग्रहण हो जाता। 'षट्' शब्द मे 'जशत्व' के असिद्ध होने से 'षष्' ही मूलरूप मे प्रतीत होगा इस प्रकार ज्ञापक से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि सञ्ज्ञाओं मे स्वरूप ग्रहण न होकर उनके सञ्ज्ञिओं का ही ग्रहण होता है।

यदि यह कहा जाये कि 'मन्त्रे', 'यजुषि', 'ऋचि' इत्यादि मे मन्त्रादि भी शब्द की सञ्ज्ञायें हैं। उनमे स्वरूप ग्रहण को रोकने के लिये उक्त सूत्र बनाना चाहिये, तो यह बात निरर्थक है। क्योंकि मन्त्र आदि शब्दों मे उक्त कार्यों का सम्भव न होने से वहा मन्त्रादिसहचरित अर्थ ही लिया जायेगा। इसलिये कही पर भी दोष न होने से यह सूत्र अनावश्यक है। इस प्रकार वार्तिककार से मिलकर भाष्यकार ने प्रकृत सूत्र का खण्डन कर दिया है।

समीक्षा एव निष्कर्ष

वस्तुत यह सूत्र प्रत्याख्यान के योग्य ही है क्योंकि—

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञान सर्वं शब्देन भासते।"[2]

भर्तृहरि के इस वचन से सर्वत्र शब्द का व्यापार ही मुख्य है। शब्द के स्वरूप का ज्ञान सर्वप्रथम है। उसके ज्ञान के बिना कुछ भी व्यवहार नहीं हो सकता। वाक्-प्रयोग मे प्रथम तो शब्द की आनुपूर्वी एव उसका स्वरूप ही देखा जायेगा। अर्थ की प्रतीति तो बाद मे होती है। शब्द के स्वरूप की प्रतीति मे किसी उपदेश की आवश्यकता नहीं। स्वरूप का दर्शन सबसे पहले होने से अन्तरङ्ग भी है। स्वरूप को छोडा भी नहीं जा सकता और शब्द को समझने मे उसका अपना

१. पा० १.१.२४।
२ वा० प० १.१ २३।

स्वरूप असाधारण कारण भी है ।[1] इन हेतुओ से सूत्र के बिना भी स्वरूपग्रहण सिद्ध हो जाता है । इस सूत्र के प्रत्याख्यान को उचित समझते हुए ही शब्दकौस्तुभकार कहते है कि यद्यपि लोक मे 'पशु' 'अपत्यम्', देवता', 'प्राञ्च', 'उदञ्च भरता' इत्यादि शब्दो से लोकप्रसिद्ध पशु आदि अर्थ ही लिये जाते है, शब्दस्वरूप का ग्रहण नही होता, तो भी शब्दशास्त्र मे तो "अग्नेर्ढक्"[2] इत्यादि शब्दो से 'अग्नि' इस शब्दस्वरूप का ही ग्रहण होता है । 'अग्नि' का अर्थ, जो 'अगारा' है, उसका ग्रहण नही होता । क्योंकि 'अग्नि' के अर्थ से परे 'ढक्' प्रत्यय का पौर्वापर्य सम्भव नही है । अगारो से परे कौन 'ढक्' प्रत्यय कर सकता है । प्रत्ययविधि मे "ङ्याप् प्रातिपदिकात्"[3] इस सूत्रोक्त प्रातिपदिक का अधिकार भी है । अर्थवान् शब्दस्वरूप को प्रातिपदिक सज्ञा होती है । अर्थवान् अग्निशब्द का स्वरूप ही प्रातिपदिक है । अत अर्थ मे कार्य का असम्भव होने से प्रातिपदिकसज्ञक अग्नि' शब्द से ही 'ढक्' प्रत्यय होगा । इस प्रकार शब्द के स्वरूप का ग्रहण स्वत सिद्ध हो जाने से यह सूत्र व्यर्थ है । "दाधा घ्वदाप्"[4] यहा 'घु' शब्दस्वरूप का ग्रहण न होकर उसके अर्थ जो 'दा धारूप' सज्ञी है' उनका ग्रहण होता है । इसलिये सूत्र मे 'अशब्दसज्ञा' ग्रहण करने की भी आवश्यकता नही है ।[5] वाक्यपदीय मे कहा भी है—

> "व्यवहाराय नियम सज्ञाया सज्ञिनि क्वचित् ।
> नित्य एव तु सम्बन्धो डित्थादिषु गवादिवत् ॥"
>
> वा० प० २ ३ ६४

अर्थात् सज्ञायें सज्ञी का ग्रहण कराती हैं अपने स्वरूप का नही । यदि यह कहा जाये

---

१ तुलना करो, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली (भाषापरिच्छेद), शब्दखण्ड ८१
"पदज्ञान तु करण द्वार तत्र पदार्थधी ।
शाब्दबोध फल तत्र शक्तिधी सहकारिणी ।"

२ पा० ४ २ ३३ ।

३ पा० ४ १ १ ।

४ पा० १ १ १६ ।

५ श० का० कौ० भा० १, प्रथम सूत्र, पृ० २७६ "आरम्य माणेऽपि सूत्रे पशु, अपत्यम्, देवता, प्राञ्च, उदञ्च, भरता, इत्यादयस्तावल्लौकिकदर्या एव गृह्यन्ते । अग्नेर्ढक् इत्यादौ तु शब्द एव ग्रहीष्यते, अर्थस्य प्रत्ययेन पौर्वापर्यासम्भवात् ङ्याप्प्रातिपदिकात् इत्यधिकाराच्च । उपसर्गे घो कि इत्यादौ तु घुपानु र्न ग्रहीष्यते, दा धा घु इत्यारम्भात् ॥"

कि 'अर्थवद्ग्रहण' परिभाषा के ज्ञापन के लिये इस सूत्र मे 'रूप' ग्रहण की अथवा इस सूत्र की आवश्यकता है, तो वह भी ठीक नही। क्योकि 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य'[1] यह परिभाषा तो "व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशा ष"[2] इस सूत्र मे 'राज्' ग्रहण करने पर फिर 'भ्राज्' ग्रहण करने से ही ज्ञापित हो जाती हैं। यदि अर्थवान के ग्रहण मे अनर्थक का भी ग्रहण हो जाता तो 'भ्राज्' ग्रहण करने की या 'राज्' ग्रहण करने की क्या आवश्यकता थी। 'भ्राज्' मे 'राज्' है ही, परन्तु वह अनर्थक है। स्वतन्त्र 'राज्' अर्थवान् है। 'भ्राज्' के अन्तर्गत, जो 'राज्' है, वह अनर्थक है। आचार्य पाणिनि जानते हैं कि अर्थवान् के ग्रहण मे अनर्थक का ग्रहण नही होता। इसलिए 'भ्राज' ग्रहण करते है। 'राज्' का ग्रहण करने के लिए पृथक् 'राज्' ग्रहण करते हैं। इससे उक्त परिभाषा ज्ञापित होती है। यह परिभाषा, जहा ज्ञापक सिद्ध है, वहा न्यायमूलक भी है। न्याय तो यही कहता है कि सार्थक के ग्रहण मे सार्थक का ही ग्रहण हो, निरर्थक का क्यो हो ?[3]

यदि इस सूत्र मे पीछे आने वाले "अणुदित् सवर्णस्य",[4] "तपरस्तत्कालस्य"[5] "आदिरन्त्येन सहेता"[6] "येन विधिस्तदन्तस्य",[7] इन चार सूत्रो मे 'स्व रूपम्' की अनुवृत्ति के लिये इस सूत्र की आवश्यकता मानी जाये, तो वह भी निरर्थक है। क्योकि उन सूत्रो मे 'स्व रूपम्' इस अनुवृत्ति की कोई आवश्यकता ही नही। "अणुदित्" सूत्र मे 'सवर्णस्य' कहा है। अपना स्वरूप भी अपना सवर्णी है। उसका ग्रहण भी सवर्ण के साथ हो जायेगा। यही बात "तपरस्तत्कालस्य" मे है। अपना स्वरूप ही तत्काल का स्वरूप है। "आदिरन्त्येन सहेता" मे 'आदि' शब्द को द्विरावृत्त करके एक 'आदि' शब्द संज्ञा का वाचक हो जायेगा तथा दूसरा स्वरूप का बोधक होगा तो आद्यन्त शब्द अपने मध्यवर्ती वर्णों के बोधक होने के साथ-साथ आदिभूत अपने स्वरूप का भी बोध करा देंगे। "येन

---

१ परि०स० १४।
२ पा० ८ २ ३६।
३ द्र०श०कौ०भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० २७६ "अर्थवद्ग्रहणपरिभाषापि व्रश्चादि सूत्रे राजि पठित्वा पुनर् भ्राजिपाठात् सिद्धा न्यायसिद्धा च"।
४. पा० १.१ ६८।
५ पा० १ १ ७०।
६ पा० १ १ ७०।
७ पा० १.१ ७२।

विधिस्तदन्तस्य' मे स्वयं वार्तिककार ने "तस्य च" कहकर तदन्त के साथ तत्स्वरूप का भी ग्रहण सूचित कर दिया है।[1] इसके अतिरिक्त 'स्वरूपग्रहण' अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोषदुष्ट भी है। इसीलिये "मित्तद्विशेषाणा वृक्षाद्यर्थम्"[2] इत्यादि वार्तिक इसके बाधक बनाये हैं। इस प्रकार चारो सूत्रो मे स्वरूपग्रहण की अनुवृत्ति के बिना भी इष्टसिद्ध हो जाने से यह सूत्र निष्प्रयोजन अथवा अन्यथासिद्ध हो जाता है। वास्तव मे पाणिनि के प्रकृतसूत्र से उनका यह आशय प्रतीत होता है कि शब्द केवल स्वरूप का ही बोधक होता है, अपने अर्थ का नही। जबकि लोक मे शब्द सामान्यत अपने स्वरूप के साथ-साथ अपने अर्थ का भी बोधक होता है। लगता है कि सूत्रकार ने इसी बात को नियम का रूप देने के लिये प्रकृत सूत्र की रचना की है। किन्तु भाष्यकार के प्रत्याख्यान का आधार यह है कि जब व्याकरणशास्त्र मे अर्थ मे कार्य का सभव न होने से शब्द मे ही कार्य होते हैं और इस तरह से व्याकरणशास्त्र का सम्बन्ध अर्थ से न होकर सर्वथा शब्द से ही हुआ करता तो सूत्रकार का यह नियमन करना व्यर्थ हो जाता है। क्योकि शब्द को कहा हुआ कार्य अर्थ के अप्रयोजक होने से पुन शब्द मे स्वत सिद्ध ही है। इसीलिये अर्वाचीन व्याकरण-सम्प्रदायो मे भी एतत सूत्रविषयक नियम का अभाव परिलक्षित होता है॥

भीत्रार्थानां भयहेतु ।१.४.२५॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र अपादान सज्ञा करता है। इसका अर्थ है कि 'भय' अर्थ वाले तथा 'त्राण' एव 'रक्षण' अर्थ वाले धातुओ के प्रयोग मे जो 'भय' का हेतु है, 'भय' का कारण है, जिससे 'भय' होता है, उस कारक की अपादान सज्ञा होती है। जैसे—'चौरेभ्यो बिभेति'। 'चौरेभ्यस्त्रायते'। 'चोरो से डरता है'। यहां डरने का कारण चोर हैं। अत चोर की अपादान सज्ञा हो गई तो 'अपादाने पचमी'[3] से पञ्चमी विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार 'चोरो से बचाता है'—यहा चोरो के डर के कारण उनसे बचाता है। इसलिये 'त्राणार्थक' धातु के प्रयोग मे अपादानसज्ञा होकर पचमी विभक्ति हो जाती है।

---

१ द्र०श०कौ०भा० १, सू० १ १ ६८, पृ० २७७। "ननु उत्तरत्र चतुर्भ्यामनुवृत्तये स्व रूपमित्यवश्य वाच्यमिति चेत् न अनुवृत्तेरनावश्यकत्वात् ..."

२ महा० भा० १, पृ० १७६ प्रकृत सूत्र पर वार्तिक।

३ पा० २.३.२८।

'भयहेतु' ग्रहण करने का प्रयोजन यह है कि जो 'भय' का हेतु है, कारण है, उसी की अपादानसंज्ञा हो, अन्य की न हो। जैसे—'अरण्ये बिभेति'। 'अरण्ये त्रायते'। यहां जंगल में डरता है, जंगल में बचाता है इन अर्थों में जंगल 'भय' का कारण नहीं है। अपितु जंगल में स्थित हिंस्र जानवरों से डरता है, उन्हीं से बचाता है। जंगल तो 'भय' के कारण का अधिकरण है। जंगल में स्थित, भय के कारण हिंसक जानवरों से डरता है या बचाता है। इसमें पूर्व 'ध्रुवमपायेऽपादानम्'[1] इस सूत्र से अपादान शब्द की अनुवृत्ति आती है। अपादान कारक है। पाणिनीय व्याकरण में आचार्यों ने कारकों का यही क्रम रखा है कि पहले अपादान, फिर सम्प्रदान, करण, अधिकरण, कर्म और कर्ता। इस प्रकार ६ कारक बनते हैं। उनमें "विप्रतिषेधे परं कार्यम्"[2] के वचन से अपादान कारक को अन्य सब कारक बाध लेते हैं। कर्ता कारक सबके बाद में होने से सब कारकों का बाधक है। भाष्यवार्तिक भी है—

"अपादानमुत्तराणि"[3]

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार इस सूत्र पर सर्वथा मौन हैं। केवल भाष्यकार ही इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—"अयं योगः शक्योऽवक्तुम्। कथं वृकेभ्यो बिभेतीति। य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति यदि मां वृकाः पश्यन्ति, ध्रुवो मे मृत्युरिति। स बुद्ध्या सम्प्राप्य निवर्तते तत्र ध्रुवमपायेऽपादानम् इत्येव सिद्धम्। इह चौरेभ्यस्त्रायते दस्युभ्यस्त्रायते इति। य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति यदीमे चौरा पश्यन्ति ध्रुवमस्य वधबन्धनादि परिक्लेशा इति। स बुद्ध्या सम्प्राप्य निवर्तयति। तत्र ध्रुवमपायेऽपादानम् इत्येव सिद्धम्।"[4] इसका भाव यह है कि इस सूत्र द्वारा अपादान संज्ञा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि 'वृकेभ्यो बिभेति', 'दस्युभ्यो बिभेति', 'चौरेभ्यो बिभेति' यहां "ध्रुवमपायेऽपादानम्"[5] इस पूर्वसूत्र से ही अपादानसंज्ञा सिद्ध हो जाती है। क्योंकि, जो विचार पूर्वक काम करने वाला बुद्धिमान् मनुष्य है, वह देखता है कि यदि मुझे चोर, डाकू या भेड़िया आदि 'भय' के

---

१ पा० १ ४ २४।
२ पा० १ ४ २।
३. महा० भा० १, सू० १ ४ १, पृ० ३०२।
४ महा० भा० १, सू० १.४ १, पृ० ३२६-३२८।
५. पा० १.४.२५।

हेतु प्राणी देखेंगे तो मेरी मृत्यु निश्चित है। वह बुद्धि द्वारा चौरादि से हट जाता है। उसका शरीर से अपाय न होने पर भी बुद्धि से अपाय हो जाता है। उस बुद्धिकृत अपाय मे चौरादि के ध्रुव होने से 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' इसी सूत्र से चौरादि की अपादान सज्ञा हो जायेगी तो यह सूत्र व्यर्थ है। इसी प्रकार "चौरेभ्यस्त्रायते', 'दस्युभ्यस्त्रायते' यहा भी बुद्धिमान् मनुष्य विचार करता है कि यदि इस व्यक्ति को चौरादि देख लेंगे तो वे अवश्य इसका वध हिंसा आदि करेंगे। वह बुद्धि द्वारा इस बात को सोचकर अपनी बुद्धि उन चौरादि से हटा लेता है। बुद्धिकृत अपाय मे चौरादि के ध्रुव होने से उनकी अपादानसज्ञा पूर्व सूत्र से ही सिद्ध हो जायेगी।

पूर्वसूत्र का अर्थ है कि अपाय अर्थात विश्लेष मे जो ध्रुव है, अवधिभूत है, उसकी अपादान सज्ञा होती है। वह अपाय चाहे गौण हो या मुख्य हो, इस कारक प्रकरण मे सभी प्रकार का ग्रहण कर लिया जाता है। इसमे 'साधकतम करणम्" इस सूत्र मे किया गया 'तमप्' ग्रहण ही ज्ञापक है कि यहां कारक प्रकरण मे "गौणमुख्ययो मुख्ये कार्यसम्प्रत्यय"[१] यह गौणमुख्य न्याय नही लगता। यहा तो मुख्य के साथ गौण का भी ग्रहण हो जाता है। जैसे 'तिलेषु तैलम्', 'दध्नि सर्पि' यहा तैलादि के मुख्य आधार तिलादि की अधिकरण सज्ञा होकर वहां सप्तमी विभक्ति होती है वैसे 'गङ्गायां घोष.', 'कूपे गर्गकुलम्' यहा घोषादि के गौण आधार गगा आदि की भी अधिकरण सज्ञा होकर सप्तमी विभक्ति हो जाती है। करणसज्ञा मे तो 'तमप्' ग्रहण करने से मुख्य क्रिया के साधक की ही करण सज्ञा होती है, गौण साधक की नहीं। इस प्रकार भाष्यकार ने बुद्धिकृत अपाय को लेकर उसके अवधिभूत चौरादि की अपादान सज्ञा पूर्वसूत्र से सिद्ध कर दी है। उसमे सिद्ध होने पर यह सूत्र व्यर्थ हो जाता है।

समीक्षा एव निष्कर्ष

अपादान सज्ञा विधायक ७-८ सूत्रो मे "ध्रुवमपायेऽपादानम्" यह सूत्र ही प्रमुख है। वस्तुत यदि देखा जाये तो इसी सूत्र का व्यापार प्राय "भीत्रार्थानां भयहेतु" इत्यादि सभी सूत्रो मे सूक्ष्मबुद्धिगम्य दिखाई देता है। अपादान भी तीन प्रकार का है—१ निर्दिष्ट विषय, २. उपात्तविषय तथा ३. अपेक्षितक्रिय।[३]

१　पा० १४४२।

२. परि० स० १५।

३　द० वा०प०, साधनसमुद्देश, १३६।

"निर्दिष्टविषयं किंचिदुपात्तविषय तथा।
अपेक्षितक्रिय चेति त्रिधापादानमुच्यते ॥"

जिस क्रिया मे अपादान का विषय निर्दिष्ट है वह निर्दिष्ट विषय अपादान है। जैसे-'ग्रामादागच्छति'। यहा आगमन क्रिया मे अपादान का विषय निर्दिष्ट है। आगमन मे कही से अपाय या विश्लेष आवश्यक है। जैसे—गमन मे सयोग आवश्यक है। जहा से आगमन हुआ है, उसकी अपादान सज्ञा होती है। यह निर्दिष्टविषय का उदाहरण है। उपात्तविषय वह है जहा क्रिया किसी अन्य क्रिया को अङ्गरूप से उपादान करके अपादान का विषय बनती है। जैसे—'बलाहकाद् विद्योतते विद्युत्।' बादल से बिजली चमकती है। यहा बादल मे निकलकर बिजली चमक सकती है, वैसे नही। इसलिये 'विद्योतन क्रिया', 'निकलना क्रिया' को अङ्ग बनाकर अपादान का विषय है। इसी प्रकार '.अनृतात् सत्यमुपैमि०'[1] यहा 'अनृत परित्यज्य सत्यमुपैमि' यह अर्थ है यानि अमृत को छोडकर सत्य को प्राप्त होता हू। 'प्राप्तिक्रिया', 'परित्यागक्रिया' को अपना अङ्ग बनाकर अपादान का विषय बनती है। अपेक्षितक्रिय वह है जहा क्रियावाची पद के अश्रूयमाण होने पर भी क्रिया प्रतीत होती है। जिस अपादान के लिये क्रिया के उच्चारण की अपेक्षा है वह अपेक्षितक्रिय अपादान है। जैसे—'माथुरा पाटलिपुत्रकेभ्य आढयतरा' मथुरा के लोग पटना वालो से अधिक धनी हैं। यहा 'पाटलिपुत्रानपेक्ष्य' इस अर्थ मे 'पाटलिपुत्रकेभ्य' यह अपादान पञ्चमी है। उक्त तीनो प्रकार के अपादानों मे कही कोई प्रयोग मे आता है, कही कोई। प्रकृत सूत्र मे 'चौरेभ्यो बिभेति' यहा 'चौरान् दृष्ट्वा बिभेति' इस प्रकार 'बिभेति' क्रिया का अङ्ग 'दर्शन' क्रिया होने से उपात्तविषय अपादान है। भाष्यकार द्वारा उपात्तविषयक अपादान को भी "ध्रुवमपायेऽपादानम्"[2] इस सूत्र से ही सिद्ध मानकर इसका खण्डन कर दिया गया है। इसीलिये भाष्यकार को प्रमाण मानते हुए अर्वाचीन वैयाकरण चन्द्र, देवनन्दी, शाकटायन तथा हेमचन्द्र आदि ने भी पाणिनि के उक्त सूत्र को छोडकर अपादानप्रकरण के शेष प्राय सभी सूत्रो को अपने-अपने तत्रों मे स्थान नही दिया बल्कि "अवधे पचमी" "अपायेऽवधिरपादानम्", "अपायेऽवधौ" इत्यादि सूत्ररचना करके पाणिनि के "ध्रुवमपाये०" सूत्र को ही अधिक स्पष्ट किया

---

१ मा० यजु० १५।
२ पा० १.४ २४

है।[1] मन्दबुद्धिप्रतिपत्त्यर्थ यदि यह सूत्र रखा भी जाये तो भी इसमें 'भयहेतु' इनका प्रयोजन चिन्त्य है। क्योंकि 'अरण्ये बिभेति' यहाँ अरण्य में सप्तमी विभक्ति बाधक हो जायेगी। अपादान से परे अधिकरण सञ्ज्ञा है। "विप्रतिषेधे पर कार्यम्"[2] से अधिकरणसञ्ज्ञा अपादान सञ्ज्ञा को बाध लेगी तो अधिकरण में सप्तमी निर्बाध है।

प्रस्तुत सदर्भ में तत्त्वबोधिनीकार लिखते हैं कि 'भयहेतु' ग्रहण के अभाव में अधिकरण कारक की शेषत्वविवक्षा में अरण्य में प्राप्त षष्ठी विभक्ति को इस सूत्र से होने वाली अपादान पञ्चमी बाध लेगी तो 'अरण्यस्य चौराद् बिभेति' यह प्रयोग न बन सकेगा। इसलिये 'भयहेतु' ग्रहण करना ही चाहिए।[3] "कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे"[4] इस रामायण के प्रयोग में भयार्थक 'बिभ्यति' क्रिया के रहते हुए 'कस्य' यह षष्ठी कैसे हुई? 'कस्मात् बिभ्यति' इस प्रकार पञ्चमी होनी चाहिए तो इसका उत्तर है कि 'कस्य' का सम्बन्ध 'संयुगे' के साथ है। 'जातरोषस्य कस्य संयुगे देवा बिभ्यति' ऐसा अन्वय होता है। यदि कहा जाये कि फिर तो 'संयुगे' की जगह 'संयुगात्' होना चाहिए। क्योंकि भयार्थक 'भी' धातु के प्रयोग में अपादान कारक की पञ्चमी विभक्ति ही न्याय्य है तो इसका उत्तर है कि अधिकरण सञ्ज्ञा के परे होने से वह अपादान सञ्ज्ञा को बाध लेगी। इसलिये पंचमी न होकर सप्तमी ही हो जायेगी। 'चौरेभ्यो बिभेति' यहाँ 'भी' धातु का अर्थ भयपूर्वक निवृत्ति है। चौरों से डर कर हटता है। 'चौरेभ्यस्त्रायते' यहाँ 'त्रा' धातु का अर्थ

---

१ तुलना करो—
"प्रत्याख्यातुमिहारब्धमिति तन्त्रान्तरोदितम्।
स्वीकर्तुमथवास्माकं पक्षपातो न विद्यते॥"
किंच, "तन्त्रान्तरप्रणीतानां सूत्राणां परमाग्रहात्।
प्रत्याख्यानेन यत्नस्य द्वैगुण्यमुपजायते॥ कातन्त्रविस्तर।
(का०सू० २.१ ८१ से उद्धृत)।

२ पा० १.४.२।

३ द्र० त०बो० प्रकृत सूत्र "भयहेतु ग्रहणं चिन्त्यप्रयोजनम्। अरण्ये बिभेति इत्यत्र परत्वादधिकरणसञ्ज्ञाप्रवृत्तेः इति चेत्, अत्र वदन्ति भयहेतुग्रहणाभावे कारकशेषत्वविवक्षायामिति प्रसङ्गः स्यात्। तथा च अरण्यस्य चौराद् बिभेति इति प्रयोगो न स्यात्।"

४ रामायण, बालकाण्ड, सर्ग १, श्लोक ४।

त्राणपूर्वक निवृत्ति है। चोरों से होने वाले कष्टों से बचाकर उनसे हटाता है। निवारण अर्थ में चोरों के अनीप्सित होने से "वारणार्थानामीप्सित"[1] से अपादान सञ्ज्ञा प्राप्त न होती थी। अत इस सूत्र द्वारा विधान किया गया है। शेष षष्ठी की प्राप्ति में यह सूत्र बनाया गया है यद्यपि यह अन्यथासिद्ध है। कारक प्रकरण के सूत्रों की प्रातिस्विक समीक्षा के अतिरिक्त इन सब सूत्रों की एक समवेत समालोचना अन्तिम "भुव प्रभव" (पा० १ ४ ३१) सूत्र पर द्रष्टव्य है। *यहां तो भाष्य के सन्दर्भ में ही इनका युक्तायुक्तत्व विचार किया* गया है। असली समालोचना वहां देखें।

पराजेरसोढ ॥ १ ४ २६ ॥

सूत्र का प्रतिपाद्य

यह सूत्र भी अपादान सञ्ज्ञा करता है। इसका अर्थ है कि 'परा' पूर्वक 'जि' धातु के प्रयोग में, जो 'असोढ' अर्थ है, जो क्लिष्ट तथा कष्टप्रद होने के कारण सहा नहीं जाता, उस कारक की अपादान सञ्ज्ञा होती है। उदाहरण जैसे—'अध्ययनात् पराजयते'। 'अध्ययन में पराजित होना है' अर्थात अध्ययन करने में असमर्थ है। अध्ययन करना उसके लिये असह्य है। अध्ययन करने में उसे ग्लानि होती है। यहाँ 'पराजय' का अर्थ दबना नहीं है बल्कि स्वय दबाना है। 'परा' पूर्वक 'जि' धातु से "विपराभ्या जे"[2] इस सूत्र से आत्मनेपद होकर 'पराजयते' रूप बनता है। पराजय के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह वर्तमान कालिक ही हो। भूत तथा भविष्यत् काल में भी पराजय सम्भव है। अत 'अध्ययनात् पराजयते' के साथ-साथ 'अध्ययनात् पराजेष्ट', 'अध्ययनात् पराजेष्यते', 'अध्ययनात पराजित' इत्यादि तीनों कालों में अपादानसञ्ज्ञा हो जायेगी।'[3]

सूत्र में 'असोढ' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि दबने अर्थ में ही अपादान सञ्ज्ञा हो, दबाने में नहीं। जैसे—'शत्रून्-पराजयते'। 'शत्रुओं को पराजित करता है।' 'उनको दबाता है।' उनके सामने ग्लान होकर दबता नहीं। यहाँ 'जि' धातु का अर्थ अभिभव करना है। अत सकर्मक होने से कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है।

---

१ पा० १ ४ २७।

२ पा० १ ३ १९।

३. तुलना करो, भाष्य (जोशी) कारकाह्निक, सू० १ ४ २६, पृ० ७५ के फुटनोट से उद्धृत "The काशिकावृत्ति paraphrases असोढ as सोढु न शक्यते to indicate that the past tense in असोढ has no relevance for the application of the rule"

यदि यह कहा जाये कि 'शत्रून् पराजयते' यहाँ अपादान सज्ञा को परे होने से कर्मसज्ञा बाध लेगी इसलिये 'असोढ' ग्रहण व्यर्थ है। यह कथन युक्त नही है। क्योकि कर्म की शेषत्वविवक्षा मे प्राप्त षष्ठी को 'असोढ' ग्रहण के बिना इस सूत्र से होने वाली अपादान पञ्चमी बाध लेगी तो 'शत्रुभ्य पराजयते' (शत्रुओ को दबाता है) ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होगा। इसलिये सूत्र मे असोढ' ग्रहण करना चाहिये। 'जि जये' तथा 'जि अभिभवे' ये दो धातु हैं। इनमे पहली अकर्मक है तथा दूसरी सकर्मक है। यहाँ अकर्मक के उदाहरण हैं तथा सकर्मक के प्रत्युदाहरण। शेष षष्ठी की प्राप्ति मे यह सूत्र बनाया गया है।

बुद्धिकृत अपाय मानकर सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र पर वार्तिककार सर्वथा मौन हैं। किन्तु भाष्यकार ने इस सूत्र का भी प्रत्याख्यान कर दिया है। उनका कथन है—"अयमपि योग शक्योऽवक्तुम्। कथम्—अध्ययनात् पराजयते इति। य एष मनुष्य प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति दुखमध्ययन, दुर्धरं च, गुरवश्च दुरुपचारा इति। स बुद्धया सप्राप्य निवर्तते। तत्र ध्रुवमपायेऽपादानम् इत्येव सिद्धम्।"[1] भाव यह है कि "ध्रुवमपायेऽपादानम्" इस पूर्वसूत्र से अपादान सज्ञा सिद्ध हो जाने के कारण यह सूत्र व्यर्थ है। जो मनुष्य विचारपूर्वक कार्य करने वाला होता है वह देखता है कि अध्ययन मे बडा कष्ट होता है। गुरुओ की सेवा करनी पडती है इसलिये वह अपनी बुद्धि को अध्ययन से हटा लेता है। बुद्धि का अध्ययन से अपाय होने पर अवधिभूत अध्ययन की अपादानसज्ञा "ध्रुवमपायेऽपादानम्" सूत्र मे ही हो जायेगी। अत इस सूत्र के बनाने की कोई आवश्यकता नही है।

समीक्षा एव निष्कर्ष

भाष्यकारीय रीति से बुद्धिकृत अपाय को लेकर इस सूत्र का प्रत्याख्यान भी युक्तियुक्त ही है। 'परा' पूर्वक 'जि' धातु के प्रयोग बिना भी तो 'अध्ययनात् ग्लायति', 'अध्ययनान्निवर्तते,' 'अध्ययनात् विरतोभवति' इत्यादि धात्वन्तरो के साथ अपादान की विवक्षा मे पञ्चमी विभक्ति होती है। इसलिये अन्यथासिद्ध होने से यह सूत्र व्यर्थ हो जाता है। न्यासकार लिखते हैं—"तस्मात् पूर्वस्यैवाय प्रपञ्च। न च प्रपञ्चे गुरुलाघव चिन्त्यते।" इसलिये प्रपञ्चार्थ सूत्र का निर्माण है। न केवल इसी का प्रत्युत अपादानसज्ञा विधायक अन्य सूत्रों का भी प्रपञ्चार्थ ही निर्माण किया गया है। 'पराजे' इस सौत्रनिर्देश मे पदमञ्जरीकार

---

१. महा० भा० १, सू० १.४.२६, पृ० २८४।

हरदत्त 'परापूर्वो जि पराजि' इस प्रकार उत्तरपदलोप वाला समास मानकर "घेर्ङिति"[1] से गुण करके रूपसिद्धि स्वीकार करते हैं किन्तु शब्दकौस्तुभकार भट्टोजिदीक्षित यहाँ "घेर्ङिति" से से माने गुणविधान को सूत्रभाष्यविरुद्ध कथन करते है।[2] 'असोढ' ग्रहण के विषय में शब्दकौस्तुभकार लिखते हैं कि "वस्तुत 'असोढ' ग्रहण व्यर्थम्। शत्रून् पराजयते इत्यत्र परत्वात् कर्मसंज्ञा-सिद्धे"[3]। किन्तु इनकी यह बात चिन्त्य है। क्योकि तत्त्वबोधिनीकार के कथनानुसार कर्म की शेषत्वविवक्षा मे प्राप्त षष्ठी को 'असोढ' ग्रहण के अभाव में अपादान पञ्चमी बाध लेगी। उसकी निवृत्ति के लिये 'असोढ' ग्रहण आवश्यक है।[4] इस विषय मे बृहच्छब्दरत्नकार भी सहमत हैं। उनका मत है - "केचित्तु परापूर्वको जयतिरसहने वर्तते। अध्ययन न सहते इत्यर्थ। अत एवासोढ इति कर्मनिर्देश सगच्छते। तथा च कर्मसज्ञापवादिकेयम्। एव भीत्रार्थानामिति सूत्र हेतुतृतीयाबाधनार्थम्। एतेनासोढ इति व्यर्थम्। शत्रून् पराजयते इत्यभिभवार्थकयोगे परत्वेन कर्मसज्ञासिद्धेरित्यपास्तमित्याहु"। इस प्रकार यह सूत्र भी शेष षष्ठी की प्राप्ति मे बनाया गया है, यद्यपि यह अन्यथासिद्ध ही है।

वारणार्थानामीप्सित ॥ १ ४ २७ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र भी अपादान सज्ञा करता है। इसका अर्थ है कि 'वारणार्थक' धातुओ के प्रयोग मे जो 'ईप्सित' कारक है उसकी अपादान सज्ञा होती है। 'ईप्सित' का अर्थ यहाँ अभीष्ट नही है कितु कर्ता क्रिया द्वारा जिसे प्राप्त करना चाहता है वह 'ईप्सित' है। आप्तुमिष्टमीप्सितम्'। जैसे--'यवेभ्यो गा वारयति' 'जो नामक धान्यो से गायो को हटाता है।' वारण या हटाने की क्रिया से गायो को प्राप्त होना है, साथ ही यवो को भी। हटाने वाला जैसे गौओ को

---

१ पा० ७.३ १११।

२ द्र०श०कौ० प्रकृतसूत्र, पृ० ११८ "इह सूत्रे पराजेरिति रूप विपराम्या जे इनिवत समर्थनीयम्। यत्तु परत्वात् घेर्ङिति इति गुण इति हरदत्तेनोक्त तत् सूत्रभाष्यादिविरुद्धमिति प्रागेव प्रपचितम्'।

३ वही पृ० ११८।

४ द्र०त०बो० प्रकृत सूत्र "न चासोढग्रहण व्यर्थम्, शत्रून् पराजयते इत्यत्र परत्वात् कर्मसज्ञासिद्धे। अत्रापि वदन्ति-कर्मत्वाविवक्षाया शेषषष्ठी बाधित्वा पञ्चमी स्यात्। सा मा भूत् इति कर्तव्यमसोढग्रहणम्।"

अपनी क्रिया का विषय बनाता है, वैसे वह यह भी देखता है कि गायें वहाँ यवो को न खा जायें। इसलिये वह यवो को भी हटाने की क्रिया का विषय बनाता है।

यदि 'ईप्सित' का अर्थ अभीष्ट या प्रिय माना जाये तो यवो के अपना होने और गायो के परकीय होने मे ही अपादानसज्ञा हो सकेगी। क्योकि यव अपने होने से प्रिय है और गायें परायी होने से अप्रिय हैं। हटाने वाले को यह अभीष्ट नही है कि अपनी गायें दूसरे के यवो को न खायें। इसलिये हटाने वाले को यव चाहे अपने होने से प्रिय हो या पराये होने से अप्रिय हो, दोनो अवस्थाओ मे हटाने की क्रिया का विषय होने पर यव की अपादान सज्ञा सिद्ध हो जाती है। वैसे हटाने वाले को यव पराये होने के कारण अप्रिय होने पर भी गौओ को तो वे प्रिय हैं ही। अत 'ईप्सित' का अर्थ अभीष्ट या प्रिय मानने पर भी 'यवेभ्यो गा वारयति' मे यव की अपादान सज्ञा बन सकती है। तथापि 'ईप्सित' का अर्थ अभीष्ट न मानकर यहाँ क्रिया का विषय माना जाता है। जिसे कर्ता क्रिया द्वारा अपना विषय बनाता है वह 'ईप्सित' अर्थात् 'आप्तुमिष्ट' होता है। यहाँ प्रिय-अप्रिय का सवाल नही है।

'ईप्सित' का अर्थ अभीष्ट मानने पर 'अग्नेर्माणवक वारयति', 'कूपादन्ध वारयति' यहाँ अग्नि और कूप की अपादान सज्ञा न हो सकेगी। क्योकि अग्नि और कूप (कुआ) किसी को भी अभीष्ट नही है। आग और कूए मे कौन कूदना चाहता है। क्रियावाची 'ईप्सित' शब्द मानने पर तो उक्त उदाहरणो मे भी अपादानसज्ञा सिद्ध हो जाती है। अग्नि और माणवक को तथा कूप और अन्धे को वह निवारण क्रिया द्वारा प्राप्त होता है। अत वे दोनो ही 'ईप्सित' हैं। एक को अर्थात् माणवक और अन्धे को साक्षात् रोकता है। अत वह 'ईप्सितम' होने से "कर्तुरीप्सिततम कर्म"[1] सूत्रविहित कर्मसज्ञा का विषय बन जाता है। माणवक और अन्धा दोनो ही 'ईप्सितम' हैं, अत कर्मसज्ञक हैं। उनमे "कर्मणि द्वितीया"[2] से द्वितीया विभक्ति होती है। अग्नि और कूप साक्षात् रोकने के विषय नही हैं, अपितु रोके जाने वाले माणवक और अन्धे के द्वारा निवारण क्रिया के विषय बनते हैं। अत 'ईप्सित' हैं। उनमे इस सूत्र से अपादान सज्ञा होकर "अपादाने पञ्चमी"[3] से पञ्चमी होती है। सूत्र मे 'ईप्सित' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'यवेभ्यो गा वारयति क्षेत्रे' यहाँ क्षेत्र के 'ईप्सित' न होने से

१ पा० १४४६।
२ पा० २३२।
३. पा० २.३.२८।

कारण अपादान संज्ञा नहीं हुई। गौ हटाने वाले को यव ही ईप्सित हैं, क्षेत्र नहीं। क्षेत्र तो अधिकरण है। क्षेत्र में खड़े हुए यवों से ही गौओं हटाना चाहता है, क्षेत्र में नहीं।

बुद्धिकृत अपाय द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार कात्यायन इस सूत्र के खण्डन में मौन हैं। केवल भाष्यकार ही इस सूत्र का भी प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं – "अयमपि योग शक्योऽवक्तुम्। कथम् माषेभ्यो गा वारयति इति। पश्यत्ययं यदीमा गावस्तत्र गच्छन्ति, ध्रुव सस्यविनाश सस्यविनाशेऽधर्मश्चैव, राजभयं च। स बुद्ध्या सप्राप्य निवर्तयति। तत्र ध्रुवमपायेऽपादानम् इत्येव सिद्धम्।'[1] भाव यह है कि 'माषेभ्यो गा वारयति', 'अग्नेर्माणवकं वारयति', 'कूपादन्धं वारयति' इत्यादि प्रयोगों में अपादानसंज्ञा करने के लिये इस सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि बुद्धिमान् मनुष्य स्वयं सोच लेता है कि यदि ये गौ आदि माष, यव आदि में प्रवेश करती हैं तो जरूर सस्य की हानि होगी। उसमें अधर्म भी होगा और राजा का भी डर है। इसलिये वह अपनी बुद्धि से माष-यव आदि से हटाकर उनसे पृथक् गौ आदि को कर देता है। गौ आदि को यव आदि में न लगाना ही उनका वारण करना है। क्योंकि प्रवृत्ति के विघात को 'वारण' कहते हैं। बुद्धि द्वारा यवादि से अपाय होकर उनके अवधिभूत यव आदि की अपादानसंज्ञा "ध्रुवमपायेऽपादानम्"[2] इस पूर्वसूत्र से ही सिद्ध हो जायेगी तो यह सूत्र व्यर्थ है। उसी का प्रपञ्च या विस्तारमात्र इसको समझना चाहिए। इस प्रकार भाष्यकार ने बुद्धिकृत अपाय का आश्रयण करके इस सूत्र का भी प्रत्याख्यान कर दिया है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यद्यपि यवादि के संयोग से पूर्व गौ आदि के रोक देने से गौ आदि का यवादि से अपाय न होने के कारण पूर्वसूत्र से अपादानसंज्ञा सिद्ध नहीं हो सकती थी अतएव इस सूत्र का आरम्भ किया गया सम्भव हो सकता है तथापि भाष्यकार ने गौ आदि का अपाय न होने पर भी बुद्धि का अपाय मानकर सूत्र को अनावश्यक बताया है। अपाय किसी का हो, उसमें जो ध्रुव है, अवधि है, उसकी अपादानसंज्ञा "ध्रुवमपायेऽपादानम्" सूत्र से पहले कही गई है।

---

१ महा० भा० १ सू० १.४.२७, पृ० २८४।

२ पा० १.४.२४।

उसका लक्षण यहाँ भी यथावत् घट जाता है। इसलिए भाष्यकारीय रीति से सूत्र का प्रत्याख्यान न्याय्य ही है।

यदि यह कहा जाये कि सूत्र की सत्ता में भी 'ईप्सित' ग्रहण तो व्यर्थ ही है। क्योंकि 'यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे' यहाँ क्षेत्र के अधिकरण होने से अधिकरण सप्तमी परत्वात् बाधक हो जायेगी तो अपादानसंज्ञा न होगी तो इसका उत्तर वही पूर्ववत् है। जब अधिकरण की शेषत्वविवक्षा में सप्तमी न होकर षष्ठी प्राप्त होगी तब इस सूत्र में 'ईप्सित' ग्रहण के अभाव में क्षेत्र शब्द की अपादानसंज्ञा होकर षष्ठी की बाधक हो जायेगी तो 'यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रस्य' के स्थान में 'यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रात्' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होगा। उसको रोकने के लिये यदि सूत्र रखा जाये तो उसमें 'ईप्सित' ग्रहण भी अवश्यमेव करना होगा। जिससे अनीप्सित क्षेत्र की अपादान संज्ञा होकर उसमें पञ्चमी विभक्ति न हो, बल्कि अधिकरण सप्तमी ही हो। अधिकरण की शेषत्वविवक्षा में बेशक षष्ठी हो जाये। पञ्चमी तो सर्वथा ही न हो। इस प्रकार यह सूत्र भी शेष षष्ठी की प्राप्ति में बनाया गया है यद्यपि यह अन्यथा सिद्ध ही है।

अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति ॥ १ ४ २८ ॥

सूत्र का अभिप्राय

यह सूत्र भी अपादानसंज्ञा करता है। इसका अर्थ है कि 'अन्तर्धि' अर्थात् व्यवधान होने पर जिससे अपना 'अदर्शन' एवं दर्शन का अभाव चाहता है कि वह उसे न देखे, उस कारक की अपादान संज्ञा होती है। उदाहरण जैसे— 'मातुर्निलीयते कृष्ण' (कृष्ण अपनी माता से छिपता है) 'उपाध्यायादन्तर्धत्ते' (उपाध्याय से अन्तर्हित होता है, छिपता है, कहीं वह उसे देख न लेवे)। यहाँ अपने 'अदर्शन' की इच्छा रखता हुआ जिससे अन्तर्हित होता है उसकी अपादान संज्ञा हो गई तो 'मातुः', 'उपाध्यायात्' यहाँ पञ्चमी विभक्ति हो जाती है। क्योंकि वह माता से या उपाध्याय से अपना 'अदर्शन' चाहता हुआ छिपता है। 'अन्तर्धौ' में 'अन्तर्धि' शब्द से भावलक्षणा सप्तमी विभक्ति है। 'अन्तर्धौ सति'। अथवा विषय सप्तमी भी हो सकती है—'अन्तर्धौ विषये' (अन्तर्धान के विषय में अथवा तद्विषयक धातु के प्रयोग में)। 'येन' यह कर्ता में तृतीया है। 'अदर्शनम्' यह भाववाचक कृदन्त प्रयोग है। यहाँ गम्यमान 'अपना' शब्द समझना चाहिये। यह 'अदर्शन' का कर्म है। "उभयप्राप्तौ कर्मणि"[1] से नियम

---

१. पा० २.३.६६।

से "कर्तृकर्मणो कृति"[1] से प्राप्त दोनों कर्ता और कर्म मे षष्ठी विभक्ति रुक गई तो केवल 'आत्मन' इस कर्म मे षष्ठी होनी है और 'येन' इस कर्ता मे तो "कर्तृकरणयोस्तृतीया"[2] से तृतीया हो जाती है। 'यत्कर्तृकम् आत्मकमकमदर्शनमिच्छति'। जिस कर्ता से आत्मकर्मक अदर्शन चाहता है, उस कर्ता की अपादान संज्ञा यह सूत्र करता है। यदि 'येनादर्शनमिच्छति' की जगह 'यस्या दर्शनमिच्छति' कहा जाता तो 'यस्य' यह कर्म मे षष्ठी भी सभावित हो सकती थी अत असन्देहार्थ कर्तृ तृतीया का निर्देशन किया है।

सूत्र मे 'अन्तर्धि' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'चौरान् न दिदृक्षते' यहाँ चौर शब्द की अपादान संज्ञा नही हुई। कही चोर मुझे न देख लें, इसलिये चोरो को नही देखना चाहता। इस अर्थ मे चौरकर्तृक आत्मकर्मक दर्शनेच्छा का अभाव तो है किन्तु अन्तर्धि नही है। वह छिप नही रहा है। केवल चोरो को देखना नहीं चाहता, इतना ही तात्पर्य है। 'अन्तर्धि' का प्रयोग करने पर तो 'चौरात् अन्तर्धत्ते' यहाँ अपादान संज्ञा होकर चौर शब्द से पञ्चमी विभक्ति होती ही है। प्रस्तुत प्रसग मे न्यासकार का मन्तव्य है कि 'चौरान् न दिदृक्षते' यहाँ 'अन्तर्धि' ग्रहण के बिना भी 'अपादान संज्ञा' नही होगी। क्योकि उक्त वाक्य का अर्थ इस प्रकार किया जायेगा—'म तैरात्मनोऽदर्शनमिच्छति' अर्थात् वह चौरो के द्वारा अपना अदर्शन चाहता है। इस व्याख्या मे चौर अदर्शन क्रिया के कर्ता बन जाने के कारण 'अपादानसंज्ञक' नही हो सकेंगे। अत इनके मत मे 'अन्तर्धि ग्रहण विस्पष्टार्थ ही है।'[3] लेकिन डा० जोशी के अनुसार न्यासकार का यह मत विचारणीय ही है। क्योकि 'दिदृक्षते' यहा 'दृश्' धातु से 'सन्' प्रत्यय तभी हो सकेगा जब 'दृश्' क्रिया तथा 'इष्' क्रिया दोनो समानकर्तृक हो।[4] न्यासकार सम्मत अर्थ मे अदर्शन क्रिया के कर्ता तो चौर हैं तथा

---

१ पा० २ ३ ६५।

२ पा० २ ३ १८।

३. द्र० न्यास, सू० १ ४.२८ "चौरान् न दिदृक्षते इति। अत्र यश्चौरान् न दिदृक्षते इति स तैरात्मनोऽदर्शनमिच्छति न त्वन्तर्धिनिमित्तम्। किन्तूपघातनिवृत्त्यर्थम्। विस्पष्टार्थं चान्तर्धिग्रहणम्।"

४. १ ३.७ 'धातो कर्मण समानकर्तृकादिच्छायां वा सन्।"

'इष्' क्रिया का कर्ता 'वह' (स) है। इसलिए 'चौरान् न दिदृक्षते' इस वाक्य का यही अर्थ हो सकता है कि वह चोरो को नही देखना चाहता। किन्तु इस अर्थ मे वही कठिनाई है कि यहाँ भी 'कर्मसज्ञा' परत्वात् 'अपादानसज्ञा' को बाध लेगी। अत इस अर्थ मे भी अन्तर्धिग्रहण व्यर्थ प्रतीत होता है और सूत्र का उक्त प्रत्युदाहरण उचित प्रतीत नही होता।[1]

इस विषय मे Prof D H H Ingalls ने अपने काशिका के अप्रकाशित अनुवाद मे, प्रकाश डालते हुए कहा है कि 'अन्तर्धि' ग्रहण को चरितार्थ करने के लिये सूत्र मे स्थित 'येन' इस पद को 'कर्तरि तृतीया' न मानकर 'हेत्वर्थे तृतीया' माननी चाहिये। इसके अनुसार सूत्र का अर्थ इस प्रकार का होगा कि 'अन्तर्धि' के विषय मे, जो जिसके कारण या जिससे अपने आपको दिखाना या देखना नही चाहता, वह कारक 'अपादान सज्ञक' होता है। इस व्याख्या के आधार पर प्रकृत सूत्र 'अन्तर्धि' ग्रहण के बिना 'चौरान् न दिदृक्षते' इस वाक्य मे प्रवृत्त हो सकता है। क्योकि यहाँ चोर किसी की इच्छा के कारण या हेतु तो हो ही सकते हैं कि वह इन्हे न देखना अथवा स्वय को न दिखाना चाहता हो। इसलिये 'चौरान् न दिदृक्षते' इस प्रत्युदाहरण मे प्रकृत सूत्र की प्राप्ति को रोकने के लिये प्रस्तुत सूत्र मे 'अन्तर्धि' ग्रहण आवश्यक है। इस तरह से ही

---

[1] भाष्य (जोशी) कारकाह्निक, सू० १ ४ २८, पृ० ८६-९०, "Strictly speaking, however, 'स तैरात्मनोऽदर्शनमिच्छति' cannot be a correct interpretation of the sentence 'चौरान् न दिदृक्षते'. Because, according to P 3 1 7 the dessiderative suffix can only be used, if the agent of the action denoted verbal base and the person who wishes are one and the same person Therefore 'चौरान् न दिदृक्षते' can only mean—'he does not want to see the thieves' But in this case the difficulty remains that P 1 4 28 (even with out the condition 'अन्तर्धौ') cannot possibly become applicable to the examples, that is to say, the counter example is wrong"

उक्त प्रत्युदाहरण सुसगत हो सकता है।[1] 'इच्छति' ग्रहण इसलिये किया है कि अदर्शन की इच्छा होने पर यदि दर्शन हो भी जाये तो भी अपादान सज्ञा हो जावे। कई बार देखने की इच्छा न होने पर भी चीज दीख जाती है उस अवस्था मे भी केवल दर्शनेच्छा के अभाव को लेकर अपादान सज्ञा हो जायेगी।

बौद्धिक अपाय द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र के प्रसङ्ग मे वार्तिककार सर्वथा चुप हैं। किंतु भाष्यकार इस सूत्र का भी खण्डन करते हुए कहते हैं—"अयमपि योग शक्योऽवक्तुम्। कथम्—उपाध्यायाद् अन्तर्धत्ते इति। पश्यत्यय यदि मामुपाध्याय पश्यति ध्रुव मे प्रेषणमुपालम्भो वेति। स बुद्धया सप्राप्य निवर्तते। तत्र ध्रुवमपायेऽपादानम् इत्येव सिद्धम्।"[2] भाव स्पष्ट है कि यह सूत्र भी अन्यथा सिद्ध है। 'उपाध्यायादन्तर्धत्ते' यहाँ अपादान सज्ञा "ध्रुवमपायेऽपादानम्" इस पूर्वसूत्र से ही सिद्ध हो जायेगी। क्योकि प्रेक्षावान् छात्र देखता है कि यदि मुझे मेरे गुरुजी देख लेंगे तो वे अवश्य मुझे किसी काम पर भेज देंगे या उलाहना देंगे कि तुमने यह नहीं किया, वह नहीं किया। इसलिये उसकी बुद्धि उपाध्याय के पास जाने

---

१. भाष्य (जोशी) कारकाह्निक, प्रकृतसूत्र, पृ० ८६-६०, "In this connection, Prof D H H Ingalls, in this unpublished translation of the K V (काशिका वृत्ति), has suggested that we should take 'येन' in P. 1 4 28 not as 'कर्तरि तृतीया' but as a 'हेत्वर्थे तृतीया', that is an instrumental denoting the cause (p 2 3 53) Accordingly, P 1 4 28 comes to mean When hiding (takes place), (the person) on account of whom one wishes not to see (or not to be seen) is called 'अपादान' etc When interpretated in this way, P 1 4 28 becomes applicable to 'चौरान् न दिदृक्षते', if the word 'अन्तर्धौ' is not mentioned, because here the thieves may be regarded as the cause of somebody's wish not to see (or not to be seen). Therefore, to prevent P 1 4 28 from becoming applicable here the word 'अन्तर्धौ' is required In this way, 'चौरान् न दिदृक्षते' can be a correct counter example"

२ महा० भा० १, प्रकृतसूत्र पृ० ३१६।

से हट जाती है। वह बुद्धि द्वारा उपाध्याय से अपना अपाय कर लेता है। अपाय होने से उपाध्याय ध्रुव है उसकी अपादान संज्ञा स्वत ही पूर्वसूत्र से हो जायेगी तो उक्त सूत्र निष्प्रयोजन है।

समीक्षा एव निष्कर्ष

अन्य सूत्रो की तरह बुद्धिकृत अपाय का आश्रयण करके भाष्यकार ने इस सूत्र का भी खण्डन कर दिया है जो भाष्यकारीय रीति से युक्तिसगत ही है। अपादान कारक के ये सभी सूत्र "ध्रुवमपायेऽपादानम्" इस पूर्वोक्त मुख्य अपादान संज्ञा विधायक सूत्र के ही प्रपञ्च हैं। जैसा कि न्यासकार ने लिखा है - "तस्मात् पूर्वस्यैवाय प्रपञ्च। न च प्रपञ्चे गुरुलाघव चिन्त्यते।"[1] भाष्यकार भी लिखते है—"किमर्थं तर्हि एवमादानुक्रमण क्रियते। उदाहरण-भूयस्त्वात्। एते खल्वपि विषय सुपरिगृहीता भवन्ति येषु लक्षण प्रपञ्चश्च, केवल लक्षण केवल प्रपञ्चो वा न तथा कारक भवति।"[2]

कैयट भी इसे अपनी व्याख्या मे और अधिक स्पष्ट करते हैं—"अस्यैव लक्षणस्य भूयास्युदाहरणानि प्रदर्शयितुमित्यर्थ। केवलेन लक्षणेन मन्दबुद्धि विषयविभाग नावधारयति। केवलेन प्रपञ्चेन वा सामान्यलक्षणरहितेन प्रतिपदपाठवत्शास्त्रस्य गौरवप्रसङ्ग।" भाव यह है कि "ध्रुवमपायेऽपादानम्" इस मुख्य सूत्र से सभी की अपादान संज्ञा सिद्ध होने पर भी जो "भीत्रार्थानां भयहेतु"[3] से लेकर 'भुव प्रभव'[4] तक सूत्रो की रचना की है वह प्रपञ्चमात्र ही है जिससे एक ही अपादान संज्ञा के अनेक उदाहरण दिखाये जा सकें। जिस प्रकार "विशेषण विशेष्येण बहुलम्"[5] इस सूत्र से विशेषणविशेष्यभाव रूप कर्मधारय समास सिद्ध होने पर फिर "पूर्वापरप्रथमचरम०"[6] इत्यादि सूत्रो से कर्मधारय समास का विधान प्रपञ्चार्थ ही किया है।

शब्दकौस्तुभकार आदि सभी उद्भट वैयाकरण विद्वानो की भाष्यकार के साथ सम्मति है। उन्होंने भी इस सूत्र का प्रत्याख्यान ही न्याय्य माना है। किन्तु पक्षान्तर मे वे यह भी कहते हैं कि यदि यह सूत्र रखना भी है तो भी इसमे

---

१ पा० १ २ २५ पर न्यास द्रष्टव्य।
२ महा० भा० १, सू० २ १.८५, पृ० ४००।
३ पा० १ ४ २५।
४. पा० १ ४ ३१।
५. पा० २ १ ५६।
६ २ १ ५८।

'अन्तर्धि' ग्रहण तो व्यर्थ ही है। क्योकि इसका तात्पर्य तो 'चौरान् न दिदृक्षते' यह प्रत्युदाहरण है। वह अन्यथासिद्ध हो सकता है। वहाँ इससे प्राप्त होने वाली अपादान सज्ञा को परत्वात् कर्मसज्ञा बाध लेगी तो 'चौरान्' मे द्वितीया विभक्ति होकर इष्ट सिद्ध हो जायेगा। यदि यह कहा जाये कि कर्म की शेषत्वविवक्षा मे प्राप्त षष्ठी को 'अन्तर्धि' ग्रहण के अभाव मे इस सूत्र से प्राप्त होने वाली अपादान सज्ञा होकर पञ्चमी बाध लेगी। उसको रोकने के लिये यहाँ 'अन्तर्धि' ग्रहण किया है तो बात अलग है। वस्तुत उन्होने 'वारणार्थानामीप्सित'[1] सूत्र मे 'ईप्सित' ग्रहण के समान यहाँ 'अन्तर्धि' ग्रहण को भी चिन्त्य प्रयोजन बताया है।[2]

सूत्र की सत्ता मे 'येन' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि जिससे अपना 'अदर्शन' चाहता है उसकी अपादान सज्ञा हो। अन्यथा 'येन' ग्रहण के अभाव मे 'अन्तर्धौ अदर्शनमिच्छति' इतना सूत्र होने पर जो 'अदर्शन' चाहता है उसी की अपादान सज्ञा प्राप्त हो जायेगी। जहा गुरु अपादान होना था, वहाँ शिष्य अपादान होने लगेगा। यदि इस दोष मे बचने के लिये ऊपर से 'ध्रुवम्' की अनुवृत्ति की जाये तो सूत्र का अर्थ होगा कि जो ध्रुव 'अदर्शन' चाहता है, उसकी अपादान सज्ञा होनी है। ध्रुव जो उपाध्याय गुरु है, वह तो अदर्शन चाहता ही नही, ऐसी अवस्था मे सूत्रार्थ गडबडा जायेगा। इसलिये 'येन' ग्रहण करना चाहिये। उसी की अपादान सज्ञा इष्ट है। इस प्रकार यह सूत्र भी शेषषष्ठी की प्राप्ति मे बनाया गया है यद्यपि यह अन्यथासिद्ध ही है।

आख्यातोपयोगे ॥ १.४ २९॥

सूत्र का प्रतिपाद्य

यह सूत्र भी अपादानसज्ञा करता है। सूत्र मे 'उपयोग' शब्द का अर्थ नियमपूर्वक विद्या ग्रहण करना है। नियमपूर्वक विद्याग्रहण करने के अर्थ मे 'आख्याता' अर्थात् विद्या देने वाला जो कारक है, उसकी अपादानसज्ञा हो जाती है। जैसे—'उपाध्यायादधीते' (उपाध्याय से पढता है, नियमपूर्वक

---

१ पा० १ ४ २७।

२. द्र०त० बो० प्रकृत सूत्र "ननु अन्तर्धाविति व्यर्थम, न दिदृक्षते चौरानित्यत्र परत्वात् कर्मसज्ञासिद्धे। अत्राहु—चौरा आत्मान मा द्राक्षुरिति बुद्ध्या चौरान्न दिदृक्षते इत्ययमर्थोऽत्र विवक्षित, तत्र कर्मण शेषत्वविवक्षायामिद पूर्ववत् प्रत्युदाहरणमिति। शब्दकौस्तुभे तु 'अन्तर्धौ' इत्येतच् चिन्त्यप्रयोजनमिति स्थितम्"।

शिक्षाग्रहण करता है) । यहाँ विद्या देने वाले उपाध्याय की अपादानसंज्ञा होकर उसमे पञ्चमी विभक्ति हो जाती है ।

'"पयोग' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'नटस्य गाथा शृणोति' (नट की बोली हुई गाथा को सुनता है) यहाँ नट की अपादान संज्ञा नही हुई । क्यो कि नट, जो गाथा सुना रहा है, वह नियमपूर्वक विद्याग्रहण करने के लिये नही है । सुनने वाला नट से गाथा का अध्ययन नही कर रहा है बल्कि उसकी कही हुई गाथा का श्रवणमात्र कर रहा है । यहाँ नियमपूर्वक विद्याग्रहणरूप ग्रन्थ के अर्थ का धारण न करने मे 'उपयोग' नही है, अत अपादान संज्ञा नही होगी । यदि तो नट भी नियमपूर्वक उपाध्याय की तरह गाथा का अर्थ समझावे तब तो नट की भी अपादानसंज्ञा होकर 'नटात् शृणोति' यह रूप बन सकता है । 'कहाँ उपयोग है कहाँ नही' यह सब विवक्षा पर है । इसी बात को समझाने के लिये आचार्य पाणिनि ने सूत्र मे 'उपयोग' ग्रहण किया है । यदि गाथा सुनाने मे नट का कुछ भी सम्बन्ध नही हो तो वह कारक ही न बनेगा । तब कारक के न होने से स्वत ही अपादानसंज्ञा न होगी । उसकी व्यावृत्ति के लिये 'उपयोग' ग्रहण करना व्यर्थ हो जायेगा ।

प्रत्याख्यान का आधार एव अभिप्राय

वार्तिककार कात्यायन इस सूत्र के खण्डन मे चुप हैं किन्तु भाष्यकार ने इस सूत्र का भी प्रत्याख्यान कर दिया है । वे लिखते हैं—"अयमपि योग शक्योऽवक्तुम् । कथम्—उपाध्यायादधीते इति । अपक्रामति तस्मात् तदध्ययनम् । यद्यपक्रामति किं नात्यन्तायापक्रामति ? सन्ततत्वात् । अथवा ज्योतिर्वत् ज्ञानानि भवन्ति ।"[1] इसका भाव यह है कि अपादान संज्ञा करने के लिये इस सूत्र की कोई आवश्यकता नही है । 'उपाध्यायादधीते' मे उपाध्याय की अपादान संज्ञा पूर्वसूत्र से ही हो जायेगी । अध्ययन करते समय उपाध्याय के मुख से निकले हुए शब्द का शिष्य ग्रहण करता है । उपाध्याय के मुख से निकले हुए शब्दो का उपाध्याय से अपाय हो जाता है । उस अपाय मे उपाध्याय ध्रुव है, अवधिभूत है, अत "ध्रुवमपायेऽपादानम्" इस पूर्वसूत्र से ही उपाध्याय की अपादान संज्ञा सिद्ध हो जाने से यह सूत्र व्यर्थ है ।

यदि यह कहा जाये कि उपाध्याय के मुख से निकले हुए शब्दो का उससे अपाय हो जाता है तो उपाध्याय के मुख मे सर्वथा शब्द नही रहने चाहियें । जैसे वृक्ष से फल के टूटने पर फल का उससे अपाय हो जाता है तो फल वृक्ष

---

१ महा० भा० १, प्रश्न सूत्र, पृ० ३२६ ।

पर नही रहता । ऐसा यहाँ भी होना चाहिये । किन्तु देखा यह जाता है कि उपाध्याय के मुख से शब्दो का अपाय हो जाने पर भी शब्द उसके मुख मे विद्यमान है तो इसका उत्तर है—'सततत्वात्' अर्थात् उपाध्याय के मुख से निकले शब्दो का समूह भिन्न भिन्न होता हुआ भी 'सतत' यानि लगातार उच्चारण करते रहने के कारण एकाकार सा प्रतीत होता है। पहले शब्द का अपाय होने पर भी वह अपायरहित-सा मालूम होता है। वस्तुत जिस शब्द का अपाय हो गया, वह शब्द उपाध्याय के मुख मे नहीं रहता। उसका सर्वथा विश्लेष हो जाता है। उसके स्थान मे दूसरा शब्द आता है और फिर उसका भी अपाय हो जाता है। इस प्रकार शब्दो के अपाय मे उपाध्याय ध्रुव ही रहता है। उसकी अपादान सज्ञा होने मे कोई बाधा नही। डॉ० जोशी के अनुसार यहाँ भाष्यकार का यह भाव है कि शब्द के दो रूप हैं—ध्वनि और स्फोट। इनमे ध्वनि स्फोट की व्यजक तथा उच्चरित प्रध्वसी अर्थात् अनित्य होती है जबकि स्फोट ध्वनि के द्वारा व्यङ्ग्य तथा नित्य होता है। स्फोट को व्यक्त करने के लिये जो ध्वनि का उच्चारण किया जाता है वह उच्चरित ध्वनि उस उच्चरिष्यमाण ध्वनि से सर्वथा भिन्न होती है जो सम्प्रति उपाध्याय के मुख मे विद्यमान है। इस तरह से यह क्रम चलता रहता है। अर्थात् हर उच्चरित ध्वनि हर उच्चरिष्यमाण ध्वनि से पृथक् होती जाती है। इस प्रक्रिया मे अपाय स्पष्ट ही है। अत उपाध्याय के ध्रुव होने के कारण "ध्रुवमपाये०" सूत्र ही पर्याप्त है।[1] अथवा यू समझना चाहिये कि "ज्योतिर्वत् ज्ञानानि भवन्ति" अर्थात् ज्ञानरूप शब्द हैं। वे ज्योति एव प्रकाश के समान होते हैं। जैसे दीपक की ज्वालायें परस्पर भिन्न-भिन्न होती हुई भी लगातार निकलती रहने से एक सो प्रतीत होती हैं, वैसे ही उपाध्याय का जो ज्ञान है वह भिन्न भिन्न शब्दो के रूप मे मुख से निकलता है। उसका अपाय होता है। उस अपाय मे उपाध्याय के ध्रुव होने

---

१. भाष्य (जोशी) कारकाह्निके, प्रकृत सूत्र, पृ० ६६, 'Patanjali's Bhasya, which tries to justify 'अपाय' in connection with 'अपादान' i e the speech of the teacher, refers to the स्फोट aspect of speech rather the ध्वनि aspect Since the ध्वनिस् are different, the sound which left the mouth of the teacher, is different from the sound which still remains there and that is why, we can speak of अपाय here in the literal sense of the word'

से उसकी अपादानसंज्ञा पूर्वसूत्र से ही हो जायेगी तो यह सूत्र अनावश्यक है। इस प्रकार भाष्यकार ने सुन्दर युक्ति-प्रत्युक्तियों द्वारा उपाध्याय की अपादान संज्ञा पूर्वसूत्र से ही सिद्ध करके इस सूत्र का खण्डन कर दिया है[1]। किन्तु अर्वाचीन वैयाकरण शाकटायन तथा हेमचन्द्र भाष्यकार द्वारा किये गये अन्य सूत्रों के अपादान प्रत्याख्यान के साथ सहमत होते हुए भी प्रकृत सूत्र के प्रत्याख्यान में पतञ्जलि के साथ एकमत नहीं हैं। इनका कहना है कि 'उपयोग' को सूचित करने के लिए सूत्र की आवश्यकता है।[2]

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यहाँ यह विचारणीय है कि भाष्यकार ने उपाध्याय के मुख से निकले शब्द सन्तान को भिन्न-भिन्न मानकर उपाध्याय से उनका प्रातिस्विक अपाय स्वीकार किया है। साथ ही "ज्योतिर्वज्ज्ञानानि भवन्ति" यह कहते हुए भाष्यकार आत्मस्थ ज्ञान को ही शब्दाकार में परिणत हुआ स्वीकार करते हैं। जैसा कि भर्तृहरि ने भी यही प्रतिपादन किया है—

वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते ।
कैश्चिद्दर्शनभेदोऽत्र प्रवादेष्वनवस्थितः ।।[3]

अर्थात् कुछ दार्शनिक लोग वायु को, शब्दतन्मात्रारूप परमाणुओं को और आत्मस्थ ज्ञान को शब्द के रूप में परिणत हुआ मानते हैं। वायु तो शब्दरूप में बदलता हुआ स्पष्ट ही है। शब्द के परमाणुओं से शब्द की उत्पत्ति होती है और हमारा आन्तरिक ज्ञान ही शब्द के आकार में बदलता है। ज्ञान ही शब्द

---

१. भाष्य (जोशी) प्रकृतसूत्र, पृ० ६७ के फुटनोट २६४ से उद्धृत 'Since Patanjali say अथवा, the views mentioned should be regarded as two different views Here the first view seems to be a न्याय view See S Dasgupta, A History of Indian Philosophy, I (1922) page 297. The second view appears to be a Buddhist one, See Ibid pp 161-63. The word सततत्वात् in the Bhasya refers to the न्याय view, not to the Buddhist view of क्षणभङ्ग'।

२ शा०सू० १.३.१४७ 'आख्यातर्युपयोगे'। अमोघवृत्ति—'अपायेऽवधौ इत्येव सिद्धे उपयोग इति वक्ष्यामि इति सूत्रम्'। हेमचन्द्र का सूत्र शाकटायन जैसा ही है।

३. वा०प० १.१०७।

बन जाता है। बिना शब्द के ज्ञान की प्रतीति नहीं होती।[1] इन सबका निरूपण स्वय भर्तृहरि ने निम्न कारिकाओ मे किया है—

लब्धक्रिय प्रयत्नेन वक्तुरिच्छानुवर्तिना।
स्थानेष्वभिहतो वायु शब्दत्व प्रतिपद्यते।
अणव सर्वशक्तित्वाद् भेदससर्गवृत्तय।
छायातपतम शब्दभावेन परिणामिनः।[2]

उक्त दोनो कारिकाओ में क्रमश वायु का तथा अणुओ का शब्द रूप मे बदलना सिद्ध किया गया है। ज्ञान का भी शब्द रूप मे परिणत होना सिद्ध करते हुए भर्तृहरि कहते हैं—

अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मवागात्मनि स्थित।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते॥[3]

शब्द को ज्ञानस्वरूप (ज्ञान का रूप) मानने पर वह प्रकाशस्वरूप ज्योति ही है। जैसे प्रकाश निर्मल उज्ज्वल है जैसे ही ज्ञान भी निर्मल है। उपाध्याय के मुख से निकले हुए ज्ञान की अविच्छिन्न धारा क्षण-क्षण मे बदलती रहती है। इसलिये निरन्तर भिन्न-भिन्न शब्दो के आकार मे निकलता हुआ भी ज्ञान उपाध्याय के मुख मे लगातार उच्चरित होने के कारण एक प्रतीत होता है। वस्तुत उसका आत्मा से अपाय होता है। पहला ज्ञान नष्ट होकर दूसरा उत्पन्न होता रहता है। इस सिद्धान्त के आधार पर उपाध्याय ध्रुव सिद्ध हो जाता है। उसकी अपादानसज्ञा पूर्वसूत्र से ही सिद्ध होकर वाक्यकारीय रीति से प्रकृतसूत्र की अनावश्यकता भी स्पष्ट हो जाती है।

जनिकर्तुं प्रकृति ॥१ ४. ३०॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र भी अपादान संज्ञा करता है। 'जन्म' अर्थ की क्रिया का जो कर्ता है अर्थात् जो जन्म लेता है उसकी जो प्रकृति है, हेतु है, कारण है, जहाँ से वह जन्म लेता है, वह कारण चाहे उपादान कारण हो या सहकारी कारण, उसकी अपादान सज्ञा होती है। यथा—'गोमयाद् वृश्चिको जायते' (गोबर से बिच्छू पैदा होता है)। 'शृङ्गात् शरो जायते' (सीग से बाण उत्पन्न होता है)। 'ब्रह्मण प्रजा प्रजायन्ते' (ब्रह्म से प्रजायें उत्पन्न होती हैं)। इन सब उदाहरणो

---

१. द्र० वा०प०, १ १२३ " अनुविद्धमिव ज्ञान सर्वं शब्देन भासते।"
२ वही, १.१०८, ११०।
३. वही, १ ११२।

में जन्म लेने वाले की प्रकृति जो गोमय आदि है, उनकी अपादान सज्ञा होकर उनसे पञ्चमी विभक्ति हो जाती है। यह आवश्यक नही है कि 'जनी प्रादुर्भावे' धातु का ही प्रयोग हो, 'जन्' के अर्थ वाली किसी भी धातु का प्रयोग हो सकता है। जैसे—"अङ्गादङ्गात् सभवसि०"[1] (अङ्ग अङ्ग से पैदा होता है) यहां 'सम्' पूर्वक 'भू' धातु भी 'जन्म' अर्थ वाली है अत उसकी प्रकृति 'अङ्ग' शब्द की अपादान सज्ञा हो गई। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते"[2] (जिस परब्रह्म से ये सब प्राणी पैदा होते हैं)। 'पुत्रात् प्रमोदो जायते' (पुत्र से खुशी पैदा होती है) इत्यादि सभी उत्पत्ति के कारणो की अपादान सज्ञा हो जाती है।

ब्रह्मण प्रजा प्रजायन्ते,' 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'

ये उदाहरण उपादान कारण के हैं। क्योंकि 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्'[3] इस वेदान्त सूत्र के अनुसार ब्रह्म, जगत् का निमित्तकारण होने के साथ उपादानकारण भी है। नवीन वेदान्त की प्रक्रिया मे ब्रह्म को जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण माना जाता है। सूत्र म 'प्रकृति' ग्रहण इसलिये किया गया है कि हेतुमात्र की अपादानसज्ञा हो जाये। वह हेतु चाहे उपादान-कारण से भिन्न भी हो, ऐसा वृत्तिकारो का मत है। उनके मत मे 'पुत्रात् प्रमोदो जायते' यहां उपादान कारण से भिन्न होने पर भी पुत्र की अपादान-सज्ञा हो जाती है। केवल उपादान कारण ही यहां 'प्रकृति' ग्रहण से लिया गया है, ऐसा भाष्यकार तथा कैयट का मत है।[4] दोनो ही मत विनिगमना विरह से माननीय है।

अन्यथा सिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र पर वार्तिककार सर्वथा मौन हैं। किन्तु भाष्यकार ने इस सूत्र का भी खण्डन कर दिया है। वे लिखते हैं—'अयमपि योग शक्योऽवक्तुम्। कथम्—गोमयाद् वृश्चिको जायते। गोलोमाविलोमभ्यो दूर्वा जायन्ते इति। अपक्रामन्ति तास्तेभ्य। यद्यपक्रामन्ति किं नात्यन्तायापक्रामन्ति। सततत्वात्।

१. शतपथ ब्राह्मण, १४. ९ ४ २६ तथा गोभिलगृह्यसूत्र, अध्याय, २।
२ तैत्तिरीयोपनिषद्, ३ १।
३ ब्रह्मसूत्र, १ ४ २३।
४ द्र० त० बो० प्रकृतसूत्र "इह प्रकृतिग्रहण हेतुमात्रपरमिति वृत्तिकृन्मतम्। पुत्रात् प्रमोदो जायते इत्युदाहरणात्। उपादानमात्रपरमिति भाष्य-कैयटमतम्। तदुभयसाधारणमुदाहरणमाह—ब्रह्मण प्रजा प्रजायन्ते इति।"

अथवा अन्याश्चान्याश्च प्रादुर्भवन्ति।"[1] इसका अर्थ है कि यह सूत्र भी अपादान सज्ञा करने के लिये अनावश्यक है। गोबर से बिच्छू पैदा होता है। गाय के बाल या भेड के बाल से दूब पैदा होती है। इत्यादि उदाहरणो मे यह देखा जाता है कि जो चीज जिससे पैदा होती है वह उससे अलग हो जाती है। उसका अपनी 'प्रकृति' से अपाय हो जाता है। अपाय होने पर जो ध्रुव है, गोमय आदि, उसकी अपादान सज्ञा "ध्रुवमपाये०" इस पूर्वसूत्र से सिद्ध ही है। अत यह सूत्र बनाना व्यर्थ है।

यदि यह कहा जाये कि अपने कारण से उत्पन्न होने वाली चीज हमेशा के लिये उससे अलग नही होती है। वह उसी कारण मे फिर नजर आनी है इसलिये अपाय न होने से इस सूत्र के बिना अपादान सज्ञा कैसे सिद्ध होगी तो इसका उत्तर है—'सततत्वात्' अर्थात् उत्पन्न होने वाली वस्तु के 'सतत' एव 'अविच्छिन्न' होने के कारण वह अपने कारण से अलग होने पर भी अलग नजर नही आती। अत कारण से कार्य मे होना हुआ भी अपाय सूक्ष्म होने से अनुभवगम्य नहो है। अथवा यू समझा जा सकता है कि 'एक के बाद एक' इस प्रकार भिन्न कार्य, वस्तुएँ कारण से पृथक् होकर जन्म लेती हैं। इस प्रकार अपाय के सिद्ध हो जाने से गोमय गोलोम आवलोम आदि की अपादान सज्ञा पूर्वसूत्र मे ही सिद्ध हो जायेगी तो यह सूत्र निरर्थक है।

समीक्षा एव निष्कर्ष

इस सूत्र के प्रत्याख्यान मे "अपक्रामन्ति तास्तेभ्य" ऐसा कहते हुए भाष्यकार ने लोक प्रसिद्ध व्यवहार का आश्रयण किया है। लोक मे ऐसा ही व्यवहार देखा जाना है कि जो जिसमे उत्पन्न होना है, वह उससे पृथक् हो जाना है। उसी मे नही रहता। उसका अपाय अपने कारण से होकर वह अलग दीखना है। किन्तु यहाँ दर्शन शास्त्रो के सिद्धान्तों मे भेद हो जाना है। वैशेषिक तथा न्यायदर्शन का सिद्धान्त है कि अवयव तथा अवयवी, गुण-गुणी, जाति-व्यक्ति एव क्रिया-क्रियावान् इनका आपस मे समवाय सम्बन्ध माना जाता है। समवाय सम्बन्ध का अर्थ है—अयुतसिद्ध सम्बन्ध। जो कभी पृथक् नहीं होना। दोनो मे बराबर बना रहता है। कारण और कार्य का सम्बन्ध भी ऐसा ही अपृथक् सिद्ध है। न्याय के अनुसार कारण मे पहले से अविद्यमान कार्य की उत्पत्ति होती है जिसे 'असत्कार्यवाद' कहा जाता है अर्थात् तन्तु आदि कारणों में पट आदि कार्य पहले से विद्यमान नहीं होता अपितु कारण से उत्पन्न होकर

१. महा० भा० १, सू० १.४.३, पृ० ३२६।

उसमे समवाय सम्बन्ध से रहता है। न्याय की प्रक्रिया मे कारण पहले और कार्य बाद मे आता है। दोनो मे भेद है। किन्तु सांख्य और वेदान्त के मतानुसार कार्य कारण मे अभेद होता है। कारण ही कार्य रूप मे परिणत होता है। कारण मे कार्य के पहले से ही विद्यमान होने के कारण वहाँ 'सत्कार्यवाद' चलता है 'सदेव कार्यं जायते नासत्। कथमसतः सज्जायेत' अर्थात् असद् वस्तु की सत्ता कैसी और सत का अभाव कैसा। कारण मे तिरोहित ही कार्य आविर्भूत होकर दृष्टिगोचर होता है। तन्तुओ मे पट पहले से ही अनभिव्यक्त अवस्था मे विद्यमान है। वही अभिव्यक्त होकर पट कहलाता है। गीता मे भी 'सत्-कार्यवाद' को स्वीकार किया गया है।[१] यही परमार्थ दर्शन है जो कारण कार्य मे अभेद मानकर दोनो को अपृथक् स्वीकार करता है। न्याय दर्शन मे 'असत्कार्यवाद', व्यावहारिक दर्शन है। उससे व्यवहार चलता है। तन्तुओ मे कपडा पहले कहाँ है ? मिट्टी मे घडा पहले कहाँ दीखता है। ये सब पट घटादि कार्य के बाद उत्पन्न होते हैं। इसलिये दोनो परस्पर भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं। उक्त दोनो दर्शनो की प्रक्रिया मे व्यवहार और परमार्थ का ही भेद है। कारण से कार्य पैदा होकर भी उसमे ही समवेत रहता है। उससे पृथक् नही होता।

इस प्रकार दोनो दर्शनो के मत से कारण से कार्य का अपक्रमण अथवा अपाय नही होता। दोनो मे समवाय सम्बन्ध है अथवा अभेद है। अपाय न होने पर भी जो भाष्यकार ने अपाय कहा है उसमे उन्होने युक्ति दी है—'सन्तत-त्वात्' अर्थात् कारण मे कार्य की उत्पत्ति मे जो अविच्छेद है, अव्यवधान है, लगातार उत्पन्न होने का सिलसिला है, उसमे होता हुआ भी अपाय प्रतीत नही होता। अपाय है अवश्य। "अन्याश्चान्याश्च" कह कर तो स्पष्ट ही एक के बाद एक की उत्पत्ति द्वारा अपाय सिद्ध कर दिया है। इस प्रकार कारण-कार्य को चाहे अभिन्न माना जाये या भिन्न दोनो ही मतो मे अपाय के हो जाने से गोमय आदि मे पूर्वसूत्र से ही अपादान संज्ञा सिद्ध हो जायेगी तो यह सूत्र अनावश्यक है, यह मान भाष्यकार की युक्तिसंगत ही है। 'अङ्कुरो जायते' यह प्रयोग तो अङ्कुर को बुद्धयुपारूढ कर, उसकी अविद्यमानता मे भी उपपन्न हो सकता है। क्योंकि बुद्धि मे तो असत् वस्तु भी सत बन जाती

१ द्र० गीता, २।१६।
"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभि ॥"

है अथवा बना दी जाती है। इसलिये लोकव्यवहार तथा शास्त्रीय दर्शन दोनों में कहीं विरोध न होने से भाष्यकाररीत्या यह सूत्र भी अनावश्यक सिद्ध हो जाता है ॥

भुव प्रभव ॥ १४.३१ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र भी अपादान सञ्ज्ञा करता है। धातुओं के अनेकार्थक होने से[1] यहाँ 'भू' धातु का अर्थ प्रकाश या प्रकट होना है, उत्पत्ति अर्थ नहीं है। उत्पत्ति अर्थ मानने पर तो "जनिकर्तुः प्रकृति"[2] इस पूर्वसूत्र से अपादान सञ्ज्ञा हो जाती। सूत्र का अर्थ इस प्रकार है कि प्रकट होने वाले का जो 'प्रभव' है, उद्भव स्थान है, जहाँ से वह प्रकट होता है, उस कारक की अपादान सञ्ज्ञा होती है। जैसे—'हिमवतो गङ्गा प्रभवति'। (हिमालय से गङ्गा प्रकाशित या प्रकट होती है)। हिमालय गंगा का उद्भव, निकास या विकास का स्थान है। 'कश्मीरेभ्यो वितस्ता प्रभवति' (काश्मीर से जेहलम नदी प्रकट होती है, या निकलती है)। इन उदाहरणों में हिमालय और काश्मीर के क्रम से गङ्गा और जेहलम का उद्भव स्थान होने से अपादान सञ्ज्ञा होकर पञ्चमी विभक्ति हो जाती है।

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार इस सूत्र पर भी सर्वथा मौन हैं। किन्तु भाष्यकार ने इस सूत्र का भी प्रत्याख्यान कर दिया है। वे लिखते हैं—"अयमपि योग शक्यो-ऽवक्तुम्। कथम्—हिमवतो गङ्गा प्रभवति इति। अपक्रामन्ति तास्तस्मादाप। यद्यपक्रामन्ति किं नात्यन्तायापक्रामन्ति। सततत्वात् अथवा अन्याश्चान्याश्च प्रादुर्भवन्ति।"[3] भाव यह है कि 'हिमवतो गङ्गा प्रभवति' में अपादान सञ्ज्ञा करने के लिये इस सूत्र की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि गङ्गा नदी का जल हिमालय से पृथक् होता है। हिमालय से उसका अपाय होने के कारण ध्रुव

---

१. द्र० महा०भा० २, सू० ४२४८ पृ० ४०८ "अनेकार्था हि धातवो भवन्ति"। तुलना करो, चान्द्रव्याकरण के धातुपाठ के अन्त में पठित।—
"क्रियावाचित्वमाख्यातुमेकैकोऽर्थो निदर्शितः।
प्रयोगतोऽनुगन्तव्या अनेकार्था हि धातवः॥"

२. पा० १४३०।

३. महा० भा० १ सू० १४३१, पृ० ३३०।

हिमालय की अपादान संज्ञा "ध्रुवमपायेऽपादानम्"[1] इस पूर्वसूत्र से ही सिद्ध हो जायेगी तो यह सूत्र व्यर्थ है। यदि यह कहा जाये कि हिमालय से गङ्गा का अपाय सर्वथा तो नहीं होता। गङ्गा का जल वहाँ विद्यमान ही रहता है तो इसका उत्तर है— सततत्वात्' अर्थात् अविच्छिन्न जलधारा सन्तान में होता हुआ भी अपाय प्रतीत नहीं होता। जल का अपाय होता अवश्य है। अथवा एक के बाद एक नई जलधारायें निकलती हैं। उनका अपाय तो प्रत्यक्ष ही है। इस प्रकार अपाय सिद्ध हो जाने पर पूर्वसूत्र से ही अपादान संज्ञा हो जायेगी तो यह सूत्र अनावश्यक है, ऐसा भाष्यकार का अभिप्राय है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

प्रत्यक्ष या परोक्ष अपाय को मानकर भाष्यकार ने यह सूत्र भी खण्डित कर दिया है। अपादान संज्ञा विधायक यह अन्तिम सूत्र है। "ध्रुवमपायेऽपादानम्" इस मुख्य अपादान संज्ञा विधायक सूत्र को छोड़कर शेष "भीत्रार्थानां भयहेतुः"[2] इत्यादि सात सूत्रों का प्रत्याख्यान भाष्यकार अपनी सुन्दर युक्तियों द्वारा कर चुके हैं। उनकी दृष्टि में कारकों में 'गौणमुख्यन्याय' की प्रवृत्ति न होने से मुख्य अपादान के साथ गौण अपादानों का भी ग्रहण हो जायेगा। इसलिये उनकी दृष्टि में इन सबका खण्डन न्यायसिद्ध होने के कारण युक्तिसंगत ही है।

शब्दकौस्तुभकार ने इस सूत्र की व्याख्या में पहले तो उक्त सातों सूत्रों के प्रत्याख्यान प्रकार का संक्षेप से निरूपण किया है[3] किन्तु बाद में वे स्वयं इन सातों सूत्रों का समर्थन करने के लिए कहते हैं—"वस्तुतस्तु निवृत्तिनि सरणादि-धात्वन्तरार्थविशिष्टे स्वार्थे वृत्तिमाश्रित्य यथाकथंचित् उक्तप्रयोगाणां

---

१ पा० १.४.२४।

२ पा० १.४.२५।

३ श०कौ०सू० १.४.३१, पृ० १२०, "चौरेभ्यो बिभेति। भयात् निवर्तते इत्यर्थः। चौरेभ्यस्त्रायते रक्षणेन चौरेभ्यो निवर्तयति इत्यर्थः। पराजयते। अध्ययनात् ग्लान्या निवर्तते इत्यर्थः। यवेभ्यो गां वारयति। प्रवृत्तिं प्रतिबध्नन् निवर्तयतीत्यर्थः। उपाध्यायादन्तर्धत्ते निलीयते वा। निलयनेन निवर्तते इत्यर्थः उपाध्यायादधीते उपाध्यायान्निःसरन्तं शब्दं गृह्णाति इत्यर्थः। ब्रह्मणः प्रपञ्चो जायते इत्यत्रापि ततोऽप्रशमन् निर्गच्छतीत्यर्थः। हिमवतो गङ्गा प्रभवति इत्यत्रापि भवनपूर्वकं निःसरणमर्थः, तथा च ध्रुवमपाये० इत्यनेनैवेष्टरूपसिद्धिः।"

समर्थनेऽपि मुख्यार्थपुरस्कारेण षष्ठीप्रयोगो दुर्वार । नटस्य शृणोतीतिवत् । न ह्युपाध्यायनटयो क्रियानुकूलव्यापारांशे विशेषो वक्तु शक्य । अनभिधान-माश्रित्य प्रत्याख्यान तु नातीव मनोरमम् । एव जुगुप्साविरामप्रमादार्थानाम् इत्यादि वार्तिकमप्यवश्यमारम्भणीयम । तथा च सूत्रवार्तिकमतमेवेह प्रबलम् । तथा ध्रुवम्, भयहेतु, असोढ इत्यादि सज्ञिनिर्देशोऽपि सार्थक । परत्वात् तत्तत्सज्ञाप्राप्तावपि शेषत्वविवक्षाया न माषाणामश्नीयात् इत्यादाविव षष्ठ्या इष्टतया तत्रापादानसज्ञाया वारणीयत्वात् ।"[1]

दीक्षित जी का भाव यह है कि यद्यपि भाष्यकार पतजलि ने अपने प्रबल युक्तिवाद से निवृत्ति निःसरणादि दूसरे धातुओं के अर्थ को मुख्य धात्वर्थ मे समाविष्ट करके यथाकथचित् उक्त सातो सूत्रो से सिद्ध होने वाले 'चौरेभ्यो विभेति' इत्यादि इष्ट रूपो की सिद्धि इन सूत्रो के बिना भी कर दी है तो भी 'चौरेभ्यो बिभेति' इत्यादि मे 'भी' आदि धातुओ के मुख्य अर्थ को स्वीकार कर लेने पर इन सूत्रो के अभाव मे प्राप्त षष्ठी को कौन रोकेगा ? 'चौरेभ्य' यहाँ 'चौर' शब्द से षष्ठी प्राप्त होती है । 'भयहेतु' कहने से अपादान सज्ञा षष्ठी को बाध लेगी तो पञ्चमी सिद्ध हो जाती है । इसी तरह सबमे समझना चाहिये । इन सातों सूत्रो की सत्ता मे ही षष्ठी की बाधा हो सकती है । अन्यथा नही । इसलिये इस विषय मे भाष्यकार की अपेक्षा सूत्रकार तथा वार्तिककार का मत ही प्रबल है । वही मानने योग्य है । अन्यथा 'जुगुप्सा विराम०' इत्यादि वार्तिको का निर्माण भी व्यर्थ हो जायेगा । सातो सूत्रो मे जो 'भयहेतु' 'असोढ', 'ईप्सित', 'येनादर्शनमिच्छति', 'आख्याता', 'प्रकृति', 'प्रभव' ये सज्ञिनिर्देश हैं वे तभी चरितार्थ हो सकते हैं, जब षष्ठी की बाधा हो । 'न माषाणामश्नीयात्' (माषों कोन खाये) यहाँ 'माषाणाम्' की तरह शेषत्वविवक्षा मे प्राप्त षष्ठी को उक्त सज्ञिनिर्देश ही रोक सकते हैं । 'उपाध्यायादधीते' (उपाध्याय से पढता है) और 'नटस्य शृणोति' (नट की गाथा सुनता है) यहाँ एक जगह पञ्चमी और दूसरी जगह षष्ठी होने मे क्या विनिगमना है जबकि क्रियानुकूलव्यापारांश में उपाध्याय और नट दोनो समान हैं । दोनो के विभक्तिभेद का कारण केवल 'उपयोग' है । 'उपयोग' अर्थात् नियमपूर्वक विद्या पढाने वाले उपाध्याय से पञ्चमी इष्ट है और जो नियमपूर्वक प्रवचन नहीं करता उस नट मे षष्ठी इष्ट है । 'उपयोग' ग्रहण तभी सफल हो सकता है जब

---

१. प्रौ०को०सू० १४३१, पृ० १२० ।

"आख्यातोपयोगे"[1] यह सूत्र रहे। यद्यपि वैसे अपाय दोनो प्रकार का होता है—शारीरिक तथा बौद्धिक। तथापि सूत्ररचना करते समय पाणिनि की दृष्टि मे अपाय का तात्पर्य सम्भवत शारीरिक पार्थक्य ही रहा होगा। इसीलिये 'चौरेभ्यस्त्रायते' इत्यादि मे पञ्चमी सिद्ध करने के लिये अर्थात् बौद्धिक अपाय मे भी पञ्चमी करने के लिये आचार्य ने "भीत्रार्थानां भयहेतु" इत्यादि शेष सूत्रो की रचना की प्रतीति होती है। इस दृष्टि से भी सूत्रो का प्रत्याख्यान समुचित नही प्रतीत होता। अपाय की इसी सूक्ष्मता को दृष्टिगत रखते हुए ही अर्थात् पाणिनि प्रयुक्त अपाय शब्द को केवल शारीरिक अपाय तक ही सीमित मानते हुए और इस प्रकार बौद्धिक अपाय का भी ग्रहण करने के लिये सम्भवत पूज्यपाद देवनन्दी ने "ध्यपाये ध्रुवमपादानम्" इस अपने सूत्र मे 'धी' अर्थात् बुद्धि ग्रहण द्वारा बौद्धिक अपाय का भी साथ ही निर्देश किया है।[2] इसी बात को जैनेन्द्र महावृत्ति मे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि 'धी' ग्रहण के बिना अपाय शब्द से केवल शारीरिक अपाय ही गृहीत होगा। 'धी' ग्रहण करने से दोनो अपाय गृहीत हो जाते हैं।[3] भाव यह है कि आचार्य पाणिनि ने अपाय का अर्थ केवल शारीरिक अपाय मानकर ही सूत्रो की रचना की है। वैसा मानने पर फिर बौद्धिक अपाय में भी पञ्चमी सिद्ध करने के लिये शेष सूत्र आवश्यक होने से प्रत्याख्येय नही है।[4]

---

१. पा० १ ४,२९।

२ जैंसू० १ २ ११०।

३ जैनेन्द्र महावृत्ति, १ २ ११० "धीग्रहणे ह्यसति कायप्राप्तिपूर्वक एवापाय: प्रतीयेत, धीग्रहणेन सर्वं प्रतीयते"। यद्यपि सूत्र के प्रकृत न्यास से उक्त अर्थ पूरी तरह मे घटित नही होता, उसके लिये एक और अपाय शब्द का ग्रहण आवश्यक है, तथापि अर्थ अभीष्ट होने से ग्राह्य ही होना चाहिये।

४ भाष्य (जोशी) कारकाह्निक, सू० १ ४ २५ पृ० ७४, "By taking the term अपाय in P 1.4 25 to mean physical as well as mental separation, Patanjali is able to do away with the rules 1 4 25-31 However, according to Panini, these special rules are required Obviously, because p 1 4 24 cannot cover the examples 'वृकेभ्यो बिभेति', 'चौरेभ्यस्त्रायते' etc That is to say Panini must have taken the term अपाय in the sense of physical separation only".

अत निष्कर्षरूप मे यह कहा जा सकता है कि बौद्धिक अपाय को मानकर इन सूत्रो के अन्यथासिद्ध किये जा सकने पर भी पाणिनि-व्याकरण की प्रक्रिया को देखते हुए इन सूत्रो की आवश्यकता प्रतीत होती है। क्योकि इनके अभाव मे "षष्ठी शेषे" इस सूत्र द्वारा इन सूत्रो के उदाहरणो मे षष्ठी की प्राप्ति होने लगेगी। अर्वाचीन वैयाकरणो ने भी भाष्यकार का अत्यधिक अनुकरण करते हुए अपादान प्रकरण के सभी सूत्रो को "ध्रुवमपाये०" सूत्र में ही अन्तर्भुक्त समझ लिया और इसीलिये उन्होने केवल उक्त सूत्र ही बनाया।[1] लेकिन स्पष्ट प्रतिपत्ति की दृष्टि से यह खण्डन समुचित नही प्रतीत होता। क्योकि बौद्धिक अपाय मे कल्पना शक्ति का गौरव स्पष्ट ही है। इसलिये "ध्रुवमपायेऽपादानम्" इस सूत्र के समान ये सभी सातों सूत्र रखने ही चाहियें। इनका प्रत्याख्यान करना युक्त नहीं है। सभवत यही कारण है कि भोजराज ने सरस्वतीकण्ठाभरण मे इन सब उक्त सूत्रो को ज्यो का त्यों पढा है। *अन्यो की तरह उन्हे हटाया नही है। उक्त सूत्रो की प्रातिस्विक समीक्षा* मे लेखक के द्वारा किया गया प्रत्याख्यान का समर्थन भी भाष्यकार की दृष्टि से ही प्रेरित समझना चाहिये, वस्तुत: नही।

अधिरीश्वरे ॥ १ ४.९७ ॥

सूत्र का अभिप्राय

यह सूत्र 'अधि' शब्द की कर्मप्रवचनीय सज्ञा करता है। 'ईश्वर' स्वामी को कहते हैं और वह 'स्व' की अपेक्षा रखता है। क्योकि 'स्व' के बिना स्वामी कैसा लोक मे स्वस्वामिभाव सम्बन्ध प्रसिद्ध ही है। सूत्र मे 'ईश्वर' शब्द भावप्रधान है। अत 'ईश्वर' का अर्थ यहाँ 'ऐश्वर्य' है। 'ईश्वर' और 'ऐश्वर्य' अर्थात् स्वस्वामिभावसम्बन्ध के कहने मे 'अधि' शब्द की कर्मप्रवचनीय सज्ञा होती है यह सूत्र का अर्थ पर्यवसित होता है। जैसे 'अधि ब्रह्मदत्ते पचाला'। 'अधि पचालेषु ब्रह्मदत्त' यहाँ ब्रह्मदत्त पचालदेश का स्वामी है और पचालदेश उसका स्व है। इन दोनो के सम्बन्ध मे 'अधि' की कर्मप्रवचनीय सज्ञा हो गई तो "कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया"[2] से प्राप्त द्वितीया को बाधकर "यस्मादधिक

---

१ (क) चा०सू० २ १ ८१ 'अवधौ पञ्चमी'।
(ख) जै०सू० १ २ ११० 'व्यपाये ध्रुवमपादानम्'।
(ग) शा०सू० १ ३ १५६ 'अपायेऽवधौ'।
(घ) है०सू० २ २ २९ 'अपायेऽवधिरपादानम्।'

२. पा० २ ३.८।

यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी"[1] इस सूत्र से, जिसको स्वामी कहना है या जिसका स्वामी कहना है, इन दोनों अर्थों में क्रम से ब्रह्मदत्त और पंचाल में सप्तमी विभक्ति हो जाती है। ब्रह्मदत्त को पंचाल का स्वामी कहना है। क्योंकि वह उनका स्वामी है ही। इसलिये स्व और स्वामी दोनों में पर्याय से सप्तमी होती है। "यस्य चेश्वरवचनम्०" के दोनों अर्थ है—'जिसको ईश्वर कहना है वह स्वामी है और जिसका ईश्वर कहना है वह स्व है।' पंचाल का 'ईश्वर' कहना है इसलिये पंचाल, जो 'स्व' है, उसमें सप्तमी हो गई। ब्रह्मदत्त को 'ईश्वर' कहना है इसलिये ब्रह्मदत्त में भी सप्तमी हो गई। 'स्व' और 'स्वामी' दोनों में एक साथ तो सप्तमी नहीं हो सकती। क्योंकि किसी एक में हुई सप्तमी से ही दूसरे के सम्बन्ध का अभिधान हो जाता है। इस प्रकार सूत्र का अर्थ उदाहरण सहित स्थिर हो जाता है।

विवक्षा के आधार पर सूत्र का प्रत्याख्यान

भाष्यकार ने यद्यपि स्पष्ट शब्दों में "अयं योगः शक्योऽवक्तुम्" ऐसा कह कर इस सूत्र का प्रत्याख्यान नहीं किया है, तो भी भाष्य के गम्भीर पर्यालोचन से यह बात प्रतीत हो जाती है कि भाष्यकार की दृष्टि में न केवल यही सूत्र अपितु इससे आगे 'यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी"[2] यह सूत्र भी प्रत्याख्येय है। उन्होंने 'स्व' और 'स्वामी' दोनों को एक दूसरे का अधिकरण मानकर "सप्तम्यधिकरणे च"[3] इस सूत्र से ही पर्याय से अधिकरण सप्तमी स्वीकार की है। उससे ये दोनों ही सूत्र अन्यथासिद्ध हो जाते हैं। ब्रह्मदत्त स्वामी में सप्तमी सिद्ध करने के लिये वे "यस्मादधिकम्०" सूत्र के भाष्य में "यस्य चेश्वरवचनमितिकर्तृनिर्देशश्चेदन्तरेण वचनं सिद्धम्"[4] इस वार्तिक की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—"अधि ब्रह्मदत्ते पंचालाः। आधृतास्ते तस्मिन् भवन्ति। सत्यमेवमेतत्। नित्यं परिग्रहीतस्य परिग्रहीत्रधीनं भवति।"[5] इसका भाव यह है कि 'अधि ब्रह्मदत्ते पंचालाः' यहां ब्रह्मदत्त 'स्वामी' में "यस्य चेश्वरवचनम्०" इस सूत्र के बिना भी अधिकरणसप्तमी सिद्ध हो जायेगी। क्योंकि पंचालदेश ब्रह्मदत्त में आधृत, अधिष्ठित है। ब्रह्मदत्त उनका स्वामी

---

१ पा० २ ३ ९।
२ पा० २ ३ ९।
३. पा० २.३ ३६।
४ महा०भा० १, सू० २ ३ ९ पर वार्तिक, पृ० ४४७।
५. वही।

है, अधिकरण है, आश्रय है। इसी प्रकार पचाल 'स्व' में सप्तमी सिद्ध करने के लिये वे उसी सूत्र के भाष्य में "स्ववचनात्तु सिद्धम्"[1] इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं—"यस्य स्वस्येश्वर तत्राप्यन्तरेण वचनं सिद्धम्। अधि पचालेषु ब्रह्मदत्त। आयुत स तेषु भवति। सत्यमेवमेतत्। नित्य परिग्रहीना परिग्रहीत-व्याधीनो भवति।"[2] इसका भाव है कि 'अधि पचालेषु ब्रह्मदत्त' यहा पचाल 'स्व' मे "यस्य चेश्वर वचनम्०" इस सूत्र के बिना भी अधिकरण सप्तमी सिद्ध हो जायेगी। क्योंकि ब्रह्मदत्त पचाल देश मे आयुत है, आश्रित है, अधिष्ठित है। वह पचाल देश मे ही रहता है। यह सत्य है कि जिस प्रकार 'स्व' 'स्वामी' के अधिष्ठित या आश्रित एव अधीन रहता है वैसे ही 'स्वामी' भी 'स्व' के अधीन, आश्रित या अधिष्ठित रहता है। इस प्रकार दोनो के एक दूसरे के अधीन होने मे पर्यायश दोनो मे ही अधिकरण सप्तमी हो जायेगी तो यह सूत्र जो 'अधि' की कर्मप्रवचनीय सज्ञा करता है और इससे सम्बद्ध "यस्य चेश्वरवचनम्०" यह सूत्र, दोनो ही व्यर्थ हो जाते हैं। यदि यह कहा जाय कि "अधिरीश्वरे" इस सूत्रन्यास मे 'अधि' शब्द की कर्मप्रवचनीय सज्ञा का सम्बन्ध स्व और स्वामी दोनो के साथ है तो जब 'स्वामी' ब्रह्मदत्त मे सप्तमी होगी तब स्व पचाल मे "कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया"[3] से द्वितीया प्राप्त होती है। 'अधि ब्रह्मदत्ते पञ्चालान्' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होगा। इसी प्रकार जब स्व पचाल मे सप्तमी होगी तब स्वामी ब्रह्मदत्त के कर्मप्रवचनीय से युक्त होने पर उससे द्वितीया प्राप्त होती है। 'अधि पचालेषु ब्रह्मदत्तम्' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होगा तो इसका समाधान करने के लिये भाष्यवार्तिककार "अधिरीश्वरे" की जगह "अधि स्वे" ऐसा सूत्र पढते हैं।[4] "अधि स्वे" सूत्र होने पर केवल 'स्व' पचाल के साथ ही 'अधि' की कर्मप्रवचनीय सज्ञा होगी, 'स्वामी' ब्रह्मदत्त के साथ नही। "स्वामी' चेश्वरवचनम्०" यह सप्तमी भी कर्मप्रवचनीययुक्त 'स्व' पचाल के साथ ही होगी। 'स्वामी ब्रह्मदत्त के कर्मप्रवचनीय न होने से वहाँ सप्तमी भी न होगी। वहाँ अधिकरण सप्तमी हो जायेगी। इस प्रकार 'अधि पचालेषु ब्रह्मदत्त' यह इष्ट रूप बन जायेगा। ब्रह्मदत्त मे द्वितीया का प्रसङ्ग ही न रहेगा।

---

१ महा० भा० १, सू० २३६, पृ० ४४७।
२ वही।
३. पा० २३८।
४ द्र० महा०भा० १, सू० १४६७, पृ० ३४६, "स्ववचनात्तु सिद्धम् अधि स्व प्रति कर्मप्रवचनीयो भवतीति।"

शेष रहे 'अधि ब्रह्मदत्ते पचाला' में पचाल के कर्मप्रवचनीय होने से प्राप्त द्वितीया को "उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी"[1] इस परिभाषा के बल से कारक विभक्ति प्रथमा बाध लेगी तो इष्ट रूप बन जायेगा। 'अधि ब्रह्मदत्ते पचालान्' ऐसा अनिष्ट रूप न होगा। तात्पर्य यह है कि 'स्व' पचाल के प्रति ही 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होगी और उसी में सप्तमी विभक्ति होगी। 'अधि पचालेषु ब्रह्मदत्त' यहाँ ब्रह्मदत्त के प्रति न कर्मप्रवचनीय संज्ञा और न सप्तमी विभक्ति होती है। 'अधि ब्रह्मदत्ते पचाला' में ब्रह्मदत्त में अधिकरण सप्तमी और पचाल में कारकविभक्ति प्रथमा निश्चित हो जाती है। वास्तव में न "अधिरीश्वरे" चाहिये और न 'अधि स्वे"। अधिकरण विवक्षा में स्व और स्वामी दोनों में क्रमशः सप्तमी सिद्ध है।[2] जब 'स्व' में सप्तमी होगी तब 'स्वामी' में कारक विभक्ति प्रथमा हो जायेगी और जब स्वामी' में सप्तमी होगी तब 'स्व' में कारक विभक्ति प्रथमा हो जायेगी।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यहाँ पर भाष्यकार ने इस सूत्र के प्रत्याख्यान की दिशा दिखा दी है। वे यह नहीं चाहते कि 'स्वामी' में तो अधिकरण सप्तमी हो और 'स्व' में कर्म प्रवचनीय सप्तमी। उनके लिये 'स्व' और 'स्वामी' दोनों समानयोगक्षेम हैं। चाहे "अधिरीश्वरे" सूत्र बनाया जाये या "अधिः स्वे" दोनों ही अप्रयोजक हैं। जब 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा ही न होगी तब "यस्य चेश्वरवचनम्०" सूत्र द्वारा सप्तमीविधान भी व्यर्थ ही है। गति और उपसर्गसंज्ञा के बाधनार्थ कर्म-प्रवचनीय संज्ञा की जाती है। स्वस्वामिभावसम्बन्ध में 'अधि' का क्रिया से योग ही नहीं तो गति-उपसर्गसंज्ञाओं की प्राप्ति न होने से तद्बाधनार्थ यह सूत्र व्यर्थ ही है।

उद्योतकार नागेश तो भाष्यकार का तात्पर्य इस सूत्र के रखने में ही मानते हैं। "केचित्तु" "इत्यादि कहकर वे यह सिद्ध करते हैं कि यदि भाष्यकार का तात्पर्य इस सूत्र के प्रत्याख्यान में होता तो वे "अधि स्वे" इस नये सूत्रन्यास के द्वारा 'स्व' के प्रति कर्मप्रवचनीय होने का विधान नहीं करते। इसलिये जब स्वस्वामिभाव की विवक्षा होगी और अधिकरण की अविवक्षा होगी वहाँ सप्तमी विधान के लिये 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा विधायक यह सूत्र और सप्तमी

---

१. परि० सं० १०३।

२ तुलना करो—"विवक्षातः कारकाणि भवन्ति।"

विधायक "यस्य चेश्वरवचनम्०" यह सूत्र दोनों ही आवश्यक हैं।[1] नागेशसम्मत भाष्यकार के इस तात्पर्य के अनुसार ही सम्भवत अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी प्रकृत सूत्र को अपने अपने तन्त्रों मे रखा है।[2] उनकी दृष्टि मे भी सूत्र स्थापनीय ही है। कैयट तो सूत्रो के प्रत्याख्यान पक्ष मे ही हैं।[3] शब्दकौस्तुभकार भी इसका भाष्यकारोक्त प्रत्याख्यान ही उचित मानते हैं। उनका कथन है कि यदि इसे 'विभाषा कृञि'[4] इस उत्तरसूत्रार्थ रखता है तो भी योग विभाग नही करना चाहिये।[5] इस प्रकार समन्तात् समीक्षा करने पर इसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि कहीं पर भी कोई अनिष्टापत्ति न होने से प्रकृत सूत्र का खण्डन ही न्याय्य है॥

परः सन्निकर्षः संहिता॥ १४.१०९॥

---

१ द्र० महा०प्र०उ०सू० २.३ ९, भा० २, पृ० ७८२ "केचित्तु अधिकरण-सप्तम्या संज्ञासूत्राभावेन द्वितीयाया प्राप्त्यभावेन सूत्रप्रत्याख्याने तात्पर्ये सति स्व प्रति कर्मप्रवचनीयत्व नोपपन्नम्येत्। तस्मात् स्वस्वामिभाव-विवक्षायामाधारविवक्षायां सप्तम्यर्थं 'यस्य चेश्वरवचनमधिरीश्वर' इति च सूत्रद्वय कार्यम्। विनिगमनाविरहेण च सूत्रद्वयस्योभयत्रार्थे तात्पर्य-मित्येव भाष्यतात्पर्यं लभ्यते न तु प्रत्याख्याने।"

२. (क) चा०सू० २ १.६१ 'स्वाम्येऽधिना'।
 (ख) जै०सू० १४.१८ 'ईश्वरेऽधिना'।
 (ग) शा०सू० १ ३ १७४ 'स्वेशेऽधिना'।
 (घ) स०सू १ १.१७ 'अधिरीश्वरे'।
 (ङ) है०सू० २ २ १७४ 'स्वेशेऽधिना'।

३ द्र०महा०प्र०भा० २, सू० २ ३ ९, पृ० ७८२ "यथाधिकरणत्व द्वयोरपि स्वस्वामिनोर्दर्शित तथाधिरीश्वरे इति यस्य चेश्वरवचनमिति च न कर्तव्यम्। ऐश्वर्यविषयस्य चाधे क्रियायोगाभावाद् गत्युपसर्गस ज्ञाबाध-नार्थोऽपि स ज्ञाविधिर्नोपयुज्यते।"

४ पा० १४.९८।

५. द्र०श०कौ०सू० २.३ ९, पृ० २२६ "इह सूत्रे यस्य चेश्वरवचनमित्यश प्रत्याख्यायते भाष्ये। एव च अधिरीश्वरे इति स ज्ञासूत्रमपि न कर्तव्यम्। न च गत्युपसर्गत्वबाधार्थं तत्। ऐश्वर्यविषयस्य अधे क्रियायोगाभावेनैव तदप्राप्ते.। उत्तरार्थमिति चेत् तर्हि योगविभागो न कार्य।"

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र 'संहिता' संज्ञा करता है। इसका अर्थ यह है कि वर्णों के अत्यन्त निकट मेल की 'संहिता' संज्ञा होती है। जब वर्ण बहुत ही निकटता से मिला दिये जाते है, तब 'संहिता' होती है। 'संहिता' को ही 'सन्धि' कहते हैं। 'सन्धि' शब्द पुल्लिङ्ग शब्द है और संहिता स्त्रीलिङ्ग है। इसी का समानार्थक नपुंसकलिङ्ग 'संहित' शब्द भी भाष्यवार्तिक मे प्रयुक्त हुआ है। जैसे—"परः सन्निकर्षः संहिता चेदद्रुतायामसंहितम्"[1] यहाँ 'न संहितम् असंहितम्' इस प्रकार 'संहित' शब्द मे 'नञ्' समास है, ऐसा नागेश का मत है। कैयट तो 'संहितायाः अभावः असंहितम्' इस प्रकार अर्थाभाव मे अव्ययीभाव मानकर 'संहित' शब्द ही स्वीकार करते हैं।[2] सम्भवतः आचार्य पाणिनि ने 'संहिता' यह स्त्रीलिङ्ग शब्द चारों वेद संहिताओं के नामसादृश्य को लेकर रखा है। क्योंकि ऋग्वेद आदि के मन्त्र संहितापाठ मे ही पठित हैं। पीछे से शाकल्य आदि ऋषियों ने संहिता-पाठ को पदपाठ मे बदल दिया है। पदपाठ मे होने से 'संहिता' के मन्त्रों का अर्थ समझने मे बहुत सुगमता हो जाती है। ऋग्वेदादि की 'संहिताओं' मे पदों के अव्यवहित सन्निकर्ष की प्रधानता है।

यह सूत्र पदस्थ वर्णों के भी अव्यवहित सन्निकर्ष को 'संहिता' संज्ञा करने के लिये बनाया गया है। जैसे—'कुमार्यौ', 'कुमार्यः' यहाँ संहिता मे 'यण्' हो गया। शास्त्र मे इस संज्ञा से काफी काम लिया गया है। अष्टाध्यायी सूत्रपाठ मे तीन 'संहिताधिकार' हैं। एक—'संहितायाम्' सूत्र है जिसका अधिकार "छे च"[3] सूत्र से लेकर "पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्"[4] सूत्र तक जाता है। उसमे अच्सन्धि का विधान है। 'दधि+अत्र=दध्यत्र' यहाँ संहिताधिकारस्थ "इको यणचि"[5] सूत्र से इकार अकार के परस्पर अत्यन्त सन्निकर्ष रूप 'संहिता'

---

१. महा॰भा॰ १, सू॰ १।४।१०९, पृ॰ ३५४।

२ (क) द॰महा॰प्र॰भा॰ २, पृ॰ ४७६ प्रकृतसूत्र "असंहितमिति—संहितासंज्ञाया अभाव इत्यर्थाभावेऽव्ययीभाव। अविद्यमाना वा संहितास्मिन् इति बहुव्रीहि।"

(ख) महा॰प्र॰उ॰ प्रकृत सूत्र वही पृष्ठ "वस्तुत संहितशब्दोऽपि परसन्निकर्षवाची क्लीव। तेनाय तत्पुरुष एव।"

३ पा॰ ६।१।७२।

४ पा॰ ६।१।७३।

५ पा॰ ६.१।१५७।

६ पा॰ ६।१।७७।

होने से यणादेश हो जाता है। "आद् गुण"[1], "वृद्धिरेचि"[2] इत्यादि सभी अच्सन्धि सम्बन्धी सूत्र इस 'सहिताधिकार' मे आते हैं। दूसरा "सहितायाम्"[3] सूत्र है जिसका अधिकार "कर्णे लक्षणस्याविष्टाष्ट   "[4] सूत्र से लेकर "सम्प्रसारणस्य"[5] सूत्र तक जाता है। जिसमे "द्व्यचोऽनस्तिङ"[6]-"निपातस्य च"[7] इत्यादि सूत्र आते हैं जिनका कार्य 'सहिता' मे ही होता है। जैसे—'विदमा हि त्वा सत्पतिम्'[8] यहाँ 'सहिता' मे 'विद्मा' इस क्रिया को "द्व्यचोऽनस्-तिङ" से दीर्घ होता है। 'सहिता' से अन्यत्र पदपाठ मे 'विद्म' ही रहेगा। वहाँ दीर्घ नही होना। इसी प्रकार 'एव', 'अत्र', इत्यादि निपातो को 'एवा'[9], 'अत्रा'[10] यह दीर्घ 'सहिता' मे ही होता है। तीसरा "सहितायाम्"—यह 'तयोर्य्वावचि सहितायाम्"[11] का एकदेश 'सहिता' का अधिकार है जो "मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि"[12] से लेकर अष्टाध्यायी के अन्तिम सूत्र "अ अ"[13] तक जाता है। इस 'सहिताधिकार' मे हल्सन्धि, विसर्गसन्धि तथा स्वादिसन्धि सभी सगृहीत हो जाती हैं। जैसे—'हरिं वन्दे'। यहाँ हल्सन्धि मे 'हरिम्' के मकार को "मोऽनुस्वार"[14] से अनुस्वार हो जाता है। 'सहिता' से अन्यत्र नहीं होना—'वन्दे हरिम्' इत्यादि। 'सहिताधिकार' के अनेक प्रयोजन हैं जिनके लिये यह 'सहिता' सज्ञा सूत्र बनाया है।

---

१. पा० ७ १ ८७ ।
२. पा० ६ १.८८ ।
३. पा० ६ ३ ११४ ।
४. पा० ६ ३ ११५ ।
५. पा० ६ ३ १३९ ।
६ पा० ६ ३ १३५ ।
७ पा० ६ ३ १३६ ।
८ ऋक्० १० ४७ १ ।
९. द्र० ऋक्० १ ११३ १ । 'एवा रात्र्युषसे योनिमारैक्'
१० द्र० वही, १ १६३ ५ । 'अत्रा ते भद्रा रशना अपश्यम् ।'
११ पा० ८ ३ १०८ ।
१२ पा० ८ ३ १ ।
१३ पा० ८ ४ ६- ।
१४ पा० ८ ३ २३

लोकविदित होने से सूत्र का प्रत्याख्यान

'संहिता' संज्ञा के इतना उपयोगी होने पर भी भाष्यवार्तिककार इसका प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—'संहितावसानयोर्लोकविदितत्वात् सिद्धम्। संहिता अवसानम् इति लोकविदितावेतौ अर्थौ। एवं हि कश्चित् कंचिदधीयानमाह शन्नो देवीय संहितयाधीष्व इति। स तत्र परमसन्निकर्षमधीते। अपर आह—केनावस्यसीति। स आह—अकारेण इकारेण उकारेण इति। एवमेतौ लोकविदितावर्थौ। तयोर्लोकविदितत्वात् सिद्धम्' इति'[1]। इसका अर्थ है कि 'संहिता' और 'अवसान' ये दोनों संज्ञायें लोकप्रसिद्ध हैं। कोई किसी वेदपाठी को कहता है कि तुम 'शन्नो देवीरभिष्टये'[2] इत्यादि मन्त्र वाले सूक्त को 'संहिता' से पढ़ो तो वह अत्यन्त सन्निकर्ष से मन्त्रोच्चारण करता है। वह मन्त्रस्थ पदों को व्यवधानरहित नैरन्तर्य से पाठ करता है। वह समझता है कि पदों का अत्यन्त निकटता से उच्चारण करना ही 'संहिता' है। इसी प्रकार कोई किसी से पूछता है यहाँ किस अक्षर से 'अवसान' करते हो। अथवा किस अक्षर पर ठहरते या विराम करते हो तो वह उत्तर देता है कि अकार इकार या उकार पर 'अवसान' करता हूँ। अकारादि पर विराम करता हूँ। उत्तर देने वाला समझता है कि 'अवसान' का अर्थ विराम है, वर्ण की समाप्ति है। इस प्रकार 'संहिता' और 'अवसान' शब्दों का अर्थ लोक प्रसिद्ध होने से ये दोनों ही संज्ञायें व्यर्थ हैं। जो वस्तु लोक से सिद्ध है उसके लिये शास्त्र द्वारा विधान करना अनावश्यक है।[3] लोक न्याय से सिद्ध होने पर यह सूत्र व्यर्थ हो जाता है। इसी प्रकार 'विरामोऽवसानम्'[4] यह 'अवसानसंज्ञा' विधायक अगला सूत्र भी व्यर्थ हो जाता है। सम्भवतः इसीलिये अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी उक्त दोनों सूत्रों को अपने व्याकरण में स्थान नहीं दिया। इनका आधार भी "संहितावसानयोर्लोकविदितत्वात् सिद्धम्" यह भाष्यवार्तिककार का वचन ही है। इनके स्थान पर वहाँ सन्धि तथा विराम शब्दों का प्रयोग मिलता है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

लोक प्रसिद्ध होने के कारण भाष्यवार्तिककार ने इस सूत्र का खण्डन करके भी 'संहिता' या 'सन्धि' की आवश्यकता को तो अनुभव किया ही है। उन्होंने

---

१. महाभा० १, सू० १४११०, पृ० ३५८।
२ अथर्व० १.६ १।
३ द्र० भा० १, सू० १.२.५६,५७, पृ० २६३, ३६४ "वस्त्वार्थो लोकत सिद्धः कि तत्र यत्नेन"।
४. पा० १४११०।

अपने भाष्य मे 'सहिता' के कई लक्षण किये हैं । जैसे—"ह्लादाविराम सहिता" । "पौर्वापर्यमकालव्यवेत सहिता"[1] । पाणिनि का तो "पर सन्निकर्ष सहिता" यह सूत्र ही है । यास्कीय निरुक्त मे भी इसी प्रकार का वचन है—"पर सन्निकर्ष सहिता । पदप्रकृति सहिता ।"[2] काव्यशास्त्र मे 'विसन्धि' नामक दोष भी इस बात को सूचित करता है कि सर्वथा आवश्यक 'सन्धि' का न होना अथवा प्रगृह्यसज्ञा आदि के कारण बहुत अधिक सन्ध्यभाव करना दोष[3] है । जैसे पदनैरन्तर्य आवश्यक है वैसे वर्णनैरन्तर्य भी आवश्यक होना चाहिये । इसलिये उच्चारण की जगह उद्चारण का प्रयोग अशुद्ध है । क्योकि वहा दकार चकार वर्णो के नैरन्तर्य मे 'सन्धि' का होना अत्यन्त आवश्यक है । 'सन्धि' की नित्यानित्यता के विषय मे निम्न श्लोक प्रसिद्ध भी है—

सहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयो ।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥[4]

अर्थात् 'पुरुष' इत्यादि एकपद मे 'सन्धि' नित्य होती है । 'प्राभवत्', 'अन्वभूत्' इत्यादि धातु और उपसर्ग के सम्बन्ध मे भी 'सन्धि' नित्य होती है । अपनी इच्छा से 'प्र अभवत्', 'अनु अभूत' ऐसा सन्धिरहित प्रयोग नही किया जा सकता । 'राजपुरुष' इत्यादि समास मे भी 'सन्धि' नित्य होती है । केवल 'देवदत्तो ग्राम गच्छति', 'त्व किं पश्यति' इत्यादि वाक्यो मे वक्ता की इच्छा है । यदि वह 'सन्धि' न करना चाहे तो न भी करे । इसलिये वाक्य मे 'सन्धि' के विवक्षाधीन होने से 'देवदत्त ग्रामम् गच्छति', 'त्वम किम् पश्यसि' इस प्रकार सन्धिरहित प्रयोग भी हो सकता है ।

इस सूत्र मे 'पर' ग्रहण का प्रयोजन बताते हुए बृहच्छब्देन्दुशेखरकार कहते हैं कि 'पर' अर्थात् आधी मात्रा काल से अतिरिक्त काल के व्यवधान से रहित जो वर्णों का सन्निकर्ष है, उसकी 'सहितासज्ञा' होती है ।[5] अवग्रह मे आधी

---

१. महा०भा०, प्रकृत सूत्र, पृ० ३५५-५६ । तुलना करो—ऋक्०प्रा० २ १ 'सहिता पदप्रकृति' । वाजसनेयि प्रा० १ १५० 'वर्णानामेकप्राणयोग सहिता' ।

२ निरुक्त, १ ६ ।

३. द्र० काव्यप्रकाश, ७ ५३ "प्रतिकूलवर्णमुपहतलुप्तविसर्ग विसन्धिहतवृत्तम् । न्यूनाधिककथितपद पतत्प्रकर्ष समाप्तपुनरुत्तम्" ॥

४. वै०सि०कौ०भा० ३, सू० ८ ४.१८, पृ० ५३ ।

५ द्र०बृ०श०शे०भा० १, सू० १.४ ११०, पृ० ६३ "अतिशयित इति—अर्धमात्रातिरिक्तकालव्यवायेन रहित । पर. किम् अवग्रहे मा भूत् । मात्राकालो ह्यवग्रह • परग्रहणे तु तत्सामर्थ्यात् अर्धमात्राकालातिरिक्तकालव्यवायाभावरूपसन्निकर्षस्य ग्रहणात् न दोष ।"

मात्रा काल से अतिरिक्त काल लगता है अतः वहाँ 'संहितासंज्ञा' नहीं होगी। वर्णों का सन्निकर्ष भी प्रायः परले वर्ण का अधिक मिलता है। कहीं-कहीं पूर्व वर्ण का सन्निकर्ष भी देखा जाता है। जैसे—'सवार्य', 'दधि', 'मधुं' यहाँ 'अवसान' में "अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः"[1] से अनुनासिक विधान से 'अ', 'इ', 'उ' इन पूर्व वर्णों का सन्निकर्ष है। इनसे साथ किसी परले वर्ण का सन्निकर्ष नहीं है। आगे नागेश भट्ट स्वयं ही लिखते हैं कि कुछ लोग सूत्र में 'पर' ग्रहण को व्यर्थ मानते हैं। क्योंकि पुरुष भेद से वर्णों का सन्निकर्ष अव्यवस्थित है। कोई वर्णों को कम मिलाकर बोलता है, कोई बहुत। ऐसी अवस्था में "सन्निकर्ष संहिता" इतना सूत्र होने पर सूत्रारम्भसामर्थ्य से सन्निकर्ष में प्रकर्षगति जानी जायेगी।[4] वर्णों का ऐसा सन्निकर्ष जो कि आधी मात्रा काल से अतिरिक्त काल के व्यवधान से रहित हो। इस प्रकार सूत्र की आवश्यकता होने के कारण इसका प्रत्याख्यान समुचित नहीं कहा जा सकता। अतः सूत्र स्थापनीय है।

विरामोऽवसानम् ॥ १ ४ ११० ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र 'अवसान संज्ञा' करता है। सूत्र में 'विराम' शब्द के भावसाधन तथा करणसाधन होने के कारण दो प्रकार के अर्थ हो जाते हैं। भावसाधन पक्ष में 'विराम' का अर्थ रुकना है अर्थात् बोलते-बोलते वर्ण के उच्चारण का अभाव। उस पक्ष में सूत्र का अर्थ होगा—'वर्णों के अभाव की अवसान संज्ञा होती है।' जब उच्चारण करते-करते वर्ण का अभाव हो जाये तब उस अभाव का नाम 'अवसान' है। करणसाधन पक्ष में 'विराम' शब्द का अर्थ जिससे विराम होता है, वह वर्ण होगा। जिस वर्ण के उच्चारण के बाद दूसरा वर्ण उच्चरित नहीं होता अर्थात् जो अन्तिम वर्ण है, उसकी 'अवसान संज्ञा' होगी

---

१. महा०प्र०उ० १.१.७ तथा महा०प्र०उ०भा० १, पृ० १८३—कैयट तो अवग्रह में आधी मात्रा काल मानते हैं। उनका कहना है "अर्धमात्राकालोऽवग्रह इष्यते।" किन्तु नागेश "मात्राकालोऽवग्रहः" ऐसा मानते हैं।

२. द्र०म्हाप० १ ११३ १। "यदा प्रमृता सवितुः सवाये।"

३. पा० ८ ४ ५७।

४ द्र०पृ०प्र०दी०भा० १, सू० १.४.११०, पृ० ६३। "केचित्तु पुरुषभेदेन सन्निकर्षस्याव्यवस्थिततया सूत्रारम्भसामर्थ्यादियोक्तसन्निकर्षलाभे परग्रहणं व्यर्थमित्याहुः।"

है। इस प्रकार वर्णों के उच्चारणाभाव या उच्चारणाभाव वाला अन्तिम वर्ण दोनो की 'अवसान सज्ञा' पर्यवसित होती है।

'अवसान सज्ञा' के प्रयोजन हैं—"वावसाने",[1] "खरवसानयोर्विसर्जनीय"[2] इत्यादि सूत्रो द्वारा अवसान मे किये गये कार्य। जैसे—'वृक्ष' यहाँ 'अवसान' मे 'वृक्ष' शब्द से परे 'स' के रेफ को विसर्ग हो गया। 'वाक्', 'वाग्' यहाँ 'वाच्' शब्द से परे 'अवसान' मे 'झल्' को 'चर्' विकल्प से हो गया। यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि जब 'अवसान' अभाव रूप है तब उसमे पौर्वापर्य कैसे होगा—'अवसान परे रहते विसर्ग हो', 'अवसान परे रहते चर्त्वविकल्प हो' इत्यादि पूर्वपरभाव तो भावपदार्थ मे ही हो सकते हैं, अभाव मे नही तो इसका समाधान भाष्यकार ने 'सहितासूत्र' के भाष्य मे उच्चरित प्रध्वसी वर्णों का परस्पर सन्निकर्ष या पौर्वापर्य सिद्ध करते हुए कर दिया है। वहाँ वर्णों के पौर्वापर्याभाव की शङ्का उठाकर बड़े युक्तियुक्त सुन्दर शब्दो मे उसका समाधान किया है। भाष्यवार्तिककार लिखते हैं—"न हि वर्णाना पौर्वापर्यमस्ति। किं कारणम्। एकैकवर्णवर्तित्वाद् वाच। उच्चरितप्रध्वसित्वाच्च वर्णानाम्। एकैकवर्णवर्तिनी वाक्। न द्वौ युगपदुच्चारयति। गौरिति गकारे यावद् वाग् वर्तते, नौकारे न विसर्जनीये। यावद् औकारे न गकारे, न विसर्जनीये। यावद् विसर्जनीये न गकारे, न औकारे। उच्चरित प्रध्वसिन खल्वपि वर्णा। उच्चरित प्रध्वस्त। अथापर प्रयुज्यते न वर्णो वर्णस्य सहाय।"[3] भाष्यकार के ये शब्द इतने स्पष्ट हैं कि इनकी व्याख्या की कोई जरूरत नही। ये स्वय निगदव्याख्यात हैं। इन शब्दो मे शङ्का उठाकर आगे समाधान करते हैं—

"एव तर्हि—बुद्धौ कृत्वा सर्वाश्चेष्टा कर्ता धीरस्तन्वन्नीति।
शब्देनार्थान् वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात् पौर्वापर्यम्॥

बुद्धिविषयमेव शब्दाना पौर्वापर्यम्। इह य एष मनुष्य।
प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति अस्मिन्नर्थे अय शब्द प्रयोक्तव्य।
अस्मिस्तावच्छब्दे अय तावद् वर्ण। ततोऽय ततोऽयम् इति"॥[4]

---

१ पा० ८.४.५६।
२ पा० ८ ३ १५।
३ महा०भा० १. सू० १ १ १०६, पृ० ३५६।
४. वही।

भाव यह है कि सब पौर्वापर्यभाव बुद्धिप्रकल्पित है। वर्णों का परस्पर सन्निकर्ष भी बुद्धिकल्पित है। बुद्धि मे शब्दो से वाच्य अर्थों को रखकर बुद्धि द्वारा ही उनका पूर्वपरभाव कल्पित कर लेना चाहिये। बुद्धि मे असभव अर्थ भी सभव बना लिये जाते हैं। इसी प्रकार अभाव की 'अवसान सज्ञा' मे अभाव मे भी बुद्धिकृत पौर्वापर्य हो जायेगा तो 'अवसान परे रहते' इत्यादि व्यवहार सिद्ध हो जायेंगे।

लोकविदित होने से सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र का भाष्यकारोक्त प्रत्याख्यान प्रकार तो "परः सन्निकर्षः संहिता" इस पूर्व सूत्र के प्रत्याख्यान के साथ ही निर्दिष्ट कर दिया है। अतः उसे यहाँ दुबारा लिखने की आवश्यकता नहीं।[1]

समीक्षा एव निष्कर्ष

इस सूत्र के प्रत्याख्यान से पूर्व भाष्यकार ने यह विचार किया है कि "विरामोऽवसानम्" ऐसा रखा जाये या "अभावोऽवसानम्"। क्योंकि कुछ लोग "अभावोऽवसानम्" ऐसा सूत्र पढ़ते हैं और कुछ "विरामोऽवसानम्" ऐसा। वहाँ दोनों पाठों मे युक्तिपूर्वक विचार करते हुए दोनो का ही परित्याग करके "वर्णोऽन्त्योऽवसानम्" इस वचन द्वारा "अन्त्यो वर्णोऽवसानम्" ऐसा सूत्र बनाना चाहिये, यह सिद्ध किया है, जिससे अति स्पष्ट हो जाये कि अतिम वर्ण की 'अवसानसज्ञा' होती है। अन्त में इस न्याय को भी लोकप्रसिद्ध मानकर सूत्र का ही खण्डन कर दिया है। 'अवसान' का अर्थ समाप्ति प्रसिद्ध ही है। अन्य अर्थों के होते हुए भी प्रकरण या सामर्थ्य के आधार पर यहाँ शास्त्र में 'अवसान' शब्द का समाप्ति अर्थ ही गृहीत हो जायेगा तो यह सूत्र व्यर्थ हो जाता है।

इस विषय मे न्यासकार का मत भी द्रष्टव्य है। वे लिखते हैं—"नार्थः संज्ञासंज्ञिसम्बन्धेन। प्रदेशे एव वर्णग्रहणं कर्तव्यम्। वरनन्त्ययोरिति। एतदपि नास्ति। एव हि सन्देह, स्यात्—किमन्त्यस्य वर्णस्य उत पदस्य आहोस्विद् वाक्यस्येति। तत्रान्त्यस्य विशेषणार्थं वर्णग्रहणं कर्तव्यं स्यात्। तस्मात् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धः कर्तव्यः"।

यहाँ न्यासकार का भाव यह है कि अवसान सज्ञा विधायक यह सूत्र बनाना ही चाहिये। यदि यह कहा जाये कि जहाँ जहाँ 'अवसान प्रदेश' है, वहाँ वहाँ

---

१. देखें पूर्व पृ० ८२-८४।

'अन्त्य' ग्रहण कर दिया जायेगा। उससे भी इष्टसिद्धि हो जायेगी। "खरवसानयोर्विसर्जनीय"[1] यहाँ "खरन्त्ययोर्विसर्जनीय" ऐसा न्यास हो जायेगा। "वावसाने"[2] यहाँ "वान्त्ये" ऐसा हो जायेगा तो इस संज्ञा सूत्र के बिना भी काम चल जायेगा, यह कथन ठीक नहीं। क्योंकि "खरन्त्ययो" इत्यादि निर्देश करके उनमे 'अन्त्य' क्या वर्ण लिया जायेगा या पद या वाक्य लिया जायेगा, यह सन्देह ही रहेगा। उसकी निवृत्ति के लिए वर्णग्रहण करना होगा जिसमें असदिग्ध रूप मे अन्त्य वर्ण ही लिया जाये, पद या वाक्य नहीं। इसलिये इस सूत्र द्वारा 'अवमान संज्ञा' का विधान करना ही उत्तम है। जिसमें 'अवसान प्रदेशों' मे संज्ञा द्वारा संज्ञो का ग्रहण हो सके। वस्तुत 'संहिता' के समान 'अवसान संज्ञा' भी आवश्यक होने से रहनी ही चाहिये। इसलिए अन्यान्य ग्रन्थो में भी इसका उल्लेख मिलता है॥[3]

वर्णो वर्णेन ॥ २१.६८ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र तत्पुरुष समास का विधान करता है। इसका अर्थ है कि 'वर्णवाची' शब्द का 'वर्णवाची' शब्द के साथ समानाधिकरण तत्पुरुषसमास होता है। 'वर्ण' का अर्थ है रंग और वह "निर्विशेष न सामान्यम्"[4] इस सिद्धान्त के अनुसार विशेष ही होगा। "सह सुपा"[5] के अधिकार से सुबन्तो का ही समास होता है, इसलिये 'वर्णविशेषवाची सुबन्त का वर्णविशेषवाची सुबन्त के साथ समानाधिकरण तत्पुरुष होता है' यह अर्थ निश्चित होता है। समानाधिकरण शब्द का अर्थ है कि जब भिन्न भिन्न प्रवृत्तिनिमित्त वाले शब्द समानविभक्ति द्वारा विशेषण-विशेष्य के रूप मे एक ही अर्थ के अभिधायक हो, तब समानाधिकरण कहाते हैं। एक द्रव्य का अभिधान ही समानाधिकरण है। भिन्न-भिन्न द्रव्यों का या भिन्न भिन्न विभक्तियो द्वारा अभिधान व्यधिकरण है। समानाधिकरण को ही कर्मधारय कहते हैं।[6] जैसे—'कृष्णसारङ्ग।

१. पा० ८४५६।
२. पा० ८३१५।
३. द्र०ऋक्०प्रा० १ १५, "तस्मादन्त्यमवमाने तृतीय गार्ग्य स्पर्शम्"।
४. बाल मनोरमा, भा० १, सू० २३.५०, पृ० ६७२ 'न हि निर्विशेषं सामान्यम् इति न्यायात्'।
५ पा० २१४।
६ द्र०पा० १.२४२ 'तत्पुरुष समानाधिकरण कर्मधारय'।

कृष्णश्चासौ सारङ्गश्चेति कृष्णसारङ्ग' एक ही वस्तु जो काली और चितकबरी है उसे कृष्णसारङ्ग कहते हैं। 'लोहितशबल' (लाल और चित्र-विचित्र एक ही पदार्थ)। यहाँ कृष्ण और सारङ्ग तथा लोहित और शबल ये शब्द 'वर्णविशेष' के वाचक हैं अतः समानाधिकरण तत्पुरुष समास हो जाता है।

प्रथम 'वर्ण' ग्रहण करने का प्रयोजन यह है कि 'परमशुक्ल' यहाँ इस सूत्र से समास नहीं होता। क्योंकि 'परम' शब्द 'वर्णवाची' नहीं है। दूसरे 'वर्ण' ग्रहण करने का प्रयोजन है कि 'कृष्णतिल' यहाँ इस सूत्र से समास नहीं होता। क्योंकि 'तिल' शब्द 'वर्णवाची' नहीं है। उक्त दोनों प्रत्युदाहरणों में "विशेषण विशेष्येण बहुलम्"[1] से समास होता है। उसका स्वर "समासस्य"[2] से अन्तोदात्त होता है। इस सूत्र से होने वाले तत्पुरुष में "वर्णो वर्णेष्वनेते"[3] से पूर्वपदप्रकृतिस्वर हो जाता है। "विशेषण विशेष्येण०" सूत्र से सिद्ध होने पर जो इस सूत्र से समासविधान किया है वह "वर्णो वर्णेष्वनेते" इस सूत्र द्वारा विहित पूर्वपदप्रकृतिस्वर करने के लिये किया है जिससे "वर्णो वर्णेन" यह प्रतिपदोक्त वर्णस्वर ही "वर्णो वर्णेष्वनेते" में ग्रहण किया जाये, अन्य सूत्र से विहित 'वर्णवाची' तत्पुरुषसमास उस स्वर विधान में न लिया जाये,[4] यह इस सूत्र का प्रयोजन है। 'कृष्णसारङ्ग' 'लोहितशबल' इत्यादि इस सूत्र के उदाहरणों में 'कृष्ण' और 'लोहित' अवयव हैं। 'सारङ्ग' और 'शबल' ये समुदाय हैं। क्योंकि चितकबरे रंग में काला और लाल भी विद्यमान रहते ही हैं। इसलिये अवयव द्वारा समुदाय के साथ समानाधिकरण्य होने से समानाधिकरण तत्पुरुष बन जाता है। समुदाय में अवयव के गौण या उपसर्जन होने से 'कृष्ण' और 'लोहित' का पूर्वनिपात भी "उपसर्जनं पूर्वम्"[5] से सिद्ध हो जाता है।

लाघव के कारण सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार इस सूत्र के प्रत्याख्यान में सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार सूत्र के प्रत्याख्यान में कोई विशेष लाघव नहीं दिखाई देता किन्तु भाष्यकार ने "तस्मात् समानाधिकरण इत्येव पक्षो ज्यायान्"[6] कहकर इस सूत्र का खण्डन

---

१. पा० २.१.५७।
२. पा० ६.१.२२०।
३. पा० ६.२.३।
४. द०परि०सं० ११४ "लक्षणप्रतिपदोक्तयो प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्।"
५. पा० २.२.३०।
६. महा०भा० १, सू० २.१.६८, पृ० ४०३।

कर दिया है। इस विषय में प्रकृत सूत्र के बनाने में गौरव को देखकर भाष्यकार इसके प्रत्याख्यान के लिये विचार करते हुए कहते हैं—"इद विचार्यते वर्णेन तृतीयासमासो वा स्यात् कृष्णेन सारङ्ग कृष्णसारङ्ग इति। समानाधिकरणो वा कृष्ण सारङ्ग कृष्णसारङ्ग इति।"[1] भाव यह है कि 'कृष्णसारङ्ग' में दो प्रकार का समास सम्भव है। एक—'कृष्णेन सारङ्ग कृष्णसारङ्ग' यह तृतीया-तत्पुरुष जो कि "तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन"[2] सूत्र मे होता है। दूसरा—समानाधिकरण तत्पुरुष 'कृष्ण. सारङ्ग, कृष्ण सारङ्ग' जो वर्णो वर्णेन" इस सूत्र से भी हो सकता है और "विशेषण विशेष्येण बहुलम्"[3] से भी हो सकता है। 'कृष्ण' और 'सारङ्ग' दोनो शब्द गुणोपसर्जन द्रव्यवाची हैं अत 'कृष्णेन कृष्ण-गुणेन कृत सारङ्ग चित्र इति कृष्णसारङ्ग' इस प्रकार "तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन" इस सूत्र से तृतीया तत्पुरुष समास उत्पन्न हो सकता है। समानाधिकरण या कर्मधारय तो स्पष्ट ही है। दोनो प्रकार के समासो मे गौरव लाघव को विचारते हुए आगे कहते हैं—"वर्णेन तृतीयासमासे एतप्रतिषेधे वर्णग्रहणम्"[4] अर्थात् 'कृष्णसारङ्ग' मे यदि तृतीया तत्पुरुष समास माना जाता है तो "वर्णो वर्णेष्वनेते" इस पूर्वपदप्रकृति स्वरविधायक सूत्र मे 'अनेते' कहकर जो 'एत' शब्द का प्रतिषेध किया है, उसके साथ 'वर्ण' ग्रहण भी करना होगा। "अनेते वर्ण" ऐसा सूत्र बनाना होगा। 'वर्णेषु' यह जो दूसरा 'वर्ण' ग्रहण है, इसकी बचत हो जायेगी। किन्तु पहला 'वर्ण' ग्रहण तो करना ही होगा। क्योंकि तृतीया समास मे "तत्पुरुषे तुल्यार्थ तृतीया सप्तम्युपमानाव्ययद्वितीया कृत्या"[5] इस सूत्र से ही पूर्वपदप्रकृतिस्वर सिद्ध होने पर "वर्णोऽनेते" यह सूत्र बनाना होगा जिससे वर्णवाची शब्द मे 'एत' शब्द परे रहते प्राप्त पूर्वपद-प्रकृतिस्वर का निषेध हो सके। 'एत' शब्द वर्णवाची है ही। 'आ + इत = एत' इस प्रकार सन्धि से बना हुआ 'एत' शब्द अन्यथासिद्ध होने से यहाँ नहीं लिया जायेगा। 'अनेते' कहने से यह लाभ होगा कि 'कृष्णेन एत कृष्णैत' (काले से मिला सफेद) यहाँ पूर्वपदप्रकृतिस्वर न होगा। "किन्तु "समासस्य" से विहित समासान्तोदात्त ही हो जायेगा। 'वर्ण' ग्रहण करने से यह लाभ

---

१ महा० भा० १, सूत्र २-१ ६८, पृ० ४०२।
२ पा० २ १ ३०।
३. पा० २ १.५७।
४ महा०भा० १, सू० २ १ ६८ पर वार्तिक, पृ० ४०२।
५. पा० ६.२.२।

होगा कि 'हिमेन एत हिमेत' (बर्फ से सफेद) यहाँ पूर्वपदप्रकृतिस्वर हो ही जायेगा। हिम शब्द के वर्णवाची न होने से 'अनेते' यह निषेध नहीं लगेगा। इस प्रकार 'कृष्णसारङ्ग' में तृतीया समास मानने पर "वर्णो वर्णेष्वनेते"[१] इस स्वरविधायक सूत्र में एक 'वर्ण' ग्रहण न करने की बचत हो जाती है। किन्तु सभी 'वर्णवाची' शब्दों में तृतीयासमास प्राप्त नहीं होगा। जैसे—'शुकबभ्रु', 'हरितबभ्रु' यहाँ शुककृत या हरितकृत बभ्रुत्व कुछ नहीं अपितु 'शुक (हरा) होता हुआ बभ्रु (पीला)' ऐसा अर्थ है। 'सह'योग में तृतीया होकर तृतीया-समास मानने पर भी "तत्पुरुषे तुल्यार्थ तृतीया०"[२] इस स्वरविधायक सूत्र में "तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन"[३] इस सूत्र से विहित प्रतिपदोक्त तृतीयासमास लिया जाता है। उसके लिये "वर्णो वर्णेन" यह सूत्र बनाना ही होगा जिससे 'वर्णवाची' शब्द का 'वर्णवाची' शब्द के साथ प्रतिपदोक्त तृतीयासमास सिद्ध हो जाये। इसलिये तृतीयासमासपक्ष में तीन 'वर्ण' ग्रहण करने पड़ते हैं। दो तो "वर्णो वर्णेन" यहाँ समास में और एक "वर्णोऽनेते" यहाँ स्वरविधान में।

अब 'कृष्णसारङ्ग' में समानाधिकरण तत्पुरुष मानकर यदि 'कृष्णश्चासौ सारङ्गश्च' ऐसा विग्रह किया जाये तो उस पक्ष में कहते हैं—"समानाधिकरणे द्विवर्णग्रहणम्"[४] अर्थात् 'कृष्णसारङ्ग' में समानाधिकरण तत्पुरुष मानने पर "वर्णो वर्णेष्वनेते" यहाँ स्वरविधान में दो 'वर्ण' ग्रहण करने पड़ेंगे। यदि लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा से स्वरविधान में "वर्णो वर्णेन" इस सूत्र से विहित वर्णसमास ही लिया जाये तब तो एक 'वर्ण' ग्रहण की बचत हो सकती है। "वर्णोऽनेते" ऐसा सूत्र ही पर्याप्त है। इसके साथ ही यदि समानाधिकरणसमास को "विशेषणं विशेष्येण०"[५] सूत्र से ही सिद्ध माना जाये, "वर्णो वर्णेन" यह सूत्र न बनायें तब तो स्वरविधान में "वर्णो वर्णेष्वनेते" यहाँ दो 'वर्ण' ग्रहण करने ही पड़ेंगे। क्योंकि फिर प्रतिपदोक्त 'वर्णसमास' नहीं मिलेगा। 'परमशुक्ल', 'कृष्णतिल' इत्यादि साधारण समानाधिकरण समासों में पूर्वपदप्रकृतिस्वर की व्यावृत्ति के लिये यहाँ दो 'वर्ण' ग्रहण करने आवश्यक हैं। हाँ, यहाँ के दो 'वर्ण' ग्रहणों में छुट्टी मिल जायेगी। तब इस सूत्र की आवश्यकता ही न

---

१. पा० ६.२.३।
२. पा० ६.२.२।
३. पा० २.१.३०।
४. महा०भा० १, सू० २.१.६८ पर वार्तिक, पृ ४०२।
५. पा० २.१.५७।

होगी। इस प्रकार समानाधिकरण समास मे केवल दो ही "वर्ण' स्वरविधि मे कर देने से लाघव है। और समानाधिकरण समास भी इस सूत्र से न होकर "विशेषण विशेष्येण०" इस सामान्य सूत्र से हो जायेगा तो यह सूत्र अनावश्यक होने से प्रत्याख्येय है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

तृतीयासमास की अपेक्षा समानाधिकरणसमास मे एक 'वर्ण' ग्रहण का लाघव देखकर भाष्यकार ने इस सूत्र का खण्डन कर दिया है। स्वरविधि मे दो 'वर्ण ग्रहण' तो अवश्य करने पड़ेंगे। इस सूत्र के दोनो 'वर्ण ग्रहण' अथवा यह समस्त सूत्र ही जब न रहेगा तब "वर्णो वर्णेष्वनेते" इस स्वरविधायक सूत्र मे तो दोनों तरफ 'वर्णग्रहण' करने की आवश्यकता होगी ही। अब इस सूत्र मे विहित समास मे तथा "वर्णो वर्णेष्वनेते" इस स्वरविधायक सूत्र मे मिलाकर चार 'वर्ण' ग्रहण हैं। उनमे भाष्यकार ने स्वरविधि वाले दो 'वर्ण' ग्रहण स्वीकार करके इस सूत्र के दोनो 'वर्ण' ग्रहण या यह सूत्र ही खण्डित कर दिया है। शब्दकौस्तुभकार भी इस बात से सहमत हैं कि स्वरविधि मे दोनो 'वर्ण' ग्रहण आवश्यक हैं।[1]

'कृष्णशुक्ल', 'हरितशुक्ल' इत्यादि मे समास के लिये यह सूत्र भी आवश्यक है। क्योंकि 'कृष्णशुक्ल' में 'कृष्णेन शुक्ल' इस प्रकार तृतीयासमास सर्वथा अनुपपन्न है। 'कृष्णकृत शौक्ल्य' कभी हो नही सकता। अत 'कृष्णश्चासौ शुक्लश्च' इस प्रकार 'कुछ काला कुछ सफेद' इस अर्थ को प्रकट करने के लिये इस सूत्र द्वारा कर्मधारयसमास करना आवश्यक है। किन्तु यदि यह समास "विशेषण विशेष्येण०" इस सामान्य सूत्र से सिद्ध हो जाता है तो यह सूत्र प्रत्याख्यानयोग्य ही बन जाता है। वैसे भी "वर्णो वर्णेष्वनेते" इस स्वर विधायक सूत्र मे तत्पुरुषसमास की अनुवृत्ति होने से सामर्थ्यात् 'वर्ण' से परे समानाधिकरण 'वर्ण' ही लिया जायेगा, व्यधिकरण नहीं, तो उसमे भी इसकी गतार्थता सिद्ध हो जाती है।

इसके अतिरिक्त यह तथ्य भी अवश्य ध्यातव्य है कि यद्यपि "विशेषण विशेष्येण बहुलम्" यह कर्मधारय समास का विधान करने वाला सामान्य सूत्र

---

१. द्र० श०कौ० सू० २१६८, पृ० १६० 'वस्तुतस्तु वर्णो वर्णेष्वनेते इति यथान्यासमस्तु। प्रकृतसूत्रमेव तु न कर्तव्यम् 'विशेषण विशेष्येण०' इत्येव समासस्य सिद्धत्वात् इति ध्येयम्'।

अत्यन्त व्यापक है। अत प्राय बहुत से प्रयोग उसी से सिद्ध हो सकते हैं तथापि तत्तत् स्थलो का पृथक्-पृथक् पढने का प्रयोजन समास मे उनका पूर्वनिपात है। किन्तु प्रकृत सूत्र मे वैसी बात नही है। क्योकि यहां 'वर्ण' शब्द प्रथमा और तृतीया दोनो विभक्तियो मे समानरूप से एक साथ निर्दिष्ट हुआ है। अत समास मे कौन सा 'वर्णविशेषवाची' शब्द पहले आये तथा कौन सा बाद मे आये इसका निर्णय सुगम नही है। इसलिए प्रत्येक दृष्टिकोण से प्रकृत सूत्र प्रत्याख्येय ही ठहरता है।[१] यही कारण है कि अर्वाचीन वैयाकरण आचार्य चन्द्र, देवनन्दी तथा हेमचन्द्र ने इस सूत्र को नही पढा है। केवल शाकटायन तथा भोजराज ने ही (सम्भवत स्पष्ट प्रतिपत्त्यर्थ) इसका समर्थन करते हुए उसे पढा है[२] जो कि लाघव की दृष्टि से चिन्त्य ही कहा जायेगा ॥

पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे ॥ २ २ १ ॥

अर्धं नपुंसकम् ॥ २ २ २ ॥

द्वितीय तृतीय चतुर्थ तुर्याण्यन्यतरस्याम् ॥ २ २ ३ ॥

---

१ भाष्य (जोशी) कर्मधारयाह्निक, व्याख्याभाग, सू० २ १ ६६, पृ० २०१ "There are many more rules prescribed in the Samanadhikarana Section whose examples are covered by P 2 1 57 In this respect P 2 1 59 is not an exception But the point is here that the others are still required for purvanipata This is not so in the case of P 2 1 69 Since in this rule the word varna is mentioned in the nominative as well as in the instrumental, we have no clue to decide which member should come first in the cp Therefore, P 2 1 69 is redundant in all respect"

२. (क) प्रकृत सूत्र चान्द्र व्याकरण की स्वोपज्ञ वृत्ति मे २.२ १८ पर भी खण्डित किया गया है।

(ख) प्रकृत सूत्र जैनेन्द्र व्याकरण की महावृत्ति म १ ३.६४ पर भी खण्डित किया गया है।

(ग) शा०सू० २ १ ७७ 'वर्णैर्वर्ण'।

(घ) स०सू० १ २.६६ 'वर्णो वर्णेन'।

(ङ) हैमव्याकरण मे यह सूत्र वृत्ति मे भी वर्णित नहीं हुआ है।

सूत्रों का प्रतिपाद्य

ये तीनों सूत्र एकदेशी तत्पुरुष समास का विधान करते हैं।[1] एकदेशी तत्पुरुष के ये तीन ही सूत्र हैं। यह समास षष्ठीतत्पुरुषसमास का अपवाद है। क्रम से सूत्रों का अर्थ इस प्रकार है—(१) 'पूर्व', 'अपर', 'अधर', 'उत्तर' इन शब्दों का एकदेशी सुबन्त के साथ तत्पुरुषसमास होता है, एकत्व संख्या विशिष्ट अवयवी के कहने में। 'एकश्चासौ देशश्च एकदेश'। एकदेश का अर्थ अवयव है। 'एकदेश अवयव अस्यास्तीति एकदेशी अवयवी'। 'एकाधिकरणे' अर्थात् एक द्रव्य का अभिधान करने में। यह पहले सूत्र का अर्थ हुआ। यथा—'पूर्वकाय'। 'अपरकाय'। 'अधरकाय'। 'उत्तरकाय'। 'कायस्य पूर्वो भाग-अवयवो वा पूर्वकाय' (शरीर का पूर्वभाग)। 'अपरकाय' (शरीर का पिछला भाग)। 'अधरकाय' (निचला भाग)। 'उत्तरकाय' (ऊपर का भाग)।

यहां 'पूर्वादि' शब्द उपलक्षणमात्र हैं।[2] 'पूर्वादि के समान अन्य अवयववाची शब्दों का भी अवयवी के साथ तत्पुरुषसमास होता है। यथा—'अह्न पूर्वोभाग-पूर्वाह्ण'। 'अह्न मध्य मध्याह्न'। 'अह्न साय मायाह्न'। 'रात्रे. पूर्वोभाग पूर्वरात्र.'। 'अपररात्र'। 'मध्यरात्र' इत्यादि। समास करने वाले इस सूत्र में 'पूर्वापराधरोत्तरम्'' यह प्रथमा विभक्ति से निर्दिष्ट है। इसलिये "प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्"[3] से 'पूर्वादि' की 'उपसर्जनसंज्ञा' होकर "उपसर्जनं पूर्वम्"[4] से 'पूर्वादि' का पूर्वनिपात हो जाता है। इस सूत्र के अभाव में षष्ठी समास करने वाले "षष्ठी"[5] इस सूत्र में षष्ठी के प्रथमानिर्दिष्ट होने से 'काय' आदि का पूर्वनिपात होकर 'कायपूर्व' 'रात्रिमध्य', 'दिनमध्य' इत्यादि रूप प्राप्त होते हैं।

---

१. डि० डिक्शनरी आफ संस्कृत ग्रामर, एकदेशी तत्पुरुष को ही 'अंशि समास' 'अवयवविधान' या 'अवयवविधिसमास' तथा 'अवयव षष्ठीतत्पुरुष' आदि नामों से भी पुकारा जाता है।

२ इस विषय में "संख्या विसाय पूर्वस्य०" (पा० ६ ३ ११०) सूत्र में 'साय' शब्द का 'अहन्' शब्द के साथ एकदेशी तत्पुरुष का विधान ही ज्ञापक है। उससे न केवल 'अहन्' के साथ ही बल्कि कालवाची 'रात्रि' शब्द के साथ भी एकदेशी समास सिद्ध हो जाता है।

३. पा० १.२.४३।

४. पा० २ २ ३०।

५. पा० २ २ ८।

सूत्र मे 'एकदेशि' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'पूर्वं नाभे कायस्य' यहा 'नाभि' के साथ 'पूर्व' का समास नही हुआ। क्योकि 'नाभि' एकदेशी या अवयवी नही है अपितु 'काय' का एकदेश है, अवयव है। हा, 'काय' तो एकदेशी है। उसके साथ 'पूर्व' का समास होकर 'पूर्वकायो नाभे' ऐसा रूप बन सकता है।

'एकाधिकरण' ग्रहण करने का प्रयोजन यह है कि 'पूर्व छात्राणाम्' यहा छात्रो मे एकत्व सख्यायुक्त होने से 'पूर्व' शब्द का समास नही हुआ। छात्र अलग-अलग अधिकरण हैं, जिनमे वह पहला है। एक अधिकरण नही है, अत समास नही होता।

दूसरे सूत्र का अर्थ है कि समान अर्थ का वाचक, जो नपुसकलिङ्ग 'अर्ध' शब्द है, उसका एकदेशी के साथ तत्पुरुषसमास होता है। यथा—'अर्धपिप्पल्या इति अर्ध पिप्पली' (आधी पिप्पली)। पिप्पली के बराबर दो भाग करके एक-एक भाग का नाम 'अर्धपिप्पली' है। यहां षष्ठी समास को बाधकर "अर्धं नपुसकम्" इस से एकदेशी तत्पुरुष समास हो जाता है तो 'अर्ध' शब्द के प्रथमा निर्दिष्ट होने से 'उपसर्जनसज्ञा' होकर "अर्ध' का पूर्वनिपात हो गया। साथ ही "एकविभक्ति चापूर्वनिपाते"[1] से 'पिप्पली' शब्द की प्राप्त 'उपसर्जनसज्ञा' का "एकविभक्तावषष्ठ्यन्तवचनम्"[2] इस वार्तिक से निषेध हो गया तो "गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य"[3] से 'पिप्पली' को ह्रस्व नही होता। षष्ठीविभक्त्यन्त की 'उपसर्जनसज्ञा' का निषेध केवल एकदेशी तत्पुरुषसमास मे ही होता है। उससे 'पञ्चानां खट्वाना समाहार पञ्चखट्वी' यहां समाहार द्विगुसमास मे षष्ठ्यन्त 'खट्वा' शब्द की "एकविभक्तिचापूर्वनिपाते" सूत्र से उपसर्जनसज्ञा हो गई तो "गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य" से 'खट्वा' शब्द को ह्रस्व होकर अदन्त हो जाने से 'द्विगो'[4] सूत्र से 'ङीप्' सिद्ध हो जाता है। समानविभागवाची 'अर्ध' शब्द के नित्य नपुसकलिङ्ग होने पर भी, जो सूत्र मे 'नपुंसक' ग्रहण किया है, उससे "सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्"[5] यह परिभाषा ज्ञापित होती है। इस परिभाषा का भाव यह है कि सूत्रो मे लिङ्ग और वचन

१. पा० १ २ ४४।
२ पा० १.२ ४४ पर वार्तिक।
३ पा० १ २ ४८।
४ पा० ४ १ २१।
५. परि० स० ७३।

का निर्देश मुख्य रूप मे विवक्षित नही होता। उसमे "तस्यापत्यम्"[1] सूत्र मे 'तस्य' मह एकवचन अविवक्षित होने से 'द्वयोर्मात्रोरपत्यम् द्वैमातुर' यहा द्विवचनान्त से भी 'अण्' प्रत्यय हो जाता है। 'अपत्यम्' यहा नपुसकलिङ्ग की विवक्षा न होने से 'दशरथस्यापत्य पुमान् दाशि' मे पुल्लिङ्ग अपत्य मे भी "अत इञ्"[2] मे 'इञ्' प्रत्यय हो जाता है। वैसे 'नपुसक ग्रहण' का प्रयोजन यह भी हो सकता है कि 'ग्रामार्ध', 'नगरार्ध' इत्यादि मे 'अर्ध' शब्द के पुल्लिङ्ग होने से एकदेशी तत्पुरुषसमासविधायक इस सूत्र की प्रवृत्ति न होकर 'ग्रामस्य अर्ध ग्रामार्ध' इस प्रकार षष्ठीतत्पुरुषसमास हो जाता है।

तीसरे "द्वितीय तृतीय चतुर्थ०" इस सूत्र का अर्थ है कि 'द्वितीय', 'तृतीय', 'चतुर्थ', 'तुर्य' इन शब्दो का एकदेशी के साथ तत्पुरुषसमास विकल्प से होता है।[3] जब यह समास नहीं होगा, तब षष्ठीतत्पुरुषसमास हो जायेगा। यथा—'भिक्षाया द्वितीयो भाग द्वितीयभिक्षा'। 'तृतीयभिक्षा'। 'चतुर्थभिक्षा'। 'तुर्यभिक्षा'। इन सब में भिक्षा एकदेशी है, अवयवी है। उसका एकदेश (अवयव) 'द्वितीय', 'तृतीय' आदि है। एकदेशी तत्पुरुषसमास होने पर 'द्वितीयादि' के प्रथमानिर्दिष्ट होने से उनका पूर्वनिपात सिद्ध हो जाता है। पक्ष मे षष्ठीसमास होकर 'भिक्षाया द्वितीयो भाग भिक्षाद्वितीयम्'। 'भिक्षा-तृतीयम्' इत्यादि रूपों मे षष्ठी के प्रथमानिर्दिष्ट होने से उसका पूर्वनिपात हो जाता है।

'न्यायसिद्धि के आधार पर सूत्र का प्रत्याख्यान

प्रस्तुत सूत्रो के प्रत्याख्यान मे वार्तिककार कात्यायन मौन हैं। 'परवल्लिङ्ग द्वन्द्वतत्पुरुषयो'[4] सूत्र के भाष्य मे भाष्यकार इन तीनो सूत्रो मे 'अर्ध नपुसकम्' इस सूत्र को उपलक्षण मान कर एकदेशी समास विधायक

१. पा० ४.१ ९२।
२. पा० ४ १ ९५।
३ यहाँ यह अवश्य ध्यातव्य है कि पाणिनि ने तो 'चतुर्थ' और 'तुर्य' इन शब्दो के साथ ही एकदेशीसमास का विधान किया है किन्तु काशिकाकार ने एक इष्टि को उद्धृत करके 'तुरीय' शब्द के साथ भी एकदेशी समास इष्ट माना है—"तुरीयशब्दस्यापीष्यते"। अर्वाचीन वैयाकरणो ने तो 'तुरीय' के साथ-साथ 'तल' और 'अग्र' आदि शब्दों का भी एकदेशीसमास विधान किया है।
. पा० २.४ २६।

उक्त तीनो सूत्रो का ही प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—"एकदेशिसमासो नारप्स्यते। कथमर्धपिप्पली इति। समानाधिकरणो भविष्यति—अर्धं च सा पिप्पली च अर्धपिप्पली इति। न सिध्यति। परत्वात् षष्ठीसमास प्राप्नोति। अत्र पुनरयमेकदेशिसमास आरभ्यमाण षष्ठीसमास बाधते। इष्यते च षष्ठीसमासोऽपि। तद्यथा—अपूपार्धं मया भक्षितम् ग्रामार्धं मया लब्धम् इति। एव पिप्पल्यर्धमित्यपि भवितव्यम्। कथमर्धपिप्पलीति। समानाधिकरणो भविष्यति।"[1] इसका भाव सर्वथा स्पष्ट है कि एकदेशी तत्पुरुषसमास के बिना भी 'अर्धपिप्पली' 'पूर्वकाय', 'द्वितीयभिक्षा' इत्यादि रूप बना लिये जायेंगे। समानाधिकरण तत्पुरुषसमास, जो कि कर्मधारय कहलाता है,[2] उससे ये रूप सिद्ध हो जायेंगे। 'अर्ध च सा पिप्पली च' इस विग्रह द्वारा एक ही पिप्पली रूप अधिकरण को कहने के लिये अवयव 'अर्ध' शब्द को उपचार से पिप्पली मानकर कर्मधारयसमास हो जायेगा। "समुदायेषु प्रवृत्ता शब्दा-अवयवेष्वपि वर्तन्ते"[3] इस न्याय से अवयववाची शब्द अवयवी का समानाधि-करण बन सकता है। 'अर्धं च तद् उक्त च इति अर्धोक्तम्' इत्यादि मे समानाधिकरण स्पष्ट ही है।

यदि यह कहा जाये कि षष्ठीतत्पुरुषसमास को बाधने के लिये उसका अपवादस्वरूप यह एकदेशी तत्पुरुष का विधान है, तो भी ठीक नही। क्योकि 'अर्धपिप्पली' इत्यादि मे षष्ठीतत्पुरुषसमास भी अभीष्ट है। 'पिप्पल्या अर्धम् पिप्पल्यर्धम्' यह रूप भी सर्वसम्मत है। जैसे 'अपूपस्य अर्धम् अपूपार्धम्', 'ग्रामस्य अर्धम् ग्रामार्धम्' ये रूप षष्ठीतत्पुरुषसमास से प्रसिद्ध हैं वैसे 'पिप्पल्यर्धम्', 'भिक्षाद्वितीयम्', 'दिनमध्यम्', 'रात्रिमध्यम्' इत्यादि भी षष्ठीसमास करके इष्ट रूप बन जाते हैं। 'अर्धपिप्पली', 'पूर्वकाय', 'द्वितीयभिक्षा' इत्यादि मे 'अर्धं च सा पिप्पली च', 'पूर्वश्च कायश्च', 'द्वितीया च सा भिक्षा च' इस प्रकार अवयवावयवी का समानाधिकरण तत्पुरुषसमास बिना किसी विघ्न-बाधा के बन सकता है। ऐसी अवस्था मे भाष्यकार के अनुसार इन तीनो सूत्रो का प्रत्याख्यान हो जाता है।

समीक्षा एव निष्कर्ष

उक्त तीनो एकदेशी तत्पुरुषसमासविधायक सूत्रो के प्रत्याख्यान मे कैयट आदि सभी सहमत हैं। कैयट तो स्पष्ट लिखते हैं—"पूर्वापराधरोत्तरमिति-

---

१ महा० भा० १, सू० २.४.२६, पृ० ४७६।

२ पा० १.२.४२ 'तत्पुरुष समानाधिकरण कर्मधारय'।

३ महा० परशा० पृ० १२।

योगोऽय नारम्यते। मुनिद्वयाच्च भाष्यकार प्रमाणतरमधिकलक्ष्यदर्शित्वात्"[१]। इनके कहने का तात्पर्य यह है कि एकदेशी तत्पुरुषसमास का विधान करने वाले तीनो सूत्रों का प्रत्याख्यान ही भाष्यकार को अभिप्रेत है, न केवल 'अर्ध-पिप्पली' वाले "अर्ध नपुसकम्" इस सूत्र का ही। आचार्य पाणिनि तथा कात्यायन इन दोनो मुनियो की अपेक्षा भाष्यकार पतञ्जलि ही अधिक प्रमाण हैं। क्योंकि वे लक्षणैकचक्षुष्क होने के साथ साथ लक्ष्यैकचक्षुष्क भी है। उन्होंने पूर्ववर्ती मुनियो से अधिक लक्ष्यों का दर्शन किया है। एक दृष्टि से बात ठीक भी है। भाषाविज्ञानशास्त्र मे उत्तरोत्तर विकास की परम्परा को स्वीकार करते हुए पतञ्जलि द्वारा किया गया उन सूत्रों का अथवा एकदेशी तत्पुरुष समास का खण्डन ही न्याय्य है। उत्तरवर्ती सस्कृत काव्यों म दोनो समासो के ही उदाहरण मिलते है। महाकवि कालिदास ने "पश्चार्धेन प्रविष्ट शरपतनभयात् भूयसा पूर्वकायम्"[२] तथा 'प्रेम्णा शरीरार्धहरा हरस्य'[३]। यहाँ 'पूर्वकायम्' यह एकदेशी तत्पुरुष का तथा 'शरीरार्धहराम्' एव 'पश्चार्धेन' ये षष्ठीतत्पुरुष के उदाहरण प्रयोग किये हैं। आचार्य पिङ्गल ने भी "स्वरा अर्ध चार्यार्धम्"[४] ऐसा कहते हुए 'आर्यार्धम्' का प्रयोग किया है। 'अर्धचन्द्र', 'अर्धनरतोमादि' तो प्रसिद्ध ही हैं। "द्वितीयतृतीय०" सूत्र मे 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण करने से स्पष्ट ही षष्ठी समास की स्वीकृति आचार्य पाणिनि ने स्वय दे दी है।

किन्तु इन तीनो सूत्रों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि ये तीनो सूत्र प्रत्याख्येय नही हैं। क्योंकि इनमें प्रथम सूत्र "पूर्वापराधरोत्तर०" की तो षष्ठीतत्पुरुषसमास के निषेध प्रसङ्ग मे अनिवार्य आवश्यकता है। पूर्वकाय तो भले ही समानाधिकरण कर्मधारय से निष्पन्न हो जाये किन्तु इस सूत्र के अभाव मे 'पूर्वकाय' इस कर्मधारय के साथ साथ 'कायपूर्व' यह अनिष्ट रूप भी प्राप्त होता है। क्योंकि उक्त प्रकृत सूत्र षष्ठी तत्पुरुषसमास का अपवाद है। अत इस सूत्र के अभाव मे षष्ठीतत्पुरुषसमास की अवश्य प्राप्ति होगी। उसको रोकने के लिये सूत्र की सार्थकता बनी रहती

---

१. महा० प्र० भा० २ सू० २४२६, पृ० ८६२।

२ अभिज्ञानशाकुन्तल, १७। तुलना करो—बुद्धचरित, ३ १० 'नीलोत्पलार्धैरिव कीर्यमाणम्'।

३ कुमारसम्भव, १५०।

४. पिङ्गलछन्द सूत्र, ४ १४।

है।[1] इसीलिये शब्दकौस्तुभकार इस सूत्र के प्रत्याख्यान को उचित न समझते हुए कहते है—"इद च प्रत्याख्यान दुर्बलम्। कायपूर्व इत्यादिष्वनभिधानाश्रयण-भणितिकगतिरितिसन्प्रत्ययविशो भाष्य एवोक्तत्वात्"[2] पदमञ्जरीकार भी इसके खण्डन मे अरुचि दिखाते हुए कहते हैं—"*गौणत्वात् सामानाधिकरण्यस्य* विशेषणसमासो न किल स्यादित्यमारम्भ"।[3]

यद्यपि अनिष्ट प्रयोगो के वारण के लिये तो शेष दोनो सूत्रो की आवश्यकता नही है। क्योकि यहाँ एकदेशीसमास तथा षष्ठीतत्पुरुषसमास दोनो ही इष्ट है तथापि ये सूत्र भी रहने चाहियें। इनमे नपुसकलिङ्ग 'अर्ध' शब्द का ही एकदेशीसमास हो, पुलिंग का न हो। पुलिङ्ग का षष्ठीसमास ही हो, यह बताने के लिए "अर्धं नपुसकम्' यह सूत्र आवश्यक है।[4] इस सूत्र के अभाव मे ऐसी कोई विनिगमना न होने से सन्देह रहेगा। अत यह सूत्र भी स्थापनीय ही है।

"द्वितीयतृतीयचतुर्थ०" यह सूत्र भी एकदेशी समास, षष्ठीतत्पुरुषसमास तथा वाक्य इन तीनो के लिये आवश्यक है। क्योकि प्रकृत सूत्रस्थ 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण के बिना ये तीनो रूप नही बन सकेंगे। यदि यह कहा जाये कि ये तीनो रूप तो ऊपर से चले आ रहे महाविभाषाधिकार[5] से ही सिद्ध हो जायेंगे। अत यह सूत्र

---

१ द्र० श० कौ० भा० २, सू० २ २ १, पृ० १६३ "तथा च कायपूर्वं इति प्रयोगोऽनेन व्यावर्त्यते। पूर्वकाय इति प्रयोगस्तु पूर्वश्चासौ कायश्चेति कर्मधारयेणापि सिद्ध। समुदायेषु हि वृत्ता शब्दा अवयवेऽपि वर्तन्ते इति न्यायात् ऊर्ध्वकाय इतिवत्"। प्रस्तुत प्रसग मे नागेश का यह कथन कि 'मुनित्रयाच्चेति एव चेति सूत्रत्रयविषयेऽपि षष्ठीसमासस्य साधुत्व कर्मधारयस्य चेतिभाव" (महा० प्र० भा० २,सू० २.४ २६,पृ० ८६२) भी चिन्त्य ही मानना होगा। क्योकि ऐसा मानने पर 'पूर्वकाय' के समान 'कायपूर्व' यह षष्ठीसमास भी प्राप्त होगा जोकि इष्ट नही है। अत "पूर्वापर०"सूत्र का खण्डन युक्तिसगत नही है।

२ द्र० श० कौ० भा० २, सू० २ ४ २६, पृ० २६१।

३ प० म० सू० २ २ २।

४ भाष्य(जोशी)तत्पुरुषाह्निक,सू० २ २.२, पृ० १ के फुटनोट २ से उद्धृत "The Neuter अर्धम् means समप्रविभाग equal part or portion i e the exact half The masculine अर्ध means part 'piece, approximate half"

५ पा० २ १ ११-१२।

अनावश्यक है, यह ठीक नहीं। क्योंकि उक्त महाविभाषाधिकार से या तो षष्ठी-तत्पुरुष और वाक्य का ही विकल्प सिद्ध हो सकेगा अथवा समानाधिकरण कर्मधारय और वाक्य का विकल्प बन सकेगा। षष्ठीतत्पुरुष और समानाधिकरण इन दोनों का परस्पर विकल्प नहीं बन सकता अर्थात् इस एक विभाषा मे इतनी शक्ति नहीं है कि यह एक साथ ही दो विकल्पों का विधान करे। ऐसी स्थिति मे एक और विकल्प वाचक शब्द पढ़ना पड़ेगा। इसलिये 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण सार्थक है।[1] यदि महाविभाषाधिकार मे इतनी शक्ति मान ली जाती है कि यह एक साथ उक्त दोनो विकल्पो का विधान कर सके तो 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण व्यर्थ हो सकता है।

अथवा 'उपगारपत्यम्', 'औपगव', 'उपगवपत्यम्' यहां क्रमश वाक्य, तद्धित वृत्ति तथा समासवृत्ति की सिद्धि के लिये भाष्यकार ने जैसे दो विकल्पो का ग्रहण आवश्यक माना है,[2] वैसे ही यहाँ भी उक्त तीनो रूपो की सिद्धि के लिये महाविभाषाधिकार तथा प्रकृत 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण करना ही चाहिये। इसके अतिरिक्त "विशेष नियम सामान्य नियमो को बाध लिया करते है, जब तक वहा कोई विकल्प का वाचक शब्द न पढ़ा गया हो" इसको ज्ञापित करने के लिये भी 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण की आवश्यकता है।[3]

इसी सन्दर्भ मे व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधिकार भी इस सूत्र के प्रत्याख्यान को ठीक नहीं समझते। उनके कहने का आशय यह है कि 'भिक्षाया द्वितीयम्' यहा 'पिप्पल्या अर्धम्' की तरह या 'कायस्य पूर्वम्' की तरह षष्ठीसमास नहीं हो सकता। क्योंकि द्वितीय', 'तृतीय' ये दोनो शब्द 'तीय' प्रत्ययान्त होने से पूरणार्थक है। उनमे "पूरणगुण सुहितार्थसदव्यय"[4] से सूत्र षष्ठीसमास का निषेध

---

१ द्र० प० म० सू० २ २ ३ "नैतत् सुष्ठूच्यते, अनेनैव खलु अन्यतरस्या ग्रहणेन षष्ठीसमास प्राप्यते। कथमस्मिन् योगेऽसति भविष्यति।'

२ महा० भा० १, सू० २ २ ३, पृ० ४०८ "अस्त्यत्र विशेष। द्वे ह्यत्र विभाषे। दैवयज्ञि शौचिवृक्षि सात्यमुग्रि काण्ठेविद्धिभ्योऽन्यतरस्यामिति समर्थाना प्रथमाद्वा इति च। तत्रैकया वृत्तिविभाषापरया वृत्तिविषये विभाषापवाद" इत्यादि।

३ भाष्य(जोशी) तत्पुरुषाह्निक, सू० २ २ ३, पृ० ३६ "In other words the main purpose of अन्यतरस्याम् in P 2 2 3 is to teach us that a special rule sets aside a general rule, unless, an option word has been stated,

४ पा० २ २ ११।

हो जायेगा। यदि यह कहा जाये कि सूत्र बनाने पर भी उक्त "पूरणगुण" सूत्र से षष्ठीसमास का निषेध प्राप्त होता है तो इसका उत्तर है कि 'अन्यतरस्याम्' के ग्रहणसामर्थ्य से निषेध की प्रवृत्ति नही होगी। पक्ष मे 'भिक्षाया द्वितीयम्' इस वाक्य की सिद्धि के लिये तो 'अन्यतरस्याम्' की आवश्यकता नही है। क्योकि वह तो महाविभाषाधिकार से ही सिद्ध हो जायेगा। यदि कहो कि 'पूरणाद्भागे तीयादन्'[1] इस सूत्र से स्वार्थ मे विहित अन् प्रत्यय करने पर षष्ठीसमास का निषेध नही होगा क्याकि वह पूरणार्थक नही रहा तो यह ठीक नही है। क्योकि स्वार्थिक प्रत्यय प्रकृति के अर्थ से ही अर्थवान् होते हैं।[2] इसलिये 'अन्' प्रत्यय के स्वार्थिक होने से वह पूरणार्थक ही माना जायेगा।[3]

प्रस्तुत प्रसङ्ग मे ही भाष्यवार्तिककार द्वारा प्रस्तावित संशोधनो पर विचार करने वाले अर्वाचीन वैयाकरण सम्प्रदायो पर भी दृष्टिपात करना असमीचीन नही होगा। वहा आचार्य चन्द्रगोमी तथा पूज्यपाद देवनन्दी ने तो भाष्यकार का समर्थन करते हुए उक्त त्रिसूत्री को अपने-अपने तन्त्रो मे नही रखा प्रत्युत उनकी वृत्तियो मे इनका प्रत्याख्यान दिखाया गया है किन्तु शाकटायन, भोज तथा हैम व्याकरणो मे इन सूत्रो को ईषत् परिवर्तन एव परिवर्धन के साथ पढा गया है।[4] इसका तात्पर्य है कि ये आचार्य इन सूत्रो को प्रत्याख्येय नही समझते। ऐसी स्थिति मे समन्तात् समीक्षा करने के बाद यही कहा जा सकता है कि ये तीनो ही सूत्र आवश्यक होने से प्रत्याख्येय नही हैं॥

---

१ पा० ५ ३ ४८।

२ महा० भा० १, सू० १ १ २७, पृ० ८६ 'स्वार्थिका प्रत्यया प्रकृतितोऽविशिष्टा भवन्ति।'

३ द्र० व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि, भा० २, सू० २ २ ३, पृ० ६७५–"न च अत्रापि पूर्ववत् कर्मधारयषष्ठीसमासाभ्यां सूत्रवैयर्थ्यम्। पूरणगुणेति षष्ठीसमासनिषेधात्। न च सूत्रारम्भेऽपि तद्दोषसाम्यम्। विभाषाग्रहण-सामर्थ्यान्निषेधाप्रवृत्ते। न च पाक्षिकवाक्यार्थं तत्। महाविभाषयैव तत्सिद्धे। न च पूरणाद्भागे तीयादनिति स्वार्थे अन् प्रत्यय कृत्वा षष्ठीसमासनिषेधो नास्तीति कल्पयितु शक्यम्। स्वार्थिकानां प्रकृत्यर्थे-नार्थवत्त्वादन्नन्तस्यापि पूरणार्थत्वमिति सिद्धान्तात्"।

४ शा० सू० २ १ २५-२७ "पूर्वापराधरोत्तरमभिन्नाभिन्नेन"। "समेंऽशं" "द्वित्रिचतुर्भ्यः"।

(ख) स० सू० ३.२ १२२-१२७ "पूर्वापराधरोत्तराभ्यैकदेशिनैका-

सनाद्यन्ता धातव ॥ ३ १ ३२ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र 'धातुसञ्ज्ञा' करता है। 'सन्', 'क्यच्', 'काम्यच्' इत्यादि प्रत्यय हैं अन्त में जिनके ऐसे शब्द समुदायो की 'धातुसञ्ज्ञा' होती है। एक 'धातुसञ्ज्ञा' तो "भूवादयो धातव "[1] इस सूत्र से धातुपाठ मे पठित 'भू' आदि क्रियावाची शब्दो की होती है। दूसरी 'धातुसञ्ज्ञा' यह है जो सनादि प्रत्ययान्तो की होती है। 'सन्' आदि प्रत्यय १२ हैं। तद्यथा—'सन्', 'क्यच्', 'काम्यच्', 'क्यङ्', 'क्यष्', 'आचारक्विप्', 'णिच्', 'यङ्', 'यक्', 'आय', 'ईयङ् और 'णिङ्'[2]। इन प्रत्ययो के विधायक सूत्र ये हैं — 'सन्' —"गुप्तिज्किद्भ्य सन्"[3], "मान्बधदान् शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य"[4] "धातो कर्मण समानकर्तृकादिच्छाया वा"[5]। 'क्यच्'— "सुप आत्मन क्यच्"[6]। 'काम्यच्'— "काम्यच्च"[7]। 'क्यङ्'— "कर्तु क्यङ् सलोपश्च"[8] इत्यादि। 'क्यष्' — "लोहितादिडाज्भ्य क्यष्"[9]। 'आचारक्विप्'— "सर्वप्रातिपदिकेभ्य आचारे क्विब् वक्तव्य "[10]। 'णिच्'—मुण्डमिश्रश्लक्ष्णलवण-

धिकरणे"। 'सायाह्न मध्याह्न मध्यन्दिन मध्यरात्रादय'। 'अर्धं समप्रविभागे वा"। 'अर्धजरतीयार्धवैशसार्धोक्तिादय'। 'द्वितीय तृतीय चतुर्थ तुर्य तुरीय तलाग्रादयश्च' ॥

(ग) है० सू० ३ १ ५२-५६ 'पूर्वापराधरोत्तरमभिन्नेनाशिना'। 'सायाह्नादय'। "समे शेर्ध न वा"। 'जरत्यादिभि'। 'द्वित्रि चतुष्पूरणाग्रादय" ॥

१. पा० १ ३ १।

२ द्र० त० बो० प्रकृत सूत्र, इनका सग्रहश्लोक भी प्रसिद्ध है—

"सन् क्यच् काम्यच् क्यङ् क्यषोऽथाचारक्विप् णिज्यङो तथा।
यगायेयङ् णिङश्चेति द्वादशामी सनादय"

३ पा० ३ १ ५।

४ पा० ३ १ ६।

५ पा० ३ १ ७।

६ पा० ३ १ ८।

७ पा० ३ १ ९।

८ पा० ३ १ ११

९ पा० ३ १ १३।

१० पा० ३ १ ११ पर वार्तिक।

सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेना लोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यो णिच्" "हेतुमति च"। 'यङ्'— "धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्" "नित्यं कौटिल्ये गतौ" "लुप सद चर जप जभ दह दश गृभ्यो भावगर्हायाम्"। 'यक्'— "कण्ड्वादिभ्यो यक्"। 'आय'— "गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः"। 'ईयङ्'— "ऋतेरीयङ्"। 'णिङ्'— "कमेर्णिङ्"।

इनके कुछ उदाहरण ये हैं— जुगुप्सते'। 'मीमांसते' 'चिकीर्षति'। पुत्रीयति'। 'पुत्रकाम्यति'। 'श्येनायते'। 'कामयते' इत्यादि। जुगुप्सते' में "गुप्तिज् किद्भ्यः सन्" से स्वार्थ में सन्' प्रत्यय होता है। सन्नन्त 'जुगुप्स' की इस सूत्र से 'धातुसंज्ञा' हो जाती है। उससे लट् आत्मनेपद त प्रत्यय, टेरेत्व और शप्' होकर 'जुगुप्सते' बन जाता है। 'मीमांसते' मे 'मान्' धातु से "मान् बध दान् शान्भ्यः" इस उक्त सूत्र के द्वारा स्वार्थ में 'सन्' प्रत्यय होकर 'मीमांस' बन जाता है। सन्नन्त 'मीमांस' की इस सूत्र से 'धातु संज्ञा' होकर लट् आत्मनेपद आदि हो जाते हैं 'चिकीर्षति' में 'कर्तुमिच्छति' इस अर्थ में कृ' धातु से "धातोः कर्मणः" इस उक्त सूत्र से 'सन्' प्रत्यय होता है। सन्नन्त 'चिकीर्ष' की इस सूत्र से धातुसंज्ञा' होकर लट्, परस्मैपद, 'तिप्', शप्' आदि हो जाते हैं। 'पुत्रीयति' में 'पुत्रमात्मनः इच्छति' इस अर्थ में 'पुत्रम्' सुबन्त से "सुप आत्मनः क्यच्" से क्यच्' प्रत्यय होता है। क्यजन्त 'पुत्रीय' शब्द की प्रकृत सूत्र से 'धातुसंज्ञा' होकर लट्, 'तिप्', शप्' हो जाते हैं। इसी प्रकार 'पुत्रकाम्यति' में 'काम्यच्' प्रत्यय है। 'श्येन इवाचरति श्येनायते' यहाँ 'श्येन' शब्द से "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" से 'क्यङ्' प्रत्यय होता है। 'श्येनाय' इस क्यङन्त की इस सूत्र से 'धातुसंज्ञा' होकर लट्, 'त' प्रत्यय' टेरेत्व और 'शप्' हो जाता है। 'कामयते' में 'कम्' धातु से स्वार्थ में "कमेर्णिङ्" से

१ पा० ३ १ २१।
२ पा० ३ १ २५।
३ पा० ३ १ २६।
४ पा० ३ १ २२।
५ पा० ३ १ २३।
६ पा० ३ १ २४।
७ पा० ३ १ २७।
८ पा० ३ १ २८।
९ पा० ३ १ २९।
१० पा० ३ १ ३०।

'णिङ्' प्रत्यय होता है। 'कामि' इस णिङन्त की इस सूत्र से 'धातुसज्ञा' होकर लडादि हो जाते है।

सूत्र मे 'अन्त' ग्रहण इसलिये किया है कि 'सनादि' प्रत्ययान्ता की 'धातुसज्ञा' हो, केवल 'सनादि' प्रत्ययो की न हो। अन्यथा "सज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहण नास्ति"[1] इस परिभाषा के वचन से प्रत्ययो की सज्ञा करने मे तदन्तविधि नही होती। 'सनादि' भी प्रत्यय हैं। उनकी 'धातुसज्ञा' करने मे तदन्तविधि प्राप्त नही थी अत 'अन्त' ग्रहण किया है। जैसे 'सुप्तिडन्त पदम्'[2] सूत्र मे 'अन्त' ग्रहण करने से सुबन्त तिङन्त शब्दो की पदसज्ञा होती है, केवल 'सुप्' 'तिङ' प्रत्ययो की नही। "भूवादयो धातव"[3] के बाद "सनाद्यन्ताश्च" ऐसा सूत्र तो नही बनाया। उससे १२ 'सनादि' प्रत्ययो का निर्धारण कैसे होता? वह पहले अध्याय का सूत्र है। 'सनादि प्रत्यय' तीसरे अध्याय मे आते हैं। हा, "सनाद्यन्ता धातव" इस सूत्र के बाद "भूवादयश्च" ऐसा सूत्र तो बनाया जा सकता है। वह आचार्य ने नहीं बनाया, यही बात है।[4] उसमे एक 'धातु' ग्रहण की बचत हो जाती है।

स्थानिवद्भाव द्वारा अन्यथासिद्धि होने से सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र के प्रत्याख्यान मे वार्तिककार सर्वथा मौन हैं। केवल भाष्यकार ही इसका खण्डन करते हुए कहते है—"किमर्थं पुनरिदमुच्यते, न भूवादयो धातव इत्येव सिद्धम्। न सिध्यति। पाठेन धातुसज्ञा क्रियते। न चेमे तत्र पठ्यन्ते। कथं तर्ह्येषामपठ्यमानाना धातुसज्ञा भवति—'अस्तेर्भूः, ब्रुवो वचि, चक्षिङः ख्याञ्' इति। यद्यप्येते तत्र न पठ्यन्ते, प्रकृतयस्त्वेषा पठ्यन्ते। तत्र स्थानिवद्भावात् सिद्धम्। इमेऽपि तर्हि यद्यपि तत्र न पठ्यन्ते येषा त्वर्थे आदिश्यन्ते ते तत्र पठ्यन्ते। तत्र स्थानिवद्भावात् सिद्धम्। न सिध्यति। आदेश स्थानिवदित्युच्यते। न चेमे आदेशा। इमेऽप्यादेशा। कथम्। आदिश्यते य स आदेश। इमेऽप्यादिश्यन्ते। एवमपि षष्ठीनिर्दिष्टस्यादेशा स्थानिवद् भवन्तीत्युच्यते। न चेमे षष्ठीनिर्दिष्टस्यादेशा। षष्ठीग्रहण निवर्तयिष्यते। यदि निवर्तते अपवादे उत्सर्गकृत प्राप्नोति। कर्मण्यण्, आतोऽनुपसर्गे क इति केऽपि अण्कृत प्राप्नोति। नैष दोष। आचार्य-

---

१ परि० सं० २७।
२ पा० १।४।१४।
३ पा० १।३।१।
४ द्र० श० कौ० प्रकृत सूत्र, पृ० ३६५ "सनाद्यन्ता इत्यस्यानन्तर भूवादयश्च इति सूत्रयितुमुचित तथा न कृतमित्येव"।

प्रवृत्तिर्शापयति नापवादे उत्सर्गकृत भवतीति यदय श्यन्नादीन् कांश्चित् शित करोतिश्यन्, श्नम्, श्ना, श्नुरिति।"[1]

इसका भाव यह है कि यह सूत्र क्यों बनाया है जबकि "भूवादयो धातव"[2] इस 'धातुसंज्ञाविधायक' सूत्र से ही 'सनादि' प्रत्ययान्तों की भी 'धातुसंज्ञा' सिद्ध हो सकती है। यहां यह कहना कि वह सूत्र तो धातुपाठ मे पठितों की ही 'धातुसंज्ञा' करता है। ये 'सनादि' प्रत्ययान्त शब्द तो धातुपाठ मे पढे नहीं गये अतः वह सूत्र पर्याप्त नहीं है, ठीक नहीं। क्योंकि फिर तो यह भी पूछा जा सकता है कि अन्य अपठित "अस्तेर्भू", "ब्रुवो वचि", "चक्षिङः ख्याञ्"[3] इत्यादि सूत्रविहित 'भू' 'वच्' 'ख्याञ्' आदि की 'धातुसंज्ञा' कैसे होगी। यदि यह कहा जाये कि यद्यपि 'भू' -'वच्'-'ख्याञ्' ये आदेश धातुपाठ मे पठित नहीं हैं तो भी इनकी प्रकृतियां 'अस्' 'ब्रू', 'चक्षिङ्' तो धातुपाठ मे पठित ही हैं। वहां स्थानिवद्भाव से आदेशभूत इनकी भी 'धातुसंज्ञा' हो जायेगी तो वही बात यहां भी है। यद्यपि ये 'सनादि' प्रत्ययान्त शब्द धातुपाठ मे नहीं पढे गये हैं तो भी जिनके अर्थ मे इनका विधान है, वे प्रकृतियां तो धातुपाठ मे पढी ही गई हैं। इच्छा मे 'सन्' होना है वह 'इष्' धातु धातुपाठ मे पठित ही है। सुबन्त से विहित 'क्यच्' मे भी 'इष्' धातु का इच्छा अर्थ ही प्रधान है। इसलिए वहां भी 'इष्' धातु ही स्थानी होगी, सुबन्त नहीं तो 'पुत्रीय' की धातुसंज्ञा बन जायेगी।

आचार मे 'क्यच्', 'क्यङ्' होते हैं। वह 'चर' धातु धातुपाठ मे पठित ही है। भृशादि लोहितादियों से 'भवति' के अर्थ मे 'क्यङ्', 'क्यष्' होते हैं वह 'भू' धातु धातुपाठ मे पठित ही है। 'कष्ट' से 'क्रमण' अर्थ मे, 'शब्द', 'वैरादि', से 'करने अर्थ मे 'क्यङ्' होता है, वह 'क्रम्' और 'कृ' धातु धातुपाठ मे पठित ही हैं। 'पुच्छादि' शब्दों से 'उदसनादि' अर्थ मे 'णिङ्' होता है वह 'असु क्षेपणे' इत्यादि धातु धातुपाठ मे पठित ही है। 'वाष्प', 'ऊष्म' शब्दों से 'उद्वमन' अर्थ मे 'क्यङ्' होता है, वह 'वम्' धातु धातुपाठ मे पठित ही है। 'नमस्,' 'वरिवस्', 'चित्र,' 'मुण्ड', 'मिश्र' आदि शब्दों से 'करने' अर्थ मे क्रम मे 'क्यच्' और 'णिच्' प्रत्यय होता है। वह 'कृ' धातु धातुपाठ मे पठित ही है। 'गुप्', 'तिज्', 'कित्', 'गुपू', 'धूप' आदि से जो स्वार्थिक प्रत्यय 'सन्,' 'आय' आदि होते हैं, उनका अपना

---

१ महा० भा० २, सू० ३ १ ३२, पृ० ४२।
२ पा० १.३.१।
३ पा० २ ४ ५२, ५३, ५४।

निन्दा, रक्षण आदि अर्थ धातुपाठ मे पठित ही है। एकाच् हलादि धातु से विहित 'यङ्' प्रत्यय के क्रिया समभिहार अर्थवाली 'ह' धातु धातुपाठ मे पठित ही हैं। इस प्रकार सभी १२ सनादि प्रत्ययान्तो के अर्थ धातुपाठ मे पठित होने से तत्तदर्थ वाचक धातुत्व स्थानिवद्भाव से इनमे भी आ जायेगा तो "भूवादि" सूत्र से ही 'धातुसज्ञा' सिद्ध हो जाने पर यह सूत्र व्यर्थ हो जाता है।

यदि यह कहा जाये कि तब भी बात नही बनती। क्योकि आदेश स्थानीवत् होता है और वह षष्ठीविभक्ति का जहा निर्देश है उसके स्थान मे होता है। यहा 'इच्छादि' अर्थ मे होने वाले 'सन्' आदि आदेश नही हैं किन्तु प्रत्यय हैं और न इनमे षष्ठीविभक्ति के निर्देश द्वारा आदेश विधान का कोई लक्षण है। ऐसी अवस्था मे स्थानिवद्भाव कैसे होगा तो इसका उत्तर है कि आदेश के लिये यह कोई आवश्यक नही कि वह षष्ठीविभक्तिनिर्दिष्ट के स्थान मे हो। 'आदिश्यते य स आदेश' इस यौगिक व्युत्पत्ति से जो भी आदिष्ट या निर्दिष्ट किया जाये वही आदेश है। जब ये 'इच्छादि' अर्थ मे आदिष्ट किये हैं तो ये भी आदेश ही हैं। आनुमानिक भी तो आदेश होता है। जैसे—"एरु"[1] यहा प्रत्यक्ष तो 'ए' इस षष्ठी के स्थान मे 'उ' आदेश का विधान है किन्तु अप्रत्यक्षत 'तेस्तु' से तात्पर्य है। 'ति' के स्थान मे 'तु' आदेश का विधान अनुमान से किया जाता है। तभी तो 'पचति' मे 'ति' के स्थान मे होने वाले 'तु' आदेश से 'पचतु' यह तिङन्त पद बनता है। अन्यथा केवल 'ति' की 'इ' के स्थान मे 'उ' आदेश मानने से 'पचतु' की पदसज्ञा नही बन सकती। इसलिये षष्ठी निर्देश के बिना भी आदिष्ट होने से ये 'सनादिप्रत्ययान्त' शब्द स्थानिवद्भाव से धातुसज्ञक हो जायेंगे। इसमे कोई बाधा नहीं उपस्थित होती। 'चिकीर्ष' मे 'कर्तुमिच्छति' इस करणेच्छा वाली 'इष्' धातु के स्थान मे 'चिकीर्ष' आदेश कल्पित कर लिया जायेगा। करणेच्छा युक्त 'इष्' 'चिकीर्ष' की स्थानी होगी। 'जिहीर्ष' मे हरण इच्छा वाली 'इष्' धातु स्थानी होगी। 'पुत्रीय' मे सुबन्त पुत्रकर्मक इच्छा वाली 'इष्' धातु स्थानी होगी। इसी तरह सब मे समझना चाहिये। इसलिये अन्यथासिद्ध होने से यह सूत्र व्यर्थ ही है। इसीलिए आचार्य चन्द्र, शाकटायन तथा हैमचन्द्र ने अपने व्याकरणो मे प्रस्तुत सूत्र को नही रखा है। केवल 'सन्', 'क्यच्' 'काम्यच्' आदि प्रत्ययों का वर्णन किया है।

समीक्षा एव निष्कर्ष

यहा पर भाष्यकार ने सनादिप्रत्ययान्त शब्दो की स्थानिवद्भाव से 'धातुसज्ञा'

१ पा० ३४८६।

सिद्ध करके इस सूत्र का खण्डन कर दिया है। इच्छादि अर्थ मे होने वाले 'सन्' आदि प्रत्ययो का स्थान्यादेशभाव कैसे होता है यह भी दिखाया जा चुका है।[1] प्रश्न केवल इतना ही है कि इस सूत्र के बिना सनाद्यन्त शब्दो की 'धातुसज्ञा' कैसे बनेगी। क्योकि "सज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहण नास्ति" इस परिभाषा के वचन मे प्रत्यया की सज्ञा करने मे तदन्तविधि नहीं होती है। तदादिविधि तो होती है। इसीलिए 'देवदत्तश् चिकीर्षति' मे देवदत्तसहित को सन्नन्त नहीं माना जाता अपितु जिससे सन प्रत्यय किया है वह 'कृ' धातु है आदि मे जिसके ऐसा 'चिकीर्ष' शब्द ही सन्नन्त है। अङ्गसज्ञा भी 'सन् परे रहते 'कृ' की ही होती है। उससे 'दवदत्त प्राचिकीर्षत्' यहा चिकीर्ष' के अङ्ग होने से उसी से पूर्व अडागम होता है, देवदत्त से पूर्व नहीं। उक्त परिभाषा का फल यह है कि "तरप्-तमपौ घ"[2] यह 'घ' सज्ञा केवल 'तरप्' 'तमप्' प्रत्ययो की होती है, तरबन्त तमबन्त की नहीं। इसलिये 'कुमारी गौरितरा' यहा गौरितरा' के तरबन्त न होने से 'घ रूप कल्पचेलड्'[3] सूत्र से कुमारी' शब्द को ह्रस्व नहीं होता। केवल 'तरप्' की 'घसज्ञा' होने से उसके परे रहते 'गौरी' शब्द को ह्रस्व हो जाता है। उक्त परिभाषा से यहा भी तदन्त ग्रहण का निषेध होकर केवल 'सन्' आदि प्रत्ययो की ही 'धातुसज्ञा' प्राप्त होती है, 'सनाद्यन्त' की नहीं। उससे 'सन्' आदि से पूर्व ही अङ्गसज्ञा प्रयुक्त अडादि प्राप्त होंगे, सन्नन्त से पूर्व नहीं, यह दोष

---

१ वस्तुत सस्कृत वैयाकरण एक शब्द से अन्य शब्द की परमार्थत उत्पत्ति मानते ही नहीं। उनके अनुसार 'पा' धातु से 'सन्' प्रत्यय होकर 'पिपास' नाम का सन्नन्त धातु नहीं बनता अपितु जैसा 'पा' एक स्वतन्त्र धातु है वैसा 'पिपास' भी है। केवल शब्दार्थ सादृश्य के कारण लाघव करने के लिये एक से अन्य का उद्भव शब्दशास्त्र मे दिखाया जाता है। दरअसल शब्दो के अपने-अपने प्रयोग के विषय निश्चित होते हैं। जैसे 'क्रोष्टृ' और 'क्रोष्टु', पाद' और 'पद', 'अस्' और 'भू' तथा 'ब्रू' और 'वच्' आदि के अपने-अपने प्रयोगक्षेत्र निश्चित हैं। उन-उन अर्थों मे उनका अभिधान है, शास्त्र तो केवल उनका अन्वाख्यान या अनुमोदन करता है, ऐसे ही 'पा' और पिपास' भी अपने-अपने निश्चित प्रयोगक्षेत्र वाले स्वतन्त्र शब्द हैं। भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी यह मार्ग न्याय्य है। इसे ही प्राचीन वैयाकरणाचार्य 'बुद्धिविपरिणाम' कहते हैं।

२ परि० सं० २७।

३ पा० १.१ २२।

४ पा० ६ ३ ४३।

आता है। साथ ही "गुपूधूप०"[1] इत्यादि से शुद्ध स्वार्थ में होने वाले 'आयादि' प्रत्ययों का कौन स्थानी होगा जिसकी निवृत्ति करके उसके प्रसङ्ग में 'आयादि' होवें। इन आक्षेपों का समाधान करने के लिये भाष्यकार के प्रति भक्त्यतिशय दिखाते हुए प्रदीपकार कैयट कहते हैं—'कर्तुमिच्छतीति करणाद्धे इत्यर्थे वर्तमानस्य इषे प्रसङ्गे सर्वे सर्वपदादेशा इति न्यायात् चिकीर्ष शब्द सन्नन्त आदिश्यते इति सिद्ध तद तस्य धातुत्वम्। एव समभिहारविशिष्टलवनक्रियावाचि लू शब्दप्रयोगप्रसङ्गे लोलूयशब्द आदिश्यते, गुप प्रसङ्गे गोपाय इति भगवतो भाष्यकारस्याभिप्राय"।[2] इसका तात्पर्य प्रत्याख्याननिरूपण में प्रकट कर दिया गया है। शब्दकौस्तुभकार भी भाष्यकारोक्त सूत्र के प्रत्याख्यान का समर्थन करते हुए कहते हैं—"न च पुत्रीयादिरादेश सुबन्तस्यैव न त्विषेरिति वाच्यम, अणुरपि विशेषोऽध्यवसायकर इतिन्यायेन प्रधान समर्पकस्य इषेरेव तदभ्युपगमात्। वाक्यप' इत्यादि लिङ्गैरपि धातुत्वस्यावश्यकत्वे स्थिते तन्निर्वाहाय इच्छायामाचारे भुवि इत्यादि क्रियासमर्पकाणामेव स्थानित्वनिर्णयाच्च[3]"। अर्थात् "वा क्यष"[4] इत्यादि लिङ्गों से भी 'क्यष्' आदि प्रत्ययान्तों की 'धातुसञ्ज्ञा' होती है और उसम 'इच्छायाम्', 'आचारे', 'भुवि' इत्यादि क्रियासमर्पक शब्द ही स्थानी बन सकते हैं, यह ज्ञापित होता है। किन्तु उद्द्योतकार नागेश तो इस प्रकार को एकदेशी की उक्ति मानते हैं। उनकी दृष्टि में स्थानिवद्भाव से 'धातुसञ्ज्ञा' नहीं सिद्ध हो सकती है। अत यह सूत्र सनाद्यन्तों की 'धातुसञ्ज्ञा' के लिए आवश्यक है।[5]

इस विषय में दो प्रकार के उदाहरण शास्त्र में मिलते हैं। प्रत्ययान्तों को मूलप्रकृति भी माना जाता है और नहीं भी। "उपसर्गात् सुनोति०"[6] सूत्र से जहा 'अभिषुणोति' यहा 'सु' धातु को षत्व होता है वहा 'अभिषावयति' यहा णिजन्त 'सावि' को भी षत्व हो जाता है। 'सावि' को भी मूल 'सु' ही समझकर तत्प्रयुक्त काम हो गया। "हेरचडि"[7] से जहा 'जिघीषति' यहा 'हि' धातु को कुत्व होता है

---

१ पा०३ १ २८।

२ महा० प्र० सू० ३ १ ३२ भा० ३ पृ० १०६।

३ श० कौ० सू० ३ १ ३२, पृ ३६६।

४ पा० १ ३ ९०।

५ प्रकृत सूत्रस्य महा० प्र० उ० भा०३, पृ० १०६ 'भगवतो भाष्यकारस्येति—एकदेशिन इति शेष अनेन इमेऽपि तर्हि यद्यपि इत्यादि भाष्यग्रन्थ एकदेशिन उक्तिप्रत्युक्तिपरतया प्रौढिवाद एव इति ध्वनितम्'।

६ पा० ८ ३ ६५।

७ पा० ७ ३ ५६।

वहां 'जिघायंषिपति' यहा 'हापि' इस णिजन्त को भी हो जाता है। परिभाषा भी है— प्रकृतिग्रहणे ण्यधिकस्यापि ग्रहणम्"।[1] 'हापि' यह णिजन्त भी 'हि' धातु ही है। इसी तरह गोपाय भी गुप् है। 'लोलूय' भी 'लू' है। 'चिकीर्ष' भी 'कृ-इष' है। 'पुत्रीय' भी 'पुत्र-इय' है इत्यादि। सन्' आदि णिङन्त' प्रत्ययान्त शब्द भी मूल धातु ही बन जाते हैं। इसके विपरीत 'न भा भू पू कमि०"[2] सूत्र मे 'भा', 'भू' आदि धातुओ से णिजन्तो का ग्रहण न प्राप्त होने पर ण्यन्तभादीनामुपसंख्यानम्"[3] इस वार्तिक से उनका उपसंख्यान करना पडा है। उससे प्रभानीयम्' के समान प्रभापनीयम् मे णत्व निषेध हो जाता है। वस्तुत सनादि प्रत्ययान्तो की धातुसंज्ञा करने के लिये यह सूत्र रहना ही चाहिये। अन्यथा पुत्रीय' आदि की 'धातुसंज्ञा' के बोध मे क्लिष्टता रहेगी। इसीलिये अर्वाचीन वैयाकरण पूज्यपाद देवनन्दी ने प्रकृत पाणिनीय सूत्र का प्रतिरूप स्थानापन्न "तदन्ता धव"[4] यह सूत्र बनाया है। ऐसी स्थिति मे प्रकृत सूत्र का अन्वाख्यान न्याय्य ही है॥

---

१ परि०स०९१।
२ पा०८४३४।
३ पा०८४३४ पर वार्तिक।
४ जै०सू०२ १ २९। जैनेन्द्र व्याकरण मे धातु को 'धु' शब्द से व्यवहृत किया गया है।

द्वितीय अध्याय

(परिभाषा सूत्रों का प्रत्याख्यान)

(न धातुलोप आर्धधातुके ॥१ १ ४॥)

सूत्र का प्रतिपाद्य

पाणिनि ने उक्त सूत्र गुणवृद्धि के निषेध के लिए बनाया है। गुणवृद्धि स्थलो मे इक्पदोपस्थितिविधायक "इको गुणवृद्धि"[1] इस पूर्ववर्ती परिभाषासूत्र का यह निषेध नही करता अपितु धातु के एकदेश या अवयव के लोप के निमित्त आर्धधातुक प्रत्यय परे रहने पर इग्लक्षण गुणवृद्धि का निषेध करता है। इक् परिभाषा प्रोक्त इक् पदोपस्थिति का निषेध मानने पर तो 'वेभिद', 'मरीमृज' इत्यादि मे 'दकार और जकार' व्यञ्जनो को गुण प्राप्त होने लगेगा और 'लोलुव' 'पोपुव' इत्यादि मे गुण का निषेध न होकर सर्वथा गुण प्राप्त होगा।

यहा 'धातु' शब्द धातु के एकदेश या अवयव मे लाक्षणिक है। क्योकि पूरे धातु का लोप होने पर तो गुणवृद्धि का प्रसग ही नही। यद्यपि 'दूरम्' यहा पूरे धातु का लोप भी सम्भव है। क्योकि 'दुर्' उपसर्ग पूर्वक 'इण्गतौ' धातु से "दुरीणो लोपश्च"[2] इस औणादिक सूत्र द्वारा 'रक्' प्रत्यय और 'इण्' धातु का लोप हो जाता है। "रोरि"[3] से 'रेफ' का लोप तथा "ढ्रलोपे पूर्वस्याणो दीर्घ"[4] सूत्र से पूर्व 'अण्' को दीर्घ होकर 'दूरम्' निष्पन्न होता है। 'दु खेन ईयते प्राप्यते इति दूरम्'। तथापि यहाँ किसी भी प्रकार की गुण या वृद्धि की प्राप्ति न होने से निषेध करना व्यर्थ है। इसलिए 'धातु' शब्द की धातु के अवयव या एदेकश मे लक्षणा मानी जाती है।

'धातुलोप' शब्द मे बहुव्रीहिसमास है। और यह 'आर्धधातुक' का विशेषण है। 'धातो लोपो यस्मिन्' अर्थात् धातु या धात्वेकदेश का लोप हुआ है जिस आर्धधातुक के परे होने पर वह 'आर्धधातुक धातुलोप' है—इस

---

१ पा० १.१ ३।
२ उणादि, २ १७७।
३ पा० ८ ३ १४।
४ पा० ६ ३ १११।

प्रकार बहुव्रीहि समास मानने पर लोप और गुणवृद्धि दोनो का एक आर्धधातुक प्रत्यय निमित्त होगा तो गुणवृद्धि का निषेध यह सूत्र करेगा अन्यथा नही। 'धातोलोपो धातुलोप' इस प्रकार षष्ठीतत्पुरुष समास मानने पर तो लोप और गुणवृद्धि दोनो का एक आर्धधातुक प्रत्यय निमित्त नही बनता। इसलिए बहुव्रीहि समास को माना जाता है।

सूत्र मे 'धातु' ग्रहण इसलिये किया है अनुबन्ध या प्रत्यय का लोप होने पर गुण वृद्धि का निषेध न हो। अनुबन्ध' लोप यथा—'लूञ्', 'लविता'। लवितुम्'। यहा 'लूञ्' के ञकार' अनुबन्ध का लोप हुआ है। वह धातु नही है क्योंकि क्रियावाचित्व केवल लू मे होने से वही धातु है।[1] इसलिए 'लविता' आदि मे गुण का निषेध नहीं होता।

'प्रत्यय' लोप—'रेट्'। 'रिषतीति रेट्'।

यहा 'रिष' धातु से "अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते"[2] सूत्र से विच्' प्रत्यय हुआ है। 'विच्' का सर्वापहारी लोप हो जाता है।[3] उसको प्रत्यय-लक्षण मान कर[4] लघूपध गुण[5] होता है यहाँ 'विच्' प्रत्यय का लोप हुआ है धातु का नही। इसलिये यहाँ गुण का निषेध नही हुआ।

'आर्धधातुक' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते गुणवृद्धि का निषेध न हो। जैसे—'रोरवीति' यहा यङ्लुगन्त 'रु' धातु मे 'तिप्' प्रत्यय सार्वधातुक परे है। इसलिये सार्वधातुक गुण का निषेध नहीं हुआ।

इस प्रकार उक्त सूत्र का अर्थ हुआ कि जिस आर्धधातुक प्रत्यय के परे रहने पर धातु के अवयव का लोप हुआ है, उसी आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मानकर प्राप्त होने वाले इग्लक्षण गुणवृद्धि नही होते। यहा धातु के अवयव का लोप तथा गुणवृद्धि की प्राप्ति दोनो एक ही आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मानकर होने चाहियें। किन्तु जब धातु के अवयव का लोप तो किसी अन्य को निमित्त मानकर हुआ हो तथा गुणवृद्धि किसी अन्य आर्धधातुक को निमित्त मानकर प्राप्त हो तब इस सूत्र की प्रवृत्ति न होकर गुणवृद्धि का निषेध प्रकृत सूत्र न कर सकेगा। जैसे—'भेद्यते', 'छेद्यते' आदि हैं। यहां णिजन्त 'भिद्', 'छिद्' धातुओ से 'यक्'

---

१ द्र०महा०भा०१, सू०१ ३ १,पृ०२५४, "क्रियावचनो धातु।"
२ पा०३ २ ७५।
३ पा०६ १ ६६ 'वेरपृक्तस्य।"
४ पा०१ १ ६२ "प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्।"
५ पा०७ ३ ८६'पुगन्तलघूपधस्य च'।

प्रत्यय हुआ है। धातु के अवयव 'णिच्' का लोप[1] तो 'यक' प्रत्यय को मानकर हुआ है और गुण[2] 'णिच्' प्रत्यय को मानकर हुआ है अत दोनो के भिन्न निमित्त होने के कारण उक्त सूत्र से लघूपध गुण का निषेध नही होता। इसके अतिरिक्त गुणवृद्धि भी इग्लक्षण ही होने चाहियें अर्थात् जहा "इको गुणवृद्धि" इस परिभाषा की प्रवृत्ति से गुण वृद्धि प्राप्त हो तो वही यह सूत्र गुणवृद्धि का निषेध करता है, अनिग्लक्षण मे नही।[3] जैसे—'राग', 'अभाजि' आदि है। यहा 'रञ्ज्' तथा 'भञ्ज्' आदि धातुओ के 'नकार' का लोप होने पर क्रमश घञ्[4] और 'णिच्' प्रत्यय परे रहते "अत उपाधाया"[5] सूत्र से उपधालक्षण वृद्धि हो जाती है। क्योकि वह इग्लक्षणा वृद्धि नहीं है अपितु उपधाभूत अकारलक्षणा वृद्धि है। अत इस सूत्र से उस वृद्धि का निषेध नहीं होता।

सूत्र के उदाहरण इस प्रकार हैं—'लोलुव', 'पोपुव' 'मरीमृज' इत्यादि। इन प्रयोगो मे गुणवृद्धि का निषेध ही इसका प्रयोजन है। तद्यथा—'पुन पुन लुनाति इति लोलुव'। 'पुन पुन पुनाति इति पोपुव'। 'पुन पुन मार्ष्टि इति मरीमृज'। यहा 'लोलूय', 'पोपूय' तथा 'मरीमृज्य' इन यङन्त धातुओं मे "पचाद्यच्"[6] प्रत्यय करने पर "यडोऽचि च"[7] सूत्र से परे 'यङ्' प्रत्यय का (य्+अ = अच् हल सहित पूरे 'य' समुदाय का) लुक् हो जाता है। 'अच्' प्रत्यय को मानकर धातु के अवयव 'य' का लुक् (लोप) हुआ है तथा उसी 'अच्' प्रत्यय को निमित्त मानकर सार्वधातुक गुण[8] तथा "मृजेर्वृद्धि"[9] से वृद्धि प्राप्त होती है। उन दोनों का इस सूत्र से निषेध हो गया तो 'लोलुव', पोपुव' मे 'उवङ्' होकर इष्ट रूप बन जाता है। 'मरीमृज' मे भी वृद्धि का निषेध होकर 'मरीमृज' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हो जाता

---

१ पा० ६ ४ ५१ "णेरनिटि"।
२ पा० ७ ३ ८६ "पुगन्तलघूपधस्य च"।
३ द्र० महा० भा० १, सू० ११४, पृ० ५१ 'इक्प्रकरणान्नुम्लोपे वृद्धि'।
४. (क) पा० ३ ४ २७ 'घञि च भावकरणयो'।
(ख) पा० ६ ४ ३३ 'भञ्जेश्च चिणि'।
५. पा० ७ २ ११६।
६ पा० ३ १ १३४ "नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यच।"
७ पा० २ ४ ७४।
८. पा० ७ ३ ८४ 'सार्वधातुकार्धधातुकयो'।
९ पा० ७ २.११४।

है। 'अच्' प्रत्यय आर्धधातुक है। उसको निमित्त मानकर धातु के अवयव का लोप हुआ है और उसी को निमित्त मानकर इग्लक्षण गुणवृद्धि प्राप्त होते है, जिनका निषेध उक्त सूत्र से होता है। यही इस सूत्र का प्रयोजन है।

स्थानिवद्भाव द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

भाष्यकार तथा वार्तिककार दोनों ने इस सूत्र के प्रयोजन को अन्यथा सिद्ध करके इस सूत्र का खण्डन कर दिया है। इन्होंने स्पष्ट ही कहा है—

"अनारम्भो वा। अनारम्भो वा पुनरस्य योगस्य न्याय्य"।[1] इनके अनुसार 'लोलुव' 'पोपुव' 'मरीमृज' इत्यादि जो, इस सूत्र के प्रयोजन है वे इस सूत्र के बिना भी सिद्ध किये जा सकते है। क्योंकि 'लोलुव' इत्यादि मे यङ् प्रत्यय के पूरे अच् हल् समुदाय सहित 'य' (य्+अ) का लुक् न मानकर यदि 'अतोलोप'[2] से केवल यकारान्तवर्ती अकार' का लोप माना जाये तथा शेष 'य' शब्द का यङोऽचि च" से लुक् स्वीकार किया जाये तब उस अवस्था मे 'अकार' का लोप 'अच्' के स्थान मे आदेश हो जाएगा तो "अच परस्मिन्पूर्वविधौ" सूत्र से उस 'अकार लोप' को स्थानिवद्भाव मानकर उसका व्यवधान हो जाने से सार्वधातुक गुण तथा "मृजेर्वृद्धि" दोनों की ही प्राप्ति नहीं होगी। 'स्थानिवद्भाव' एक सुगम उपाय है जो अभीष्ट प्रयोगों का साधक है। अच् हल् सहित पूरे 'य' शब्द का लोप तो केवल अच्' के स्थान मे आदेश न होने से स्थानिवद्भाव' का विषय नहीं बनता इसलिए उसे अजादेश बनाने के लिए 'यङ्' के 'अकार' का लोप और 'य्' का लोप पृथक्-पृथक् मानना चाहिये। उससे कहीं पर दोष नहीं आता।

यहां यह कहना भी उचित नहीं कि "यङोऽचि च" तो पूरे 'य' शब्द का एक साथ लोप करने के लिए बनाया है वह अनवकाश होने के कारण "अतोलोप" को बाध लेगा। क्योंकि "यङोऽचि च" को बाधने के लिए "अतोलोप" "यस्य हल"[3] इन आगे आने वाले सूत्रों मे 'यस्य' इतना अलग एक सूत्र-विभाग कर लिया जाएगा। उसमे "अतो लोप" से 'अत' की अनुवृत्ति करके 'यकार', के 'अकार' का लोप विशेष रूप से विधान करेंगे तो उससे "यङोऽचि च" की बाधा हो जाएगी, अकार का लोप अजादेश हो जाएगा तो उसके 'स्थानिवद्भाव' होने से गुणवृद्धि स्वत रुक जायेंगे। उनके लिए "न धातु लोप०" इस सूत्र की

१ महा० भा० १ प्रकृतसूत्र पृ० ५२।
२ पा० ६.४.४८।
३ पा० १.१.५७।

कोई आवश्यकता नहीं रहेगी ।[1]

यदि यह कहा जाये कि 'लोलुव' आदि में 'अल्लाप' को 'स्थानिवद्भाव' मानकर उसका व्यवधान होने से सार्वधातुक गुण तो रुक जाएगा, किन्तु उस के बाद 'उवङ्' होकर, जो लघूपधगुण प्राप्त होगा, वह कैसे रुकेगा। इसके लिए "न धातु लोप०" सूत्र की आवश्यकता है, क्योंकि 'उवङ्' के आदिष्ट 'अच्' से पूर्व हो जाने के कारण वहां 'स्थानिवद्भाव' भी नहीं हो सकता। तो इसका उत्तर है कि 'लोलुव +अ' इस अवस्था में 'उवङ्' आदेश के आदिष्ट 'अच्' से पूर्व हो जाने पर भी उसे स्थानी 'लोलू' के द्वारा अनादिष्ट 'अच्' से पूर्व मानकर अकार लोप के 'स्थानिवद्भाव' होने में कोई आपत्ति नहीं। क्योंकि 'अकार' के स्थान में लोप रूप आदेश होने से पूर्व 'लोलू' विद्यमान है। इस प्रकार 'उवङ्' हो जाने पर भी 'स्थानिवद्भाव' से ही लघूपध गुण की निवृत्ति हो जाएगी तो इस निषेध सूत्र का कोई औचित्य नहीं।[2]

यङन्त 'जगम्य' धातु से 'अच्' प्रत्यय करने पर 'जगम' यह रूप बनता है। यहां यह कहना उचित नहीं कि 'यङ्' के अकार लोप को 'स्थानिवद्भाव' मानकर 'अच्' परे हो जाने से "गम हन जन खन घसाम्०"[3] सूत्र से 'गम्' धातु की उपधा का लोप प्राप्त होता है। क्योंकि स्थानिवद्भाव मानने पर भी साक्षात् अजादि प्रत्यय परे विद्यमान नहीं है। साथ ही यह बात भी तो है कि 'यङ्' के 'अकार' लोप को स्थानिवद्भाव मानने से वह 'अट्' बन जाएगा। उस अवस्था में 'अनङि' यह निषेध स्पष्ट ही है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

जहां इस सूत्र की स्थापना मजबूत है, वहां इसका प्रत्याख्यान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। युक्ति-प्रयुक्ति-पूर्वक 'स्थानिवद्भाव' द्वारा उक्त सूत्र का निराकरण किया गया है। भाष्यकार की तो यह शैली ही रही है कि वे जैसा

---

१ द्र० महा० २ प्रकृतसूत्र, पृ० ५३ 'अल्लोपे योगविभाग करिष्यते। अतो लोप। ततो यस्य। यस्य च लोपो भवति। अत इत्येव। किमर्थमिदम्। लुक वक्ष्यति तदाधनार्थम्।'

२ द्र० प्रकृत सूत्रस्य त० बो० 'न चैवमपि लालुव इत्यादावुवङ्कृते लघूपधगुण स्यात् तद्वारणाय निषेधोऽयमावश्यक। उवड आदिष्टादच पूर्वत्वेन लघूपधगुणे कर्तव्ये स्थानिवत्वाभावादिति वाच्यम्, स्थानिद्वारानादिष्टादच पूर्वत्वेन उवङो दृष्टत्वात्।'

३ पा० ६ ४ ९८।

समय देखते हैं वैसा समाधान कर देते हैं। "पश्चात्तरैरपि परिहारा भवन्ति" इस न्याय का आश्रयण करते हुए वे खण्डन करते समय मण्डनीय वस्तु का भी खण्डन करने से नही चूकते। जैसे—'लृकारोपदेश' के समर्थन के समय शब्दो की चतुष्टयी प्रवृत्ति स्वीकार की तथा जाति शब्द, गुणशब्द तथा क्रिया शब्दो के साथ यदृच्छा शब्दो की सत्ता को भी मान लिया। बाद मे जब लृकारोपदेश के प्रत्याख्यान का समय आया तो चतुष्टयी शब्द प्रवृत्ति न मानकर केवल त्रयी प्रवृत्ति को ही अङ्गीकार कर लिया। "न सन्ति यदृच्छा शब्दाः" कह कर यदृच्छा शब्दो की सत्ता को ही समूलोन्मूलित कर दिया। ऐसी स्थिति मे भाष्यकार का क्या सिद्धान्त है—यह जानना बहुत कठिन है। इन्होंने दोनो बातें मान भी ली तथा दोनो को उखाड भी दिया। भाष्यकार की यह विचित्र शैली प्राय समस्त भाष्य ग्रन्थ मे अनेक स्थलों पर दृष्टिगोचर होती है।

वैसे इस सूत्र के निर्माण मे सभवत पाणिनि की भी विशेष अभिरुचि नही थी, क्योंकि पाणिनि के ही सूत्रो के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि पाणिनि भी परोक्ष रूप से "न धातु लोप०" सूत्र को प्रत्याख्येय समझते हैं, किन्तु जो सूत्र एकबार पढ दिया उसे आचार्य लोग हटाया नही करते।[2] इसलिए सूत्र-पाठ में उक्त सूत्र यथास्थान विद्यमान है। इसीलिए इन्होंने 'धिनोति', 'कृणोति' इन प्रयोगो की सिद्धि के लिए 'धिन्विकृण्व्योरच'[3] सूत्र की रचना की। इसमे उन्होंने 'धिन्व्', 'कृण्व्' धातुओ मे 'उ' प्रत्यय करके साथ ही प्रत्यय-सन्नियोग से 'धिन्व्', 'कृण्व्' के अतिम 'वकार' के स्थान मे 'अकार' आदेश का विधान भी किया है। 'उ' प्रत्यय आर्धधातुक है। उसके परे रहते 'वकार' स्थानीय अकार' का 'अतो लोप'[4] से लोप हो जाता है। 'अकार' का लोप हो जाने पर 'धिन्', कृण्' इस अवस्था म लघूपध गुण प्राप्त होता है। उसको रोकने के लिए "अचःपरस्मिन् पूर्वविधौ"[5] सूत्र से 'अकार' लोप का 'स्थानिवद्भाव' माना जाता है। इनरथा गुण रुक नहीं सकता। फिर क्या कारण है कि पहले तो "धिन्विकृण्व्योरच" सूत्र से 'उ' प्रत्यय के साथ 'धिन्व्' 'कृण्व्' के 'व' को 'अ' किया। फिर उसका लोप किया जिससे अल्लोप को 'स्थानिवद्भाव' मानकर गुण

---

१ महा० भा० १ ऋलृक् सूत्र, पृ २०।
२ द्र० महा० पस्पशा, पृ० १२ 'न चेदानीमाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति।'
३ पा० ३ १ ८०।
४ पा० ६ ४ ४८।
५ पा० १ १ ५७।

रुक सके।

इसकी अपेक्षा यह अधिक अच्छा रहता है कि "धिन्विकृण्व्योरच" की जगह "धिन्विकृण्व्योर्लोपश्च" ऐसी सूत्र रचना होती जिससे 'धिन्व्', 'कृण्व्' के 'वकार' का लोप होकर 'उ' प्रत्यय परे रहते 'धिनोति', 'कृणोति' रूप सिद्ध हो सकें। किन्तु पाणिनि देखते हैं कि "अ च" की जगह "लोपश्च" कहने पर 'उ' प्रत्यय परे रहते प्राप्त होने वाला लघूपध गुण कैसे रुक सकेगा। "अ च" कहने पर तो "अतो लोप" से उसका 'स्थानिवद्भाव' मानकर गुण रोक लिया जायेगा। इसलिये इतना गौरव कर रहे है कि पहले 'अ' का विधान करें और फिर उसका लोप करें। किन्तु जब 'अकार' का लोप करना ही है तो क्यो न सीधा 'धिन्व्,' 'कृण्व्' के 'वकार' का ही लोप विधान कर दिया जाये। उसमे लाघव भी है।

प्रस्तुत प्रसङ्ग मे यदि यह कह दिया जाये कि "धिन्विकृण्व्योर्लोपश्च" ऐसा सूत्रन्यास करने पर फिर गुण कैसे रुकेगा तो उत्तर स्पष्ट है कि "न धातुलोप०" सूत्र से गुण का निषेध हो जाए। क्योकि आर्धधातुक 'उ' प्रत्यय के परे रहते 'धिन्व्', 'कृण्व्' धातुओ के अवयव 'वकार' का लोप हुआ है इसलिए प्राप्त होने वाले इग्लक्षण लघूपध गुण का "न धातु लोप०" सूत्र से निषेध स्पष्ट ही है। ऐसा मानने मे कही पर दोष नही आता। किन्तु आचार्य देखते हैं कि यदि "न धातुलोप०" सूत्र विद्यमान न हो, जैसा कि आगे आने वाले वार्तिककार तथा भाष्यकार ने इसका खण्डन कर दिया है, तो उस अवस्था मे 'धिनोति', 'कृणोति', मे प्राप्त लघूपध गुण निवृत्ति का क्या समाधान होगा? किन्तु "न धातुलोप०" सूत्र विद्यमान क्यो नही होगा जब इन्होने स्वय इसका निर्माण किया है किन्तु बाद मे आने वाले कात्यायन तथा पतजलि ने उसका प्रत्याख्यान भी तो कर दिया है। उस समय सूत्रकार एव प्रत्याख्यानवादियो की प्रतिस्पर्धा मे शायद प्रत्याख्यानवादी का मत प्रबल माना जाये, सम्भवत इस भविष्य की आशका मे पाणिनि ने 'धिन्विकृण्व्योर्लोपश्च" ऐसा सूत्र न बना करके "धिन्विकृण्व्योरच" ऐसा सूत्र बनाया।[1]

---

१ प्रौढमनोरमाम्य लघुशब्दरत्न, स० सीताराम शास्त्री भा० १ सू० ११२६, पृ० ३४४-४५ 'एतदेवाभिप्रेत्य धिन्विकृण्व्योरच इति सूत्रे निर्मर्थमत्वविधीयत वलोप एवास्तु इत्याशङ्क्य अत्वे अल्लोपे तस्य स्थानिवत्वेन गुणाभावाय तत्। न च वलोपेऽपि न धातु इति गुणनिषेध सिद्ध इति वाच्यम्। तत्प्रत्याख्यानपक्षे गुणप्राप्तेरित्युक्तम्। अनेन सूत्रमतात् प्रत्याख्यानवादिमत प्रबल-

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि स्वय पाणिनि भी इस सूत्र के प्रत्याख्यान को मौन सवेदन द्वारा स्वीकार करते हैं। जब व्याकरण के आधारभूत मुनि-त्रय ही इस सूत्र के प्रति उदासीन हैं, तब इसके प्रत्याख्यान मे अन्य किसी को क्या आपत्ति हो सकती है। ऐसी स्थिति मे आचार्य चन्द्रगोमिन् आदि प्रमुख अर्वाचीन वैयाकरणो द्वारा इस सूत्र को अपने-अपने तन्त्रो म रखना[1] लाघव की दृष्टि से विचारणीय ही कहा जाएगा[1]।।

एच इग्घ्रस्वादेशे ।। १ १ ४८ ।।

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना[1]

यह परिभाषासूत्र या नियमसूत्र है। इसका अर्थ है कि 'एचो' को ह्रस्व के प्रसङ्ग मे अर्थात् शास्त्र द्वारा ह्रस्व करते समय 'इक्' ही ह्रस्व होते हैं, अन्य नही। 'एचो' मे 'ए', 'ओ', 'ऐ', 'औ' ये चार वर्ण आते हैं। ये चारो सन्ध्यक्षर हैं। 'ए' मे 'अ', 'इ', 'ओ' मे 'अ', 'उ' मिले हुए हैं। इसी प्रकार 'ऐ' मे 'अ', 'इ' और 'औ' मे 'अ', 'उ' मिले हुए है। 'ए', 'ओ' मे अकार इस प्रकार प्रश्लिष्ट है कि पासूदकवत् उसका विभाग नही किया जा सकता। 'ऐ', 'औ' मे अकार कुछ विश्लिष्ट है, उसका विभाग किया जा सकता है। 'इ', 'उ' तो स्पष्ट ही अधिक मात्रा वाले 'ऐ', 'औ' के उच्चारण मे अनुभव होते हैं। 'इक्' प्रत्याहार मे 'इ', 'उ', 'ऋ', 'ऌ' ये चार वर्ण है। उनमें 'ऋ', 'ऌ' का ह्रस्व-प्रसङ्ग न होने से उनका इस सूत्र मे कोई प्रयोजन नही। 'ए', 'ओ' को जब किसी सूत्र से ह्रस्व की प्राप्ति

मिति प्रत्याख्यानवादिसमतलक्ष्यमेव कथञ्चित् सूत्रमतेऽपि साध्यम्, न तु विपरीतमसम्भवे। अन्यथा सूत्रमप्रमाणमेवेति च प्रत्याख्यान सूत्रमत-मिति च ध्वनितम्।'

१ (क) चा० सू० ६ २ १२, 'अतिङ्याच्च तल्लोपे'।
(ख) जै० सू० १ १.१८ न धुगेऽचा'।
(ग) शा० सू० २ २ १७ 'अविङ्लुप्तौ'
(घ) स० सू० ७ २ १० 'यङ् यक् क्यलोपे वृद्धिश्चातिङि'।
(ङ) है० सू० ४ ३ ११ 'न वृद्धिश्चाविति विङ्ल्लोपे'।

२ प्रस्तुत सूत्र लेखक के एक शोध लेख के रूप मे भी प्रकाशित हो चुका है— Annals of the Bhandarkar oriental Reseach Institute Poon—*A Citigue on Paninis, sutra Na Dhatu* lopa Ardhadhatuke, Vol LXIV pp 241-48 1983.

होगी तो उनमे अकार के प्रश्लिष्ट होने के कारण अकार तो ह्रस्व न होगा। परन्तु किन्ही आचार्यों के मत मे एकमात्रिक ह्रस्व एकार, ओकार माने गये हैं।[1] उन एकमात्रिक ए', 'ओ' की प्राप्ति अवश्य होगी। उसको रोकने के लिए यह सूत्र है कि 'ए', 'ओ' को 'इक्' अर्थात् 'इ', 'उ' ही ह्रस्व हो। ह्रस्व माने हुए 'ए', 'ओ' न हो।

इसी प्रकार 'ऐ', 'औ' इन दोनो वर्णों में अकार का विभाग सभव होने से अकार भी ह्रस्व प्राप्त होता है और 'इ', 'उ' भी। इस सूत्र के नियम से 'इ', 'उ' ही ह्रस्व होंगे, अकार नही। जैसे—'सुद्यु दिनम्'। 'उपगु'। यहा 'शोभना द्यौः यस्मिन् दिने तत् सुद्यु'। 'गो समीपम् उपगु' इन प्रयोगो में 'द्यो' और 'गो' शब्द जो ओकारान्त हैं, उनको नपुसकलिङ्ग की विवक्षा मे 'ह्रस्वो नपुसके प्रातिपदिकस्य'[2] से ह्रस्व करते हुए उकार ही ह्रस्व होता है। क्योकि प्रकृत नियम से 'इक्' ही ह्रस्व होना है, अन्य वर्ण नही। 'प्रकृष्टा राम यस्मिन् कुले तत् प्ररि'। 'शोभना नाव यस्मिन् सरसि तत् सुनु'। यहा 'रै' और 'नौ' शब्दो को ह्रस्व करने मे इकार, उकार ही ह्रस्व होते है, अकार नहीं। एकारान्त शब्द का उदाहरण प्रयोग में सभव नही है कल्पित करना होगा। इस प्रकार सूत्र का प्रयोजन उदाहरण सहित सिद्ध हो जाता है।

लोकव्यवहार द्वारा अन्ययासिद्धि अथवा स्वत सिद्धि होने से सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र के प्रत्याख्यान मे वार्तिककार तथा भाष्यकार दोनो सहमत हैं। प्रत्याख्यान विषयक वार्तिक हैं—'सिद्धमेङ सस्थानत्वात्। ऐचोश्चोत्तरभूयस्त्वात्'[3]। इनका भाव यह है कि 'एङ्' अर्थात् 'ए', 'ओ' वर्णों के समान स्थान वाले एकमात्रिक ह्रस्व एकार, ओकार, जो किन्ही आचार्यो ने माने हैं, वह उनका अपना स्वतन्त्र मत है, पार्षद कृति है। क्योकि न तो लोक मे और न

---

१ महा० भा०, सू० १ १ ४८, पृ० ११७ 'ननु च भोश्छन्दोगाना सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकार चाधीयते। सुजाते ए अश्व सूनृते। अध्वर्यो ओ अद्रिभि सुतम्। शुक ते ए अन्यद्यजत ते ए अन्यदिति'। गुरुप्रसाद शास्त्री सस्करण तथा निर्णयसागर सस्करणो मे थोडा पाठान्तर मिलता है—'सुजाते एश्वसूनृते, अध्वर्यो ओद्रिभि सुतम्' इत्यादि।

२ पा० १ २ ४७।

३ महा० भा० १, सू० १ १ ४८, पृ० ११७-१८।

किसी चरण की शाखा में ही एकमात्रिक ह्रस्व एकार, ओकार उपलब्ध होते हैं।[1] इसलिये वे तो ह्रस्व होंगे ही नहीं। अकार प्रश्लिष्ट होने के कारण विभक्त नहीं हो सकता तो पारिशेषानुमान से 'इ उ' ही ह्रस्व होंगे, अन्य कोई नहीं। इस प्रकार एङ् अर्थात् 'ए, ओ' के लिये तो इस सूत्र की आवश्यकता नहीं। 'ए' 'ओ' को ह्रस्व प्राप्ति में इक् ही ह्रस्व होगा यह सिद्ध हो जाता है। तालव्य एकार के स्थान में तालव्य इकार का होना और ओष्ठ्य ओकार के स्थान में ओष्ठ्य उकार का होना ही उपयुक्त है।

अब रह गये ऐच् अर्थात् 'ऐ' 'औ' इनमें भी अकार इकार की मात्रा में अकार की अपेक्षा इकार की मात्रा का आधिक्य होने से इकार ही ह्रस्व होगा अकार नहीं। जैसे किसी गांव में ब्राह्मण अधिक हों तो वह 'ब्राह्मणों का गांव' कहलाता है। ब्राह्मणों के आधिक्य या बाहुल्य से उस गांव का नाम ही 'ब्राह्मणों का गांव' पड़ जाता है। यद्यपि उस गांव में कम से कम कुम्हार, चमार, बढ़ई नाई और धोबी ये पांच शिल्पी तो अवश्य ही होते हैं। फिर भी ब्राह्मणों के अधिक होने से गांव का नाम 'ब्राह्मणवास' प्रसिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार 'ऐ' 'औ' में अकार की मात्रा के अल्प होने से तथा इकार, उकार की मात्रा के अधिक होने से अधिक मात्रा वाले की बात मानी जायेगी तो इकार, उकार ही ह्रस्व होंगे, अकार नहीं। इसलिये 'ऐ' 'औ' के लिये भी इस सूत्र की आवश्यकता नहीं है।[2] इस प्रकार व्यर्थ होने से या लोक-व्यवहार द्वारा अन्यथासिद्धि होने से यह सूत्र प्रत्याख्येय है।

---

१ 'अराद्ध्या एदिधिषु पतिम्' (मा० यजु० ३०।९) में 'एदिधिषु पतिम्' ऐसा पदपाठ मिलता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (भा० ३, ३।४।१४, पृ० ९५६) में तो 'अराध्यै दिधिषूपतिम्' ऐसा पाठ मिलता है। लौकिकसाहित्य में भी 'दिधिषूपति' पाठ प्रसिद्ध है। अमरकोष (२।६।२३) में 'पुनर्भूर्दिधिषूरूढा द्विस्तस्या दिधिषूः पतिः' अर्थात् दुबारा ब्याही गई स्त्री के पति को 'दिधिषूपति' कहते हैं। 'ए दिधिषु पतिम्' यह पाठ माध्यन्दिन संहिता को छोड़कर अन्यत्र नहीं मिलता। यदि कोई कहे 'अराद्ध्यै'+ए=अराद्ध्या ए' इस प्रकार अर्ध एकार मानकर परे 'दिधिषु पतिम्' ऐसा पदपाठ मानने की कल्पना करता है तो वह भी उसकी पाषद कृति ही मानी जायेगी। अतः अर्ध एकार तथा अर्ध ओकार लोक वेद में कहीं पर भी उपलब्ध नहीं होते।

२ महा० भा० १, सू० १।१।४८, पृ० ११८ 'ऐचोश्चोत्तरभूयस्त्वादवर्णो न भविष्यति। भूयसी मात्रा इवर्णोवर्णयोरल्पीयसी अवर्णस्य। भूयसा

समीक्षा एव निष्कर्ष

"ए ओड्" "ऐ औच्" सूत्र के भाष्य मे भी इस सूत्र की आवश्यकता पर विचार किया गया है। वहा "अतपर एच इग्घ्रस्वादेशे"[1] इस वार्तिक द्वारा 'ए', 'ओ', 'ऐ', 'औ' के अतपर पक्ष मे इसकी आवश्यकता बताकर अत मे इसका प्रत्याख्यान ही उचित माना गया है। यहा तो स्पष्ट ही इसका खण्डन कर दिया है। अत पाणिनि की दृष्टि मे मन्दबुद्धियो के लिये स्पष्ट प्रतिपत्त्यर्थ होते हुए भी व्युत्पन्न बुद्धियो के लिये यह सूत्र अनावश्यक ही है।

यहा 'एट्' के विषय मे विशेष विचारणीय यह है कि यदि किसी प्रातिशाख्य मे 'एड्' ('ए', 'ओ') के सस्थानतर अर्ध एकार, अद्य ओकार अर्थात् ह्रस्व एकार, ओकार माने गये हैं तो वे आचार्य पाणिनि के द्वारा अपने शास्त्र मे स्वीकार्य नही हैं। यदि वे स्वीकार्य होते तो आचार्य प्रत्याहार सूत्रो मे वर्णों का उपदेश करते हुए ह्रस्व एकार, ओकार ही पढ लेते। उनके 'अण्' होने से "अणुदित्०"[2] इस ग्रहणक शास्त्र मे वे अपने सवर्णों, दीर्घ, प्लुत एकार, ओकार का भी ग्रहण करा देते। जैसे "अ इ उण्" मे ह्रस्व अकारादि पढे हुए अपने दीर्घ प्लुत आदि सवर्णियों का भी ग्रहण कराते हैं। "अदेट् गुण"[3] इस पर स्थल मे दीर्घ एकार ओकार ही पढ दिये जाते तो इष्टसिद्धि हो सकती थी, किन्तु आचार्य ने वे नही पढे। इससे जाना जाना है कि वे सर्वमान्य नही हैं, केवल पार्षद कृति हैं। प्रकृत सूत्रस्य तथा "ए ओड्", "ऐ औच्" सूत्रो के भाष्य मे पतजलि लिखते हैं— "न तौ स्त । यदि हि तौ स्याना तावेवायमुपदिशेत्" इत्यादि। अत परिशेषानुमान से 'ए', 'ओ' मे 'इ', 'उ' ही ह्रस्व होगे। अकार तो अत्यन्त प्रश्लिष्ट होने के कारण अविद्यमान प्राय है अत उसके ह्रस्व होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

'ऐच्' ('ऐ' 'औ') के विषय मे भी स्मरणीय है कि उन दोनो मे भी आधी

एव ग्रहणानि भविष्यन्ति। तद्यथा—ब्राह्मणग्राम आनीयतामित्युच्यते तत्र चावरत पञ्चकारुकी भवति'। इसी स्थल पर द्र० महा० प्र० उ० भा०, पृ० ३५६ 'कुलालकर्मारवर्धकिनापितरजका इती पञ्चकारुकी'।

१ महा० भा० १, सू० एओड् ऐ औच्, पृ० २२।

२ पा० १ १ ६६।

३ पा० १ १ २।

मात्रा अवर्ण की है और डेढ़ मात्रा इवर्ण, उवर्ण की है। इस प्रकार वे द्विमात्रिक बनते हैं। इनमे इवर्ण, उवर्ण की मात्रा अधिक होने से 'प्राधान्यनाम' एवं 'भल्लग्राम' न्याय से 'इ' 'उ' ही ह्रस्व होंगे अवर्ण नहीं। यदि 'ऐ' 'औ' में अवर्ण और इवर्णोवर्ण की मात्रा का समान प्रविभाग मानते हैं अर्थात् मात्रा अवर्ण की तथा मात्रा ही इवर्ण उवर्ण की दोनों मिलकर द्विमात्रिक 'ऐ' 'औ' बनते हैं जैसा कि 'प्लुतावैच इदुतौ'[1] सूत्र भाष्य में समप्रविभाग माना गया है। वहां इकार, उकार को प्लुत करने पर तीन मात्रायें इकार उकार की और एक मात्रा अकार की मिलकर चार मात्रा वाला प्लुत इष्ट है। कहा भी है—'चतुर्मात्र प्लुत इष्यते'[2]। उस पक्ष में भी 'ऐ', 'औ' के उच्चारण में 'इ' 'उ' इन अन्तिम वर्णों का श्रवण स्पष्ट होने से 'इ', 'उ' ही ह्रस्व होंगे अवर्ण नहीं। "तालव्यावेकारैकारौ इकारैकारौ, उकार ओकार शेष ओष्ठ्योपाद्य"[3] इस सूत्र में 'ऐ', 'औ' को भी 'इ' 'उ' के समान केवल तालु और केवल ओष्ठस्थान वाला माना गया है, कण्ठतालु और कण्ठोष्ठ नहीं। तब तो स्पष्ट ही स्थानतौल्य होने से इकार उकार ही ह्रस्व होंगे। इस प्रकार 'एङ्' और 'ऐच्' दोनों में 'इ', 'उ' के ही ह्रस्वसिद्ध हो जाने से यह सूत्र अनावश्यक हो जाता है। इसलिये इसका प्रत्याख्यान उचित ही है। इस विषय में शब्दकौस्तुभ तथा तत्त्वबोधिनी भी सम्मत है। इसकी अनावश्यकता के कारण ही अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी इसे अपने-अपने ग्रन्थों में नहीं पढ़ा है। अतः कुल मिलाकर यह सूत्र प्रत्याख्येय ही ठहरता है।

षष्ठी स्थानेयोगा ॥ १ । १ । ४९ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह परिभाषा सूत्र है। यह षष्ठीविभक्ति के अर्थ-सम्बन्ध का निश्चय करता है। लोक या शास्त्र में षष्ठी के, जो एक सौ से ऊपर अनेक अर्थ हैं, वे सब षष्ठी का उच्चारण करने पर प्रसङ्गानुसार प्राप्त होते हैं। यह सूत्र नियम कर

---

१ पा० ८।२।१०६।

२ द्र० महा० भा० ३, सू० ८।२।१०६, पृ० ४२१ 'दृश्यते ह्य चतुर्मात्र प्लुत'।

३ ऋक्० प्रा० १।१६।

४ द्र० महा० भा० १, प्रत्या० सूत्र, पृ० ११८ '[illegible] [illegible] मात्रन्तौ [illegible]।'

देता है कि शास्त्र मे, जो षष्ठी किसी निश्चित अर्थ सम्बन्ध वाली नही है, वह स्थानयोगा होती है, उसका स्थान से सम्बन्ध होता है। जैसे—"अस्तेर्भूः"[1] यहा 'अस्ते' इस षष्ठी का कोई निश्चित अर्थ सम्बन्ध नही कहा है तो यह स्थान अर्थ वाली होगी। 'अस्ते' का अर्थ 'अस् के स्थान मे' होकर उसके स्थान मे 'भू' आदेश हो जाता है, यह उस सूत्र का अर्थ निश्चित बनता है। इसी प्रकार "ब्रुवो वचि"[2] यहा 'ब्रू' के स्थान मे 'वचि' आदेश होता है। "इको यणचि"[3] यहा इक् के स्थान मे 'यण्' आदेश होता है, इत्यादि शास्त्रीय अर्थ सिद्ध होते हैं।

जिस षष्ठी के अर्थ का सम्बन्ध पहले से निश्चित है वहा इस सूत्र की प्रवृत्ति नही होती। अनिश्चित षष्ठी के अर्थ मे ही यह सूत्र स्थानसम्बन्ध का नियम करता है। 'ऊदुपधाया गोहः'[4] "शास इदङ्हलो"[5] यहा उभयत्र 'गोह' और 'शास' ये षष्ठिया निश्चित अर्थसम्बन्ध वाली है इसीलिये यहा 'गोह' का अर्थ 'गोह् के स्थान मे और 'शास' का अर्थ 'शास्' के स्थान मे नही होगा। 'गोह' की षष्ठी 'उपधाया' इस षष्ठी के प्रति निश्चित अर्थ वाली है। 'गोह्' की जो उपधा या 'शास्' की जो उपधा इस प्रकार 'गोह्' की अवयवभूत उपधा के स्थान मे अथवा 'शास्' की अवयवभूत उपधा के स्थान मे क्रमश ऊकार और इकार होते है, यह अर्थ परिष्कृत होता है। 'गोह' और 'शास' की अवयवषष्ठी का निश्चय होने पर वहा स्थानसम्बन्ध नहीं होगा। केवल 'उपधाया' इस षष्ठी के अर्थ-सम्बन्ध का अनिश्चय होने के कारण यहा स्थानसम्बन्ध होकर 'उपधा के स्थान में' ऐसा अर्थ स्थिर हो जाता है। यदि निर्णीत सम्बन्ध वाली षष्ठी मे भी स्थान का सम्बन्ध माना जाये तो 'गोह' के स्थान मे और किसी धातु की उपधा के स्थान मे अथवा 'शास्' के स्थान में और किसी धातु की उपधा के स्थान मे क्रमश ऊकार, इकार होने हैं, ऐसा अनिष्ट अर्थ प्रसक्त हो जायेगा। उसकी व्यावृत्ति के लिये अनिश्चित सम्बन्ध वाली षष्ठी मे ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है, यह सिद्धान्तरूप से माना जाता है।

परिभाषा द्वारा गतार्थ होने के कारण सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार कात्यायन प्रकृत सूत्र के खण्डन मे मौन हैं। इसलिये उन्होने

---

१ पा० २४५२।
२ पा० २४५३।
३ पा० ६१७७।
४ पा० ६४८९।
५ पा० ६४३४।

सूत्र की सार्थकता को स्वीकार करते हुए इसके प्रयोजनमात्रों का प्रत्याख्यान किया है। किन्तु इतना उपयोगी और नियमविधायक सूत्र होने पर भी भाष्यकार पतंजलि पूर्ण अभीष्ट अर्थ की सिद्धि न होने के कारण इसका प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—"यदि नियम क्रियते यत्रैका षष्ठी अनेकं च विशेष्यं तत्र न सिध्यति। अङ्गस्य हल अणः, सम्प्रसारणस्येति। हलपि विशेष्य अणपि विशेष्यः सम्प्रसारणमपि विशेष्यम्। असति पुनर्नियमे कामचारः एकया षष्ठ्या अनेक विशेषयितुम्।"[1]

इसके कहने का तात्पर्य है कि उक्त सूत्र द्वारा षष्ठी के अर्थ सम्बन्ध का नियम बन जाने पर 'अङ्गस्य' यह एक ही षष्ठी 'अणः' सम्प्रसारणस्य' इत्यादि अनेक षष्ठियों के साथ कैसे विशेषणविशेष्यभाव को प्राप्त होगी अर्थात् 'अङ्ग' के अवयव 'हल्' से परे जो 'सम्प्रसारणान्त अङ्ग' उसके 'अण्' को दीर्घ होता है, यह "हल"[2] सूत्र का अर्थ कैसे निश्चित किया जा सकेगा। सभी षष्ठियां अपने-अपने अर्थ में स्वतन्त्र हैं। सभी का 'स्थान' अर्थ हो जायेगा तो 'अङ्ग' के स्थान में, 'हल्' से परे जो सम्प्रसारण है उसके स्थान में फिर 'अण्' के स्थान में 'सम्प्रसारण' होना है ऐसा असम्बद्ध अनिष्ट अर्थ प्राप्त होगा। जब यह नियम सूत्र नहीं बनाया जाता है तो स्वतन्त्र इच्छा होगी कि किसी षष्ठी को विशेष्य माना जाय, किसी को विशेषण। किसी को अवयवषष्ठी तथा किसी को स्थान-षष्ठी मानकर अभीष्ट अर्थ सिद्ध कर लिया जायगा। जैसे—'देवदत्तस्य पुत्रः पाणिः, कम्बलः' यहां एक ही 'देवदत्तस्य' यह षष्ठी 'पुत्र' के प्रति जन्य-जनकभाव सम्बन्ध वाली है। 'पाणि' (हाथ) के प्रति अवयवावयविभाव सम्बन्ध वाली है। 'कम्बल' के प्रति स्वस्वामिभाव सम्बन्ध वाली है। इसलिये षष्ठी के अर्थ का कोई नियम न बनाकर उसे स्वतन्त्र छोड़ दीजिये। प्रेक्षावान् मनीषी लोग उसके अर्थ का प्रकरणानुसार यथोचित उपयोग कर लेंगे।

यहां यह शङ्का करना ठीक नहीं कि इस नियमसूत्र के अभाव में 'स्थान' अर्थ के साथ-साथ 'अनन्तर', 'समीप' आदि अर्थ भी प्रसक्त होंगे। "इको यणचि"[3] का अर्थ 'इक्' के स्थान में 'यण्' होना है, ऐसा न होकर 'इक्' के समीप या अव्यवहित 'यण्' होना है, ऐसा अनिष्ट अर्थ भी होने लगेगा। क्योंकि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्"[4] इस शब्दसिद्ध

---

१ महा०भा० १. सू० १ १ ४९. पृ० ११६।
२ पा० ६ ४ २।
३ पा० ६ १ ७७।
४ परि० सं० १।

परिभाषा से सब बातो का निर्णय आचार्यों के व्याख्यान[1] से कर लिया जायेगा, अनिष्ट नही होने दिया जायेगा। इस परिभाषा का यही अर्थ है कि प्रत्येक सन्दिग्ध बात का निर्णय प्राचीन आचार्यों के व्याख्यान से ही होना चाहिये। केवल सन्देह करने मात्र से वास्तविक सिद्धान्त को अपसिद्धान्त नही बनाना चाहिये। इस प्रकार सभी सन्देहो की निवृत्ति होकर मुनित्रय के व्याख्यान से अनिश्चित सम्बन्ध वाली षष्ठी का 'स्थान' अर्थ से योग स्वत हो जायेगा तो इस सूत्र की आवश्यकता विशेष महत्त्व नही रखती।

समीक्षा एव निष्कर्ष

उपर्युक्त युक्तिपूर्ण वचनो द्वारा भाष्यकार इस सूत्र का खण्डन करके अन्त मे पूछते है—"न तर्हीदानीमय योगो वक्तव्य। वक्तव्यश्च। कि प्रयोजनम्। षष्ठ्यन्त स्थानेन यथा युज्येत, यत षष्ठ्युच्चारिता। किमेतेन कृत भवति। निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीति परिभाषा न पृथक् कर्तव्या भवति।"[2] भाष्यकार का आशय यह है कि इस सूत्र की आवश्यकता कोई विशेष न होने पर भी यह सूत्र "निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति"[3] इस परिभाषा के प्रयोजन सिद्ध करने मे तात्पर्यग्राहक हो जायेगा। उससे "पाद पत्"[4] इत्यादि षष्ठ्यन्त स्थलो मे, जो साक्षात् निर्दिश्यमान या उच्चार्यमाण षष्ठ्यन्त पद है उसे ही आदेश होगा। वही स्थानसम्बन्ध से युक्त होगा। सारा षष्ठ्यन्त 'अङ्ग' कार्यभाक् न होगा। उससे 'सुपात्' शब्द मे केवल षष्ठ्युच्चारित 'पाद' शब्द को ही 'पद' आदेश होगा। समस्त 'सुपाद्, शब्द को नही होगा तो 'सुपद' 'सुपदा' इत्यादि अभीष्ट रूप सिद्ध हो जायेंगे। यह महिमा इस सूत्र की ही है जो इसके द्वारा निर्दिश्यमान शब्द को ही आदेश की सिद्धि हो जायेगी। वही वस्तुत कार्यभाक् होगा जिससे षष्ठी उच्चारण की गई है। समस्त पाद्' शब्दात 'अङ्ग' 'पद्' आदेश होने मे बच जायेगा। इसलिये या तो इस सूत्र का रखना ठीक है या फिर "निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति" इस परिभाषा को रखना समीचीन है, यह कह कर भाष्यकार चुप हो

---

१ द्र० महा०पस्पशा०, पृ०११ 'न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यान वृद्धि आत् ऐजिति। कि तर्हि। उदाहरण प्रत्युदाहरण वाक्याध्याहार इत्येतत् समुदित व्याख्यान भवति'

२ महा०भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० ११६।

३ परि००स १२, इस परिभाषा का अर्थ है कि जो निर्दिश्यमान है, उच्चार्यमाण है, उसी के स्थान मे आदेश होता है। प्रतीयमान के स्थान मे आदेश नही होता।

४. पा० ६ ४ १३०।

जाते है। स्पष्ट है कि यह सूत्र अत्यन्त उपयोगी है।

इस सूत्र के "निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति" इस परिभाषा में तात्पर्यग्राहक मानने पर भी "अलोऽन्त्यस्य"[1] तथा "आदेः परस्य"[2] ये दो परिभाषासूत्र तो आरम्भसामर्थ्य से इसके बाधक बन जाते है। अलोऽन्त्यस्य का उदाहरण जैसे—"त्यदादीनाम"[3] यह सूत्र है। इसका अर्थ है कि 'त्यदादि' शब्दों के स्थान में अकार आदेश होता है विभक्ति परे रहते। 'स', 'परमस'। यहा 'तद्' 'परमतद्' शब्दों से 'सु' विभक्ति परे रहते 'त्यदादीनाम्' इस षष्ठी के निर्देश से निर्दिश्यमान सम्पूर्ण तद् शब्द के स्थान में अकार आदेश प्राप्त होता है। किन्तु "अलोऽन्त्यस्य" के नियम से 'तद्' के अन्तिम अल् दकार के स्थान में होता है। इसी प्रकार 'आदेः परस्य' का उदाहरण जैसे—"ईदासः"[4] सूत्र है। इसका अर्थ है कि 'आस्' धातु से परे शानच् के आन को ईकारादेश होता है। 'आसीन' यहा 'आस्' धातु से परे शानच् का 'आन' है। 'आसः' इस पञ्चमी के बलवान् होने से "तस्मादित्युत्तरस्य"[5] के नियम से "आने मुक्"[6] से अनुवृत्त 'आने' यह सप्तमी षष्ठी में परिवर्तित हो जाती है। 'आन' इस षष्ठी के निर्दिश्यमान होने से सम्पूर्ण 'आन' शब्द के स्थान में ईकारादेश प्राप्त होता है किन्तु "आदेः परस्य" इस परिभाषा से 'आन' के आदि अक्षर आकार को ईकार होकर 'आसीन' यह इष्ट रूप बन जाता है। "अनेकाल्शित् सर्वस्य"[7] के साथ तो इसका बाध्यबाधकभाव नहीं है किन्तु परस्पर सहयोग से दोनों की प्रवृत्ति होती है।[8] 'अनेकाल्' जैसे—"अस्तेर्भूः"[9] 'भविता'। 'भवितुम्'। यहा अनेकाल् 'भू' आदेश षष्ठी से निर्दिश्य-

---

१ पा० १ १ ५२।
२ पा० १ १ ५४।
३ पा० ७,२ १०२।
४ पा० ७ २ ८३।
५ पा० १ १ ६७।
६ पा० ७ २ ८२
७ पा० १ १ ५५।
८ द० ना० भा० १, सू० १ १ ४९, पृ० १६२ "अलोऽन्त्यस्य" "आदेः परस्य" इति तु योगौ आरम्भसामर्थ्यादस्य बाधकौ "अनेकाल्शित् सर्वस्य" इत्यनेन तु सहाविरोधादस्य समुच्चयेन प्रवृत्तिरिति ... स्फुटप्रतिपत्तिरिति दिक्'।
९. पा० २ ४ ५२।

मान 'अस्ति' के स्थान मे ही होता है। 'शित्' जैसे—"इदम इश्"[1]। 'इत। इट्'। यहा 'शित्' 'इश्' आदेश 'इदम' इस षष्ठी के स्थान मे ही होता है। इस प्रकार निर्दिश्यमान परिभाषा के ज्ञापन की दृष्टि से प्रकृतसूत्र की आवश्यकता बनी रहती है। सम्भवत इसीलिए पूज्यपाद देवनन्दी ने भी अपने जैनेन्द्र व्याकरण मे एतत्सूत्र-प्रतिपाद्यविषयक 'ता स्थाने'[2] यह सूत्र बनाया है। इस तरह मे सूत्र स्थापनीय ही है॥

स्थानेऽन्तरतम ॥ १ १ ५० ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह आदेशनियामक सूत्र है। इसमे 'स्थान' ग्रहण करने के कारण ऊपर से 'आदेश' का अध्याहार किया जाता है। सूत्र का अर्थ इस प्रकार है कि किसी के स्थान मे होने वाला आदेश उसके 'अन्तरतम' अर्थात् सदृशतम हो। उसमे स्थान-प्रयत्न आदि से पूर्ण सादृश्य हो। जैसे—'इको यणचि'[3] इस सूत्र से 'इक्' के स्थान मे यणादेश का विधान किया गया है। इस सूत्र के नियम से तालुस्थानी 'इ' के स्थान मे तालुस्थानी यकार होगा। ओष्ठ्यस्थानी 'उ' के स्थान मे ओष्ठ-स्थानी वकार होगा। मूर्धास्थानी 'ऋ' के स्थान मे मूर्धास्थानी रेफ होगा और दन्तस्थानी 'लृ' के स्थान मे दन्तस्थानी लकार होगा। इसी प्रकार "अक सवर्णे दीर्घ"[4] से 'अक्' से परे सवर्ण अच् परे होने पर दीर्घ विधान किया गया है। इस सूत्र के नियम से 'अ' से होने पर उसका सदृशतम आकार ही दीर्घ होता है। 'इ' से परे 'इ' होने पर उसका सदृशतम ईकार ही दीर्घ होता है इत्यादि इस सूत्र के अनेक प्रयोजन हैं।

यहा "षष्ठी स्थानेयोगा"[5] इस पूर्वसूत्र से 'स्थान' शब्द की अनुवृत्ति आने पर भी, जो दोबारा 'स्थानग्रहण' किया है, उससे यह बात सूचित होती है कि जहा अनेक प्रकार का आन्तर्य या सादृश्य सभव हो वहा स्थानकृत आन्तर्य ही बलवान् होता है। अन्य सब सादृश्यों की अपेक्षा 'स्थान' का सादृश्य ही पहले देखा

---

१ पा० ५ ३ ३।
२ जैं० सू० १ १ ४६। दूसरे चन्द्र आदि आचार्य इस सूत्र के विषय मे मौन धारण किये हुए हैं। इससे उनकी दृष्टि मे प्रकृत सूत्र प्रत्याख्यात प्रतीत होता है।
३ पा० ६ १ ७७।
४. पा० ६ १ १०१।
५ पा० १ १ ४६।

जायेगा। उससे "यत्रानेकविधमान्तर्यं सम्भवति तत्र स्थानकृतमेवान्तर्यं बलीयो भवति"[1] यह परिभाषा सिद्ध हो जाती है। इसका लाभ यह है कि 'चेता', स्तोता' यहा 'चि' 'स्तु' धातुओं को सार्वधातुक गुण[2] करने में तालुस्थानी 'चि' के इकार को तालुस्थानी एकार गुण होता है तथा ओष्ठस्थानी 'स्तु' धातु के उकार को ओष्ठस्थानी ओकार गुण होता है। यदि स्थानकृत आन्तर्य बलवान् न माना जाये तो एकमात्रिक प्रमाण वाले 'चि' और 'स्तु' के इकार और उकार को एकमात्रिक प्रमाण वाला अकारगुण प्राप्त होकर 'चता', 'स्तता' इस प्रकार अनिष्ट रूप बनने लगेगा। यहा प्रमाणकृत आन्तर्य को बाधकर स्थानकृत आन्तर्य की बलवत्ता से ठीक व्यवस्था होकर 'चेता', 'स्तोता' ये शुद्ध रूप बन जाते हैं।

आन्तर्य भी स्थान अर्थ गुण और प्रमाण भेद से चार प्रकार का है। स्थानकृत आन्तर्य 'इको यणचि'[3] इत्यादि ऊपर दिये गये है। अर्थकृत आन्तर्य का उदाहरण जैसे—पद्दन्नोमास्हृन्निशसन०"[4] इत्यादि सूत्र मे 'पद्', 'दत्', 'नस्' 'मास', 'हृद्' इत्यादि केवल आदेश ही दिये गये हैं। उनके स्थानियो का निर्देश नही किया गया है। अर्थकृत आन्तर्य को लेकर उन्ही के समान अर्थ वाले 'पाद', 'दन्त', 'नासिका' 'मास', 'हृदय' इत्यादि स्थानी कल्पित कर लिये जाते हैं। गुणकृत आन्तय का उदाहरण जैसे 'पाक', 'राग', 'त्याग'। यहां 'पच्' 'रञ्ज्', 'त्यज्' धातुओं से 'घञ्' प्रत्यय परे रहते उपधावृद्धि[5] होकर 'चजो कु घिण्यतो'[6] मे कुत्व करते है। कुत्व करने मे गुणकृत आन्तर्य को लेकर, विवार, श्वास, अघोष एव अल्पप्राण गुणवाले चकार के स्थान मे विवार, श्वास आदि गुणवाला ककार आदेश होता है। संवार, नाद, घोष एव अल्पप्राण गुणवाले जकार के स्थान मे गकार आदेश होता है। प्रमाणकृत आन्तर्य का उदाहरण जैसे—अमुम्' 'अमू' इत्यादि। यहा 'अदस्' शब्द से 'अम्', 'औ' विभक्ति परे रहते "अदसोऽसेर्दा दुदोम"[7] से 'द' को 'म' होता है। साथ ही प्रमाणकृत आन्तर्य को लेकर दकार से परे ह्रस्व अकार को ह्रस्व उकार और दीर्घ अक्षर को दीर्घ ऊकार हो जाता है।

---

१ 'परि० स० १३।
२ इ० ७ ३ ८४ 'सार्वधातुकार्धधातुकयो'।
३ पा० ६ १ ७७।
४ पा० ६ १ ६३।
५ इ० ७ २ ११६, अत 'उपधाया'।
६ पा० ७ ३ ५२।
७ पा० ८ २ ८०।

अन्तरतम' यहा 'तमप्' ग्रहण का यही प्रयोजन है कि होने वाला आदेश सदृश होने पर भी पूर्ण सदृशतम हो। जैसे—'वाग् हसति' यहा "झयो होऽन्यतरस्याम्"[1] सूत्र से 'झम्' गकार से परे हकार को पूर्वसवर्ण करने मे हकार ज के सवार नाद,घोप और महाप्राण होने के कारण उसका पूर्ण सदृशतम आदेश घकार ही होता है तो वाग्घसति' यह इष्ट सन्धि का रूप बन जाता है। 'तमप्' ग्रहण के बिना पूर्ण सादृश्य के अभाव मे यत्किचित् सादृश्य को लेकर भी आदेश प्राप्त हो जायेगा। उस अवस्था मे केवल सवार, नाद, घोप प्रयत्न वाला गकार भी आदेश प्राप्त होगा तथा केवल महाप्राण प्रयत्न वाला खकार भी आदेश प्राप्त होगा। 'तमप्' ग्रहण करने पर, जो पूर्ण सदृशतम अर्थात् सवार, नाद, घोप होने के साथ-साथ महाप्राण भी हो, वह आदेश होगा तो हकार के स्थान पर घकार ही आदेश होता है। इस प्रकार सूत्र की प्रयोजनवत्ता सिद्ध हो जाती है।

लोकव्यवहार द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार तथा भाष्यकार दोनो ही इस सूत्र के प्रत्याख्यान मे सहमत हैं। इतने उपयुक्त शास्त्रकार्यसाधक प्रकृत सूत्र का भी वार्तिककार तथा भाष्यकार अपनी अकाट्य युक्ति-प्रयुक्तियो से स्वभावसिद्ध मानकर प्रत्याख्यान करने मे सकोच नही करते। भाष्यवार्तिक है—"अन्तरतमवचन चाशिष्यम्। कुत ,स्वभावसिद्धत्वात्। तद्यथा-समाजेषु समाशेषु समवायेषु चास्यतामित्युक्ते नैव कृशा कृशै सहासते। न पाण्डव पाण्डुभि। येषामेव किंचिदर्थकृतमान्तर्यं तैरेव सहासते। तथा गावो दिवस चरितवत्यो यो यस्या प्रसवो भवति तेन सह शेरते"[2] इत्यादि। इनका तात्पर्य यही है कि अन्तरतम व्यवहार के स्वभावसिद्ध होने के कारण इस सूत्र की आवश्यकता नही है। जो चीज लोक-व्यवहार या स्वभाव से ही सिद्ध हो, उसके लिए शास्त्र बनाना निष्प्रयोजन है। लोक मे यह देखा जाता है कि समाजों मे, सहभोजो एव सभा सोसाइटियो मे 'बैठिये' कहने पर जिनका जिनके साथ आन्तर्य या नजदीकी सम्बन्ध होता है, वे उन्ही के साथ बैठते हैं। यह आवश्यक नही कि दुबले-दुबलो के साथ ही बैठें, या मोटे मोटो के साथ। यह तो आपसी सम्बन्ध या प्रेम की बात है कि जहा जिसका कुछ भी थोडा मोटा सम्बन्ध होता है, वह उसी के पास बैठना पसन्द करता है। कहा भी है—

"यस्य येनार्यसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य स ।
अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम् ॥"[3]

---

१ पा० ८४,६२।

२ महा भा०१, सू०१ १ ५०, पृ० १२३।

३ न्यायदर्शन वात्स्यायनभाष्य, अध्याय १ आह्निक २, सू० ६।

संस्कृत मे सूक्ति प्रसिद्ध है—

"मृगा मृगैं सङ्गमनुव्रजन्ति, गावश्च गोभिस्तुरगास्तुरङ्गैः ।
मूर्खाश्च मूर्खैः सुधियः सुधीभिः समानशीलव्यसनेषु सख्यम्॥"[1]

अर्थात् गायें दिन भर जगल मे चरने के लिये जाकर सायकाल पर आती हुई अपने-अपने बछडो के साथ ही जा मिलती है। वे दूसरो के बछडो को अपना स्तन्यपान नही कराती। बछडे-बछडियां भी अन्य गायो के पास दूध पीने न जाकर अपनी माता के पास ही सानन्द जाकर दुग्धपान करती हैं। यह लोक-व्यवहार स्पष्ट बता रहा है कि परस्पर सम्बन्ध होने मे कोई अन्तर्वर्ती अन्तरतम कारण है। कोई अदृश्य सादृश्य है जिससे विवश होकर दो वस्तुयें परस्पर सम्बद्ध होती हैं।[2] इस प्रकार वस्तु स्वभाव तथा लोक व्यवहार के आधार पर सदृशतम आदेश के स्वत सिद्ध हो जाने से यह सूत्र प्रत्याख्येय है।

समीक्षा एव निष्कर्ष

स्वभावसिद्ध या लोकव्यवहारसिद्ध होने पर भी शास्त्रीय कार्य की सिद्धि तो वचन द्वारा अन्तरतम आदेश विधान के बिना नही हो सकती। अन्तरतम आदेशो मे भी जो विवाद हैं, उनका निर्णय शास्त्र से ही किया जा सकता है। अन्य सब आन्तर्यों की अपेक्षा स्थानकृत आन्तर्य ही बलवान् है, यह भी शास्त्र से ही जाना जा सकता है। अत सदृशतम आदेशविधायक यह सूत्र रचना ही चाहिये।

शब्दकौस्तुभकार भट्टोजिदीक्षित इस सूत्र के भाष्योक्त प्रत्याख्यान प्रकार को अपने शब्दो मे यू प्रकट करते हैं—"सभायामास्यतामित्युक्ते हि पण्डिता पण्डितै सह समासते, शूरा शूरै, कवय कविभि न तु सवरैण। कि बहुना, गवां सघ प्रति गौर्धावति, अश्वोऽश्वानामित्यादिव्यवस्था तिर्यक्ष्वपि दृश्यते। तस्मात् प्रथमवाक्यार्थस्य लोकत एव लाभात् न तदर्थं सूत्रमारम्भणीयम्। एव स्थानत

---

१. पञ्चतन्त्र, १ ३०५।

२ महाकवि भवभूति ने उत्तररामचरित मे (६ १२) आन्तर सादृश्य को ही परस्पर सम्बन्ध का हेतु बताते हुए यह सुन्दर श्लोक कहा है—

"व्यतिषजति पदार्थानान्तर कोऽपि हेतु,
न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतय सश्रयन्ते।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीक,
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्त ॥"

आन्तर्यं बलीय इत्यदि लोकत एव सिद्धम् । तथाहि, भूय सहचरितयोरश्वयोर्गेवोर्वा सजातीयान्तरमवलन सत्यपि कृशत्वपाण्डुत्वादिगुणसदृशानपि हित्वा स्थानसाम्यपुरस्कारेणैव परस्परापेक्षा दृश्यते । तदेव लोकत सिद्धे कि वचनेनेति।"[1] इसका अर्थ तो स्पष्ट ही है। फिर वे आगे सूत्र की आवश्यकता को प्रकट करते हुए लिखते है—"यद्वा स्थानेऽन्तरम इत्यत्र तन्त्रेण द्वेधा छेद सूनकृत सम्मत । भाष्यकृता लौकिकन्यायाश्रयणेन सूत्रप्रत्याख्यानपक्षेऽपि प्रकृतित आदेशतश्चेत्युभयथाप्यन्तरतमनिवृत्तिरस्त्येव"[2]। इसका भाव यह है कि भाष्यकार द्वारा लौकिक न्याय का आश्रयण करके इस सूत्र का प्रत्याख्यान करने पर भी इस सूत्र की आवश्यकता रहती है। क्योकि सूत्र की सत्ता मे तन्त्र द्वारा "स्थानेऽन्तरतम" यह प्रथमान्तपद का सन्धिच्छेद तथा "स्थानेऽन्तरतमे" यह सप्तम्यन्तपद का सन्धिच्छेद दोनो ही निकाले जा सकते है। दोनो प्रकार का पदपाठ सभव है। सूत्र के अभाव मे यह हो नही सकता। भाष्यकार स्वय भी लिखते हैं—

"उभयथापि तुल्या सहिता। स्थानेऽन्तरतम उरण्रपर इति।"[3]

'अन्तरतम' इस प्रथमान्त पाठ मे सर्वविदित अर्थ है—स्थान मे अन्तरतम (सदृशतम) आदेश होता है। इस पक्ष मे 'अन्तरतम' यह आदेश का विशेषण है। इसमे स्थानी के अन्तरतम न होने पर भी आदेश अन्तरतम होगा तो "इकोयणचि"[4] से अन्तरतम या अनन्तरतम सभी 'इको' के स्थान मे 'यण्' आदेश हो जायेगा। उससे जहा 'दध्यत्र' यहा एकमात्रिक इकार के स्थान मे 'यण्' होता है वहा 'कुमार्यत्र' यहा द्विमात्रिक ईकार के स्थान मे भी हो जाता है। इसके विपरीत "स्थानेऽन्तरतमे" इस सप्तम्यन्त पाठ मे अर्थ होगा—अन्तरतम स्थानी मे आदेश होता है। इस पक्ष मे आदेश के अन्तरतम न होने पर भी स्थानी के अन्तरतम होने पर आदेश हो जायेगा। उससे "इको यणचि" मे अर्धमात्रिक 'यण्' का अन्तरतम स्थानी "स्वल्पान्तर न दोपाय" के न्याय से 'दध्यत्र' यहा एकमात्रिक इकार है, उसको तो 'यण्' हो सकता है, द्विमात्रिक ईकार को 'यण्' नही हो सकता तो 'कुमार्यत्र' मे 'यण्' न हो सकेगा। इस प्रकार सप्तम्यन्त पाठ मे कई अन्य दोष भी उपस्थित होते है। कुछ दोष प्रथमान्त पाठ मे भी आते हैं। जैसे—"वान्तो यि प्रत्यये"[5] से 'एचो' के स्थान मे होने वाला 'अव्, 'आव्' रूप वान्ता-

---

१. श० कौ० भा० १, पृ० १६५-६६।
२ श० कौ० भा० १, पृ० १६५।
३ महा० भा० १, सू० १ १ ५०, पृ० १२०।
४ पा० ६ १ ७७।
५ पा० ६ १ ७६।

देश 'ए', 'ऐ' के स्थान में भी प्राप्त होता है क्योंकि प्रथमान्त पाठ में अनन्तरतम स्थानी में भी आदेश की प्रसक्ति होगी। सप्तम्यन्त पाठ में तो अन्तरतम स्थानी को देखना होगा। 'अव्', 'आव्' के अन्तरतम स्थानी 'ओ', 'औ' हैं, 'ए', 'ऐ' नहीं हैं, अतः वहां वान्तादेश की प्रसक्ति नहीं हो सकती। उक्त दोषों का समाधान भी हो जाता है। अन्त में प्रथमान्त पाठ को ही सिद्धान्तरूप से स्वीकार किया गया है। वैसे "ल्वादिभ्य"[1], "प्वादीनां ह्रस्वः"[2] इत्यादि निर्देशों से सप्तम्यन्त पाठ के दोषों का भी परिहार कर दिया गया है। यह सब प्रकृत सूत्र के भाष्य में तथा शब्दकौस्तुभ में ही द्रष्टव्य है।

तात्पर्य यह है कि स्थानी और आदेश दोनों प्रकार से अन्तरतम की निवृत्ति (निष्पत्ति) सूत्र से अपेक्षित है। यह इस सूत्र की सत्ता में ही सम्भव है। अतः सूत्र का रचना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। इसीलिए अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी भाष्यकार के प्रत्याख्यान का समर्थन न करके सूत्रकार पाणिनि के सूत्र का ही अनुमोदन किया है।[3]

अनुदात्तं पदमेकवर्जम् ॥ ६ १ १५८ ॥

सूत्र का प्रतिपाद्य

स्वरविधि विषयक यह परिभाषा सूत्र है। इसका अर्थ है कि जिस पद में किसी 'अच्' को उदात्त या स्वरित विधान किया गया है, उस एक 'अच्' को छोड़कर शेष वह पद अनुदात्त होता है। उस पद में विद्यमान शेष 'अच्' अनुदात्त हो जाते हैं। केवल वही 'अच्' उदात्त या स्वरित रहता है। यही 'शेषनिघात' कहलाता है। यथा—'गोपायति'। यहाँ 'गुप्‌धातु' से स्वार्थ में "गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः"[4] से 'आय' प्रत्यय होता है। लघूपधगुण होकर 'गोपाय' बनता है। 'गोपाय' की "सनाद्यन्ता धातवः"[5] से 'धातुसंज्ञा' होकर "धातोः"[6]

---

१ पा० ८ २ ४४।
२ पा० ७ ३ ८०।
३ (क) जै० सू० १ १ ४७ 'स्थानेऽन्तरतम'।
   (ख) शा० सू० १ १ ७ 'आसन्न'।
   (ग) है० सू० ७ ४ १२० 'आसन्न'।
४ पा० ३ १ २८।
५ पा० ३ १.३२।
६ पा० ६ १ १६२।

से अन्तोदात्त हो जाता है। 'गोपाय' धातु का यकारोत्तरवर्ती अकार उदात्त है। शेष 'गोपा' शब्द "अनुदात्त पदमेकवर्जम्" इस सूत्र से अनुदात्त हो जाता है। 'गोपाय' से वर्तमान काल मे लट् लकार होकर उसके स्थान मे प्रथम पुरुष का एकवचन 'तिप्' प्रत्यय होता है। 'तिप्' प्रत्यय पित् होन से "अनुदात्तौ सुप्पितौ"[1] से अनुदात्त है। मध्य मे "कर्तरि शप्"[2] से शप् विकरण होता है। वह भी 'पित्' होने से अनुदात्त है। गोपाय का 'शप्' के अकार के साथ "अतो गुणे"[3] से पररूप एकादेश हो जाता है। उदात्त और अनुदात्त का एकादेश "एकादेश उदात्तेनोदात्त"[4] से उदात्त बन जाता है। इस प्रकार 'गोपायति' मे अन्तोदात्त 'गोपाय' से परे 'तिप्' प्रत्यय जो अनुदात्त है वह "उदात्तादनुदात्तस्य स्वरित"[5] से स्वरित होता है तो 'गोपाय ति' ऐसा शुद्ध स्वर-युक्त रूप बन जाता है।

सूत्र मे 'पद' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'पद' मे ही एक उदात्त या स्वरित 'अच्' को छोडकर शेषनिघात हो। 'देवदत्त गामभ्याज शुक्ला दण्डेन' यहा वाक्य मे 'शेषनिघात' न होकर प्रत्येक पद का अपना अपना स्वर होता है। समस्त स्वरविधि मे यह सूत्र व्याप्त होता है। इसके अनेक उदाहरण है जहा 'शेष-निघात' किया जाता है।

ज्ञापको द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

स्वरविधान मे बहुत व्यापक इस सूत्र को ज्ञापक से अन्यथासिद्धि करते हुए भाष्यकार इसका प्रत्याख्यान करते हैं—"यौगपद्य तवै सिद्धम्"[6] अर्थात् पद मे जिस एक 'अच्' को उदात्त या स्वरित विधान किया है वहा इस सूत्र के बिना भी शेष 'अच्' अनुदात्त ही होंगे। क्योंकि पद मे वर्तमान शेष 'अच्' या तो युग-पत् उदात्त प्राप्त होंगे या पर्यायिण। मानि एक साथ सब 'अच्' उदात्त प्राप्त होते हैं या क्रम से। उनमे युगपत् तो सब 'अच्' उदात्त हो नही सकेंगे। "अन्तश्च तवै युगपत्"[7] यह सूत्र 'तवै' प्रत्यय को युगपत् (एक साथ) आद्युदात्त और

---

१ पा० ३ १ ४।
२ पा० ३ १ ६८।
३ पा० ६ १ ९७।
४ पा० ८ २ ५।
५ पा० ८ ४ ६६।
६ महा० भा० ३, प्रकृत सूत्र, पृ० ९७।
७ पा० ६ १ २००।

अन्तोदात्त विधान करता है। यह इस बात का ज्ञापक होगा कि यदि एक साथ उदात्त हो तो 'तवै' प्रत्यय में ही हो। 'दातवै'[1] यहा 'तवै' प्रत्यय एक साथ ही आद्युदात्त भी है और अन्तोदात्त भी है। इसलिये उक्त ज्ञापक से अन्यत्र उदात्तो का यौगपद्य न होगा तो इष्ट सिद्ध हो जायगा।

क्रम से उदात्त की प्राप्ति में भी भाष्यवार्तिककार कहते हैं—"पर्यायो रिक्त शासनात"[2] अर्थात् रिक्ते विभाषा[3] सूत्र से 'रिक्त' शब्द का पर्याय (क्रम) से आद्युदात्त और अन्तोदात्त विधान किया गया है। 'रिक्त रिक्त' ये दो रूप स्वरभेद से 'रिक्त' शब्द के बनते हैं। वह इस बात का ज्ञापक है कि 'रिक्त' शब्द मे ही पर्याय मे उदात्त होता है। अन्यत्र एक 'अच्' को छोडकर शेषनिघात ही रह जायेगा। यदि यह कहा जाये कि 'उदात्ते ज्ञापक त्वेतत्' अर्थात् ये दोनो ज्ञापक तो उदात्त के सम्बन्ध मे ही हैं, 'स्वरिते न समाविशेत्' यानि स्वरित के सम्बन्ध मे ये ज्ञापक नही है। इसलिये स्वरित मे तो स्वरित का समावेश प्राप्त होता ही है। जहां एक अच् को स्वरित कहा गया है वहां इस सूत्र के बिना शेषनिघात न होकर कई स्वरितो का समावेश अनिष्ट रूप से प्राप्त होगा[4] तो उसके उत्तर मे भाष्यवार्तिककार कहते हैं—"स्वरितेऽप्युदात्तोस्ति"[5] अर्थात् स्वरित मे भी उदात्त का अश रहता है। क्योकि "समाहार स्वरित"[6] से उदात्त-अनुदात्त का समाहार सम्मिश्रण ही स्वरित है। इसलिये जब उदात्त का समावेश उक्त ज्ञापको से रुक गया तो स्वरित का समावेश भी उदात्त के साथ स्वत एव प्रतिरुद्ध हो गया। इसलिये इस सूत्र के बिना भी पद मे एक 'अच्' ही उदात्त या स्वरित रहेगा। शेष 'अच्' अनुदात्त रह जायेंगे। ऐसी अवस्था मे यह सूत्र व्यर्थ हो जाता है।

---

१ ऋक्० ८२१६।
२ महा० भा० १ प्रकृत सूत्र,पृ० ६७।
३ पा० ६ १ २०८।
४ महा० भा० ३, प्रकृत सूत्र, पृ० ६७ 'उदात्ते ज्ञापक त्वेतत् स्वरिते न समाविशेत्'।
५ वही।
६ पा० १ २ ३१।

समीक्षा एव निष्कर्ष

यद्यपि भाष्यवार्तिककार ने ज्ञापको से इस सूत्र के प्रयोजनो की सिद्धि मान कर इसका प्रत्याख्यान कर दिया है तथापि यह सूत्र स्वरविधि मे अत्यन्त उपकारक होने के कारण रखना ही चाहिये। "ज्ञापकसिद्ध न सवत्र"[1] इस न्याय के अनुसार सर्वत्र ज्ञापकसिद्ध बात को स्वीकार नही किया जाता। ज्ञापको द्वारा 'शेप निघात' को समझने मे क्लिष्ट कल्पना करनी पडती है, स्पष्ट प्रतिपत्ति नही होती। उक्त परिभाषासूत्र के होने पर तो पद मे एक उदात्त या स्वरित 'अच्' को छोडकर सर्वत्र 'शेपनिघात' हो जाता है। इस सूत्र से पूर्वविहित उदात्त हो या परविहित, सब जगह उसकी प्रवृत्ति होने से इष्ट सिद्ध होता है। इसलिए भाष्यकार ने सूत्र का प्रत्याख्यान करने के बाद कहा—"आरभ्यमाणेऽप्येतस्मिन् योगे "[2] इत्यादि। तात्पर्य यह है कि "स्थानिवत्" सूत्र के समान या "असिद्धवदत्राभात्" सूत्र के समान प्रत्याख्यात हुआ भी यह सूत्र आरम्भ करने योग्य ही है।[3] इसीलिए अन्य व्याख्याकारो न भी अपनी-अपनी टीकाओ मे इसके प्रत्याख्यान का कोई सकेत नही दिया। किन्तु पाणिनि सम्प्रदाय से भिन्न वैयाकरणो ने भी इस विषय मे मौन धारण किया हुआ है। इसका कारण सभवत इन वैयाकरणो द्वारा केवल लौकिक सस्कृत का व्याकरण लिखा जाना है[4]। क्योकि यह परिभाषासूत्र स्वरविधिविषयक है और स्वर का सम्बन्ध मुख्यरूप से वैदिक भाषा से है। अत इन वैयाकरणो के तत्तत् ग्रन्थो मे इस सूत्र का सर्वथा अभाव परिलक्षित होता है। ऐसी स्थिति मे इन वैयाकरणों का प्रकृत सूत्र के विषय मे क्या अभिमत है, यह कहना कठिन है।

---

१ परि० स० १२५।

२ महा० भा० ३, प्रकृत सूत्र, पृ० ६८।

३ पा० १ १ ५६ 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ'। पा० ६ ४ २२ 'असिद्धवदत्राभात्'। इन दोनो सूत्रो का खण्डन करने के बाद भाष्यकार ने इन दोनो के अन्त मे भी ये ही 'आरभ्यमाणेऽप्येतस्मिन् योगे' इत्यादि वचन कहे हैं।

४ द्र० स० व्या० शा० ३, भा० १, १७ वा अध्याय (आचार्य पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण) इस विषय मे युधिष्ठिर मीमासक का मत है कि इन अर्वाचीन वैयाकरणो (चन्द्रगोमी आदि) ने लौकिक के साथ-साथ वैदिक व्याकरण भी लिखा था।

अस्तु, प्रस्तुत प्रसङ्ग मे यही समझना चाहिये कि भाष्यकार ने आपातत इस सूत्र का ज्ञापको द्वारा खण्डन करके भी, जैसी कि उनकी शैली रही है, उसके अनुसार उन्होंने इस सूत्र का आरम्भ ही उचित माना है। व्याकरण मे स्वर विषय अत्यन्त व्यापक है। उसको स्पष्ट समझने के लिए इस सूत्र का होना अत्यन्त आवश्यक एव उचित है ॥

तृतीय अध्याय

भाग—क

विधि सूत्रों का प्रत्याख्यान

जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम् ॥१ २ ५८॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र जातिपदार्थनिष्ठ एकत्व मे पाक्षिक बहुत्व का अतिदेश करता है। अर्थात जो जाति पदार्थ मे रहने वाला एकत्व सामान्य है उसमें विकल्प से बहुत्व का अतिदेश हो जाता है। "जात्याख्यायाम्" यहा जाति शब्द से जाति पदार्थ की प्रधानता विवक्षित है, द्रव्य की नही। अत सूत्र का अर्थ हुआ कि जाति पदार्थ की प्रधानता कहने मे जाति के एकत्व के साथ पक्ष मे उसका बहुत्व भी अतिदिष्ट होता है। जैसे—'ब्राह्मण पूज्य होता है'। इसके साथ 'ब्राह्मण पूज्य होते हैं', यह भी कह सकते हैं। 'ब्राह्मणत्वजात्याक्रान्त सभी ब्राह्मण' इस सूत्र के अनुसार एकत्व तथा बहुत्व के सम्बन्ध से प्रयुक्त किये जा सकते हैं। इसी प्रकार 'घडा मिट्टी से बनता है' यह एकत्व से अभिधान है। इस सूत्र के अनुसार 'घडे मिट्टी से बनते हैं', यह बहुत्व से भी अभिहित हो सकता है। 'कपडा साफ रखो', 'कपडे साफ रखो', । 'इस साल गेहू-चना खूब हुआ', 'गेहू चने खूब हुए'। 'धान मन्द रहा', 'धान मन्दे रहे'। 'बर्तन धो लेना चाहिये' बर्तन धो लेने चाहिए' इत्यादि अनेक जातिवाची शब्दों के एकत्व तथा बहुत्व के सम्बन्ध से प्रयुक्त होने वाले उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

भाष्यकार पतजलि ने पस्पशाह्निक मे प्रश्न किया है कि "कि पुनराकृतिः पदार्थ आहोस्विद् द्रव्यम्"[1] अर्थात् इस शास्त्र मे आप आकृति यानि जाति पदार्थ को मानते हैं या द्रव्य को। आकृति जाति एक ही बात है। इसी प्रकार द्रव्य या व्यक्ति एकार्थवाची हैं। प्रश्न का उत्तर देते हुए आगे कहा है—"उभयमित्याह। उभयथा ह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि। द्रव्य पदार्थं मत्वा सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ इत्येक शेष आरभ्यते। आकृति पदार्थ मत्वा जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम् इत्युच्यते"[2]। इसका भाव यही

---

१ महा० भा० १, पस्पशा०, पृ० ६।

२. वही।

है कि इस सूत्र द्वारा जाति पदार्थ की भी सत्ता स्वीकार की गई है। सब घट, पट आदि शब्दो का घटत्व, पटत्व आदि जाति ही प्रधानतया वाच्य है। जाति के द्रव्य या व्यक्ति भी कार्यान्वयी होने से गौणतया वाच्य हैं। जाति और व्यक्ति ये दोनो पक्ष समस्त शास्त्र म यथायिनि लक्ष्यानुरोध से व्यवस्थित हैं। जातिपदार्थवादी के मत मे जाति प्रधान रहती है, द्रव्य गौण है। द्रव्य पदार्थवादी के मत मे द्रव्य प्रधान रहता है जाति गौण है[1]। इस प्रकृत सूत्र मे जातिपक्ष की प्रधानता को लेकर विचार हुआ है कि क्योंकि जाति सवत्र एक है। उसमे एकत्व के साथ बहुत्व का अतिदेश भी पाक्षिक मानना चाहिए।

व्यक्ति द्वारा जाति का अभिधान होने से अथवा पक्षान्तर को लेकर सूत्र का प्रत्याख्यान

सूत्र की स्थापना के बाद वार्तिककार तथा भाष्यकार दोनो ही इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते है—"अशिष्य वा बहुवत् पृथक्त्वाभिधानात्। जातिशब्देन हि द्रव्याभिधानम्"[2] अर्थात् जातिपदार्थ को मानते हुए, जो इस सूत्र द्वारा एकत्व के साथ बहुत्व का विकल्प से अतिदेशविधान किया है, वह अशिष्य है। इसके अनुशासन की कोई आवश्यकता नही है। क्योंकि यहा केवल जातिपदार्थ ही अभीष्ट नही है अपितु जाति के साथ व्यक्ति या द्रव्य पदार्थ भी अभीष्ट है। जाति यद्यपि एक है किन्तु व्यक्तियाँ पृथक्-पृथक् हैं। उसके लिए अलग सूत्र बनाना व्यर्थ है। जब जाति की प्रधानता विवक्षित होगी तब एकत्व का प्रयोग होगा और जब व्यक्ति या द्रव्य की प्रधानतया विवक्षा होगी तब व्यक्तियों के बहुत होने से बहुत्व का प्रयोग हो जाएगा। जाति शब्द से द्रव्य का अभिधान कैसे सभव है यह बताते हुए आगे कहा जाता है—

"एव हि कश्चित् महति गोमण्डले गोपालकमासीन पृच्छति—अस्त्यत्र कांचिद् गा पश्यसि इति। स पश्यति—पश्यति चाय गा, पृच्छति च—

---

१ द्र०, महा० भा० १, सू० १२६४, पृ० २४६, 'न ह्याकृतिपदार्थिकस्य द्रव्य न पदार्थो, द्रव्यपदार्थिकस्य वाकृति न पदार्थ। उभयोरुभय पदार्थ। कस्यचित्तु किंचित्प्रधानभूत किंचिद्गुणभूतम्। आकृतिपदार्थिकस्य आकृति प्रधानभूता द्रव्य गुणभूतम्। द्रव्यपदार्थिकस्य द्रव्य प्रधानभूतमाकृति गुणभूता'।

२. महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० २३०।

'काञ्चिद् गा पश्यसीति । नूनमस्य द्रव्य विवक्षितमिति । तद् यदा द्रव्याभिधान तदा बहुवचन भविष्यति । यदा सामान्याभिधान तदैकवचन भविष्यतीति'' १

यहा भाष्यकार द्वारा दिया हुआ गोपालक से पूछने वाले मनुष्य का दृष्टान्त अत्यन्त स्पष्ट है । जो गोसमूह को प्रत्यक्ष देखता हुआ भी गौ के विषय मे पूछता है कि क्या आप यहा गोसमूह मे किसी गौ को देखते हैं । ऐसे पूछते हुए उस मनुष्य का यही भाव है कि मैं सामान्यतया गोसमूह को तो देख रहा हू परन्तु जो मेरी दिदृक्षित विशेष गौ है, उसे नहीं देख रहा हू । उसके विषय मे आपसे पूछता हू कि क्या आप विशेष गौ को देख रहे हैं । इस गोपालक से पूछने वाले व्यक्ति-विशेष के व्यवहार से प्रकट होता है कि गौ-जाति मे भी गोव्यक्ति घुसा हुआ है जिसे विशेष रूप मे वह देखना चाहता है । इससे सिद्ध है कि जातिवाचक शब्द सेभी द्रव्य का अभिधान होता है । अन्यथा गोजाति के दर्शन से ही उसकी आकाक्षा निवृत्त हो जाती । जब जाति के साथ व्यक्ति और व्यक्ति के साथ जाति नित्यसम्बद्ध है, दोनो का अविनाभाव सम्बन्ध है, तब जाति पदार्थ के साथ व्यक्तिपदार्थ का प्रत्यवभास अवश्यभावी है । अत जाति को प्रधान मानने पर भी तदन्तगत व्यक्तियो के बहुत्व को लेकर एकत्व के साथ बहुत्व भी सिद्ध हो जायेगा । ऐसी अवस्था मे इस सूत्र का बनाना निष्प्रयोजन है । 'ब्राह्मण पूज्य होते हैं यहा ब्राह्मणत्व जात्यन्तर्गत 'ब्राह्मण व्यक्ति पूज्य होते हैं' ऐसा भाव समझा जायेगा । सर्वत्र अन्य उदाहरणों मे भी जाति और व्यक्ति के आधार पर एक वचन एव बहुवचन की व्यवस्था सिद्ध हो जाएगी ।

समीक्षा एव निष्कर्ष

वस्तुत यह सूत्र प्रत्याख्यान के योग्य ही है । क्योकि "जात्याख्य।याम्०" यहा जाति शब्द से यदि जात्युपलक्षित व्यक्ति या द्रव्य लिया जाये तो उन व्यक्तियो के बहुत होने से उनमे एकत्व है ही नही । उनके लिए 'एकस्मिन् बहुवचनम्' यह कहना असगत है । जब व्यक्ति एक है ही नही तो 'एकस्मिन्' कहना सर्वथा व्यर्थ है । उस अवस्था मे सूत्र-रचना "बहुष्वेकवचनम्" ऐसी होनी चाहिए । भाष्यकार ने कहा भी है—"इदमयुक्त वर्तते । किम युक्तम् । बहवस्तेऽर्था तत्र युक्त बहुवचनम् । तद् यदेकवचने शासितव्ये बहुवचन

१ वही ।

मिष्यते एतदयुक्तम्'' ।[१]

और यदि जाति शब्द से सब व्यक्तियों में नित्य समवेत एकत्वविशिष्ट सामान्य लिया जाता है तो उसके नित्य एक होने से उसमें बहुत्व ही सम्भव नहीं तो वहां 'बहुवचनम्' ऐसा कहना अनुपपन्न है। जो सदा एक ही रहता है उसमें बहुवचन कैसा। नित्य एकरस रहने वाली ब्राह्मणत्वादि जाति में भी यदि बहुत्व माना जायेगा तो उसमें और ब्राह्मणादि व्यक्तियों में क्या भेद रहेगा। एक में बहुवचन कहने का तो यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि एक व्यक्ति के विषय में पक्ष में बहुवचन का भी प्रयोग किया जा सकता है। यह तभी सम्भव है जब जाति शब्द का अर्थ व्यक्ति या द्रव्य लिया जाये। इस प्रकार दोनों ओर से घिर कर जाति शब्द का अर्थ यहां 'जातिविशिष्ट व्यक्ति' ही लिया जा सकता है। तब जाति की प्रधानता में 'एकस्मिन्' यह अंश तो घट जाता है किन्तु 'बहुवचनम्' इस अंश की संगति नहीं बैठती। व्यक्ति की प्रधानता में 'बहुवचनम्' यह अंश तो घट जाता है किन्तु 'एकस्मिन्' यह अंश असंगत ही रहता है क्योंकि व्यक्ति एक नहीं है। इस प्रकार सूत्र की रचना बड़ी विषम तथा सन्देह में डालने वाली हो जाती है। उससे अभीष्टार्थ की सिद्धि नहीं होती।

बड़ी स्पष्ट बात है कि जाति में एकवचन तथा व्यक्ति में बहुवचन अभीष्ट है, वह इस सूत्र के बिना भी अनायास सिद्ध हो जाता है। व्यक्ति की विवक्षा में बहुवचन तथा जाति की विवक्षा में एकवचन स्वतः सिद्ध हो जाने से यह सूत्र निष्प्रयोजन बन जाता है। लोक व्यवहार में अदृष्ट असम्भव बात को सूत्रकार कैसे कह सकते है कि एकत्वविशिष्ट जाति में बहुवचन हो जाता है। जातिवाची शब्दों के जो एकवचन तथा बहुवचन में उदाहरण पहले दिये गये हैं, वे न केवल जाति के और न केवल व्यक्ति के समझने चाहिए प्रत्युत 'जातिविशिष्ट व्यक्ति' के साझले समझने चाहिए। एकवचन को देखकर जाति की प्रधानता तथा व्यक्ति की गौणता एवं इसी प्रकार बहुवचन को देखकर व्यक्ति की प्रधानता एवं जाति की अप्रधानता सर्वत्र द्रष्टव्य एवं अनुभवगम्य है। 'सरूपसूत्र' में भाष्यकार ने कहा ही है—

"उभयोरुभय पदार्थ । कस्यचित् किंचित् प्रधानभूतं, किञ्चिद्गुणभूतम् । आकृतिपदार्थिकस्य आकृतिः प्रधानभूता, द्रव्यं गुणभूतम् । द्रव्यपदार्थिकस्य

१ महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० २२६ ।

द्रव्य प्रधानभूतमाकृतिगुणभूता"[1] ॥

अर्वाचीन ग्रन्थों चान्द्रव्याकरण तथा जैनेन्द्र व्याकरण मे भी प्रकृत सूत्र नहीं मिलता। अत इनकी दृष्टि मे भी यह सूत्र प्रत्याख्यात ही है। जैनेन्द्र-महावृत्तिकार तो बड़े स्पष्ट शब्दो मे कहता है— जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम् इति न वक्तव्यम् । सामान्यविशेषात्मकत्वाद्वस्तुन[2] इत्यादि।

प्रस्तुत सदर्भ मे शाकटायन[3] तथा हेमचन्द्र ने उक्तसूत्र को अपने-अपने तन्त्रों मे जातिपदार्थ मे पाक्षिक बहुवचन विधान के लिए आवश्यक माना है। लेकिन, यह विचारणीय ही कहा जा सकता है। अस्तु हैम व्याकरण मे एक नई बात यह आई है कि वहा बहुवद्भाव करने वाले इन सूत्रों को कारक प्रकरण मे पढा गया है, जबकि पाणिनि न इस बहुवद्भाव को शेष प्रकरण मे स्थान दिया है, कारक मे नहीं। इससे पाणिनि की दृष्टि में बहुवद्भाव कारकीय प्रतीत नहीं होता। परन्तु हेमचन्द्र ने इसे कारकीय मानकर अपनी वैज्ञानिकता का परिचय दिया है। क्योंकि एकवचन या द्विवचन के स्थान पर बहुवचन का होना अर्थात् 'सु', 'औ' के स्थान पर 'जस्' का होना कारकीय जैसा ही प्रतीत होता है। अत हेमचन्द्र ने इन सूत्रों को कारकपाद के अन्त मे तत्सदृश होने से ग्रथित कर दिया है।[4] इस बहुवद्भाव का सबन्ध आगे आने वाले पादों से नही है। इससे स्पष्ट है कि हेमचन्द्र ने बहुवद्भाव को भी कारक जैसा विधान ही माना है।

अस्मदो द्वयोश्च ॥१ २ ५९॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र 'अस्मद्' शब्द के एकत्व और द्वित्व अर्थ मे पाक्षिक बहुत्व का अतिदेश करना है। इसका अर्थ है कि अस्मद्' शब्द के एकत्व और द्वित्व दोनों अर्थों में विकल्प से बहुत्व का अतिदेश होकर बहुवचन हो जाता है।

---

१ महा० भा० १, सू० १ २ ६४, पृ० २४६।
२ जैनेन्द्र व्याकरण महावृत्ति-१ १ ६७।
३. शा० सू० १ ३ ६४ 'जातिर्वहुवद्वैकाख्यायाम्'।
४ है० सू० २ २ १२१ 'जात्याख्याया न वैकोऽसख्यो बहुवत्'।

जैसे—'अह ब्रवीमि' (मैं कहता हू) यहा 'अस्मद्' शब्द के एकत्व अर्थ मे एकवचन होता है। साथ ही इस सूत्र के द्वारा बहुत्व का अतिदेश होकर 'वय ब्रूम' (हम कहते हैं) यह बहुवचन का प्रयोग भी पक्ष मे होता है। जो अर्थ अह ब्रवीमि का है वही 'वय ब्रूम' का भी है। इसी प्रकार 'आवा ब्रूव' (हम दोनो कहते हैं) यहा द्वित्व अर्थ वाले अस्मद्' शब्द से द्विवचन होता है। साथ ही इस सूत्र द्वारा बहुत्व का अतिदेश होकर बहुवचन भी हो जाता है। वय ब्रूम (हम कहते है) यहा 'हम दानो कहते हैं' इस अर्थ को प्रकट करने के लिए वय ब्रूम यह बहुवचन का प्रयोग भी होता है। यह अतिदेश केवल अस्मद' शब्द के विषय मे ही है। युष्मद्' शब्द के विषय मे तो एकत्व अर्थ मे केवल एकवचन और द्वित्व अर्थ मे केवल द्विवचन ही होता है, यहा बहुवचन नही होता। 'त्व ब्रवीषि, युवा ब्रूथ।' कुछ वृत्तिकारो ने 'युष्मदि गुरावेकेषाम्'[1] यह वचन पढकर 'गुरु' अर्थ के अभिधान मे 'युष्मद् शब्द से भी एकत्व अर्थ मे बहुवचन का विधान किया है। 'त्व मे गुरु'। 'यूय मे गुरव'। दोनों का एक ही अर्थ है कि तू मेरा गुरु है या आप मेरे गुरु है। परन्तु यह वचन भाष्यवार्तिक मे कही उपलब्ध नहीं होता, अत अन्वेष्टव्य ही है।

अस्मद्' शब्द मे सविशेषणस्य प्रतिषेधो वक्तव्य[2] इस वार्तिक द्वारा उद्देश्यभूत अस्मद्' के विशेषण मे बहुवचन नही होता। इसीलिए अर्वाचीन वैयाकरणो ने अपने सूत्रो म 'अविशेषण' पद को जोडकर सूत्र बनाया है। जैसे—"द्वौ चास्मदोऽविशेषणे"[3]। सूत्र के उदाहरण इस प्रकार हैं—'अह पटुर्ब्रवीमि'। 'अह देवदत्तो ब्रवीमि' (मैं पटु बोल रहा हू। मैं देवदत्त बोल रहा हू)। यहा 'पटु' और 'देवदत्त' ये दोनों 'अस्मद्' के विशेषण हैं। अत बहुवचन न होकर केवल एकवचन ही होता है। इसी प्रकार "त्व राजा वयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाभिमानान्नता"[4] (तू राजा है तो हम भी गुरुओ की उपासना

---

१ भा० भा० १, सू० १ २ ५९, पृ० ३६८।

तुलना करो—(क) जैनेन्द्रमहावृत्ति, सू० १ ४ ९७ 'युष्मदि गुरावुभयविवक्षा'। (ख) है० सू० २ २ १२४ 'गुरावेकश्च'

२, भा० भा० १, सू० १.२ ५९, पृ० ३६८।

३ शा० सू० १ ३ ६५। तुलना करो—है० सू० २ २ १२२ अविशेषणे द्वौ चास्मद।'

४ वैराग्य शतक, २३। शार्ङ्गधर पद्धति २०४।

से प्राप्त प्रजा के अभिमान से ऊचे है) यहा 'अस्मद्' शब्द का विशेषण जो उन्नतत्व है, वह विधेय विशेषण है, उद्देश्य विशेषण नही है, इसलिए 'अस्मद्' शब्द के विशेषण युक्त होने पर भी बहुवचन का निषेध नही हुआ तो 'वयम् उन्नता ' यहा बहुवचन हो गया। उपर्युक्त श्लोकवचन के समान ही 'अस्माक तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतटक्रीडाकाननकेलिकौतुकजुषाम्' इस 'अस्मद्' शब्द के विधेयविशेषण युक्त होने पर भी बहुवचन का निषेध नही हुआ।

लोकव्यवहार द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार कात्यायन इस सूत्र के व्याख्यान तथा प्रत्याख्यान दोनों में मौन हैं। यह प्रत्याख्यान भाष्यकार की अपनी मौलिक कल्पनाशक्ति का परिणाम है। इसलिए ये उक्त सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—

"अयमपि योग शक्योऽवक्तुम्। वयम्—अह ब्रवीमि, वय ब्रूम। आवा ब्रूम, वय ब्रूम। इमानीन्द्रियाणि कदाचित् स्वातन्त्र्येण विवक्षितानि भवन्ति तद्यथा—इद मे अक्षि सुष्ठु पश्यति। अय मे कर्ण सुष्ठु श्रृणोति इति। कदाचित् पारतन्त्र्येण विवक्षितानि भवन्ति—अनेनाक्ष्णा सुष्ठु पश्यामि। अनेन कर्णेन सुष्ठु श्रृणोमि इति। तद् यदा स्वातन्त्र्येण विवक्षा तदा बहुवचन भविष्यति। यदा पारतन्त्र्येण तदैकवचनद्विवचने भविष्यत"[1]।

यहा भाष्यकार का आशय यह है कि यदि इस सूत्र के बिना ही अस्मद्' शब्द का बहुत्व अर्थ सिद्ध हो जाये तो वहा "बहुषु बहुवचनम्"[2] इस सामान्य नियम से बहुवचन हो जायेगा। उस अवस्था म इस सूत्र की कोई आवश्यकता नही। 'अस्मद्' शब्द का बहुत्व अर्थ सिद्ध करने के लिए भाष्यकार यहा बहुत सुन्दर दृष्टान्त उपस्थित करते हैं कि हमारी ये इन्द्रिया कभी स्वतन्त्र रूप से क्रिया को करने वाली विवक्षित होती हैं, कभी परतन्त्ररूप से। 'यह मेरी आख बहुत अच्छी तरह देखती है'। 'यह मेरा कान बहुत अच्छी तरह सुनता है' इन वाक्यो म चक्षु इन्द्रिय तथा कर्णेन्द्रिय दोनो अपने व्यापार मे स्वतन्त्र विवक्षित हुई कर्ता बनी हुई हैं। इसके विपरीत जब उक्त इन्द्रियो का

---

१ वृ० श० शे० भा० २, प्रकृत सूत्र, पृ० १०७७ से उद्धृत।

२. महा० भा० १, सू० १ २ ५९ पृ० २३०-३१।

३ पा० १४२१।

व्यापार परतन्त्रतया विवक्षित होगा तो हम कहेगे कि मै इस आंख से बहुत अच्छा देखता हूं। मै इस कान से बहुत अच्छा सुनता हू। यहा इन्द्रियो का व्यापार स्वतन्त्र न होकर देखने या सुनने वाले मेरे अधीन हो जाता है। तब मे क्रिया का कर्ता बनता हू। इन्द्रिया करण रहती है। इन्द्रियो के व्यापार की स्वतन्त्रता म इन्द्रिया कर्ता होती है। मै गौण हो जाता हू।

देहेन्द्रियसघात विशिष्ट आत्मा को कर्ता माना जाता है। साख्य या वेदान्त के सिद्धान्त मे अहकार से रहित आत्मा कर्ता नही हो सकता। इन्द्रिया भी भौतिक होने के साथ-साथ अहकारोत्पन्न भी हैं अत आहकारिक मानी जाती है। ऐसी अवस्था मे जब इन्द्रिया भी अहकारयुक्त होने से स्वतन्त्र क्रिया की कर्ता है और आत्मा भी देहेन्द्रियादि के अहकार से युक्त हुआ क्रिया का कर्ता है तब इन्द्रियो के बहुत होने से वहा बहुवचन स्वत सिद्ध है। अह ब्रवीमि' का वाक्य जब अहकारयुक्त आत्मा कहेगा तो इन्द्रियो के व्यापार की स्वातन्त्र्येण विवक्षा न होने से आत्मा के एक होने के कारण वहा एकवचन हो जायेगा। दो आत्माओं के द्वित्व के कारण द्विवचन हो जायेगा। आवा ब्रूव'। इन्द्रियो के अहभाव के साथ जब उनके व्यापार की स्वतन्त्रता विवक्षित होगी तब देखने-सुनने वाली इन्द्रियो से भिन्न अन्य इन्द्रिया भी अपने व्यापार मे उदासीन सी हुई उक्त इन्द्रियो की सहयोगिनी होगी। उन सबके बहुत होने के कारण 'वय ब्रूम' या 'वय पश्याम' इस प्रकार बहुवचन स्वत सिद्ध हो जायेगा तो बहुवचन विधान के लिए प्रकृत सूत्र की आवश्यकता नही रहती है।

समीक्षा और निष्कर्ष

भाष्यकार पतजलि द्वारा, जो उक्त सूत्र का प्रत्याख्यान किया गया है, वह एक नई सूझ है। दार्शनिकों के मतभेद के कारण वह विचारणीय है। साख्य या वेदान्त एव वैयाकरण सिद्धांत के अनुसार आत्मा के समान इन्द्रियो मे भी अहम्भाव है। सांख्यदर्शन मे इन्द्रियों को भौतिक न मानकर *अहकारोत्पन्न ही माना जाता है, क्योकि साख्य दर्शन का सूत्र है—*

'सत्वरजस्तमसा साम्यावस्था प्रकृति, प्रकृतेर्महान् महतोऽहकार, अहकारात् पञ्चतन्मात्राणि उभयमिन्द्रियम्, इन्द्रियेभ्य पञ्चस्थूलभूतानि पुरुष

इति पञ्चविंशतिर्गण" ।

इसलिए उक्त दर्शन के अनुसार तो अहङ्कारविशिष्ट आत्मा के समान इन्द्रिया भी कर्ता बन सकती है और उनका स्वातन्त्र्येण क्रिया करने मे प्रयोग भी हो सकता है। किन्तु सांख्यसिद्धात से भिन्न, जो न्याय वैशेषिक आदि दर्शन हैं, उनके मत मे तो चेतन आत्मा ही कर्ता हो सकता है जड इन्द्रिया, मन, बुद्धि आदि नहीं। न्यायमुक्तावली म कारिका भी है—

"शरीरस्य न चैतन्य मृतेषु व्यभिचारत ।
तथात्व चेदिन्द्रियाणामुपघाते कथ स्मृति "[१]।

इन्द्रियों मे अहम्भाव न होने से 'अह पश्यामि' या अह ब्रवीमि', अह शृणोमि' इत्यादि व्यपदेश जड इन्द्रियों मे अनुपपन्न हैं। यह तो चेतन आत्मा ही है जो अहङ्कार का आश्रय है। वह जब देखने सुनने बोलन वाला एक होगा तो वहा एक वचन ही प्राप्त होगा बहुवचन कैसे हो सकेगा। दो आत्माओं मे द्विवचन और बहुतो मे बहुवचन होगा। यहा एक ही आत्मा मे एक वचन के साथ बहुवचन का प्रयोग भी अभीष्ट है। वह इस सूत्र के बिना कैसे सिद्ध होगा। दो आत्माओं मे द्विवचन के साथ बहुवचन भी अभीष्ट है। उसकी सिद्धि भी इस सूत्र के द्वारा ही हो सकती है। हा, आदरार्थ म यदि बहुवचन माना जाये तो इस सूत्र की सर्वथा आवश्यकता नही रहती। एक ही आचार्य के लिए आदर प्रकट करने हेतु कह दिया जाना है कि एतदस्माक-माचार्या कथयन्ति'। इमेऽस्माक गुरव ' इत्यादि।

जिस प्रकार हिन्दी भाषा में 'तू' की जगह 'तुम' या 'आप यह आदरार्थ प्रयुक्त होता है उसी प्रकार 'मैं' की जगह 'हम' का प्रयोग भी अहङ्कार को प्रकर्ष प्रकट करने के लिए किया जा सकता है। न केवल 'अस्मद्' के विषय मे ही, प्रत्युत 'युष्मद', 'भवत्' इत्यादि अन्य शब्दो मे भी आदरार्थ बहुवचन का प्रचुर प्रयोग प्रचलित हो गया है। 'के यूयम्', 'भवन्त किं कथयन्ति', 'एते महानुभावा किं ब्रुवते[२] इत्यादि बहुवचन के प्रयोग केवल एक व्यक्ति के विषय में भी दृष्टिगोचर होते हैं। यह सब शब्दशक्ति के स्वभाव के कारण ऐसा होता है। इसलिए केवल 'अस्मद्' के लिए सूत्र बनाना निरर्थक है।

---

१ साख्यदर्शन, १६१।

२ न्यायसिद्धान्त मुक्तावली (भाषा परिच्छेद) प्रत्यक्ष खण्ड, कारिका स०४८।

'निवेदयामि वय शिवदत्त' इत्यादि वृद्धो के प्रयोग तो सूत्र की सत्ता या असत्ता होने पर भी सर्वथा अपशब्द ही माने जायेंगे। इसी बात को ध्यान मे रखते हुए आचार्य चन्द्रगोमिन् तथा पूज्यपाद देवनन्दी न प्रकृत सूत्र को अपने व्याकरण मे नही रखा। हा उनकी टीकाओ (चान्द्रस्त्रोपज्ञवृत्ति तथा जैनेन्द्र महावृत्ति) म अवश्य विचार किया गया है। वहा भी इसे विवक्षा के आधार पर प्रत्याख्येय सिद्ध किया गया है। ऐसी स्थिति मे शाकटायन तथा हेमचन्द्र द्वारा इस सूत्र का 'सविशेषण अस्मद्' मे बहुवचन को रोकने के लिए आवश्यक मानना चिन्त्य ही प्रतीत होता है[1]॥

फल्गुनीप्रोष्ठपदानां च नक्षत्रे ॥ १ २ ६० ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र नक्षत्रवाचक 'फल्गुनी' और 'प्रोष्ठपदा' शब्दो के द्वित्व मे विकल्प से बहुवचन का विधान करता है। 'फल्गुनी' नामक नक्षत्र पूर्व-उत्तर भेद से दो हैं। 'प्रोष्ठपदा' भी पूर्वोत्तरभेद से दो हैं। दोनो मे द्विवचन ही प्राप्त था। इस सूत्र से पक्ष मे बहुवचन भी हो जाता है। सूत्र का अर्थ है कि 'फल्गुनी' और 'प्रोष्ठपदा' इन दो-दो नक्षत्रो के द्वित्व अर्थ मे विकल्प से बहुवचन होता है। उदाहरण जैसे—'पूर्वे फल्गुन्यौ', 'पूर्वा फल्गुन्य'। 'उत्तरे फल्गुन्यौ', ''उत्तरा फल्गुन्य'। पूर्वे प्रोष्ठपदे', 'पूर्वा प्रोष्ठपदा'। 'उत्तरे प्रोष्ठपदे', 'उत्तरा प्रोष्ठपदा'। 'प्रोष्ठपदा' नक्षत्र का दूसरा नाम 'भद्रपदा' भी है। 'भद्रपदा' नक्षत्र से सम्बद्ध 'भाद्रपद' मास है। इसी प्रकार 'फल्गुनी' से सम्बद्ध 'फाल्गुन' मास है।

लक्षणा वृत्ति द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र का प्रत्याख्यान केवल भाष्यकार ने किया है, वार्तिककार तो इस सूत्र पर सर्वथा मौन है। भाष्यकार इस सूत्र को विशेष आवश्यक न समझते हुए कहते है-'अयमपि योगो शक्योऽवक्तुम्। कथम् उदिते पूर्वे फल्गुन्यौ। उदिता पूर्वा फल्गुन्य। उदिते पूर्वे प्रोष्ठपदे। उदिता पूर्वा प्रोष्ठपदा। फल्गुनीसमीपगते

---

१. शा० सू० १ ३ ६५ 'द्वौ चास्मदोऽविशेषणे'। इस पर अमोघवृत्ति द्रष्टव्य है—'सविशेषणप्रतिषेधार्थवचनम्। एकानेकस्वभावस्यात्मनोऽनेकस्य विवक्षायां सिद्ध बहुवचनम्। अत एव अस्मद्युष्मदोरपि गुरौ बहुवचन प्रयुज्यते···।' है० सू० २ २ १२२ 'अविशेषणे द्वौ चास्मद'।

चन्द्रमसि फल्गुनीशब्दो वर्तते। बहुवत्तेऽर्यास्तत्र युक्त बहुवचनम्। यदा तयोरेवा भिधान तदा द्विवचन भविष्यति"[1]। भाष्यकार का आशय है कि 'फल्गुनी' और 'प्रोष्ठपदा' शब्दो मे इस सूत्र द्वारा बहुवचन विधान की आवश्यकता नही है। दोनो नक्षत्रो का चन्द्रमा के साथ समय समय पर योग होता ही रहता है। कई बार सयुक्त हुआ चन्द्रमा ही उपचार से 'फल्गुनी' और 'प्रोष्ठपदा' शब्दो से व्यवहृत हो सकता है। उस अवस्था मे चन्द्र सयोग बहुत होने के कारण दोना शब्दो म बहुवचन स्वत सिद्ध हो जायगा। फल्गुनी' नक्षत्र और प्रोष्ठपदा' नक्षत्र के समीपगत चन्द्रमा को ही फल्गुनी' और 'प्रोष्ठपदा' शब्दो से अभिहित होने मे लक्षणावृत्ति प्रयोजक है। 'युगोगादाख्यायाम"[2] सूत्र के भाष्य म भाष्यकार लिखते है—"चतुर्भि प्रकारैरतस्मिन् स इत्येतद् भवति। तात्स्थ्यात् ताद्धर्म्यात्, तत्सामीप्यात्, तत्साहचर्यात् इति"[3]।

तत्सामीप्य मे भी तद्भिन्न मे 'तत्" शब्द का प्रयोग हुआ करता है। जैसे 'छत्रिणो यान्ति' (छत्रधारी जा रहे हैं) यहा कुछ लोगो के छत्रधारी होने के कारण उनके सामीप्य से अन्य छत्ररहितो को भी 'छत्रधारी' शब्द मे कथन कर दिया जाता है। यह अजहत्स्वार्था लक्षणावृत्ति का माहात्म्य है। इसी प्रकार 'फल्गुनीसमीपगत' चन्द्रमा को भी 'फल्गुनी' कहा जा सकता है। यद्यपि 'फल्गुनी' और 'प्रोष्ठपदा' शब्दो का वाच्य अर्थ चन्द्रमा नही है, नक्षत्र ही है। जब केवल उक्त नक्षत्रो का ही अभिधान विवक्षित होगा तब दोनो के दो-दो होने के कारण द्विवचन भी हो जायेगा। इस प्रकार द्विवचन और बहुवचन की सिद्धि हो जायेगी तो सूत्र का बनाना निष्प्रयोजन है। इसीलिए चान्द्र व्याकरण और जैनेन्द्र व्याकरण मे प्रकृत सूत्र का अभाव दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि चान्द्रस्वोपज्ञवृत्ति तथा जैनेन्द्र महावृत्ति मे साकेतिक रूप से इसका विचार हुआ है किन्तु वहा भी विवक्षाभेद से इसका खण्डन ही द्योतित किया गया है[4]। हा शाकटायन और हेमचन्द्र के द्वारा इसका ग्रहण अवश्य विचार का विषय है।[5]

---

१. महा० भा० १, सू० १ २ ६०, पृ० २३१।

२ पा० ४ १ ४८।

३ महा० भा० २, सू० ४ १ ४८, पृ० २१८।

४ द्र० जैनेन्द्र महावृत्ति, सू० १ १ ६७, 'यदा फल्गुनीसमीपगते चन्द्रमसि फल्गुनीशब्दो विवक्ष्यते तदा बहुत्वमन्यदा द्वित्वम्'।

५ (क) शा० सू० १ ३ ६६, 'फल्गुनीप्रोष्ठपदस्य नक्षत्रम्'।
(ख) हे० सू० २ २ १२३, 'फल्गुनीप्रोष्ठपदस्य भे'।

समीक्षा एव निष्कर्ष

भाष्यकार द्वारा किया गया उक्त सूत्र का प्रत्याख्यान युक्तियुक्त ही है। "अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोग"[1] अर्थात् शब्द का प्रयोग अर्थ को समझने के लिये है। वह साक्षात् अभिधा या लक्षणा द्वारा किसी वृत्ति से भी हो जाये तो इसमे कोई दोष नही। वैसे भी उक्त नक्षत्रो के ये द्विवचन बहुवचनान्त प्रयोग वैदिक मन्त्र ब्राह्मणो के है। उनमे "दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति"[2] इस ब्रह्मास्त्र से भी समाधान हो सकता है।

द्विगुरेकवचनम् ॥२ ४ १॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र द्विगुसमास म एकवद्भाव करता है। द्विगुसमास तत्पुरुषसमास का ही भेद है। "तद्धितार्थोत्तरपद समाहारे च"[3], "सख्यापूर्वो द्विगु"[4] इन सूत्रो के अनुसार तद्धितार्थ मे, उत्तरपद परे रहते तथा समाहार मे जो सख्यापूर्वक समानाधिकरण पद वाला तत्पुरुष है उसकी द्विगुसज्ञा होती है। यहाँ समाहार द्विगु ही लिया गया है। क्योकि उसी मे एकत्व अर्थ का सभव है, तद्धितार्थ द्विगु मे नही। 'एकवचनम्' यहा 'वक्तीति वचनम्। एकस्य वचनमेकवचनम्' इस प्रकार बाहुलकात् कर्ता मे 'ल्युट्' माना जाता है। उससे सूत्र का अर्थ इस प्रकार होता है कि द्विगुसमास एकार्थ का वाचक होता है। समाहार शब्द मे 'समाहरण समाहार समूह राशीकरणमिति यावत्' इस प्रकार भाव मे 'घञ्' प्रत्यय होता है, कर्म मे नही। समूह या राशि एक होती है। जैसा कि भाष्यकार कहते है-"एकोऽयमर्थो राशिर्नाम"[6] समाहार शब्द को कर्मसाधन मानने मे एकत्व अर्थ नही आता है। उदाहरण जैसे—'पञ्चाना पूलाना समाहार पञ्चपूली'। 'पञ्चाना गवा समाहार पञ्चगवम्'। यहाँ द्विगु समास मे एकवद्भाव होने से एकवचन हो जाता है। 'पञ्चपूली' मे "अकारान्तोत्तरपदो द्विगु स्त्रियां भाष्यते"[7] इस वार्तिक से स्त्री-

---

१ महा० भा० १, सू० १ १ ६८, पृ० १०५। तुलना करो—अर्थनित्य परीक्षेत'—निरुक्त २ १॥
२ महा० भा० १, सू० १ १ ६, पृ० ५५।
३ पा० २ १.५१।
४ पा० २ १ ५२।
५ श० कौ० प्रकृत सूत्र, पृ० २४८।
६ महा० भा० १, सू० २ २ २, पृ० ४०७।
७ पा० २ ४ १७ पर वार्तिक।

लिङ्ग होकर "द्विगो"[1] से 'ङीप्' प्रत्यय होता है। 'पञ्चगवम्' में "गोरतद्धित-लुकि"[2] से समासान्त 'टच्' प्रत्यय होकर "स नपुंसकम्"[3] से नपुंसकलिङ्ग हो जाता है।

द्विगुसमास के एकार्थवाचक होने के कारण उसके साथ अनुप्रयुज्यमान 'इदम्' इत्यादि विशेषण शब्दों से भी एकवचन होता है। 'इयं पञ्चपूली शोभना'। 'इदं पञ्चगवं तिष्ठति' इत्यादि। 'पञ्चपूली' इत्यादि में समास का अर्थ अन्त में समाहार ही दिखाना चाहिये। 'पञ्चानां पूलानां समाहारः' इस प्रकार विग्रह से समाहार की प्रधानता स्पष्ट होती है। वैसे 'पञ्च पूलाः समाहृताः' इस प्रकार भी इसका विग्रह दिखाया जाता है किन्तु इससे समाहार की मुख्य प्रतीति नहीं होती अपितु समाह्रियमाण पदार्थों का ही प्राधान्य रहता है। 'अष्टाध्यायी', 'शताब्दी' इत्यादि अनेक इस सूत्र के उदाहरण हैं। 'अष्टानामध्यायानां समाहारः', 'शतस्य शब्दानां समाहारः' यही विग्रह समाहार को मुख्य रूप से प्रकट करता है। इससे एकार्थवाचकता द्विगु समास की स्पष्ट हो जाती है। समाहार शब्द में जब कर्म में 'घञ्' मानकर 'समाह्रियते इति समाहारः' ऐसा विग्रह किया जायेगा तो 'अष्टौ अध्यायाः समाहृताः', 'शतमब्दाः समाहृताः' इस प्रकार समाहृत पदार्थों की प्रधानता प्रकट होती है।

समाहार के एक होने से सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार और भाष्यकार दोनों ही पहले इस सूत्र का प्रयोजन बताकर पीछे से प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—"प्रत्यधिकरणं वचनोत्पत्तेः सङ्ख्यासामानाधिकरण्याच्च द्विगोरेकवचनविधानम्"[4] अर्थात् प्रत्येक द्रव्य की सङ्ख्या के साथ उसकी वाचक विभक्ति उत्पन्न होती है। द्विगुसमास का जो अर्थ है, वह अनेक द्रव्यात्मक है। 'पञ्चपूली' में 'पञ्च पूलाः समाहृताः' इस विग्रह से समाह्रियमाण पूलों की सङ्ख्या पाँच है। राशीकृत पाँच पूलों के बहुत होने के कारण वहाँ बहुवचन प्राप्त होता है। इष्ट है कि एक वचन हो, इसलिए "द्विगुरेकवचनम्" यह सूत्र बनाया है। बाद में प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—

"न वा समाहारैकत्वात्। न वा योगारम्भेणार्थः। किं कारणम्। समाहा-

---

१ पा० ४।१।२१।
२ पा० ५।४।९२।
३ पा० २।४।१७।
४ महा० भा० १, सू० २।४।१ पर वार्तिक, पृ० ४७२।

रैकत्वादेकवचन भविष्यति"।[1]

भाव यह है कि इस सूत्र मे समाहार द्विगु माना जाता है और समाहार, समूह रूप होने से एक ही होता है। जैसे 'वनम् यूथम्' मे समुदाय एकार्थक हैं। इसलिये समाहार के एक होने से पञ्चपूली मे एक वचन ही होगा, बहुवचन नही तो यह सूत्र व्यर्थ है। सभवत इसी लिये अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थो मे प्रकृत सूत्र नही मिलता।

समीक्षा एव निष्कर्ष

यहा पर भाष्यवार्तिककार ने द्विगुसमास को समाहार मानकर और समाहार शब्द को भी भावसाधन स्वीकार करके उसके एक होने के कारण इस सूत्र का खण्डन कर दिया है। किन्तु प्रश्न यह है कि यदि समाहार शब्द को 'समाह्रियते इति समाहार' इस प्रकार कर्मसाधन मानकर 'पञ्चपूली', पञ्चगवम् इत्यादि मे 'पञ्च पूला समाहृता' 'पञ्चगाव समाहृता' इत्यादि विग्रह से द्विगु समास का अर्थ समाहृत पदार्थ माना जाये और पदार्थो का समूह न माना जाय तो इस सूत्र के बिना क्या गति होगी। साथ ही 'स नपुसकम्'[2] इस उत्तर सूत्र द्वारा नपुसकलिङ्ग का विधान भी सूत्र के बिना कैसे होगा। इसका समाधान करते हुए शब्दकौस्तुभकार कहते हैं—

समाहारशब्दे कर्मसाधनभ्रम वारयितुमिदमारभ्यते। स नपुसकम् इत्यस्य प्रवृत्त्यर्थ च। दृश्यते च भ्रमनिवृत्तयेऽपि सूत्रकृतो यत्न। यथा—उपकादिभ्योऽन्य-तरस्यामद्वन्द्वे इति। तत्र हि अद्वन्द्वे इत्यस्य द्वन्द्वग्रहण नानुवर्तते इत्यर्थो भाष्ये स्थित"।[3]

भाव यह है कि शब्दकौस्तुभकार के मत मे यह सूत्र केवल भ्रम की निवृत्ति के लिये है जिससे यह भ्रम निवृत्त हो जाये कि समाहार का अर्थ 'समाह्रियमाण पदार्थ' यहां लिया गया है। यह सूत्र समाहार को भावसाधन समझने मे तात्पर्य-ग्राहक है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'पञ्चपूली', 'पञ्चगवम्' इत्यादि द्विगुसमास मे समाहार एव समूह प्रधान अर्थ वाला ही विग्रह होना चाहिये। 'पञ्चानां पूलाना समाहार', पञ्चाना गवा समाहार' यही वास्तविक विग्रह द्विगुसमास मे समाहार अर्थ की प्रधानता को प्रकट कर सकता है।

तत्त्वबोधिनीकार इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते है कि यदि

१ वही, पृ० ४७३।
२ पा० २ ४ १७।
३ श० कौ० प्रकृत सूत्र, पृ० २४८।

द्विगु समास का अर्थ पदार्थ समूह न मान कर समाहृत पदार्थ मानें तो 'पञ्चखट्वी' न बनेगा। 'पञ्चखटवी' मे "द्विगो"[1] सूत्र से डीप् न हो सकेगा। क्योंकि समाहृत पदार्थ द्विगु का अर्थ मानने पर 'पञ्चखट्वा समाहृता', 'पञ्चसु खट्वासु समाहृतासु' इत्यादि अनेक विभक्तियुक्त विग्रह होने से "एकविभक्ति चापूर्व निपाते"[2] से 'खट्वा' शब्द की उपसर्जन सज्ञा नही प्राप्त होगी। उपसर्जनसज्ञा न होने से "गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य"[3] से 'खट्वा' को ह्रस्व न हो सकेगा। तब "आवन्तो वा"[4] इस वार्तिक द्वारा स्त्रीलिङ्ग पक्ष मे अदन्त लक्षण 'द्विगो' से 'डीप्' न होगा। इसके विपरीत जब द्विगु समास का अर्थ पदार्थ समूह माना जाता है तो एकविभक्ति एव नियत विभक्ति होने से 'खट्वा' शब्द की उपसर्जनसज्ञा अव्याहत है।[5] समाहारप्रधान विग्रह मे वर्तिपदार्थ नियम से षष्ठी विभक्त्यन्त ही रहेंगे। उससे 'पञ्चखट्वी' यह इष्टरूप निर्बाध सिद्ध हो जायेगा।

यहा यह ध्यान देने योग्य है कि सूत्र की सत्ता मे भी 'पञ्चपूली च पञ्चपूली च पञ्चपूली च इति पञ्चपूल्य' यहा पञ्चपूली शब्द के एकशेष मे भी द्विगु होने से एकवद्भाव नही होता। क्योंकि यहा पाच पूलो का समाहार नही अपितु समाहृत पाच पूलो का समाहार है। भाष्यवार्तिक भी है—"न वान्यस्यानेकत्वात्। नैनद् द्विगोरनेकत्वम्। किं तर्हि। द्विगवर्थसमुदायस्य"[6]। इसी प्रकार तद्धितार्थ द्विगु मे भी इसकी प्रवृत्ति नही होती। इसलिए 'पञ्चकपालौ' 'पञ्चकपाला' यहा एकवद्भाव नही होता। 'पञ्चगवधन' यहा बहुव्रीहि समास मे 'धन' शब्द उत्तरपद परे रहते जो 'पञ्चगव' शब्द द्विगु है, उसमे भी एकवद्भाव निष्प्रयोजन है। क्योंकि उत्तर पद परे रहते जो द्विगु है, वह बहुव्रीहिसमास के प्रति गुणीभूत है। वहा बहुव्रीहि का ही अर्थ प्रधान है, द्विगु का नहीं। इस प्रकार प्रकृत सूत्र समा-

---

१ पा० ४ १ २१

२ पा० १ २ ४४।

३ पा० १ २ ४८।

४ पा० २ ४ १७ पर वार्तिक ।

५ द्र श० बो० प्रकृत सूत्र--'न च द्विगुरेकवचनमिति सूत्रान्नैवमिति वाच्यम्, पञ्चखट्वीत्यसिद्धे। तत्र हि पञ्च खट्वा समाहृता, पञ्चसु खट्वासु समाहृतासु इत्येव विग्रहसभवेन नियतविभक्तिकत्वाभावाद् एकविभक्तिचापूर्वनिपाते इत्यप्रवृत्तेरनुपसर्जनत्वाद् गोस्त्रियो इति ह्रस्वो न स्यात्। ततश्च आबन्तो वा इति स्त्रीत्वपक्षे द्विगो इत्यदन्तलक्षणो डीप् न स्यात्। भावसाधनत्वे त्वेकविभक्तित्वादुपसर्जनत्वमव्याहतमेव।

६ महा० भा० १, सू० २ ४ १, पृ० ४७२।

हार को भावसाधन समझने मे तात्पर्य ग्राहक होने के कारण प्रत्याख्येय नही है ॥

सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ ॥ १ २ ६४ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र 'एकशेष' का विधान करता है इसका अर्थ है कि समान रूप वाले शब्दो मे 'एक विभक्ति' परे रहते 'एकशेष' होता है। अन्यो की निवृत्ति हो जाती है। जैसे— वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षौ'। वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षा'। यहा समान रूप वाले वृक्ष' शब्दो मे एक वृक्ष' शब्द शेष रहकर अन्य निवृत्त हो जाते है। 'वृक्षौ' यहा द्विवचन मे एक 'वृक्ष' की निवृत्ति तथा 'वृक्षा' यहा दो 'वृक्ष' शब्दो की निवृत्ति हो जाती है। सवत्र द्विवचन बहुवचनो मे इसी प्रकार 'एक शेष' रह कर बाकी निवृत्त हो जाते है। सूत्र का प्रयोजन बताते हुए भाष्य वार्तिककार कहते है—

"प्रत्यर्थं शब्दनिवेशान्नैकेनानेकस्याभिधानम्। तत्रानेकार्थाभिधानेऽनेक-शब्दत्वं प्राप्नोति। इष्यते चैकेनाप्यनेकस्याभिधानं स्यात्। तच्चान्तरेण यत्न न सिध्यति। तस्मादेकशेष। एवमर्थमिदमुच्यते"[1]।

इनका भाव यही है कि अलग-अलग अर्थो को कहने के लिये अलग-अलग अनेक शब्दो का प्रयोग प्राप्त होता है। क्योकि एक शब्द से एक साथ अलग-अलग अनेक अर्थों का अभिधान नही हो सकता। अभीष्ट है कि एक ही शब्द से अलग-अलग अनेक अर्थो का अभिधान हो सके। यह बात यत्न विशेष के बिना सिद्ध नही होती। अत 'एकशेष' का विधान इस सूत्र द्वारा किया गया है जिससे 'वृक्षौ', 'वृक्षा' इत्यादि मे एक ही 'वृक्ष' शब्द से द्वित्व, बहुत्वविशिष्ट 'वृक्ष' अर्थ का भी बोध हो सके। यह 'एकशेष' का ही माहात्म्य है जो एक अवशिष्ट 'वृक्ष' शब्द अपने से भिन्न द्वित्व-बहुत्वविशिष्ट 'वृक्ष पदार्थो' का बोध कराता है। 'कृत्', 'तद्धित', 'समास', 'एकशेष' और 'सनाद्यन्त धातु' रूप ये पाच वृत्तिया व्याकरण-शास्त्र मे मानी जाती है[2]। उनमे 'एकशेष' भी गिनायी गई है "परार्थाभिधान वृत्ति"[3] यह वृत्ति का लक्षण है। जिस शक्ति से अन्तर्निहित अन्य अर्थ का, वृत्ति-पदार्थ से भिन्न अर्थ का, अभिधान हो वह वृत्ति होती है। 'एकशेष' मे यह शक्ति है कि वह एक शब्द द्वारा अनेक अर्थो का बोध करा देता है। कहा भी है—'य

---

१ महा० भा० १, सू० १ २ ६४, पृ० २३३।

२ द्र० वै० सि० कौ० भा० २, सर्वसमासशेष प्रकरण, पृ० २१५, कृत्तद्धि-तसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपा पञ्चवृत्तय'।

३ वही।

शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी"[1] अर्थात् जो शेष रहता है वह लुप्त हुए शब्दों के अर्थ को प्रकट करता है।

सूत्र मे 'रूप' ग्रहण इसलिये किया है कि रूप की समानता मे ही 'एकशेष' हो, अर्थ की समानता हो या न हो। अर्थ की समानता न हो पर भी केवल शब्द स्वरूप की समानता से 'एकशेष' हो जाता है। जैसे—'अक्षा', 'पादा', 'माषा' यहा अक्षादि शब्दो के अनेक अर्थ हैं। बहेडे के फल को 'अक्ष' कहते है। गाडी के धुरे को भी 'अक्ष' कहते हैं। द्यूतक्रीडा मे प्रयुक्त होने वाला 'पासा' भी अक्ष' कहा जाता है। इसी प्रकार 'पाद' शब्द के 'पैर', चौथाई हिस्सा' तथा 'किरण' आदि अनेक अर्थ हैं। 'माष' के भी 'उडद', 'परिमाण वाचक मासा' आदि अर्थ हैं। अर्थ भिन्न-भिन्न होने पर भी अक्षादि शब्दो के रूप समान हैं। अत 'अक्षश्च अक्षश्च अक्षश्च अक्षा'। 'पादश्च पादश्च पादश्च पादा',। 'माषश्च माषश्च माषश्च माषा'। यहा 'अक्षा', 'पादा','माषा'। यह 'एकशेष' हो जाता है। समान अर्थ वाले विरूप शब्दो मे 'एकशेष' का विधान "एकार्थानामपि विरूपाणाम्"[2] इस वार्तिक द्वारा किया गया है। उससे 'घटश्च कलशश्च घटौ कलशौ वा' ये 'एकशेष' के रूप सिद्ध होते हैं। विरूपो का 'एकशेषविधान' करना इस सूत्र का विषय नही है। यहा तो सरूपो का ही 'एकशेषविधान' है, वे सरूपशब्द चाहे समानार्थक हो या भिन्नार्थक।

'एकविभक्तौ' यहाँ 'एकविभक्ति' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि एक सी विभक्ति या एकविभक्ति मे जो समान रूप वाले ही शब्द हैं, जो कभी किसी विभक्ति मे विरूप नही होते, उन्ही का 'एकशेष' होता है। उससे जननी वाचक 'मातृ' शब्द तथा परिच्छेत्तृवाचक 'मातृ' शब्द के 'भ्याम्, भिस्' आदि विभक्तियो मे 'मातृभ्याम्' इस प्रकार समान रूप वाले होने पर भी 'औ' विभक्ति परे रहते जननी वाचक के 'मातरौ' तथा परिच्छेत्तृवाचक के 'मातारौ' ये विभिन्न रूप होने के कारण 'माता च माता च मातरौ' या 'मातारौ' यह 'एकशेष' नही होता। 'भ्याम्' मे भी 'मातृभ्याम्' यह एकशेष नही होगा तो दोनो शब्दो के सभी विभक्तियो मे अलग-अलग रूप बनेंगे। 'एकशेष' होने पर अर्थ मे सन्देह होगा, अत वहा 'एकशेष' नही होता है। इसी प्रकार 'ब्राह्मणाभ्या च कृत', ब्राह्मणाभ्या च देहि' यहाँ तृतीया चतुर्थी विभक्त्यन्त 'ब्राह्मण' शब्दो मे भी समान विभक्ति न होने से 'एकशेष' नहीं होता। 'कीदृगसौ जगन्माता आभ्या मातृभ्याम्' इत्यादि प्रयोगो मे कवि लोग श्लेष अलकार द्वारा जननी एव निर्मातृविषयक दो अर्थ वेशक

---

१ द्र० श० की भा० २, पृ० ४०।

२ द्र० 'एकार्थानामपि विरूपाणाम्'—प्रकृत सूत्र पर वार्तिक।

कर लें किन्तु यहां 'एकशेष' कदापि संभव नहीं है।

वस्तुत 'एकशेष' का मूल आधार सहविवक्षा है। दो अर्थों के एक साथ कहने की इच्छा को सहविवक्षा कहते हैं। सहविवक्षा मे इतरेतर योग अवश्य-भावेन अपेक्षित है। इतरेतर योग में द्वन्द्व समास प्राप्त है। उस द्वन्द्वसमास को बाध कर यह 'एकशेष' का आरम्भ किया है। जहां समास रूप वाले शब्द नहीं है किन्तु सह विवक्षा है, वहा द्वन्द्व ही होता है। जैसे- प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च प्लक्षन्य-ग्रोधौ'। समास रूप वालो मे भी शब्दशक्ति या। या स्वभाव है कि एक से लेकर दस तक संख्यावाची शब्दो मे 'एकशेष' नही होता। जैसे—'एकश्च एकश्च' यहां 'एकशेष' होकर 'एकौ' नहीं बनता किन्तु एक और एक मिलकर 'दो' हो जाते है, अत 'द्वौ' बनता है। 'द्वौ' या 'एक' शब्द के साथ सारूप्य न होने से यहा 'एकशेष' का अनभिधान ही मान लिया जाता है। अनभिधान के कारण ही 'एकश्च एकश्च' यहा द्वन्द्वसमास भी नही होता। 'द्वौ च द्वौ च इति चत्वार'। 'पञ्च च पञ्च चेति दश' यही रूप बनेंगे। इन्हें चाहे 'एकशेष' का रूप समझा जा सकता है। हा, 'विंशतिश्च विंशतिश्च विंशती' यहा तो 'एकशेष' हो जाता है। यह सब शब्दशक्ति की महिमा है।

सूत्र मे 'शेष' ग्रहण इस लिये किया है कि एक 'शेष' ही रहे, आदेश न हो। अन्यथा "सरूपाणामेक एकविभक्तौ" ऐसा सूत्र होने पर 'समानरूप वाले शब्दो मे अन्तरतम एक आदेश होता है' एसा सूत्रार्थ हो जाता। उससे 'अश्वश्च अश्वश्च अश्वौ' यहा दो 'अश्व' शब्दो के स्थान मे एक 'अश्व' शब्द आदेश मानकर 'अश्व' शब्द के आद्युदात्त तथा अन्तानुदात्त होने से दो उदात्तो तथा दो अनुदात्तो वाला अन्तरतम 'अश्व' शब्द श्रूयमाण होगा जो कि सर्वथा अनिष्ट है। 'शेष' ग्रहण करने से एक आदेश की निवृत्ति होकर एक अवशेष रहता है, यह अभीष्टार्थ सिद्ध हो जाता है। यह तो सर्वविदित है कि व्यक्ति या द्रव्यपक्ष को लेकर इस सूत्र का आरम्भ है। जातिपक्ष मे तो जाति के सर्वत्र एक होने से एक शब्दत्व स्वत सिद्ध है। उस पक्ष मे 'एकशेष' की आवश्यकता नही। द्रव्य या व्यक्ति अनन्त हैं।

---

१ शा० सू० २ १ ८२ की अमोघवृत्ति—यद्यपि उपर्युक्त प्रयोग मे शाकटायन व्याकरण की अमोघवृत्ति मे एक पक्षीय 'एकशेष' स्वीकार किया गया है यथा—'सुपि इति मातृमातारौ। जनयित्रीवाचिन मातरौ, धान्यमातृ-वाचिनो मातारौ इत्यादि रूप भिद्यते। यत्र तु न भिद्यते तत्र मातृभ्या, मातृभि इत्येके। यत्र यस्मिन् सुपि ये शब्दा समाना एकरूपा भवन्ति तस्मिन् सुपि तेषा सहवचने एकवचनम् एव प्रयोक्तव्यम् इत्यर्थ'।

उनमे एक को शेष रख कर अनेको की निवृत्ति करने के लिये यह सूत्र बनाया गया है। यद्यपि सरूपो के 'एकशेष' के समान विरूपो का 'अनेकशेष' भी विधान किया जा सकता था फिर भी आचार्य पाणिनि ने सरूपो का एकशेष विधान ही सुगम तथा सुन्दर माना है। भाष्यकार कहते हैं—

"लघीयसी विरूपप्रतिपत्ति। किं कारणम्। यद्धि बहूना सरूपाणामेक शिष्यते तत्रावरतो द्वयो सरूपयोर्निवृत्तिर् वक्तव्या स्यात्। एवमप्येतस्मिन् सति किंचिदाचार्य सुकरतरकं चैकशेषारम्भं मन्यते"[1]।

पक्षान्तर द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

उक्तरीति से सूत्र की सप्रयोजन स्थापना करके भाष्यवार्तिककार इसके प्रत्याख्यान की भूमिका तैयार करते हुए कहते हैं द्विवचनबहुवचनाप्रसिद्धिरेकार्थत्वात्"[2] अर्थात् 'वृक्षौ' 'वृक्षा' यहा 'एकशेष' हुए 'वृक्ष' शब्द से परे द्विवचन बहुवचन नही आने चाहियें। क्योकि अवशिष्ट एक 'वृक्ष' शब्द एकार्थवाची है, द्व्यर्थ या बह्वर्थवाची शब्द नही है।

यदि यह कहा जाये कि 'एकशेष' के आरम्भसामर्थ्य से यहा अवशिष्ट एक 'वृक्ष' शब्द एकार्थवाची न होकर द्व्यर्थ और बह्वर्थवाची है। क्योकि वह लुप्त हुए अनेक 'वृक्ष' शब्दो का अवशिष्ट है अत उसमे अनेकार्थद्योतकता है तो इसका उत्तर देने से पूर्व भाष्यकार इस बात पर विचार करते है कि एक शब्द मे अनेकार्थ बोधन की शक्ति स्वाभाविक मानी जाये या वाचनिक। यदि स्वाभाविक मानी जाय तो 'अशिष्य एकशेष एकेनोक्तत्वात'[3] अर्थात् एक शब्द मे अनेकार्थबोधन की शक्ति स्वाभाविक मानने पर 'एकशेषविधान' की कोई आवश्यकता नही। क्योकि एक 'वृक्ष' शब्द स्वभाव से अनेक वृक्षार्थो का वाचक है। इस अवस्था मे एक से ही काम चल जाने पर दूसरे तीसरे 'वृक्ष' शब्द का प्रयोग ही नही होगा तो एकशेष-विधान' व्यर्थ है। यदि एक शब्द मे 'अनेकार्थबोधन' शक्ति वाचनिक मानी जाय तो एकशेषविधायक सूत्र मे 'एकशेष' के साथ 'अनेकार्थश्च' भी कहना होगा। "सरूपाणामेकशेषोऽनेकार्थश्चैकविभक्तौ" ऐसी सूत्र रचना करनी होगी। क्योकि बिना वचन के एकशब्द मे अनेकार्थबोधकता नही आयेगी।

---

१ महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० २३४।

२ वही, पृ० २४०।

३ महा० भा० १, प्रकृत सूत्र' पृ० २४०।

यहा यह शङ्का करना ठीक नही कि एकशेष विधानसामर्थ्य से ही अवशिष्ट एक शब्द मे अनेकार्थवाचकता हो जायेगी। क्योकि जो शब्द अवशिष्ट है वह लुप्त हुए शब्दो के अर्थ का बोधक है। 'य शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी"। यतोहि अनेक अर्थ के अभिधान के लिये तो 'एकशेष' का आरम्भ किया गया है। यदि वही न हुआ और केवल एक शब्द से एकार्थ का ही अभिधान हुआ तो 'एकशेष' का आरम्भ करना सर्वथा व्यर्थ हो जायेगा। इसके उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि 'एकशेपविधान' के कारण यद्यपि एक 'वृक्ष' शब्द मे अनेकार्थबोधकता मानकर द्विवचन बहुवचनादि की सिद्धि भले ही कर ली जाये किन्तु जब तक एक शब्द मे अनेकार्थप्रत्यायन शक्ति स्वाभाविक नही मानी जायेगी तब तक एकार्थ-वाची शब्द 'एकशेष' करने पर भी अनेकार्थवाची नही बन सकता। इस सूत्र का आरम्भ इसी आधार पर हुआ था कि अलग-अलग अर्थों के लिये अलग-अलग शब्दो का अभिधान प्राप्त होता है। इष्ट है कि एक शब्द से ही अलग-अलग अनेक अर्थों का भी अभिधान हो, इसी प्रयोजन के लिये यह सूत्र बनाया गया था। यदि स्वाभाविक रूप से एक शब्द से भी अनेक अर्थों का अभिधान मान लिया जाये तो इसकी क्या आवश्यकता रह जाती है, कुछ भी नही।

जहा यह पक्ष है कि "यावतामभिधान तावता प्रयोगो न्याय्य"[१] अर्थात् जितने अर्थ हो उतने ही शब्द हो, वहा यह पक्ष भी न्याय्य होने से माननीय होना चाहिये—"एकेनाप्यनेकस्याभिधानम्"[२] यानि एक शब्द से भी अनेक अर्थों का अभिधान होता है। 'प्लक्षौ' 'वृक्षौ' यहा एक 'प्लक्ष' या 'वृक्ष' शब्द से भी स्वभावत दो 'प्लक्ष' या 'वृक्ष' समझे जाते है। दो अर्थों की सहविवक्षा करके एक शब्द का प्रयोग हो सकता है। किन्तु शब्दशक्ति स्वाभाव्य से यह एक शब्द से अनेक अर्थ का अभिधान केवल समान रूप वाले शब्दो मे ही होता है। विभिन्न रूप वाले 'प्लक्षन्यग्रोधौ' इत्यादि मे नही। इसलिये उन दोनो को कहने के लिये 'प्लक्षौ' या 'न्यग्रोधौ' ऐसा एक शब्द का प्रयोग नही हो सकता। भाष्यवार्तिक है—'अभिधान पुन स्वाभाविकम्। उभयदर्शनाच्च"[३] अर्थात् कही-कही सरूप और विरूप दोनो प्रकार के शब्दो से भी अनेक अर्थों का अभिधान देखा जाता है। जैसे—'द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते"[४] इस वेदमन्त्र मे 'द्यावा' शब्द से द्युलोक और पृथिवीलोक

---

१ महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० २४१।
२ वही।
३. वही, पृ० २४२।
४ ऋक्० २ १२ १३।

दोनो का बोध होता है। 'पृथिवी' शब्द से भी पृथिवी तथा द्युलाक दोनो गृहीत होते हैं। यहा 'द्यावा' और 'पृथिवी' दोनो विरूप हैं। इनमे एकशेप' के बिना भी अनेकार्थबोधकत्व है तो 'वृक्षौ' इत्यादि सरूप शब्दो मे तो प्रवृत्तिनिमित्त के एक होने से अनेकार्थवाचकता अधिक स्पष्ट है। इस प्रकार द्रव्यपक्ष मे भी भाष्यकार और वार्तिककार दोनो ने इस सूत्र का खण्डन कर दिया है,[1] जातिपक्ष मे तो इसका प्रत्याख्यान सर्वसम्मत है ही। प्रस्तुत सन्दर्भ मे जाति व्यक्ति पक्ष को लेकर प्रकृत सूत्र के भाष्य मे अतिविस्तृत विचार किया गया है। उसमे दोनो ही पक्षो कि आलोचना-प्रत्यालोचना करके अन्त मे जातिपक्ष को ही सिद्धान्त रूपेण व्यवस्थापित किया है।

समीक्षा एव निष्कर्ष

एकशेपप्रकरण का यह मूर्धन्य सूत्र है। भाष्यवार्तिक दानो ने ही इस सूत्र की स्थापना पहले तो बडे विस्तार के साथ की है। इसके अर्थ म ६ पक्ष उपस्थित किये है। तद्यथा—१ विभक्ति परे रहने 'एकशेप', २ विभक्त्यन्ता का 'एकशेप', ३ समास से परे एकविभक्ति होन पर एकशेप', ४ प्रातिपदिको का 'एकशेप', ५ प्रातिपदिक समुदाय से एकविभक्ति परे रहते 'एकशेप' और ६ सहविवक्षा मे द्विवचन बहुवचनान्तो का 'एकशेप'।

इन पक्षो मे पिछले तीन पक्ष स्वीकार करके सूत्राथ को व्यवस्थित किया गया है। वार्तिककार ने केवल इसी सूत्र मे सन्तोप न करके 'नानार्थानामपि सरूपाणाम्', 'एकार्थानामपि विरूपाणाम्', 'स्वरभिन्नाना यस्योत्तर स्वरविधि', 'प्रथममध्यमोत्तमानामेकशेपोऽसरूपत्वात्" ये तीन चार वार्तिक और बनाकर 'एकशेप' का विशेप विधान किया है। ठीक भी है, क्योकि प्रयोजन तथा व्यवहार की दृष्टि मे इस सूत्र की आवश्यकता है। व्यवहार तो द्रव्य या व्यक्ति मे चलता है। द्रव्य अनेक हैं। उनमे सरूप-विरूप सभी पकार के हैं। सरूपो का 'एकशेप' आचार्य पाणिनि न स्वय विधान किया है। वार्तिककार ने उनसे और आगे बढकर विरूपो का भी 'एकशेप' स्वीकार किया है। भाष्यकार ने मध्यस्थ रहते हुए दोनो आचार्यों के मत का निरूपण किया है। जिन युक्तियों के आधार पर इस सूत्र की

---

१ द्र० प्रकृत सूत्रस्य महा० प्र० 'तदेव द्रव्यपक्षेऽपि प्रत्याख्यात एकशेप। इसी स्थल पर महा० प्र० उ० 'इद च प्रत्याख्यानमर्थस्यान्यप्रमाणत्वादित्यनेन सूत्रकृतापि दर्शितप्रायमेव'।

स्थापना की गई है, ठीक उनके विपरीत युक्तियों से इसका प्रत्याख्यान कर दिया है। 'नैकेनानेकस्याभिधानम्' अर्थात् एक शब्द से अनेक अर्थ का अभिधान नहीं हो सकता। प्रत्येक अर्थ के लिये अलग-अलग शब्द प्रयुक्त होते हैं। इष्ट है कि एक ही शब्द से अनेक अर्थ का बोध हो जाये। इसलिये इस सूत्र द्वारा 'एकशेष' का विधान करके उस एक शब्द से अनेक अर्थ का बोध स्वीकार किया है।

सूत्र की स्थापना में यही प्रबल युक्ति है कि एक शब्द से अनेक अर्थ का बोध अभीष्ट है और वह इस 'एकशेष विधान' से सिद्ध हो जाये। यह बात अच्छी तरह से सूत्र द्वारा सिद्ध कर दी है। किन्तु इस सूत्र के खण्डन के समय बिल्कुल इससे विपरीत यह युक्ति देकर कि 'एकेनाप्यनेकाभिधानम्' अर्थात् एक से अनेक अर्थ का भी अभिधान होता है, इस सूत्र का खण्डन कर दिया गया है। 'वृक्ष' यहां 'वृक्ष' शब्द से ऐकत्व अर्थ में 'सु' प्रत्यय होता है। यहां तो एक अर्थ होने के कारण अनेक 'वृक्ष' शब्दों का प्रसङ्ग ही नहीं जिनकी निवृत्ति के लिये एकशेष-विधान की आवश्यकता हो। 'वृक्षौ' यहाँ 'दो वृक्ष' कहने के लिये 'वृक्ष' शब्द को द्वित्वार्थक मानकर एक ही 'वृक्ष' शब्द से 'औ' प्रत्यय हो जायेगा तो 'एकशेष' की आवश्यकता नहीं रहती। इसी प्रकार 'वृक्षाः', 'अक्षाः', 'पादाः', 'माषाः', 'घटौ', 'कलशौ' इत्यादि में 'वृक्षादि' शब्द से द्वित्व बहुत्वादि अर्थ में द्विवचन-बहुवचनादि सिद्ध हो जायेंगे। इस तरह से एक ही शब्द से इष्ट सिद्ध होने पर यह सूत्र अप्रयोजक है। इसलिए पूज्यपाद देवनन्दी ने भी अभिधान को स्वाभाविक मानते हुए प्रकृत सूत्र के स्थान पर 'एकशेष' का अनारम्भ ही उचित माना है।[1] और इस तरह से उन्होंने समस्त 'एकशेष' प्रकरण को ही खण्डित कर दिया।

---

१ जै० सू० १ १ १०० स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भः'। चान्द्र व्याकरण की स्वोपज्ञवृत्ति में भी २ २ ८७ सूत्र पर प्रकृत सूत्र के साथ-साथ सारा 'एकशेष' ही प्रत्याख्येय सिद्ध किया गया है। हां, शाकटायन, भोज तथा हैम व्याकरण में इनका प्रत्याख्यान नहीं मिलता अपितु अन्वाख्यान ही दृष्टिगोचर होता है जोकि अनावश्यक गौरव ही है—

शा० सू० २ १ ८१ ८२ 'समानामेव'। 'सुप्यसङ्ख्ये'।

स० सू० ३ ३ १०३-१०५ 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ'। 'स्वरभिन्नानां यस्योत्तरस्वरविधि'। 'विरूपाणामप्येकार्थानाम्'।

है० सू० ३ १ ११८-११९ 'समानामर्थेनैकः शेषः' 'स्यादावसङ्ख्येयः'।

वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेष ॥ १ २ ६ ५ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र 'एकशेष' का विधान करता है। 'गोत्र' और 'युव' प्रत्यय की सहविवक्षा में यह 'गोत्र' प्रत्यय के 'एकशेष' का कथन करता है। सूत्र में 'वृद्ध' शब्द का अर्थ 'गोत्र' है। पूर्वाचार्यों ने 'अपत्यमन्तर्हितं वृद्धम्' इस वचन द्वारा 'गोत्र' की 'वृद्ध' संज्ञा मानी है।[1] आचार्य पाणिनि ने भी पूर्वाचार्यों का आदर करते हुए 'गोत्र' शब्द के स्थान में 'वृद्ध' शब्द का प्रयोग किया है। वैसे उनका 'गोत्र' संज्ञा विधायक "अपत्य पौत्रप्रभृति गोत्रम्"[2] यह सूत्र प्रसिद्ध है। पौत्र प्रभृति अपत्य की 'गोत्र' संज्ञा होती है। "जीवति तु वंश्ये युवा"[3] इस सूत्र द्वारा वंश के लोगों के जीवित रहते उसी 'गोत्र' की 'युव संज्ञा' हो जाती है। अपत्य तीन प्रकार के हैं—अनन्तरापत्य, गोत्रापत्य और युवापत्य। यह सूत्र गोत्रापत्य और युवापत्यविषयक है। इसका अर्थ है कि 'युवा' प्रत्यय के साथ 'गोत्र' के कथन करने में 'गोत्र' का 'एकशेष' होता है, यदि 'गोत्र' और 'युव' प्रत्ययों की प्रकृति में केवल दोनों प्रत्ययों का किया हुआ ही वैलक्षण्य हो, अन्य सब समान हो। यहां 'एव' शब्द भिन्नक्रम है। 'तल्लक्षण एव चेद्विशेष' ऐसा न्यास होना चाहिये। दोनों प्रत्ययों की मूल प्रकृति समान होनी चाहिये, केवल प्रत्ययों से होने वाला वैरूप्य ही हो, तब 'गोत्र' प्रत्यय का एकशेष होता है। जैसे—गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ। यहां 'गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्य'। 'गर्ग' शब्द से 'गर्गादिभ्यो यञ्'[4] से गोत्रापत्य में 'यञ्' प्रत्यय होकर 'गार्ग्य' बनता है। उससे "यञिञोश्च"[5] से 'युवाप्रत्यय' 'फक्' होकर 'गार्ग्यायण' बनता है। 'गार्ग्य' गोत्र है। 'गार्ग्यायण' युवा है। दोनों की सहविवक्षा में गोत्र प्रत्यय गार्ग्य का 'एकशेष' होकर 'गार्ग्यौ' बन जाता है।

'वृद्ध' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'गर्गश्च गार्ग्यायणश्च गर्गगार्ग्यायणौ' यहां 'वृद्ध' अर्थात् 'गोत्र' प्रत्यय न होने से 'एकशेष' नहीं हुआ। 'गर्ग' तो मूल

---

१ द्र० का० भा० १, सू० १ २ ६५, पृ० ३८० 'वृद्धशब्दः पूर्वाचार्यसंज्ञा गोत्रस्य। अपत्यमन्तर्हितं वृद्धमिति'।

२ पा० ४ १ १६२।

३ पा० ४ १ १६३।

४ पा० ४ १ १०५।

५ पा० ४ १ १०१।

प्रकृति है, 'गोत्र' नही है। 'यूना' कहने का प्रयोजन यह है कि 'गार्ग्यश्च गर्गश्च गार्ग्यगर्गौ' यहा गार्ग्य 'गोत्र' तो है किन्तु 'युवा' नही है इस लिये 'एकशेष' नही हुआ। तल्लक्षण' ग्रहण करने का प्रयोजन यह है कि 'भागवित्तिश्च भागवित्तिकश्च भागवित्तिभागवित्तिकौ' यहा 'एकशेष' नही हुआ। 'भागवित्तस्य गोत्रापत्य भागवित्ति' यहा गोत्रापत्य मे 'भागवित्त' शब्द से "अत इञ्" सूत्र से 'इञ्' प्रत्यय हुआ। उससे युवापत्य मे "वृद्धाट्ठक् सौवीरेषु बहुलम्" से 'सौवीर गोत्र' की कुत्सा कहने मे 'ठक्' प्रत्यय होकर 'भागवित्तिक' बनता है। दोनो की सहविवक्षा मे 'गोत्र' का 'एकशेष' इस लिये नही हुआ कि दोनो मे केवल 'गोत्र' 'युव प्रत्ययमात्र' का ही भेद नही है, अपितु 'युवप्रत्यय' मे 'सौवीरगोत्र' तथा 'कुत्सा' अर्थ भी अधिक है। इस लिये 'एकशेष' न होकर 'भागवित्तिभागवित्तिकौ' यह द्वन्द्व समास ही हो जाता है। इस सूत्र का प्रत्याख्यान तथा समीक्षा "पुमान् स्त्रिया" (पा० १ २ ६७) इस अग्रिम सूत्र के विचार मे ही द्रष्टव्य है।

स्त्री पुंवच्च ॥ १ २ ६६ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र "वृद्धो यूना" इस विगत सूत्र का ही शेष है। इसका अर्थ है कि 'युव' प्रत्यय के साथ 'गोत्रप्रत्ययान्त' स्त्री शब्द का 'एकशेष' होता है और स्त्री शब्द को पुमर्थ का अतिदेश भी हो जाता है। अर्थात् स्त्रीलिङ्ग को पुलिङ्ग मानकर उसमे पुवत् कार्य हो जाते हैं। जैसे—'गार्गी च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ'। यहा 'गर्गस्य गोत्रापत्य स्त्री गार्गी' यह स्त्रीलिङ्ग गोत्र प्रत्ययान्त शब्द है। उसकी 'गार्ग्यायण' इस 'युव प्रत्यय' के साथ विवक्षा मे 'गोत्र प्रत्यय' का 'एकशेष' हो गया और 'गार्गी' इस स्त्रीलिङ्ग को पुलिङ्ग होकर 'गार्ग्य' बन गया।

इसी प्रकार 'गार्ग्यश्च स्त्रियो बह्व्य गार्ग्यायणश्चेति इति गर्गा' यहा 'गोत्र प्रत्ययान्त' बहुवचनान्त 'गार्गी' शब्द को पुमर्थ का अतिदश होने से बहुवचन मे "यञञोश्च" से 'यञ्' का 'लुक्' हो गया। पुलिङ्ग मे ही 'यञ' का 'लुक्' होता है, स्त्रीलिङ्ग मे नही। 'गार्गी चैका गार्ग्यायणौ च द्वौ तान् गर्गान् पश्य' यहा

---

१ पा० ४ १ ९५।
२ पा० ४ १ १४८।
३ पा० १ २ ३५।
४ पा० २ ४ ६४।

स्त्री के पुवत् होने से 'तस्माच्छसो न पुंसि'[1] से 'नत्व' भी हो गया। "तल्लक्षणश्चेदेव विशेष"[2] की अनुवृत्ति यहा भी आती है। इस लिए 'गार्गी च वात्स्यायनौ च इति *गार्गीवात्स्यायनौ*' यहा 'एकशेष' तथा पुवत् नही होता, किन्तु द्वन्द्व समास ही हो जाता है। 'गार्गी' और 'वात्स्यायन' मे स्त्रीप्रत्यय के वैलक्षण्य के साथ प्रकृति का भी वैलक्षण्य है। इस सूत्र का प्रत्याख्यान तथा समीक्षाकरण भी अग्रिम "पुमान् स्त्रिया" (पा० १ २ ६७) सूत्र के विचार मे द्रष्टव्य है॥

पुमान् स्त्रिया॥ १ २ ६७॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र भी 'एकशेष' का विधान करता है। स्त्रीलिङ्ग शब्द के साथ विवक्षा मे पुलिङ्ग शब्द का एकशेष होना है, यदि केवल तल्लक्षण ही विशेष हो अर्थात् स्त्रीपुसकृत प्रत्ययो का ही वैरूप्य हो, अन्य मूल प्रकृति आदि सब समान हो। जैसे—'ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी च ब्राह्मणौ'। 'कुक्कुटश्च कुक्कुटी च कुक्कुटौ'। यहा स्त्रीलिङ्ग के साथ पुलिङ्ग के कहने मे 'ब्राह्मण' तथा 'कुक्कुट' इन पुलिङ्ग शब्दो का एकशेष हो गया। स्त्रीलिङ्ग 'ब्राह्मणी' तथा 'कुक्कुटी' शब्दो की निवृत्ति हो गई। 'एकशेष' के सामर्थ्य से 'ब्राह्मणौ' मे 'ब्राह्मण' के साथ 'ब्राह्मणी' के अर्थ का भी बोध होता है। जहा दो केवल 'ब्राह्मण' ही होगे वहा तो 'ब्राह्मणौ' बनता ही है। वह "सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ"[3] इस सूत्र का विषय है। इस सूत्र द्वारा एकशेष हुए 'ब्राह्मणौ' शब्द से ब्राह्मणी अर्थ भी 'ब्राह्मण' के साथ समझा जाता है। जैसे 'भ्रातरौ' कहने पर दो भाई तो प्रतीत होते ही हैं किन्तु "भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्"[4] मे एकशेष होने पर भाई-बहन ये दोनो भी प्रतीत होते हैं। 'पितरौ' कहने से दो पिताओ की तरह पिता और माता भी एक साथ प्रतीत होते हैं। यही 'एकशेष' का महत्त्व है।

---

१ पा० ६ १ १०३।
२ पा० १ २ ६५।
३ पा० १ २ ६४।
४ पा० १ २ ६८।

'तल्लक्षणविशेष' ग्रहण का प्रयोजन यही है कि कुक्कुटश्च मयूरी च कुक्कुट-मयूर्यौ' यहां 'एकशेष' नहीं हुआ, किन्तु द्वन्द्व समास ही होता है। क्योंकि 'कुक्कुट' और 'मयूरी' में केवल स्त्रीपुंसकृत प्रत्ययों का ही वैरूप्य नहीं है अपितु मूल प्रकृति में भी स्पष्ट वैरूप्य है।

विशेष के स्थान पर सामान्य की विवक्षा में सूत्रों का प्रत्याख्यान

"वृद्धो यूना०"[1], "स्त्री पुंवच्च"[2], पुमान् स्त्रिया[3] इन तीनों सूत्रों के प्रत्याख्यान करते से पूर्व भाष्यकार क्रमश उक्त सूत्रों के उदाहरण देते हुए पूछते हैं कि 'अजश्च वर्करश्च' 'अश्वश्च किशोरश्च', 'उष्ट्रश्च करभश्च' यहां 'वृद्धो यूना०' सूत्र से 'एक-शेष' क्यों नहीं होता क्योंकि इनमें एक वृद्ध है, एक जवान है। 'तल्लक्षणविशेष भी है। क्योंकि 'अज' और 'वर्कर' की समान आकृति है, केवल शब्द का ही वैरूप्य है। इसी प्रकार 'अजा च वर्करश्च', 'बडवा च किशोरश्च', 'उष्ट्री च करभश्च' यहां "स्त्री पुंवच्च" से 'एकशेष' तथा स्त्रीशब्द को पुंवत् क्यों नहीं होता। क्योंकि 'अजा' और वर्कर' इन दोनों की आकृति समान है, केवल शब्द का ही वैरूप्य है, इसी प्रकार 'हंसश्च वरटा च', 'कच्छपश्च डुलिश्च', 'ऋश्यश्च रोहिच्च' यहां "पुमान् स्त्रिया" से पुलिङ्ग का 'एकशेष' क्यों नहीं होता। क्योंकि 'हंस' और 'वरटा' (हंसिनी) की आकृति समान है, केवल शब्द का ही वैरूप्य है। आगे आने वाले 'भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्'[4] इस सूत्र के विषय में पूछते हैं कि इसकी क्या आवश्यकता है। क्योंकि यह तो "पुमान् स्त्रिया" इससे ही गतार्थ हो सकता है। 'भ्राता च इति भ्रातरौ' यहां भ्राता' पुलिङ्ग है और स्वसा' स्त्रीलिङ्ग है। 'पुत्रश्च दुहिता च इति पुत्रौ' यहां भी 'पुत्र' पुलिङ्ग है और 'दुहिता' स्त्री लिङ्ग है।

इन सबका एक साथ उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि यहां 'तल्लक्षण विशेष' नहीं है। 'अज', वर्कर' आदि शब्दों में समान आकृति तो है किन्तु शब्द की मूल प्रकृति समान नहीं है, एक नहीं है। 'अज' और

---

१ पा० १२६५।
२ पा० १२६६।
३ पा० १२६७।
४ पा० १२६८।

'बकर' ये दोनों भिन्न-भिन्न विरूप हैं। इसके अतिरिक्त 'वृद्धो यूना०", सूत्र में 'वृद्ध', 'युवन्' शब्दों में 'बूढा' और 'जवान' अर्थ नहीं लिये गये अपितु शास्त्रीय परिभाषित 'गोत्र' और 'युव' प्रत्यय लिये गये हैं। इसलिये 'अज', 'बर्कर' दोनों शब्दों का तो किसी भी प्रकार 'एकशेष' प्राप्त नहीं होता। 'यल्लक्षणविशेष' को समझाते हुए भाष्यकार कहते हैं—"यत्रोर्ध्वं प्रकृते स्यात् तल्लक्षण एव विशेष तत्रैकशेषो भवति"[1] अर्थात् जहां प्रत्यया की मूल प्रकृति एक हो, समान हो, केवल प्रत्ययों में ही वैरूप्य हो वही 'तल्लक्षणविशेष' यहां लिया गया है। अजश्च बर्करश्च', 'अजा च बकरश्च', 'हसश्च वरटा च' इत्यादि सभी पूर्वोक्त उदाहरणों में मूल प्रकृति एक न होने से 'तल्लक्षणविशेष' नहीं है। अत कहीं पर भी 'एकशेष' नहीं होगा। "पूर्वयोर्योगयोर्भूयान् परिहार—यावद् ब्रूयाद् गोत्र यूना इति, तावद् वृद्धो यूना इति। पूर्वसूत्रे गोत्रस्य वृद्धमिति सज्ञा क्रियते"[2]। 'तल्लक्षणविशेष' को समझ लेने पर 'भ्राता च स्वसा च भ्रातरौ' यहां "भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्" से ही 'एकशेष' होगा। "पुमान्स्त्रिया" से उसकी गतार्थता नहीं हो सकती।

अब भाष्यवार्तिककार एक साथ उक्त तीनों सूत्रों अर्थात् "वृद्धो यूना०", "स्त्रीपुवच्च", 'पुमान् स्त्रिया" की अयथासिद्धि दिखाते हुए इनका प्रत्याख्यान करते हैं—

"असरूपाणा युवस्थविरस्त्रीपुमाना विशेषस्याविवक्षितत्वात् सामान्यस्य च विवक्षितत्वात् सिद्धम्"[3]।

इसका भाव यह है कि 'गोत्र-युव' प्रत्ययान्त गार्ग्य और गार्ग्यायण', स्त्रीलिङ्ग, पुलिङ्ग ब्राह्मण' और ब्राह्मणी' ये सब असरूप हैं। इनमें जो 'गार्ग्य' एव गार्ग्यायण' हैं अथवा 'गार्गी और 'गार्ग्यायण' ह सबमें गर्गापत्यत्व समान है। 'गार्ग्य', गार्गी' और 'गार्ग्यायण' सब गर्ग' के अपत्य है। केवल 'गोत्र युव प्रत्यय तथा स्त्रीप्रत्यय का ही विशेष भेद है। उन सब में विशेष वाचक प्रत्ययों की विवक्षा न करके यदि सामान्य गर्गापत्यत्व की

१ महा० भा० १, सू० १ २ ६८, पृ० २४८।

२ वहीं।

३ वहीं।

विवक्षा कर ली जाये तो 'गार्ग्यायण' के गर्गगोत्रीय' होने के कारण उसको भी 'गार्ग्य' मानकर 'गार्ग्यश्च गार्ग्यश्च गार्ग्यौ' इस प्रकार 'गार्ग्य' शब्द समान रूप होने से "सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ"[1] उस पूर्व सूत्र से ही 'एकशेष' सिद्ध हो जायेगा तो 'वृद्धो यूना०" और 'स्त्री पुंवच्च" ये दोनो सूत्र व्यर्थ हो जाते है। 'गार्ग्यौ' से ही गार्ग्यायण' की भी प्रतीति हो जायगी। अब भी तो 'गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ' यहाँ 'वृद्धो यूना०" से 'एकशेष' मानने पर उक्त प्रतीति होती ही है। इस प्रकार 'तल्लक्षणविशेष' अथवा असरूप होने से, जो इस सूत्र की आवश्यकता रहती थी, वह निरस्त हो जाती है। सामान्य 'गर्ग' के 'गोत्रापत्य गार्ग्य' शब्द से ही 'गार्ग्यायण' का भी बोध सभव हो जाने से यह सूत्र व्यर्थ है। 'गार्गी' इस स्त्रीलिङ्ग 'गोत्रप्रत्ययान्त' शब्द मे भी स्त्री अपत्य का भेद न करके 'गार्ग्य' शब्द से ही काम चल जायेगा। क्योकि 'गर्ग' के अपत्य स्त्री या पुरुष सब समान ही है। अत 'गार्ग्य' शब्द से 'एकशेष' से 'गार्गी' और 'गार्ग्यायण' ये दोनो ही प्रतीत हो जायेगे तो "स्त्री पुंवच्च" यह सूत्र भी अनावश्यक हो जाता है।

शेष रहा 'ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी च ब्राह्मणौ' यहाँ यह 'एकशेष' भी 'पुमान् स्त्रिया" से न होकर "सरूपाणामेकशेष०" सूत्र से ही सिद्ध हो जायेगा। क्योकि 'ब्राह्मण' और 'ब्राह्मणी' दोनो मे ब्राह्मणत्व जाति समान है। उसकी समानता से लिङ्ग की विवक्षा न करके 'ब्राह्मणश्च ब्राह्मणश्च इति ब्राह्मणौ' यह 'एकशेष' हो जायेगा। उससे ब्राह्मण स्त्री का भी बोध सभव होगा। जैसे'—मृगक्षीरम्' (मृगी का दूध)। यहाँ 'मृग्या क्षीरम्' यह विग्रह न करके मृगत्व जाति सामान्य की विवक्षा से 'मृगस्य क्षीरम्' ऐसा विग्रह अभीष्ट माना जाता है। और उस 'मृग' शब्द से 'मृगी' का ही अर्थ—बोध होता है। इसलिये स्त्रीलिङ्ग-पुलिङ्ग शब्दो मे पुलिङ्ग का 'एकशेष' करने के लिए "पुमान् स्त्रिया" इस सूत्र की भी आवश्यकता नही है। 'विशेष' की विवक्षा न करके 'सामान्य' की विवक्षा मान लेने से उक्त उदाहरणो मे सब शब्द सरूप हो जायगे तो "सरूपसूत्र" से ही इष्टसिद्ध हो जाने पर भाष्य-वार्तिककार ने इन तीनो सूत्रो का प्रत्याख्यान कर दिया है।

समीक्षा एव निष्कर्ष

'सामान्य' की विवक्षा मानकर उक्त सूत्रो का प्रत्याख्यान करने मे

[1] पा० १ २ ६४।

भाष्यवार्तिककार का तात्पर्य यही है कि किसी प्रकार इन सूत्रों से सिद्ध होने वाले शब्द सरूप बना लिये जायें। सरूप बन जाने पर "सरूपाणाम्०" सूत्र से ही 'एकशेष' सिद्ध हो जायेगा। 'गार्ग्यायण' को 'गार्ग्य' मानकर तथा ब्राह्मणी' को 'ब्राह्मण' मान कर दोनों 'गार्ग्य' तथा 'ब्राह्मण' शब्द सरूप हो जाते हैं तो 'गार्ग्यौ' और 'ब्राह्मणा' ये 'एकशेष' के रूप पूर्वसूत्र से स्वयमेव सिद्ध हो जाते हैं। इन सूत्रों की आवश्यकता केवल प्रत्ययप्रयुक्त वैरूप्य के कारण थी, वह वैरूप्य अब रहा नहीं, तो ये सूत्र व्यर्थ हैं। 'गार्ग्यौ' से 'गार्ग्यायण' की तथा 'ब्राह्मणो' मे 'ब्राह्मणी' की प्रतीति प्रकरणादिवशात् हो जायगी।

किन्तु यहाँ यह विचारणीय है कि क्या उक्त उदाहरणों की तरह सर्वत्र *'सामान्य' की विवक्षा से काम चल जायेगा। 'तल्लक्षणविशेष' को लेकर* बनाये गये इन सूत्रों की कहीं भी आवश्यकता न होगी। उदाहरण के रूप में 'पुमान्स्त्रिया' को ही लेते हैं, क्या इस सूत्र के अभाव में 'इन्द्रश्च इन्द्राणी च इन्द्रेन्द्राण्यौ' यहाँ 'सामान्यविवक्षा' द्वारा 'इन्द्र' शब्द का 'एकशेष' प्राप्त नहीं होगा[1]। 'इन्द्राणी' में पुंयोगकृत विशेष है। साथ ही स्त्रीप्रत्यय 'ङीप्' एवं 'आनुक्' का आगम भी है। इस सूत्र के रहते हुए तो यह कहा जा सकता है कि यहाँ केवल 'तल्लक्षणविशेष' ही नहीं है अपितु पुंयोगकृत विशेष भी है। अतः इस सूत्र से 'एकशेष' नहीं होगा। इसी प्रकार आगे "नपुंसकमन-पुंसकेन०"[2] इस सूत्र में भी 'तल्लक्षणविशेष' की अनुवृत्ति आने से 'अरण्यं च अरण्यानी च इति अरण्यारण्यान्यौ', 'हिमं च हिमानी च इति हिमहिमान्यौ' यहाँ 'एकशेष' नहीं होता। क्योंकि यहाँ स्त्रीप्रत्ययप्रयुक्त वैरूप्य के साथ 'महत्त्व' भी विशेष है। 'सामान्यविवक्षा' द्वारा तो 'अरण्य' और 'अरण्यानी' *को तथा 'हिम' और 'हिमानी' को 'अरण्य' या 'हिम' मानकर 'एकशेष' हो* जाना चाहिये। भामह ने भी 'पुमान्स्त्रिया' सूत्र के सन्दर्भ में लिखा था कि द्वन्द्व समास करने पर पुरुषवाचक शब्द अवशिष्ट रहता है, अतः 'वरुण' और 'वरुणानी', 'रुद्र' और 'इन्द्राणी', 'भव' और 'भवानी', 'शर्व' और 'शर्वाणी'

---

१ ग्रन्थों में उपलब्ध निम्न एकशेष के प्रयोग के साथ तुलना करो— 'रुद्रश्च रुद्राणी च रुद्रौ' जिसके समाधान के लिए वामन ने अपने काव्यालंकारसूत्र में निम्न सूत्र बनाया है—'रुद्रावित्येकशेषोऽन्वेष्य' (काव्यालंकार सूत्र, ५ २ १)।

२ पा० १ २ ६९।

तथा 'मृड' और 'मृडानी' इन द्वन्द्वों में केवल 'वरुणों', 'इन्द्रों', 'भवों', 'शर्वों' और 'मृडों' कहना पर्याप्त होगा। यहाँ यद्यपि स्त्रीवाचक शब्दों का लोप रहेगा तथापि उनके अर्थ का बोध रहेगा नहीं, क्योंकि अवशिष्ट शब्द ही उन लुप्त शब्दों के अर्थ का भी बोध करायेंगे। किन्तु वामन ने इस उपपत्ति या व्यवस्था पर और बारीकी से विचार किया और इसे पाणिनीय व्याकरण के विरुद्ध बताया। पाणिनि व्याकरण में लोप केवल उसी स्त्रीवाचक शब्द का होता है जिससे निकलते अर्थ में केवल स्त्रीत्व की प्रतीति हो रही हो। जैसे 'हंस' और 'हंसी'। इनको संस्कृत में केवल 'हंसौ' कहा जा सकेगा। कारण कि 'हंसी' का अर्थ है 'मादा हंस', न कि 'हंस की स्त्री'। अभिप्राय यह है कि 'हंसौ' कहने से निकलने वाले अर्थों में 'दाम्पत्य' की विवक्षा नहीं है। यह अभीष्ट नहीं है कि जिस 'हंसी' शब्द का छोड़ दिया गया है, उससे प्रतीत होने वाली 'हंसी', जो 'हंस' शब्द बचा है, उससे प्रतीत होने वाले 'हंस' की पत्नी जाया या गृहिणी अथवा घरवाली है। यदि वह 'हंस' की जाया के रूप में विवक्षित होती तो उसके वाचक 'हंसी' शब्द का लोप न होता और 'हंसौ' न कहा जा सकता।

निष्कर्ष यह है कि स्त्रीवाचक शब्द के साथ पुरुषवाचक शब्द का समास होने पर 'एकशेष' तब संभव है जब उन दोनों शब्दों के अर्थों में केवल स्त्रीत्व और पुरुषत्व की प्रतीति हो रही हो। यानि वे दोनों केवल जातिवाचक शब्द हों। भामह ने जिनमें 'एकशेष' की व्यवस्था की है उन 'वरुणानी' और 'वरुण', 'भवानी' और 'भव' में स्त्रीवाचक शब्द केवल स्त्रीत्व का वाचक नहीं है। उनका निर्माण 'भव' आदि शब्दों में जिस प्रत्यय को लगाकर किया गया है वह प्रत्यय 'दाम्पत्य' अर्थ में है। 'भवानी' वही होगी जो 'भव' की स्त्री होगी। इसी प्रकार 'वरुणानी', 'इन्द्राणी', 'शर्वाणी' या 'मृडानी' वे ही होंगी जो 'वरुण' आदि की पत्नी होंगी। निदान, 'भवानी' आदि शब्दों से केवल स्त्रीत्व की प्रतीति नहीं होगी। उनसे स्त्रीत्व के साथ-साथ पत्नीत्व की भी प्रतीति होगी। इस स्थिति में पाणिनि के अनुसार 'एकशेष' नहीं होगा और 'भवानी' तथा 'भव' इस विवक्षा में केवल 'भवौ' नहीं बोला जा सकेगा। ठीक भी है केवल 'भवौ' बोलने पर प्रतीत होगा—'दो भव' न कि 'भव' और 'भवानी'। फलतः 'एकशेष' यहाँ हानिकारक होगा। क्योंकि उसमें बचा हुआ शब्द लुप्त हुए शब्द के अर्थ का बोध नहीं करा पायेगा, साथ ही अभीष्ट अर्थ का बोध भी नहीं करा सकेगा। जिस प्रयोग से इस

प्रकार की अव्यवस्था उपस्थित हो, वह सस्कृत न होकर असस्कृत होगा।

भामह की इस व्यवस्था मे वामन भामह पर एक चोट भी करते है। भामह ने 'एकशेष' के जो उदाहरण दिये थे, उनका आधार पाणिनि का "इन्द्रवरुणभवशर्व॰", (४ १ ४९) सूत्र था। इसमे 'इन्द्राणी', 'वरुणानी', 'भवानी', 'शर्वाणी', 'रुद्राणी', 'मृडानी', 'हिमानी', 'अरण्यानी', 'यवानी', 'यवनानी', 'मातुलानी' तथा आचार्यानी' शब्द बनते है। भामह ने इनमे भ अपने—

"सरूपशेष तु पुमान् स्त्रिया यत्रानुशिष्यते।
यथाह वरुणावि द्रौ भवौ शर्वौ मृडाविति ॥[1]"

इस पद्य मे 'इन्द्र', 'वरुण', 'भव', 'शव', और 'मृड' को तो अपना लिया केवल 'रुद्रौ' को छोड दिया गया। वामन ने इसी को अपनाया और सूत्र लिखा—

"रुद्रावित्येकशेषोऽन्वेष्य" (५ २ १)।

इसकी वृत्ति मे वामन ने भामह के ही क्रम मे लिखा—"एतेन इन्द्रौ, भवौ, शर्वौ इत्यादय प्रयोगा प्रत्युक्ता।"

अस्तु, यह ठीक है कि 'सामान्यविवक्षा' रूप द्वारा हेतु इन्ही तीन सूत्रो का ही खण्डन किया गया है। आगे 'भ्राता-स्वसा', 'पुत्र-दुहिता' और 'श्वशुरश्वश्रू' इनमे अन्य हेतु देकर उनका भी प्रत्याख्यान कर दिया गया है तथापि वैरूप्य की स्थिति का तो अपलाप नही कर सकते। जैसे 'भ्राता-स्वसा' विरूप है वैसे 'गार्ग्य-गार्ग्यायण' भी विरूप हैं। 'ब्राह्मण-ब्राह्मणी' भी विरूप हैं, सर्वथा सरूप नही है। इनमे 'तल्लक्षणविशेष' है। उसी तत्तत्प्रत्ययलक्षण विशेष' को लेकर इन सूत्रो से 'एकशेष' का विधान किया गया है। यदि यह कहा जाये कि 'इन्द्र' और 'इन्द्राणी' मे कोई 'सामान्य' नही बनता। क्योकि इन्द्रत्व कोई 'सामान्य' नही है। 'इन्द्राणी' केवल इन्द्ररूप पुयोग के कारण कहलाती है। ऐसी अवस्था मे वहा 'इन्द्र' शब्द का एकशेष नही हो सकता। 'इन्द्र' और 'इन्द्राणी विरूप

---

१ काव्यालकार, ६ ३२

है। अतः द्वन्द्व ही रहेगा, 'एकशेष' नहीं। तब तो भाष्यवार्तिककार द्वारा किया गया उक्त तीनों सूत्रों का प्रत्याख्यान माननीय हो जाता है। विस्तृत वाङ्मय में कहीं न कहीं तो दोष की संभावना रहती ही है तथापि भाष्यकार का वचन निर्दोष समझकर स्वीकार कर लेना चाहिये। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि भाष्यकार ने समस्त एकशेष प्रकरण का ही प्रत्याख्यान कर दिया है। सरूप सूत्र' से लेकर 'ग्राम्यपशुसङ्घेषु०'[2] इस अन्तिम सूत्र तक सभी एकशेषविधायक सूत्र खण्डित हो गये हैं। भाष्यकार को प्रमाण मानने के कारण ही संभवतः चन्द्रगोमी तथा देवनन्दी ने भी सारे एकशेष-प्रकरण को उड़ा दिया है। यहां केवल उक्त तीनों का ही खण्डन दिखाया है। उसमें सामान्य विवक्षा को आधार माना है। अगले सूत्रों में प्रातिस्विक हेतुविशेष द्वारा खण्डन किया गया है। वह उनके विचार के साथ ही विवेचनीय है।

"पुमान्स्त्रिया" इस सूत्र से विहित 'एकशेष विधान' में एक यह बात विशेष विचार का विषय है कि गौश्च गौश्चायम् इति 'गावौ' यहां स्त्रीपुंवाचक दो 'गो' शब्दों के 'गावौ' इस 'एकशेष' को किससे हुआ माना जाना चाहिये। यदि 'गो' शब्द के सरूप होने से 'सरूपाणामेकशेष०" से यहां 'एकशेष हुआ माना जावे तो उससे होने वाला एकशेष' पुंवाचक 'गो' शब्द के समान स्त्रीवाचक गो' शब्द का भी संभव है। उस अवस्था में 'एतौ गावौ' यहां 'एतद्' शब्द से निश्चित रूपेण पुंलिङ्ग का प्रयोग न हो सकेगा, अपितु स्त्रीवाचक 'गो' शब्द को सूचित करने के लिये 'एते गावौ' ऐसा स्त्रीलिङ्ग प्रयोग भी प्राप्त होगा। 'पुमान् स्त्रिया" से यदि 'गावौ' में 'एकशेष' माना जाये तो वह निश्चित रूप से पुंलिङ्ग ही होगा। तब नियम से 'एतौ गावौ' में 'एतद्' शब्द से पुंलिङ्ग ही आयेगा। किन्तु 'गो' शब्द के सर्वथा सरूप होने से कहीं भी वैरूप्य नहीं है। अतः तल्लक्षणविशेष' के न होने से 'पुमान् स्त्रिया" से यहां एकशेष' प्राप्त नहीं होता। 'तल्लक्षणविशेष' से यदि यह अभिप्राय लिया जाये कि "उस प्रत्यय से भिन्न जो प्रकृति, तल्लक्षण अर्थात् प्रकृतिप्रयुक्त विशेष का न होना ही तल्लक्षणविशेष है, और वह 'गो' शब्द में है ही तब तो 'पुमान् स्त्रिया" से ही 'एकशेष' हो जायेगा। यह

---

१ पा० १२६४।
२ पा० १२७३।

पुलिङ्ग ही होगा। उसके पुलिङ्ग होने से 'एतौ गावौ' में 'एतौ' यह पुलिङ्ग निर्देश निश्चित रूप से निर्बाध है।[1]

यदि यह कहा जाय कि सरूपसूत्र से एकशेष विधान में स्त्रीवाची 'गो' शब्द का 'एकशेष होने पर भी "त्यदादित शेषे पुनपुंसकतो लिङ्गवचनानि"[2] इस वार्तिक के नियम से त्यदादिगणपठित सर्वनाम संज्ञक 'एतद्' शब्द से पुलिङ्ग ही होगा तो यहां भी नियम से 'एतौ गावौ' ही बनेगा, 'एते गावौ' नहीं। तो उसका उत्तर यह है कि *'विशेष्ये यल्लिङ्ग तद्विशेषणेऽपि'* अर्थात् विशेष्य में जो लिङ्ग होता है, वही उसके विशेषण में भी होता है इस नियम से स्त्रीवाची 'गो' शब्द के 'एकशेष' में उसके विशेषण एतद् शब्द में भी *स्त्रीलिङ्ग ही होगा तो 'एते गावौ' ही प्राप्त होगा। एतौ गावौ यह नियम* से न बन सकेगा। इसलिए 'सरूपसूत्र में 'गावौ' में 'एकशेष न मानकर

१ (क) नन्वेवमपि गौरिय गौश्चाय तयो सहोक्तौ एतौ गावौ इति नियमतो न स्यात्। नैष दोष। इयमयमिति पदान्तरगम्येऽपि तल्लक्षणविशेषे 'पुमान् स्त्रिया' इत्यस्य प्रवृत्तिसम्भवादिति कैयट'। श० कौ० भा० २, प्रकृत सूत्र, पृ० ४६

(ख) द्र० स्यादेतत्—गौरिय गौश्चाय—तयो सहोक्तौ एतौ गावौ' इति नियमता न स्यात्, तल्लक्षणविशेषाभावात्। किन्तु स्त्रीवाचकस्य पुवाचकस्य वा सरूपाणाम्०' इत्येकशेषोऽनियमेन स्यात्। अत्राहु 'तदितरकृतविशेषाभावे तात्पर्यान्नि दोष' इति। स्यादेतत्—एतौ गावौ इति नियमतो न स्यात् इति मनोरमायां यदुक्त तदथ सगच्छताम्। 'त्यदादित शेषे पुनपुसकत' इति नियमप्रवृत्त्या स्त्रीवाचि गोशब्दस्य शेषेऽपि 'एतौ गावौ' इति नियमत प्रयोग सिद्धयत्येवेति चेत्—अत्र केचित् —दिक्प्रदर्शनमात्रमिदम् —विशेष्ये यल्लिङ्ग तदेव विशेषणेष्वपि इति सर्वसमतत्वात्, एव च द्वन्द्वतत्पुरुषविशेषणेष्विव एकशेषविशेषणेऽपि एतौ' इत्यत्र त्यदादित शेषे०' इत्यादि नियमाप्रवृत्त्या विशेष्यगतमेव लिङ्ग भवतीति स्त्रीवाचिगोशब्दस्य शेषे 'एते' इति स्यादेव इति *एतौ गावौ इति नियमतो न स्यादित्याक्षेप* सगच्छते एवेति दिक्—त० बो० भा० २, प्रकृत सूत्र, पृ० २०९-२१०।

२ महा० भा० १, सू० १ २ ७२ पर वार्तिक, पृ० २११।

"पुमान् स्त्रिया" से ही पुलिङ्ग का 'एकशेष' मानना चाहिये। तभी 'एतौ गावौ' (ये दो गाय और बैल है) यहां पुरुषवाचक 'गो' शब्द के 'एकशेष' में 'एतौ' यह पुलिङ्ग निर्देश निश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है। इस तरह से सामान्य विवक्षा को आधार मानने पर भी प्रथम दो सूत्र तो न सही, कम से कम "पुमान् स्त्रिया" यह सूत्र तो अवश्य ही रखना चाहिये जिससे उक्त 'एतौ गावौ' यह दृष्ट 'एकशेष' का रूप बन सके। इसीलिए शाकटायन, सरस्वतीकण्ठाभरण तथा हैम व्याकरण में केवल "पुमान् स्त्रिया" यही सूत्र नहीं, अपितु पूर्व के दोनों सूत्र भी यथास्थान पठित हैं।[1] यहां इतना अवश्य ध्यातव्य है कि शाकटायन, भोजराज तथा हेमचन्द्र ने चन्द्र तथा देवनन्दी के समान 'एकशेष' प्रकरण का खण्डन नहीं किया है अपितु पाणिनि सूत्र स्थानापन्न सभी सूत्र यहां पढ़े गये हैं। चन्द्रगोमी आदि द्वारा इन सूत्रों के प्रत्याख्यान का कारण संभवतः उनका भाष्यकार का अनुकरणातिशय है।

भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम् ॥१ २ ६८॥

पिता मात्रा ॥१ २ ७०॥

श्वशुरः श्वश्र्वा ॥१ २ ७१॥

सूत्रों की सप्रयोजन स्थापना

ये तीनों सूत्र भी 'एकशेष' का विधान करते हैं। क्रम से इनका अर्थ है—

१—'भ्रातृ' और 'स्वसृ' शब्दों की सहविवक्षा में 'भ्रातृ' शब्द शेष रहता है, 'स्वसृ' शब्द की निवृत्ति हो जाती है। उसी प्रकार 'पुत्र' और 'दुहितृ' में 'पुत्र' शब्द शेष रहता है, 'दुहितृ' शब्द की निवृत्ति हो जाती

---

१ (क) शा० सू० २ १ ८७-८९ 'वृद्धो यूनानन्यार्थप्रकृतौ'। 'पुरुष'। 'स्त्रिया'।

(ख) स० सू० ३ ३ १०६-१०८ 'पौत्रादिजीवद् वंश्यादीनां तन्निमित्त एव चैकशेष'। 'स्त्री पुंवच्च'। 'पुमान् स्त्रिया'।

(ग) है० सू० ३ १ १२४-१२६ 'वृद्धो यूना तन्मात्रभेदे। स्त्री पुंवच्च'। 'पुरुष स्त्रिया।'

है। 'भ्राता च स्वसा च भ्रातरौ' (भाई-बहन)। 'पुत्रश्च दुहिता च पुत्रौ' (बेटा-बेटी)।

२—'मातृ' शब्द के साथ 'पितृ' शब्द शेष रहता है। 'माता च पिता च पितरौ' (मा-बाप) यहा पक्ष मे द्वन्द्व समास भी इष्ट है 'मातापितरौ'।

३—'श्वश्रू' के साथ 'श्वशुर' शब्द शेष रहता है। 'श्वश्रूश्च श्वशुरश्च श्वशुरौ' (सास-ससुर)। पक्ष मे द्वन्द्व समास भी इष्ट है 'श्वश्रूश्वशुरौ।'

यद्यपि अष्टाध्यायी सूत्रपाठ मे "भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्"[1] इस सूत्र के बाद "नपुसकमनपुसकेन०"[2] इस सूत्र का क्रम है तो भी भाष्यवार्तिककार ने *'भ्राता', 'पुत्र', 'पिता' तथा 'श्वशुर' इनके सम्बन्धी शब्द होने के कारण* तद्विषयक इन तीनो सूत्रो को एक साथ ही विचारकोटि मे रख लिया। वैसे सूत्रक्रम तो यथापूर्व व्यवस्थित है। वस्तुत अष्टाध्यायीसूत्रपाठ मे भी इन तीनों सूत्रों को एक साथ ही रखना चाहिये। "नपुसकमनपुसकेन०" इस सूत्र को इनसे पूर्व "पुमान् स्त्रिया"[3] के बाद रखना उचित है। क्योकि उसमे 'तल्लक्षणविशेष' की अनुवृत्ति आती है जो कि अभीष्ट है। सभवत आचार्य पाणिनि ने "पिता मात्रा", "श्वशुर श्वश्र्वा" इन दोनो सूत्रो मे 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति लाने के लिये "नपुसकमपुमकेन०" इस सूत्र को उन दोनो से पूर्व रखा है। इसी कारण "भ्रातृपुत्रौ०" इस सूत्र को "पिता मात्रा", "श्वशुर श्वश्र्वा" इन सम्बन्धविषयक सूत्रो से व्यवहित किया है। "भ्रातृपुत्रौ" सूत्र मे "एकशेष" नित्य अभीष्ट है। "पिता मात्रा", "श्वशुर श्वश्र्वा" इन दोनो मे 'एकशेष' का विकल्प इष्ट है। यदि पहले नपुसकमनपुसकेन०" यह सूत्र पढकर उसके बाद "पिता मात्रा, श्वशुर श्वश्र्वा" ये सूत्र पढे जाये तथा उनमे दोनो मे 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति मान ली जाये। तत्पश्चात् "भ्रातृपुत्रौ०" यह सूत्र पढा जाये और 'व्याख्यान'[4] से

---

१ पा० १२६८।

२ पा० १२६९।

३ पा० १२६७।

४ (क) द्र० 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्' परि म० १।

(ख) 'न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यान वृद्धि आत् ऐजिति, किं तर्हि। उदाहरण प्रत्युदाहरण वाक्याध्याहार इत्येतत् समुदित व्याख्यान भवति'—महा० पस्पशा०, पृ० ११।

उसमें 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति न मानी जाये तो अभीष्टार्थ सिद्ध हो सकता है।[1] जो कुछ भी हो, कहीं न कहीं त्रुटि तो रहती सम्भव है, अतः यहीं कहा जा सकता है कि—

"न चेदानीमाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति।"[2]

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्रों का प्रत्याख्यान

भाष्यवार्तिककार इन तीनों सूत्रों की "पुमान् स्त्रिया" सूत्र से असिद्धि दिखाते हुए प्रत्याख्यान से पूर्व इनका प्रयोजन उपस्थित करते हैं— भ्रातृ-पुत्रपितृश्वशुराणां कारणाद् द्रव्ये शब्दनिवेशः।"

अर्थात् 'भ्राता', 'पुत्र', 'पिता' तथा 'श्वशुर' आदि शब्दों की प्रवृत्ति का निमित्त भिन्न-भिन्न है। 'भ्राता' भाई को कहते हैं। 'स्वसा' बहन होती है। 'पिता' गर्भ का उत्पादक होता है। 'माता' गर्भ को धारण करने वाली होती है। विवाहित लड़के लड़कियों में एक दूसरे के 'माता-पिता' सास ससुर कहाते हैं। 'भ्राता' पुलिङ्ग है, 'स्वसा' स्त्रीलिङ्ग है। 'पिता' पुलिङ्ग है, 'श्वसुर' पुलिङ्ग है, 'श्वश्रू' स्त्रीलिङ्ग है। ये सब आपस में सरूप न होकर विरूप हैं। सरूप न होने से इनमें "पुमान् स्त्रिया" सूत्र से 'एकशेष' प्राप्त नहीं होता। क्योंकि वह सरूप स्त्रीपुंस शब्दों में ही पुंलिङ्ग का 'एकशेष' करता है। इसलिये प्रवृत्तिनिमित्त की भिन्नता को लेकर तथा विरूप होने से 'एकशेष' की अप्राप्ति में इन सूत्रों से 'एकशेष' का विधान किया गया है। 'भ्रातरौ' इस 'एकशेष' में भाई-बहन दोनों का अर्थ सन्निविष्ट है। इसी प्रकार 'पितरौ' में माता और पिता ये दोनों का अर्थ सन्निहित है। 'श्वशुरौ' में भी सास-ससुर इन दोनों अर्थों का अभिधान है। सूत्रों का यह प्रयोजन कह कर अब इनका प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—

"भ्रातृपुत्रपितृश्वशुराणां कारणाद् द्रव्ये शब्दनिवेश इति चेत् तुल्यकारणत्वात् सिद्धम्।"[3]

---

१ तुलना करो—स० सू० ३.३.११०-११२ 'नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्य वा। पितृश्वशुरौ मातृश्वश्रूभ्याम्। भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्।' यहां भोज व्याकरण में उपर्युक्त आनुपूर्वी से ही सूत्रों का क्रम रखा गया है।

२ वही, महा० पस्पशा०, पृ० ११।

३ महा० भा० १, प्रकृत सूत्र पृ० २५०।

अर्थात् यदि प्रवृत्तिनिमित्त की भिन्नता के कारण इन सूत्रों की आवश्यकता है तो वह व्यर्थ है। क्योंकि 'भ्राता' आदि इन सब शब्दों में प्रवृत्ति-निमित्त की तुल्यता हो सकती है। भिन्नता न मान कर तुल्यता मान ली जायेगी। वह कैसे? इसका उत्तर है—यदि तावद् बिभर्ति इति भ्राता स्वसर्यपि एतद् भवति। यदि पुनातीति प्रीणाति इति वा पुत्र, दुहितर्यपि एतद् भवति। यदि पाति पालयतीति वा पिता, मातर्यपि एतद् भवति। यदि आशु आप्तव्य श्वशुर, श्वश्र्वामपि एतद् भवति।"[1] भाव यह है कि जो गुण-क्रिया 'भ्राता' आदि पुलिङ्ग शब्दों में है, वही गुण-क्रिया 'स्वसा' आदि स्त्रीलिङ्ग शब्दों में भी है। यदि भाई भरण-पोषण करता है इसलिये भाई है तो 'स्वसा' अर्थात् बहन भी भरण-पोषण करती है। 'पिता-माता' में भी गुण-क्रिया समान है। 'श्वश्रू-श्वशुर' में भी समान गुण क्रियायें हैं। इस प्रकार सबके प्रवृत्ति निमित्त तुल्य होने से भ्रातृ आदि के साथ स्वसा आदि का भी अभिधान हो जायेगा।

यदि यह कहा जाये कि "दर्शनं वै हेतु, न हि स्वसरि भ्रातृशब्दो दृश्यते" अर्थात् लोक में 'स्वसा' के लिये 'भ्रातृ' शब्द का प्रयोग नहीं दीखता तो इसका उत्तर है—"दर्शनं हेतुरिति चेत् तुल्यम्"[2] अर्थात् जब 'स्वसा' में भ्राता' के गुण हैं तो 'स्वसा' को 'भ्राता' कहने में क्या आपत्ति है। दोनों तुल्य हैं।[3]

यदि यह कहा जाये कि "न वै एष लोके सम्प्रत्यय। न हि लोके भ्राता आनीयताम् इत्युक्ते स्वसा आनीयते"[4] अर्थात् लोक में ऐसा व्यवहार नहीं देखा जाता। भाई के बुलाने पर बहन नहीं लाई जाती, तो इसका उत्तर

---

१ महा० भा० १,प्रकृत सूत्र, पृ० २५०।

२ वही।

३ लोक में भी यह देखा जाता है कि जब जिसके पास भाई के रूप में केवल लड़की (बहन) होती है और वह यदि उसकी आज्ञा पालन आदि गुणों से आकर्षित करती है तो उसका भाई उसके (बहन के) सम्बन्ध में यह कह देता है कि यह मेरी बहन नहीं है अपितु दूसरा भाई है। क्योंकि उसमें भाई के गुण होते हैं।

४ महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० २५०।

स्पष्ट है—"तद्विषय च"[1] अर्थात् 'भ्राता' से 'स्वसा' का अभिधान 'एकशेष विधान' में हो जाता है। 'एकशेष' में ऐसी शक्ति है कि वह परार्थाभिधान में समर्थ है। यदि 'भ्राता' और 'स्वसा' एकशेष' में "भ्रातरौ यह शब्द भाई के साथ बहन के अर्थ को न कहे तो 'एकशेष' करना ही व्यर्थ हो जायेगा। जब 'एकशेष' में 'भ्रातरौ' यह शब्द भाई-बहन को कह सकता है तो बिना 'एकशेष' के भी 'भ्रातरौ' में विद्यमान उभयार्थाभिधान शक्ति को कौन रोक सकता है। 'भ्रातरौ' में, जहां दो भाई का अर्थ प्रकट होता है, वहां सहविवक्षित बहन का अर्थ भी प्रकट हो जायेगा क्योंकि 'भ्राता' और 'स्वसा' दोनों तुल्यप्रवृत्तिनिमित्त वाले शब्द हैं। ऐसी अवस्था में 'भ्राता च भ्रातरौ' अथवा भ्राता च भ्राता च भ्रातरौ इस प्रकार सरूपसूत्र से ही एकशेष' सिद्ध हो जायेगा तो यह सूत्र व्यर्थ है।

इसी प्रकार पिता च माता च पितरौ' यहां 'माता' में भी पालयितृत्व गुण को लेकर पितृव्यपदेश हो जायेगा तो इस सूत्र के बिना ही एकशेष' सिद्ध है। पितरौ दो पिताओं के समान 'पिता और माता' यह अर्थ भी समाविष्ट समझा जायेगा। इसलिए 'पिता मात्रा' यह सूत्र भी व्यर्थ है।

इसी प्रकार 'श्वशुरश्च श्वशुरश्च श्वशुरौ' यहां भी श्वशुर' में 'श्वश्रू' के गुण भी होने के कारण 'सास और ससुर' इस अर्थ का बोध इस सूत्र के बिना ही हो जायेगा तो 'श्वशुरः श्वश्र्वा' यह सूत्र भी व्यर्थ है। 'भ्राता-स्वसारौ', 'पुत्रदुहितरौ' यह द्वन्द्व समास तो अनभिधान से रुक जायेगा। हां, 'पितरौ' के साथ माता पितरौ', श्वशुरौ' के साथ 'श्वश्रूश्वशुरौ' यह द्वन्द्व समास तो अभियुक्तों द्वारा अभिहित होने से इष्ट है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

'स्वसा' आदि स्त्रीलिङ्ग शब्दों के साथ 'भ्राता' आदि पुंलिङ्ग शब्दों के 'एकशेषविधान' में भाष्यवार्तिककार ने जो इन तीनों सूत्रों का प्रत्याख्यान किया है उसमें यही विशेष युक्ति दी गई है कि इन सब शब्दों में प्रवृत्ति-निमित्त की भिन्नता न होकर तुल्यता ही दीखती है। 'भ्राता' और 'स्वसा' में, जहां भरणपोषणादि क्रिया की तुल्यता है, वहां एकोदरजन्यत्वरूप समानता

---

१ वही, पृ० २५१।

भी है। 'पुत्र' और 'दुहिता' में प्रीतिदायकत्वादि गुणसाम्य के साथ एकापत्यत्व रूप सामान्य भी है। 'पिता' और 'माता' में पालयितृत्वादि गुणों की समानता के साथ एकापत्योत्पादकत्वरूप सामान्य भी है। 'श्वशुर' और 'श्वश्रू' में आशु आप्तव्य (शीघ्र प्राप्ति के योग्य) अति निकट सम्बन्धी आदि गुणों के समान होने के साथ-साथ विवाहित पुत्र-पुत्रियों का जनकत्व रूप सामान्य भी है। इसलिये 'स्वसा' को 'भ्राता', 'दुहिता' को 'पुत्र', माता को 'पिता' और 'श्वश्रू' को 'श्वशुर' मानकर अकेले 'भ्रातृ' आदि शब्दों में ही 'स्वसा' आदि अर्थ समाविष्ट है। ऐसी अवस्था में 'सरूप' सूत्र से ही 'एकशेष' होकर 'भ्रातरौ' आदि बन जायेंगे तो ये सूत्र व्यर्थ हो जाते हैं। यदि ऐसा नहीं माना जायेगा तो 'भ्राता च भगिनी च' यहां क्या 'भ्रातरौ' यह 'एकशेष' नहीं होगा। जैसे 'स्वसा' विरूप है वैसे तत्समानार्थक 'भगिनी' शब्द भी विरूप है। 'स्वसा' के समान 'भगिनी' कैसी 'भ्राता' शब्द से व्यवहार्य दोनों का 'एकशेष' सरूप सूत्र से सिद्ध है। जैसे 'भ्रातास्वसारौ' यह द्वन्द्वसमास अनिष्ट है, वैसे 'भ्रातृभगिन्यौ' यह भी अनिष्ट ही मानना चाहिये। इसलिये 'स्वसा' को उपलक्षण मानकर उसके समान अर्थ वाले 'भगिनी' शब्द में भी 'भ्रातृ' शब्द का 'एकशेष' होता है, यह भाष्यवार्तिककार का अभिप्राय विदित होता है। 'पुत्रश्च दुहिता च पुत्रौ' इसके समान 'पुत्रश्च सुता च पुत्रौ' यही 'एकशेष' का इष्ट रूप है। 'पिता च माता च पितरौ' के समान 'पिता च जननी च पितरौ' यही इष्ट होना चाहिये। इन सूत्रों के प्रत्याख्यान में यह स्पष्ट है कि 'भ्राता' और 'स्वसा' आदि इन विरूप शब्दों को किसी प्रकार सरूप बनाकर पुलिङ्ग का 'एकशेष' कर दिया जाय। वह चाहे सरूप सूत्र से हो या "पुमान् स्त्रिया" से हो।

"पिता मात्रा" इस सूत्र के 'पितरौ' इस 'एकशेष' में चाहे पिता च माता च' यह विग्रह किया जाये अथवा 'माता च पिता च' दोनों अवस्थाओं में द्वन्द्व को बाध कर पक्ष में 'पितरौ' यहां 'पिता' का ही 'एकशेष' होगा। एकशेष के अभाव में 'माता पितरौ' बनेगा। वहां मातृ' शब्द के अभ्यर्हित होने से "अभ्यर्हितम् च"[1] के वचन से 'मातृ' शब्द का पूर्वनिपात होगा। इस विषय में *व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि के प्रणेता विश्वेश्वरसूरि याज्ञवल्क्यस्मृति* के मिताक्षराटीकाकार विज्ञानेश्वर को उद्धृत करते हुए कहते हैं—

---

१ पा० २.२.३४ पर वार्तिक।

दौहित्राभावे पितरौ धनभाजावित्येतद् व्याख्याने यद्यपि युगपदधिकरण वचनतायां द्वन्द्वस्मरणात्तदपवादत्वादेकशेषस्य धनग्रहणे पित्रोः क्रमो न प्रतीयते तथापि विग्रहवाक्ये पूर्वनिपातादेकशेषाभावपक्षे च मातापितराविति मातृशब्दस्य पूर्वश्रवणात् पाठक्रमेणार्थक्रमावगमादेकशेषेऽपि क्रमापेक्षायां प्रतीतिक्रमानुरोधेनैव प्रथमं माता धनभाक् तदभावे पितेति विज्ञानेश्वर ।"[1]

भाव यह है कि 'पितरौ' इस एकपद में यद्यपि 'माता और पिता दोनों का एकशेष' है और विग्रह वाक्य में कोई क्रम न होने से पहले 'पिता' भी धन प्राप्त करने वाला सम्भव है किन्तु 'एकशेष' के अभाव में 'माता पितरौ' इस द्वन्द्व समास में 'मातृ' शब्द के पूर्वनिपात को देखकर 'माता' ही पहले धन की प्राप्त करने वाली सिद्ध होती है । उसके अभाव में ही 'पिता' धनभाक् बनता है । इसी प्रकार 'भवानपि त्वद्दयिता च शेषे सायुज्यमासादयतं शिवाभ्याम्' इस प्राचीन प्रयोग में 'शिवाभ्याम्' इस 'एकशेष' में 'शिवा च शिवश्च' इस विग्रह द्वारा प्रथम पार्वती उसके बाद फिर परमेश्वर शिव का ग्रहण सिद्ध हो जाता है ।[2] किन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में शब्दकौस्तुभकार की दृष्टि में विज्ञानेश्वर का ग्रन्थ चिन्त्य है । क्योंकि उनके मत में एक पद जन्य बोध में क्रम का अभाव रहता है । विग्रह में भले ही 'माता' शब्द का प्रथम प्रयोग हो किन्तु यह आवश्यक नहीं कि 'एकशेष' में भी वही प्रथम धनभाक् हो । इसके लिए, भट्टोजि की दृष्टि में, प्रमाणान्तर अन्वेषणीय है ।[3]

---

१ मिताक्षरा टीका, व्यवहाराध्याय, दायविभाग, दुहित्राधिकार, पृ० २४३-२४४ ।

२ तुलना करो—रघुवंश १ १—'जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।'

३ श० कौ० सू० ११७०, पृ० ४७-४८—'एतेन पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा' (या० स्मृ० १३५) इत्यादि व्याख्यावसरे विग्रहे क्रमप्रतीतेः 'प्रथमं माता धनभाक् तदभावे तु पिता' इति विज्ञानेश्वरग्रन्थश्चिन्त्यः एकपदजन्यबोधे क्रमाभावात् । सूत्रारम्भेऽप्येवमेव । प्रत्युत मुख्यापि प्रथमप्रतीतिश्चिन्त्या । न तु लक्षणया मातुः । यत्तु विग्रहे क्रमप्रतीतिरिति, तन्न । वृत्तिविग्रहयोः सहाप्रयोगात् । पुनरेवेह व्याख्येय श्लोके प्रयोगात् । किं च वृत्तावपि प्रयुक्तायां विग्रहोऽपि स्मर्यतां कथंचित् । न तु तत्रापि पूर्वापरभावे किञ्चिन्नियामकमस्ति । तस्मात्क्रमनिर्णये प्रमाणान्तरं मृग्यम् ।"

प्रस्तुत प्रसङ्ग में सिद्धान्तकौमुदी के टीकाकार ज्ञानेन्द्र सरस्वती तत्त्वबोधिनी में तथा प्रौढमनोरमा में भट्टोजिदीक्षित विशेष विचार करते हुए लिखते हैं कि 'भ्रातृपुत्रौ०' सूत्र का प्रत्याख्यान तो यथा कथंचित् उचित माना जा सकता है। क्योंकि 'भ्रातृ' शब्द का 'एकशेष' तो भाष्यकारोक्त दिशा में 'भ्रातृ' शब्द में ही 'स्वसा' का अर्थ आरोपित कर सरूपसूत्र से ही जायेगा। 'एकशेष' के अभाव में जो 'भ्रातास्वसारौ' यह द्वन्द्व समास प्राप्त होता है उसकी निवृत्ति अनभिधान रूप ब्रह्मास्त्र से कर ली जायगी। किन्तु 'पिता मात्रा' और "श्वशुर श्वश्र्वा' ये दो सूत्र तो प्रत्याख्यान के अयोग्य हैं। इनका प्रत्याख्यान करना अनुचित है। कारण यह है कि इनमें एकशेष' के साथ द्वन्द्व समास भी इष्ट है। 'पितरौ' के समान 'मातापितरौ' यह द्वन्द्व भी माना जाता है। 'श्वशुरौ' के समान 'श्वश्रूश्वशुरौ' यह द्वन्द्व भी इष्ट है। पितरौ', 'श्वशुरौ' इस 'एकशेष' को 'पितृ' शब्द में मातृ' शब्द के अर्थ का आरोप करके अथवा लक्षणा से इस सूत्र के बिना भी सिद्ध कर लिया जायेगा। इसी प्रकार 'श्वशुरौ' में 'श्वश्रू' के अर्थ सहित 'एकशेष' हो जायेगा।

किंतु इन दोनों सूत्रों के बिना जैसे 'पितरौ', 'श्वशुरौ' ये एकशेष के रूप बन जायेंगे, वैसे 'मातरौ' और 'श्वश्र्वौ' ये 'एकशेष' के रूप भी प्राप्त होंगे। क्योंकि जैसे 'पितृ' शब्द में 'मातृ' शब्द के अर्थ का आरोप होता है वैसे 'मातृ' शब्द में भी 'पितृ' शब्द के अर्थ का आरोप हो सकता है। दोनों की सह विवक्षा है। 'श्वश्रू' में भी 'श्वशुर' शब्द के अर्थ का आरोप हो सकता है।

यदि यह कहा जाये कि ऐसा अभिधान नहीं है। स्त्री के अर्थ की अपेक्षा पुरुष की प्रधानता होती है। स्त्री शब्द का 'एकशेष' नहीं हो सकता तो यह कहना भी युक्त नहीं है कि स्त्री का 'एकशेष' नहीं होता। "ग्राम्यपशुसंघेषु०"[1] सूत्र के उदाहरण में 'गाव इमा' यह स्त्री का एकशेष' प्रत्यक्ष है। अतः इन दोनों सूत्रों का बनाना अत्यन्त आवश्यक है जिससे 'पितृ' और 'श्वशुर' इन पुलिङ्ग शब्दों का ही 'एकशेष' हो, 'मातृ' और 'श्वश्रू' इन

---

१ पा० १२७३।

स्त्रीलिङ्ग शब्दों का नहीं।[1] इसलिए अर्वाचीन वैयाकरणों ने इन सूत्रों को प्रत्याख्येय न मानकर इनका अन्वाख्यान ही समीचीन माना है।[2]

नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम् ॥ १ २ ६९ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र नपुंसकलिङ्ग का 'एकशेष' विधान करता है। नपुंसक भिन्न के साथ नपुंसक की विवक्षा में नपुंसक का 'एकशेष' होता है। और उस नपुंसक को विकल्प से एकवद्भाव भी हो जाता है 'तल्लक्षणविशेष' होने पर। एकवद्भाव पक्ष में एकवचन हो जायेगा जैसे—'शुक्लश्च शुक्ल च इति शुक्लानि शुक्ल वा।' यहां पुलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग 'शुक्ल' शब्दों में नपुंसकलिङ्ग 'शुक्ल' शब्द का 'एकशेष' हो गया और उसे एकवद्भाव भी पक्ष में हो गया। तीनों लिंगों में 'शुक्ल' शब्द की प्रकृति में कोई वैलक्षण्य नहीं है, केवल स्त्री पुंसलक्षणप्रत्ययकृत ही विशेष है। 'शुक्लेन वस्त्रेण', शुक्लेन कम्बलेन इति तेनानि शुक्लेन' यहां 'शुक्लेन' यह रूप पुनपुंसक में समान है। अतः यहां 'तल्लक्षणविशेष' की प्रतीति नहीं होती किन्तु इनके मूल शब्द 'शुक्ल', 'शुक्लम्' में तो स्पष्ट ही 'तल्लक्षणविशेष' है। अतः सामान्य 'शुक्ल' शब्द में 'तल्लक्षणविशेष' मानकर सर्वत्र नपुंसक का 'एकशेष' हो जाता है। एकवद्भाव तो समाहारद्वन्द्व में भी हो सकता है किन्तु द्वन्द्वसमास की निवृत्ति के लिए इस सूत्र द्वारा 'एकशेष' का विधान किया गया है। पक्ष में 'एकशेष' हुए नपुंसक शब्द को एकवद्भाव का विधान भी कर दिया गया है।

---

१ द० प्रो० म० भा० १, पृ० २६४—'न च पूर्वसूत्रसमूहवत् इदमपि (पिता माता, श्वशुर श्वश्रूवा) इति सूत्रद्वय द्वन्द्वनिवृत्त्यर्थमिति वाच्यम्। इह द्वन्द्वस्यापि पक्षे इष्टत्वात् इति चेन् मैवम्, पितृश्वशुर-शब्दयोरिव मातृश्वश्रूशब्दयो उक्तविषये केवलयो प्रयोग वारयितु सूत्रारम्भात्। अनभिधानमाश्रित्य प्रत्याख्यानं तु दुर्बलमिति दिक्।'

२ (क) शा० सू० २ १ ८४-८६ 'भ्रातृपुत्रा स्वसृदुहितृभि'। 'पिता मात्रा वा'। 'श्वशुर श्वश्र्वाम्।

(ख) स० सू० ३ ३ ११२,१११—'भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्'। 'पितृ-श्वशुरौ मातृश्वश्रूभ्याम्।'

(ग) है० सू० ३ १ १२१-१२३—'भ्रातृपुत्रा स्वसृदुहितृभि'। 'पिता माता वा।' 'श्वशुर श्वश्रूभ्यां वा'।

'सामान्यविवक्षा' द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र के खण्डन में वार्तिककार तथा भाष्यकार दोनों सहमत है। भाष्यकार इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते है—

"अथ योग शक्योऽवक्तुम्। कथम्—शुक्लश्च कम्बल शुक्ल च वस्त्र ते इमे शुक्ले तदिद शुक्ल वा। शुक्लश्च कम्बल, शुक्ला च बृहतिका, शुक्ल च वस्त्र तानीमानि शुक्लानि, तदिद शुक्ल वा इति। प्रधान काय-सम्प्रत्ययाच्छेष। प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययाच्छेषो भविष्यति। किं च प्रधानम्। नपुसकम्। कथ पुनर्ज्ञायते नपुसक प्रधानमिति। एव हि दृश्यते लोके अनिर्ज्ञातेऽर्थे गुणसन्देहे च नपुसकलिङ्ग प्रयुज्यते। किं जातमित्युच्यते। द्वय चैव हि जायते। स्त्री वा पुमान् वा। तथा विदूरे अव्यक्तरूप दृष्ट्वा वक्तारो भवन्ति महिषीरूपमिव ब्राह्मणी रूपमिव। प्रधाने कार्यसप्रत्ययात् नपुसकस्य शेषो भविष्यति।"[1]

इसका भाव यह है कि प्रधान और अप्रधान की सन्निधि मे प्रधान मे ही कार्य होता है, अप्रधान मे नही। तीनों लिङ्गों मे प्रधान कौन है ? नपुंसक कैसे जाना जाये कि नपुसक प्रधान है। लोक मे ऐसा देखा जाता है कि जो चीज अज्ञात है, निश्चित रूप मे ज्ञात नही है अथवा जहा गुण या लिङ्ग का सन्देह है, वहा नपुसकलिङ्ग का ही प्रयोग होता है। जैसे देवदत्त के घर मे कोई सन्तान उत्पन्न हुई तो पूछते हैं 'किं जातम्'। क्या उत्पन्न हुआ। 'क जात' या 'का जाता' ऐसा कोई नही पूछता। जबकि सबको मालूम है कि दो ही तरह की सन्तान उत्पन्न हो सकती है या तो लडकी या लडका। नपुसक तो उत्पन्न होता ही नहीं। तथापि 'किं जातम्' यह नपुसकलिङ्ग का ही प्रयोग क्यो करते है। इससे सिद्ध है कि सदिग्धावस्था मे सामान्य रूप से नपुसकलिङ्ग का ही प्रयोग होता है स्त्रीलिङ्ग या पुलिंग का नही।

"सामान्ये नपुसकम्"[2] यह वार्तिक सर्वविदित है कि सामान्य अर्थ मे नपुसकलिङ्ग का ही प्रयोग किया जाता है। दूर से अस्पष्ट दीखने पर कहा जाता है कि भैस जैसा रूप है। ब्राह्मणी जैसा रूप है। साफ नही कहा जाता कि यह भैस है या ब्राह्मणी है। अपितु भैस जैसी कुछ वस्तु है। इस लोक

१ महा० भा० १, सू० १२६६, पृ० २४६-५०।
२ वै० सि० कौ० भा० २ सू० २४१७ पृ० १२५ पर वार्तिक।

व्यवहार में प्रकट है कि भंग में स्त्रीलिङ्ग होते हुए भी स्त्री का प्रयोग न करके 'किंचिद् वस्तु अस्ति' (कोई चीज है) यह सामान्य नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग करते हैं। जब तीनों लिङ्गों में सामान्य रूप से वर्तमान सबका सर्वनाम नपुंसक है तो उसके प्रधान होने से उसी का शेष स्वतः सिद्ध हो जायेगा। ऐसी अवस्था में यह सूत्र अनावश्यक है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

भाष्यकार द्वारा उक्त सूत्र का प्रत्याख्यान युक्तियुक्त ही है। नपुंसक का ही 'एकशेष' साध्य है। वह लोकव्यवहार से स्वतः सिद्ध है। स्त्री के 'एकशेष' होने पर पुरुष की प्रतीति नहीं होगी। पुंलिङ्ग के 'एकशेष' में स्त्री के अर्थ की प्रतीति नहीं होगी। नपुंसक के एकशेष में दोनों लिङ्गों का अनुग्रह होकर निर्वाह हो जाता है। अन्यत्र भी सामान्य व्यवहार में कहा जाता है—'भवता किं पठ्यते ग्रन्थः स्मृतिर्वा' अर्थात् आप क्या पढ़ रहे हैं।' 'क्या कोई ग्रन्थ वेदादि या स्मृति।' यहाँ 'किं पठ्यते' इस प्रश्न में सामान्य पुस्तक समझी जाती है। वह चाहे पुंलिङ्ग वेद हो या स्त्रीलिङ्ग स्मृति। सबके लिये सामान्य पुस्तक रूप नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग सर्वसम्मत है। क्योंकि सामान्य नपुंसकलिङ्ग में स्त्रीलिङ्ग और पुंलिङ्ग इन दोनों विशेष लिङ्गों का भी संग्रह हो जाता है इसलिए "निर्विशेषं न सामान्यम्"[1] इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार भी सामान्य नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग ही व्यवहारानुकूल होने से न्याय्य है।

लोक व्यवहार को मुख्य मानकर भाष्यकार ने न केवल इसी सूत्र को अपितु एकशेष विधायक "सरूपाणामेकशेष०"[2] इत्यादि सभी इन सूत्रों को खण्डित कर दिया है। "जात्याख्यायामेकस्मिन्०"[3] इत्यादि वचनविधायक पाँच सूत्रों के प्रत्याख्यान में भी भाष्यवार्तिककार का दृष्टिकोण लोकव्यवहार को मुख्य मानना ही है।

इस नपुंसकलिङ्ग सम्बन्धी प्रत्याख्यान से यह नहीं समझ लेना चाहिये कि सर्वत्र नपुंसकलिङ्ग ही प्रधान है। अपितु जहाँ स्पष्ट रूप से स्त्रीलिङ्ग-

---

१ बालमनोरमा, भा० १, सू० २२५०, पृ० ६७२ 'न हि निर्विशेषं सामान्यम् इति न्यायात्।'

२ पा० १।२।६४।

३ पा० १।२।५८।

पुंलिंग का निर्देश है, वहां तो उन्हीं लिङ्गों की प्रतीति होगी। जैसे—'शुक्ला शाटिका', 'शुक्ला कम्बला।' यहां साफ दीखने वाली स्त्रीलिङ्ग शाटिकाओं तथा पुलिङ्ग कम्बलों का ही 'एकशेष' द्वारा बोध होगा, निर्ज्ञात अर्थ में नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग ही नहीं होता। अतः उक्त तीनों लिङ्गों की सह-विवक्षा जहां होगी वहीं नपुंसक की प्रधानता होने से उसका 'एकशेष' न्याय प्राप्त है। तदर्थ सूत्र द्वारा विधान करना निरर्थक है। यही भाष्यकार का तात्पर्य है। अर्वाचीन वैयाकरणों में भी आचार्य चन्द्र और पूज्यपाद देवनन्दी तो उक्त प्रत्याख्यान में सहमत हैं अतः वहां यह सूत्र नहीं मिलता। किन्तु शाकटायन, सरस्वतीकण्ठाभरण तथा हैम व्याकरणों में उक्त सूत्र पठित होने से उनकी दृष्टि में प्रत्याख्येय नहीं प्रतीत होता जो कि विचारणीय ही है।[1]

त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम् ॥ १ २ ७२ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र भी 'एकशेष' का विधान करता है। इसका अर्थ है कि सर्व-नामसंज्ञक 'त्यद्' आदि शब्दों का सबके साथ विवक्षा में नित्य 'एकशेष' होता है। 'सर्वै' कहने का प्रयोजन यह है कि त्यादादियों के साथ भी और 'त्यादादियों' से भिन्न अन्य 'देवदत्तादि' शब्दों के साथ भी 'त्यदादियों' का 'एकशेष' होता है। 'नित्य' ग्रहण विकल्प की निवृत्ति के लिये है। 'नपुंसक-पुंसकेन०"[2] इस पूर्वगत सूत्र से 'अन्तरस्याम्' की अनुवृत्ति आ सकती थी। 'नित्य' ग्रहण से उसकी निवृत्ति हो जाती है। जैसे—'स च देवदत्तश्च इति तौ'। 'यश्च देवदत्तश्च इति यौ'। 'स च यश्च इति यौ'। 'यश्च कश्च कौ'। यहां 'तद्', 'यम्' 'किम्' ये 'त्यदादि' शब्द हैं। इनका आपस की सहविवक्षा में 'एकशेष' हो गया। 'स च यश्च यौ' यहां दोनों 'त्यदादि' शब्दों में पिछले 'यद्' शब्द का 'एकशेष' होता है। "त्यदादीनां मिथो यद् यत्परं तत् तच्छिष्यते"[3] यह वार्तिकवचन इसमें प्रमाण है।

---

१ (क) शा० सू० २ १ ६१—'नपुंसकमन्येनैकं च वा।'
(ख) स० सू० ३ ३ ११०—'नपुंसकमन्येनैकवच्चास्य वा।'
(ग) है० सू० ३ १ १२८—क्लीबमन्येनैकं च वा'

२ पा० १ २ ६६।

३, वै० सि० भा० २ सू० १ २,७२, एकशेषप्रकरण, पृ० २११।

इस सूत्र में वार्तिककार का कथन है कि "त्यदादित शेषे पुनपुंसकतो लिङ्गवचनानि"[1] अर्थात् त्यदादियों के 'एकशेष' में पुलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग का ही 'एकशेष' होता है, स्त्रीलिङ्ग का नहीं। पुलिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग में भी नपुंसकलिङ्ग का 'एकशेष' इष्ट है। जैसे—सा च देवदत्तश्च इति तौ।' यहां पुलिङ्ग 'देवदत्त' को प्रकट करने वाला 'तौ' यह 'एकशेष' हुआ। स्त्रीलिङ्ग 'सा' का 'एकशेष' नहीं हुआ। 'तच्च देवदत्तश्च यज्ञदत्ताश्च इति तानि' यहां तीनों लिङ्गों की सहविवक्षा में 'तानि' यह नपुंसकलिङ्ग का 'एकशेष' हुआ। 'तच्च देवदत्तश्च ते' यहां केवल पुंनपुंसक में नपुंसक 'ते' का 'एकशेष' हुआ। इसी पर एक वार्तिक और है—"अद्वन्द्वतत्पुरुषविशेषणानाम्"[2] अर्थात् द्वन्द्व और एकदेशी तत्पुरुष समास के विशेषण बने 'त्यदादियों' में उक्त नियम नहीं लागू होता यानि वहां नपुंसकलिङ्ग के एकशेष का नियम न होकर लिङ्ग विशेष्याधीन होता है। जो विशेष्य का लिङ्ग है वही अनुप्रयुज्यमान 'त्यदादियों' का होगा। जैसे—'कुक्कुटश्च मयूरी च इति कुक्कुटमयूर्यौ इमे' यहां द्वन्द्व समास में "इमे' इस स्त्रीलिङ्ग का ही 'एकशेष' हुआ। 'तच्च सा च अर्धं पिप्पल्यौ ते' यहां भी 'ते' शब्द में स्त्रीलिङ्ग का ही 'एकशेष' हुआ। क्योंकि 'अर्धपिप्पली' इस तत्पुरुष समास में 'पिप्पली' यह स्त्रीलिङ्ग है। 'कुक्कुटमयूर्यौ' इस द्वन्द्वसमास में यद्यपि दोनों ही उभयपदार्थ प्रधान होने से विशेष्य हैं तो भी "परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः"[3] इस सूत्र से परवल्लिङ्गता के विधान से स्त्रीलिङ्ग की प्रधानता है। इसलिये 'ते' इस 'एकशेष' में उसी का लिङ्ग प्रधान माना जायेगा। 'पिप्पल्या अधर्म अर्धपिप्पली' यहां एकदेशी तत्पुरुष में भी परवल्लिङ्गता होने से 'पिप्पली' का स्त्रीलिङ्ग ही प्रधान है। अतः उसी लिङ्गवाला 'ते' यह 'एकशेष' हो गया।

'सामान्यार्थ' मानकर सूत्र का प्रत्याख्यान

भाष्यवार्तिककार इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—"अशक्यमपि योग शक्योऽवक्तुम्। त्यदादीनां सामान्यार्थत्वात्। त्यदादीनां सामान्यमर्थः। अतश्च सामान्य देवदत्ते हि स इत्येतद् भवति, यज्ञदत्तेऽपि। त्यदादीनां

---

१ महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० २५१।
२ महा० भा० १, सू० १२७२, पृ० २५१।
३ पा० २४२६।

सामान्यायत्वात् एकशेषो भविष्यति ।"[1] भाव यह है कि 'त्यदादि' शब्दो के सामान्य अर्थ का वाचक होने से 'त्यदादियों' का ही 'एकशेष' स्वत प्राप्त है । अत इस सूत्र की आवश्यकता नहीं है । 'त्यदादि' शब्द सर्वनामसंज्ञक हैं और सर्वनाम सबके नाम होते है । वे सबके साझले होते है । 'देवदत्त' को भी 'वह' कहा जा सकता है, 'यज्ञदत्त' को भी अर्थात् 'वह' कहने में सभी का अभिधान हो सकता है । 'देवदत्त' का भी 'यज्ञदत्त' का भी । ऐसी अवस्था मे 'स च देवदत्तश्च' ऐसा विग्रह न होकर इसके स्थान में 'स च स च तौ' इस प्रकार एक ही सर्वनामसंज्ञक 'तद्' शब्द से 'देवदत्त' का भी बोध हो जायेगा तो प्रकृत सूत्र द्वारा 'त्यदादियों' का 'एकशेषविधान' करना व्यर्थ है ।

यदि यह कहा जाये कि "परस्य शेष वक्ष्यामि"[2] अर्थात् त्यदादियों' की सहविवक्षा में "यद्यत्पर तत्तच्छिष्यते"[3] इस वचन से पिछले का 'एकशेष' कहना इष्ट है और वह इस सूत्र के बनाये बिना सभव नहीं तो इसका उत्तर है 'परस्य चोभयवाचित्वात् । पूर्वशेषदर्शनाच्च ।"[4] अर्थात् 'पर' शब्द इष्ट वाची होने से पूर्व और पर दोनों का अभिधायक है । इसलिये 'स च यश्च यौ' इत्यादि में 'यद्' शब्द का 'एकशेष' इष्ट होने से वही हो जायेगा । साथ ही पूर्व का 'एकशेष' भी देखा जाता है । 'स च यश्च तौ' यहा पूर्व 'तद्' शब्द का 'एकशेष' भी अभीष्ट है । 'त्यदादियों' के 'एकशेष' मे पूर्व पर का कोई नियम नही है । अत सभी का 'एकशेष' इष्ट होने से, सभी के सर्वनाम होने से उनके 'एकशेष' हुए 'यौ', 'तौ' इत्यादि मे 'देवदत्तादि' के अर्थ की भी प्रतीति सिद्ध है । अत यह सूत्र व्यर्थ ही है ।

द्वन्द्वसमास की निवृत्ति के लिये भी इस सूत्र की आवश्यकता नही है । क्योंकि—"सामान्यविशेषवाचिनोश्च द्वन्द्वाभावात् सिद्धम्"[5] अर्थात् सामान्य-वाची और विशेषवाची शब्दों का एक साथ द्वन्द्व समास नहीं हुआ करता । दोनों की परस्पर सहविवक्षा सभव नहीं है । अत 'स च देवदत्तश्च तददेव-

---

१ महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० २५१ ।

२ वही ।

३ का० में प्रकृत सूत्र पर उद्धृत वार्तिक ।

४ महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० २५१ ।

५ महा० भा० १, सू० १ २ ७२, पृ० २५१ ।

दत्तौ' इस प्रकार सामान्य 'तद्' शब्द का और विशेष 'देवदत्त' शब्द का आपस में द्वन्द्व समास नहीं होगा तो 'तद्देवदत्तौ' यह प्रयोग ही अनिष्ट होने से नहीं बनेगा। 'शूद्राभीरम्' 'गोबलीवर्दम्' 'तृणोलपम्' इत्यादि द्वन्द्व समास तो सभी विशेषवाची शब्द हैं। एक सामान्य और दूसरा विशेष नहीं है। 'शूद्राश्च आभीराश्च तेषां समाहार द्वन्द्व शूद्राभीरम्' यहां 'आभीर' शब्द अहीरवाचक शूद्रविशेष नहीं है अपितु ब्राह्मण से उग्र कन्या में उत्पन्न एक सकर जातिविशेष है।' 'गावश्च बलीवर्दाश्च इति तेषां समाहार द्वन्द्व गोबलीवर्दम्' यहां 'गो' शब्द पुंलिङ्ग गौ का वाचक बलीवर्द का विशेषण नहीं है अपितु गाय स्त्री स्त्रीलिङ्ग अर्थ का वाचक है। 'तृणानि च उलपाश्च तेषां समाहार द्वन्द्व तृणोलपम्' यहां 'उलप' शब्द बल्वज नामक तृणविशेष का वाचक नहीं है अपितु "अग्रामुलपमिति नामधेयम्"[2] इस भाष्यकार के वचन से जल का वाचक है। 'त ब्राह्मणमानय गार्ग्यम्' इस वाक्य में 'तम्' इस सामान्य के साथ ब्राह्मण और गार्ग्य इन विशेष शब्दों का प्रयोग तो विशेषान्तर की व्यावृत्ति के लिये है। वहां पहले 'सामान्य' और बाद में फिर 'विशेष' कहा गया है। 'सामान्य' 'विशेष' दोनों एक साथ विवक्षित नहीं है। इसलिये 'तद्देवदत्तौ' यहां सामान्यविशेष का द्वन्द्व नहीं होगा तो उसकी निवृत्ति के लिये इस सूत्र द्वारा विहित 'एकशेष' सर्वथा अनावश्यक है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

भाष्यवार्तिककार ने त्यदादियों को सामान्य अर्थ के वाचक मानकर इस सूत्र से विहित 'एकशेष' का खण्डन कर दिया है। क्योंकि सामान्यार्थक 'तद्', 'यद्' आदि सर्वनामसंज्ञक शब्दों से 'देवदत्त' आदि विशेष अर्थों की भी प्रतीति हो सकती है। इसलिये केवल 'तद्' शब्द के द्विवचन में 'तौ' कहने से 'वह' और 'देवदत्त' दोनों अर्थ स्पष्ट हो जायेंगे तो इस सूत्र द्वारा विशेष के साथ *विवक्षा में 'त्यदादि' शब्दों के 'एकशेष' की आवश्यकता नहीं रहती।* वैसे भी 'देवदत्तयज्ञदत्तौ गच्छत' के स्थान में लोग प्रायः 'तौ गच्छतः' यह प्रयोग करते ही हैं। 'वे दो जा रहे हैं' इस अर्थ में 'वे दो' कोई भी हो सकते हैं।

---

१ द्र०, महा० प्र० सू० ४।१।१७२, पृ० १००—'ब्राह्मणादुग्रकन्यायामाभीरो नाम जायते।'

२ महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० २४२।

व्यक्ति सामान्य तथा व्यक्तिविशेष दोनों के लिये 'तौ' यह प्रयोग व्यवहार में आता है। 'त्यदादियों' की यह सामान्यार्थता सब विशेषों को अपने अन्दर समेट लेती है। ऐसी अवस्था में भाष्यवार्तिककार द्वारा इस सूत्र का प्रत्याख्यान करना सर्वथा लोकव्यवहार सगत तथा उचित है। यहां भी अर्वाचीन वैयाकरणों में चन्द्रगोमी तथा देवनन्दी तो भाष्यकारप्रोक्त प्रत्याख्यान से सहमत है किन्तु शाकटायन, भोज तथा हैम व्याकरण में उक्त सूत्र प्रत्याख्यात नहीं स्वीकार किया गया है जो कि विचारणीय ही है।[1]

ग्राम्यपशुसंघेष्वतरुणेषु स्त्री ॥ १ २ ७३॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र भी 'एकशेष' का विधान करता है। 'ग्राम्य पशुओं' के स्त्री-पुमात्मक 'सघ' की एक साथ विवक्षा में स्त्री का 'एकशेष' करने के लिये यह सूत्र बनाया है। इसका अर्थ है कि 'ग्रामीण पशुओं' के समुदाय की सहविवक्षा में स्त्री का 'एकशेष' होता है। यहां 'अतरुण' ग्रहण 'ग्राम्य पशुओं' का विशेषण है। ग्राम्य पशु 'अतरुण' होने चाहियें। 'सघ' तो समुदाय का नाम है, उसका 'तरुण' या 'अतरुण' होना सभव नहीं है। 'तरुण' का अर्थ 'नवयुवा' है। उससे भिन्न अर्थात् प्रौढ अवस्था को प्राप्त 'गौ' आदि 'ग्रामीण पशुओं' के समुदाय में स्त्रीलिङ्ग शब्द का 'एकशेष' होता है। जैसे—

'गाव इमा'। 'अजा इमा' (ये गाय हैं, ये बकरियां है)।

यहां 'गावश्च गावश्च गावश्च इति गाव।' 'अजश्च अजा च अजाश्च इति अजा' ग्रामीण गाय-बैल, बकरे-बकरी आदि पशु समुदाय में स्त्रीलिङ्ग गाय-बकरी के वाचक 'गो-अजा' शब्दों का 'एकशेष' हो जाता है। "पुमान् स्त्रिया"[2] से पुंलिङ्ग का 'एकशेष' प्राप्त था, उसका बाधक यह सूत्र है।

---

१ (क) शा० सू० २ १ ८३—'त्यदादि।'
(ख) स० सू० ३ ३ ११३—'सर्वेस्त्यदादीनि।'
(ग) है० सू० ३ १ १२०—'त्यदादि।'

२ पा० १ २ ६७।

'ग्राम्य' ग्रहण इसलिये किया है कि 'रुरव इमे', 'पृषता इमे' यहां स्त्रीलिङ्ग का एकशेष न हो। क्योंकि 'रुरु' (रोज नामक जंगली पशु) और 'पृषत' (हिरण) ये ग्राम के पशु नहीं हैं। जंगल के हैं। अतः इनमें पुंलिङ्ग का ही शेष रहा। 'पशु' ग्रहण इसलिये किया है कि 'ब्राह्मणाः', 'क्षत्रियाः' यहां स्त्री का शेष न हो। ब्राह्मण-क्षत्रिय ग्राम के पुरुष हैं, पशु नहीं हैं। 'संघ' ग्रहण इसलिये किया है कि 'एतौ गावौ चरतः' (ये दो बैल चर रहे हैं) यहां 'ग्राम्य पशुओं' का संघ न होने से स्त्री का शेष नहीं होता। 'अतरुण' ग्रहण इसलिये किया है कि 'वत्सा इमे', 'बर्करा इमे' (ये बछड़े हैं) यहां 'ग्राम्य पशुसंघ तरुण' है नवयुवा बछड़ों का समुदाय है, अतः यहां स्त्रीलिङ्ग का 'शेष' नहीं होता। यद्यपि उस संघ में बछड़ों के साथ बछड़ियां भी हैं तो भी 'अतरुण' न होने के कारण स्त्री का 'एकशेष' नहीं हुआ। यह सूत्र सर्वथा लोक व्यवहारानुगामी है।

लोक व्यवहार द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार इस सूत्र पर सर्वथा मौन हैं। केवल भाष्यकार ही इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—"अयमपि योगः शक्योऽवक्तुम्। कथं गाव इमाश्चरन्ति अजा इमाश्चरन्ति? गावः उत्पादितपुंस्का वाह्याय च विक्रयाय च। स्त्रिय एवावशिष्यन्ते।"[1]

अर्थात् इस सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं है। स्त्रियों का 'एकशेष' स्वयंसिद्ध है। 'गाव इमाः', 'अजा इमाः' यहां स्त्री का 'एकशेष' कैसे होगा? गो पशुओं में जो पुंलिङ्ग हैं, बैल या सांड आदि, वे तो हल आदि में जोतने के लिये या बेचने के लिए अलग कर दिये जाते हैं, बाकी गाय-बछड़ी आदि स्त्री ही बचती है। उन्हीं का 'एकशेष' स्वयं हो जायेगा। इसी तरह 'अजा इमाः' यहां बकरे भी बेच दिये जाते हैं। अतः बकरियां शेष रह जाने से उन्हीं का 'एकशेष' हो जायेगा।

यदि यह कहा जाये कि 'ग्राम्य पशुओं' के समुदाय में ही स्त्री का 'एकशेष' करने के लिये यह सूत्र बनाया है तो ठीक नहीं। क्योंकि "रुरव इमे' (ये मृग हैं जो कि जंगल में रहते हैं) 'शूकरा इमे' (ये सूअर हैं) इन

---

[1] महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० २५२।

जगली पशुओं में कौन वाहन तथा विक्रय का काम लेता है। ये तो पकड में ही नहीं आ सकते। इसलिये यहा तो स्त्रीपुंसमुदाय मे पुंलिङ्ग की प्रधानता होने से पुंलिङ्ग का ही शेष होगा। भाष्यकार के शब्द हैं—

"क पुनरर्हति अग्राम्याणा पुम उत्कालयितु ये ग्रहीतुमशक्या। कृत एव वाहाय च विक्रयाय च।"

प्रकृत सन्दर्भ मे यह शङ्का करना ठीक नहीं कि पशुसमुदाय' मे स्त्री का 'एकशेष' करने के लिये सूत्र की आवश्यकता है। पुरुषसमुदाय म स्त्री का 'एकशेष' इष्ट नहीं है। क्योंकि क पुनरर्हतिअपशना पुम उत्कालयितु ये अशक्या वाहाय च विक्रयाय च [1] अर्थात् पशुभिन्न मनुष्य समुदाय मे कौन पुरुषों को निकाल सकता है जो न वाहन के और न विक्रय के काम आते हैं। इसलिये 'ब्राह्मणा इमे' यहा पुरुषसमुदाय म स्त्रीपुंससघ होने पर भी पुरुष का ही 'एकशेष' सिद्ध हो जायेगा, स्त्री का नहीं।

पुन यह कहना भी युक्तिसगत नहीं है कि 'सघ' ग्रहण करने के लिये सूत्र की आवश्यकता है। अर्थात् 'ग्रामीण पशुओं' के 'सघ' मे ही स्त्री का 'एकशेष' हो, एक-दो 'ग्रामीण पशुओं' की विवक्षा में स्त्री शेष' न हो। क्योंकि "क पुनरर्हति निर्ज्ञातनिर्ज्ञन्यथा प्रयोक्तुम्।"[2] 'एतौ गावौ चरत' (ये दो बैल चर रहे हैं) यहा निश्चित रूप म विज्ञात दो बैलो मे कौन स्त्री का प्रयोग करेगा। स्पष्ट दीख रहा है कि ये गाय नहीं अपितु बैल हैं।

यदि यह कहा जाये कि 'अतरुण' ग्रहण करने के लिये सूत्र की आवश्यकता है तो यह भी बात ठीक नहीं है। क्योंकि "क पुनरर्हति तरुणाना पुम उत्कालयितु ये अशक्या वाहाय च विक्रयाय च।"[3] वत्सा इमे' (ये बछडे हैं) यहा कौन मनुष्य वाहन और विक्रय में सर्वथा असमर्थ बछडो को बछडियो से अलग करेगा। बछडियों के साथ वहा बछडे भी अवश्य होगे। तब "पुमान् स्त्रिया"[5] से पुंलिङ्ग बछडो का ही 'एकशेष' होगा, स्त्रीलिङ्ग

---

१ वही, सू० १२।६३, पृ० २५२।
२ महा० भा० १, सू० १२।७३, पृ० २५२।
३ वही।
४ वही।
५ पा० १२।६७।

बछड़ियों का नहीं। इस प्रकार उक्त विशेषण सहित सम्पूर्ण सूत्र ही व्यर्थ हो जाता है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

लोकव्यवहार के पूर्ण पारदृश्वा पतञ्जलि ने इस सूत्र का प्रत्याख्यान भी न्यायोचित ही किया है। क्योंकि यश्चार्थो लोकत सिद्ध कि तत्र शास्त्रीयेण यत्नेन"[1] अर्थात् जो बात लोक से ही सिद्ध है उसके लिये शास्त्र बनाना अकिंचित्कर है। खेतों में चरते हुए गौ पशुसमुदाय को देखकर प्रायः लोग कह ही देते हैं कि ये गाय चर रही है, यद्यपि उन गायों में पुलिङ्ग बैल आदि पशु भी होते है। गाय के पशुओं में ही स्त्री का 'एकशेष' किया जाता है। जंगली जानवरों में तो सभी कहते है— ये भैंसे चर रहे हैं।' 'हिरण जा रहे है।' 'गीदड़ बोल रहे है।' ऐसा कोई नहीं कहता कि ये भैंस चर रही है। गाय के पशुओं में तो कहते है, जंगल के में नहीं। जंगल के पशु-समुदाय में स्त्री-पुरुष दोनों ही होते है तथापि वहां केवल पुलिङ्ग का प्रयोग होता है और ग्रामीण पशु समुदाय[2] में स्त्रीलिंग का प्रयोग सर्वत्र एषणीय है। इसलिए सर्वथा सभी अंशों में यह सूत्र प्रत्याख्यान के योग्य है।[2]

वार्तिककार को पीछे से ख्याल आया कि ग्रामीण पशुओं में भी कहीं-कहीं पुलिङ्ग का 'शेष' होता है। जैसे—'अश्वाश्चरन्ति', 'गर्दभाश्चरन्ति' (घोड़े चर रहे है, गधे चर रहे है) तो इन्होंने 'अनेकशफेष्विति वक्तव्यम्'[3] कहकर एक से अधिक शफ अर्थात् खुर वाले गौ आदि पशुओं में ही स्त्रीलिङ्ग का 'एकशेष' स्वीकार किया है। एक शफ वाले अश्व, गर्दभ आदि ग्रामीण पशुओं में तो पुलिङ्ग का ही एकशेष माना है। इससे भी लोकव्यवहार की परिपूर्णता तथा इस सूत्र की व्यर्थता सिद्ध होती है। ऊंट तो ग्राम में होने पर भी आरण्यक (जंगली) ही माने जाते है इसलिये उनके अनेक शफ वाला

---

१ म॰ भा॰ १, सू॰ १ २ ५६, ५७, पृ॰ ३६३-६४।

२ किन्तु आचार्यों का यह नियम है कि "न चेदानीमाचार्या सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति।" अतः प्रत्याख्येय होने पर भी उक्त सूत्र सूत्रपाठ में यथास्थान व्यवस्थित है।

३ चौखम्बा तथा कीलहार्न सम्पादित महाभाष्य मे इसे वार्तिक नहीं माना गया है। वार्तिकरूप में इसकी स्थापना काशिकावृत्ति में की गई है।

होते हुए भी स्त्रीलिङ्ग का 'एकशेष' नहीं होता।[1] 'उष्ट्राश्चरन्ति' (ऊंट चर रहे हैं) यह पुलिङ्ग का 'एकशेष' ही लोकव्यवहार से माना जाता है। यहां भी पश्चाद्वर्ती वैयाकरणों में आचार्य चन्द्र तथा पूज्यपाद देवनन्दी तो भाष्यकार के साथ प्रत्याख्यान में अनुमत हैं किन्तु शाकटायन, भोज तथा हेमचन्द्र इसके खण्डन में सहमत नहीं हैं। अतः उनके व्याकरणों में प्रकृत सूत्र यथास्थान पठित हैं। हां, उन्होंने वार्तिककार कात्यायन के "अनेकशफेष्विति वक्तव्यम्" इस वार्तिक को अपने यहां सूत्र का रूप जरूर दे दिया है।[2]

दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे ॥ १ ३ ५५ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

'दाण्' धातु 'दान' अर्थ में भ्वादिगण में पठित 'अनिट्' तथा परस्मैपदी है। उसमें आत्मनेपद करने के लिये उक्त सूत्र बनाया है। इसका अर्थ है कि 'सम्' पूर्वक 'दाण्' धातु से तृतीया विभक्त्यन्त के साथ योग होने पर आत्मनेपद होता है, यदि वह तृतीया विभक्ति चतुर्थी के अर्थ में हो। तृतीया-विभक्ति चतुर्थी के अर्थ में कैसे हो सकती है इसके लिये वार्तिककार कहते हैं—

"अशिष्टव्यवहारे तृतीया चतुर्थ्यर्थे भवतीति वक्तव्यम्।"[3]

अर्थात् जो अशिष्ट व्यवहार है, शिष्टजनोचित व्यवहार नहीं है, उसके अभिधान में यहां तृतीयाविभक्ति चतुर्थीविभक्ति के अर्थ में हो जाती है। जैसे—'दास्या सम्प्रयच्छते। दास्यै ददातीत्यर्थः।' 'अपनी कामोपभोग की पूर्ति के लिये दासी को कुछ वस्त्रादि देता है—'इस अशिष्ट व्यवहार में 'दास्या' यह तृतीयाविभक्ति 'दास्यै' इस चतुर्थी के अर्थ में है। "पा घ्रा

---

१ द्र० प० म०, प्रकृत सूत्र—'उष्ट्राणां त्वारण्यत्वादेकशेषाभावः।'

२ (क) शा० सू० २ १ ९०—'ग्राम्यद्विखुरसङ्घेऽशिशौ स्त्रीप्रायः।'
(ख) भ० सू० ३ ३ १०६—'ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणानेकशफेषु स्त्री।'
(ग) है० सू० ३ १ १२७—ग्राम्याशिशुद्विशफसङ्घे स्त्री प्रायः।

३ वै० सि० कौ० भा० १, पृ० २ ३ २३ पर वार्तिक।

ध्मा स्या०"[1] इस सूत्र से 'दाण्' को 'यच्छ्' आदेश हो जाता है। यहां 'दाण्' धातु 'प्र' उपसर्गपूर्वक होती हुई भी 'सम्' उपसर्गपूर्वक भी है ही, अतः आत्मनेपद होने में कोई बाधा नहीं।

तृतीयाविभक्ति का अर्थ करण या सहयोग है। चतुर्थी का अर्थ सम्प्रदान है। यहां सम्प्रदान अर्थ में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग न करके तृतीया का प्रयोग किया गया है, केवल अशिष्ट व्यवहार द्योतित करने के लिये।[2] 'दास्या' इस तृतीया को चतुर्थी के अर्थ में समर्थित करने के लिए ऐसा कहा जा सकता है कि दासी के साथ देता-लेता है। अर्थात् दासी के साथ इसका अनुचित व्यवहार चलता है। इस विषय विशेष में 'दास्या' यह तृतीया "दास्यै" के अर्थ को स्पष्ट प्रकट करती है अतः 'दाण्' धातु से आत्मनेपद सिद्ध हो जाता है।

वाक्यार्थान्तर द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

उपरीत्या सूत्रार्थ को व्यवस्थित करके वार्तिककार तथा भाष्यकार इसका प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—

"यद्येव नार्थोऽनेन योगेन केनेदानीं तृतीया भविष्यति आत्मनेपदं च। सयुक्ते तृतीया स्याद् व्यतिहारे तङो विधिः। सहयुक्ते प्रधाने इत्येव तृतीया भविष्यति। कर्तरि कर्मव्यतिहारे इत्यात्मनेपदम्।"[3]

अर्थात् इस सूत्र द्वारा 'दाण्' धातु के आत्मनेपद विधान की तथा चतुर्थी के अर्थ में तृतीया विधान की कोई आवश्यकता नहीं है। 'दास्या' यहां "सहयुक्ते प्रधाने"[4] से सहयोग में तृतीया हो जायेगी और अशिष्ट व्यवहार की विवक्षा में "कर्तरि कर्मव्यतिहारे"[5] से आत्मनेपद हो जायेगा। 'दासी के

---

१ पा० १ ७ ३ ७८।

२ द्र० पा० सू० १ ४ १०८ की स्वोपज्ञवृत्ति—'सम्प्रदानस्य करणत्वविवक्षायामिय तृतीया। सा चेयमशिष्टव्यवहारे एव लौकिकी विवक्षा, तत्र तस्या साधकतमत्वात्।'

३ महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० २८४।

४ पा० २ ३ १६।

५ पा० १ ३ १४।

साथ कुछ लेन-देन करता है'—यहां सहयोग में तृतीया स्पष्ट है। दासी की अभीष्ट वस्तु कामुक व्यक्ति देता है और कामुक की इच्छापूर्ति दासी करती है। इस प्रकार दोनों तरफ से क्रिया की अदला-बदली होने से कर्मव्यतिहार हो जाता है। तृतीया और आत्मनेपद स्वत सिद्ध हो जाने पर यह सूत्र व्यर्थ है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यहां पर भाष्यवार्तिककार ने 'दाण्' धातु का अर्थ 'दानपूर्वक उपभोग' मानकर सूत्र का खण्डन कर दिया है जो उचित ही है। क्योंकि धातु अनेकार्थक होते हैं। प्रकरणादिवशात् धातु का अर्थ बदल जाता है।[1] इसके साथ ही सूत्रपठित 'चेत्' शब्द को 'च' अर्थ में समझकर, जो तृतीया का विधान इसी सूत्र से माना था, वह भी निरस्त हो जाता है। किन्तु उद्द्योतकार नागेश इससे सहमत नहीं है। वे इसके खण्डन को 'एकदेशयुक्ति' मानते हैं। वे कहते हैं कि यहां कर्मव्यतिहार नहीं बनता। "यत्रान्यसम्बन्धिनीं क्रियामन्य करोति, इतरसम्बन्धिनीं चेतर स कर्मव्यतिहार।" अर्थात् जहां एक ही क्रिया को दोनों अदल-बदल करके करें वहां कर्मव्यतिहार होता है। जैसे देवदत्त के खेत को यज्ञदत्त कटवा देता है और यज्ञदत्त के खेत को देवदत्त। किंतु यहां ऐसी बात नहीं है। कामुक दासी का भोग करने के लिये उसे वस्त्रादि देता है और दासी उसकी भोगेच्छा की पूर्ति करती है। दोनों अलग-अलग क्रियाएं हैं। एक ही क्रिया की अदला-बदली नहीं है। अत कर्मव्यतिहार न होने से यहां 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे'[3] से आत्मनेपद सिद्ध नहीं होता। उसको कुछ देकर उसका उपभोग करता है, इसमें क्रिया

---

१ द्र० 'क्रियावाचित्वमाख्यातुमेकैकोऽर्थो निदर्शित ।
प्रयोगतोऽनुगन्तव्या अनेकार्था हि धातव ॥

२ वा० प० ३।५-१६
संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थ प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधि ।
सामर्थ्यमौचिती देश कालो व्यक्ति स्वरादय ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतव ॥

३ पा० १ ३ १४ ।

का व्यतिहार क्या है ? कुछ नहीं। मनुष्य अपनी स्त्री को वस्त्रादि दान देकर उसका उपभोग किया ही करता है। इसमें अशिष्ट व्यवहार भी प्रतीत नहीं होता। इसलिये केवल अशिष्ट व्यवहार में आत्मनेपद करने के लिये तथा चतुर्थी के स्थान में तृतीया का प्रयोग करने के लिये इसकी आवश्यकता है जिससे 'ब्राह्मणेभ्यः सम्प्रयच्छति' यहां शिष्ट व्यवहार में तृतीया और आत्मनेपद न हो।'

वस्तुतः नागेश का उक्त कथन विचार की अपेक्षा रखता है। किन्तु इस सूत्र का खण्डन करते हुए भाष्यवार्तिककार का तात्पर्य यही है कि यह आवश्यक नहीं है कि एक ही क्रिया की अदला-बदली में क्रियाव्यतिहार हो बल्कि किसी स्वार्थवश जो अन्योन्यसम्बन्धी दोनों तरफ से भिन्न-भिन्न क्रिया की जाती है वह भी क्रियाव्यतिहार ही है। प्रकरण विशेष को देखकर अशिष्ट व्यवहार में ही 'दाण्' धातु से आत्मनेपद समझा जायेगा। ऐसी अवस्था में यह सूत्र बनाना निरर्थक है।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में अन्य व्याकरणों आदि आचार्य भाष्यकारकृत इस सूत्र के प्रत्याख्यान से सहमत न होकर स्व तन्त्रों में इसे यथास्थान पढ़ते हैं।'

---

१ महा० प्र० उ० सू० १ ३ ५५, भा० २, पृ० २५९—'अथ यदन्ति-यवोचमित्यादिपूर्वपक्षयुक्तिनिरस्तयुक्तिमत्त्वेनान्यत्वेन प्रतीयते। तथा गर्होपयुङ्क्ते इत्येतन्मात्रेण व्यवहाराप्रतीतेः। विभाषणमादाय तु न स। अन्योन्यैकजातीयक्रियाणामन्वेन करण हि न। तस्मै विभा-ग्यतामुपयुङ्क्ते इत्यर्थे कर्मव्यतिहाराप्रतीतावप्यशिष्टव्यवहारप्रतीत्या तत्र इष्टात्मनेपदाभिद्वेश्च।'

२ चा० सू० १ ४ १०८—'दाण सा चेच्चतुर्थ्यर्थे', जैन व्याकरण में उक्त विषय का स्वतन्त्र सूत्र तो नहीं मिलता किन्तु यह वार्तिक अवश्य मिलता है—'दाणश्च सा चेदर्थे शिष्टव्यवहारे इति वक्तव्यम्'—जै० सू १ २ ५० पर वचन।
शा० सू० १ ३ ११५—दाणाधर्मे तड् च देये।'
स० सू० ३ १ १०३—'दाणश्चाचेच्चतुर्थ्यर्थे।
है० सू० २ २ ५२—'दाम सम्प्रदानेऽधर्म्ये आत्मने च'।
हैम व्याकरण में प्रकृत सूत्र में 'दाण्' धातु के स्थान पर 'दाम्' धातु का पाठ मिलता है;

उनकी दृष्टि में अशिष्ट व्यवहार तथा कमव्यतिहार को स्पष्ट सूचित करने के लिए सूत्र की आवश्यकता बनी रहती है। भाष्यकार ने तो अतिशय लाघव को प्रमुखता देते हुए ही इसे प्रत्याख्येय मान लिया किन्तु अशिष्ट व्यवहार आदि म स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए सूत्र की आवश्यकता है। इस तरह समन्तात् समीक्षा करने पर यही कहा जा सकता है कि प्रकृत सूत्र स्थापनीय ही है।

गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि ॥२ ३ १२॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र विभक्ति विधान करता है। इसका अर्थ है कि 'अध्व' अर्थात् मार्ग, उससे वर्जित गत्यर्थक धातुओं के कर्म में द्वितीया-चतुर्थी विभक्तियाँ होती हैं चेष्टा में, शरीर की क्रिया करने में। जैसे—'ग्रामं ग्रामाय वा गच्छति', यहाँ गत्यर्थक गम्' धातु का कर्म 'ग्राम' है। उस 'ग्राम' में जाने के लिये शरीर की चेष्टा हो रही है, इसलिए 'ग्राम' शब्द म द्वितीया, चतुर्थी विभक्ति हो जाती हैं। सूत्र मे 'गत्यर्थक' ग्रहण इसलिए किया है कि 'ओदनं पचति' यहाँ 'पच्' धातु के कर्म 'ओदन' म चतुर्थी विभक्ति नहीं हुई। केवल "कर्मणि द्वितीया"[1] से द्वितीया ही हो गई। 'कर्म' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'अश्वेन व्रजति' यहाँ गत्यर्थक 'व्रज्' धातु का 'अश्व' कर्म नहीं है। अपितु करण है 'अश्व' के साधन से जा रहा है। इसलिये करण-कारक की तृतीया विभक्ति हुई द्वितीया-चतुर्थी न हुई। 'चेष्टा' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'मनसा हरिं व्रजति' यहाँ गत्यर्थक 'व्रज्' धातु का कर्म जो 'हरि' है उसको मन से प्राप्त कर रहा है। शरीर द्वारा गति नहीं है, अतः चतुर्थी न हुई। द्वितीया तो "कर्मणि द्वितीया" से प्राप्त ही है। 'अनध्वनि' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'पन्थानं गच्छति' यहाँ गत्यर्थक धातु का कर्म 'अध्वा' है, मार्ग है अतः उससे चतुर्थी न हुई। द्वितीया तो "कर्मणि द्वितीया" से हो जाती है।

सूत्र मे 'अध्वन्' शब्द के स्वरूप का ग्रहण नहीं है बल्कि उसके अर्थ का ग्रहण है। 'अध्व' अर्थ के वाचक, जो मार्ग, पन्था आदि हैं, सबमे चतुर्थी का

---

१ पा० २ ३ २।

निषेध हो जाता है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि जो मार्ग आस्थित है, पकड़ा हुआ है, चलने वाला जिस पर चल रहा है, उसी में चतुर्थी का निषेध होता है, सर्वत्र नहीं। जब कुमार्ग को छोड़कर ठीक मार्ग पर चलेगा तब चतुर्थी हो ही जायेगी—'पथे गच्छति।' यहाँ पकड़े हुए मार्ग को छोड़कर दूसरे मार्ग के लिये चल रहा है, अतः चतुर्थी हो गई। यहाँ 'अनध्वनि' के स्थान में 'असप्राप्ते' ऐसा न्यास वार्तिककार ने किया है।[1] उससे न केवल आस्थित अध्वा का ही निषेध होगा अपितु जो भी 'असप्राप्त' है उन सबमें भी चतुर्थी का निषेध हो जायेगा तो 'स्त्रियं गच्छति' यहाँ स्त्री के प्राप्त होने के कारण चतुर्थी का निषेध होकर द्वितीया ही हो गई। 'अजां नयति ग्रामम्' यहाँ तो अजा को गांव में पहुंचाता है, ले जाना पहुंचाना है, इसलिये गत्यर्थक 'नी' धातु के न होने से अजा में चतुर्थी न हुई। 'णीञ् प्रापणे' धातु प्राप्त्यर्थक है, गत्यर्थक नहीं है। यह बात दूसरी है कि गति के बिना प्राप्ति नहीं हो सकती तथापि वहाँ गति उपसर्जन है, प्राप्ति ही मुख्य है। कहीं प्राप्त्युपसर्जन गति भी होती है। जैसे 'डुलभष् प्राप्तौ' यहाँ 'लभ्' का अर्थ प्राप्ति है, साक्षात् गति नहीं है। लेकिन गति के बिना प्राप्ति के न होने से यहाँ गति को प्रधान मानकर प्राप्ति को उपसर्जन माना जाता है। जैसे—'न कमल कमलम्भयदम्भसि०'[2] यहाँ 'लभ्' धातु को गत्यर्थक मानकर "गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ०"[3] सूत्र से अण्यन्तावस्था में कर्ता 'निम्' शब्द की ण्यन्तावस्था में कर्म संज्ञा स्वीकार की गई है। कर्म होने से 'केन' की जगह 'कम्' यह द्वितीया विभक्ति प्रयुक्त की है। केन अलम्भयत्' कहा है। किन्तु उसी काव्य में —

---

१ द्र० प्रकृत सूत्र पर वार्तिक— 'सिद्धं त्वसम्प्राप्तवचनात्।'
तुलना करो—शा० सू० १ ३ १८७—'चेष्टा गत्याप्येऽनाक्रान्ते द्वितीया-चतुर्थ्यौ।' स० सू० ३-१ २८१ गत्यर्थाना चेष्टायामनास्थिताध्वनि वा।'

२ शिशुपाल वध, ६ ४८ —
'मुखसरोजरुचं मदपाटलामनुचकार चकोरदृशां मतम्।
धृतनवातपमुत्सुकतामतो न कमलं कमलम्भयदम्भसि॥'

३ पा० १ ४ ५२।

"सित सितिम्ना सुतरा मुनेर्वपुर्विसारिभि सौधमिवाथ लम्भयन्।"[1]

यहा लभ्' धातु को गत्यर्थक न मानकर 'सितिम्ना लम्भयन्' मे 'सितिमा की कर्मसंज्ञा नही मानी है। इसलिये कर्मकारक की द्वितीया विभक्ति का प्रयोग न करके कर्तृकारक की तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया है। वामन के काव्यालङ्कारसूत्र मे सूत्र भी है—"लभेर्गत्यर्थत्वान् णिच्यणौ कर्तुः कर्मत्वाकर्मत्वे।"[2]

विवक्षा भेद से सूत्र का प्रत्याख्यान

'वार्तिककार इस सूत्र के खण्डन मे मौन हैं। केवल भाष्यकार ही इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए पूछते हैं—"किमर्थं पुनरिदमुच्यते। चतुर्थी यथा स्यात्। अथ द्वितीया सिद्धा। सिद्धा, कर्मणीत्येव। चतुर्थ्यपि सिद्धा। कथम्-सम्प्रदाने इत्येव। न सिध्यति। कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् इत्युच्यते। क्रियया चासौ ग्राममभिप्रैति। कया क्रियया। गमिक्रियया। क्रियाग्रहणमपि तत्र चोद्यते।"[3]

यहा भाष्यकार का भाव यह है कि इस सूत्र से विहित द्वितीया, चतुर्थी ये दोनो विभक्तिया अन्यथा सिद्ध हैं। इस सूत्र के बनाये बिना भी सिद्ध हो जाती हैं। द्वितीया तो "कर्मणि द्वितीया"[4] से सिद्ध है। 'ग्राम गच्छति' यहा गमन क्रिया से ग्राम को प्राप्त करता है, अत ग्राम कर्म है। चतुर्थी भी "कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्"[5] से ग्राम की सम्प्रदानसंज्ञा होकर चतुर्थी सम्प्रदाने"[6] से सिद्ध है। यहा यह कहना कि 'ग्रामाय गच्छति' मे गमन क्रिया से ग्राम को उद्देश्य बनाता है। गमन क्रिया ता कर्म नहीं है। कर्मकारक स जिसको उद्देश्य बनाया जाता है, वहा सम्प्रदानसंज्ञा होती है। जैसे—

---

१ शिशुपाल वध, १ २५
'सित सितिम्ना सुतरा मुनेर्वपुर्विसारिभि सौधमिवाथ लम्भयन्।
द्विजावलिव्याजनिशाकराशुभि शुचिस्मिता वाचमवोचदच्युत ॥'

२ अधिकरण ५, सू० ६, अध्याय २।

३ महा० भा० १, सू० २ ३ १२, पृ० ४४८।

४ पा० २ ३ २।

५ पा० १ ४ ३२।

६ पा० २ ३ १३।

'उपाध्यायाय गां ददाति' यहां गौ रूप कर्मकारक से उपाध्याय को उद्देश्य बनाया जाता है। 'ग्रामाय गच्छति' में किस कर्मकारक से ग्राम का उद्देश्य बनाया जाता है, किसी से नहीं, केवल गमनक्रिया से ही ग्राम को उद्देश्य या लक्ष्य बनाया जाता है तो उक्त सूत्र से सम्प्रदान संज्ञा प्राप्त नहीं होती। सम्प्रदानसंज्ञा न होने से चतुर्थी भी नहीं हो सकती तो उत्तर है कि वहां सम्प्रदानसंज्ञाविधायक सूत्र में "कर्मणा यमभिप्रैति०" के साथ "क्रियया यमभिप्रैति०" भी स्वीकार किया गया है। "क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम्" इस वचन द्वारा क्रिया से जिसको उद्देश्य बनाया जाये वह भी सम्प्रदान संज्ञक हो जाता है। जैसे 'युद्धाय सन्नह्यते' (युद्ध के लिये तैयार होता है) यहां सहनन क्रिया का उद्देश्य युद्ध है, अतः युद्ध की सम्प्रदानसंज्ञा होकर चतुर्थी विभक्ति हो जाती है उसी प्रकार 'ग्रामायगच्छति' यहां भी गमनक्रिया से ग्राम को उद्देश्य बनाया जाता है अतः सम्प्रदान संज्ञा होकर "चतुर्थी सम्प्रदाने" से ही चतुर्थी सिद्ध हो जायेगी तो यह सूत्र व्यर्थ है। जब द्वितीया, चतुर्थी सिद्ध हो गई तो 'चेष्टायामनध्वनि' ये सब उपाधियां भी स्वतः निरस्त हो जाती हैं।

परन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में भाष्यकार "कर्मणा यमभिप्रैति०" सूत्रस्थ 'क्रिया ग्रहण' के आधार पर प्रकृत सूत्र का खण्डन कैसे कर सकते हैं, क्योंकि वह 'क्रिया' ग्रहण तो वहां प्रत्याख्यात हो चुका है। इस दृष्टि से यद्यपि उस खण्डित क्रिया ग्रहण के आधार पर इस सूत्र का खण्डन सयुक्तिक नहीं है तथापि कैयट ने अभ्युपगमान्तर से भी इस सूत्र का खण्डन कर दिखाया है। ऐसी स्थिति में कुछ विद्वानों का यह विचार है कि "कर्मणा यमभिप्रैति०" सूत्रस्थ 'क्रिया' ग्रहण के खण्डन वाला अंश बाद का है।[1]

---

१ महा० भा० १, सू० १ ४ ३२, पृ० ३३०।

२ इस विषय में द्रष्टव्य, भाष्य (जोशी) अनभिहिताह्निक, इण्ट्रोडक्शन, पृ० xlviii 'But how can Patañjali say this The fact is that in the discussion on P 1 4 32 the addition of the word क्रिया i e क्रियया, to this rule has been rejected To remove the apparent contradiction in the Bhāsya, Kaiyat suggests that the use of dative endings in examples like ग्रामाय गच्छति countd

समीक्षा एवं निष्कर्ष

भाष्यकार द्वारा इस सूत्र का प्रत्याख्यान समुचित ही है। 'विवक्षाधीनानि

contd

can be established even without the use of the word क्रिया in P 1 4 32 In his discussion at the end of this rule the भाष्यकार or A भाष्यकार has stated that an action expressed by a verb can be looked upon as the कर्मन् of the supplied verb conveying the sense of सन्दर्शन, प्रार्थने or अध्यवसाय Accordingly, we can paraphrase the meaning of ग्रामाय गच्छति as ग्रामगमनमध्यवस्यति he decides to go to the village Here it becomes clear that one has in view the village through the कर्मन् (the action of going) of the supplied verb अध्यवस्यति।

Therefore, on the basis of this meaning paraphrase, the designation सम्प्रदान can be made available to the item ग्राम and we can add the dative endings by P 2 3 13 only

As indicated above the apparent contradiction in the भाष्य can also by removed by assuming that Bh Nos 12 14 on P 1 4 32 is a latter addition That is to say, it can be assumed that the author of Bh Nos 1-11 on this rule, who adds the word क्रिया to this rule and rejects P 2 3 12 is not aware of the device of supplying an action as the कर्मन् in connection with the intransitive verb which for the author of the Bh Nos 12-14 on P 1 4 32 forms the ground by which he rejects the addition of the word क्रिया in this rule and by which he accepts P 2 3 12

किन्तु इन विद्वानों का यह मत उचित प्रतीत नहीं होता। महाभाष्य के अन्तरङ्ग अनुशीलन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ऐसा करना भाष्यकार की अपनी एक विशेष शैली है।

कारकाणि भवन्ति ।"[1] कारकविभक्तिया विवक्षा के अधीन होती हैं। ग्राम में जब कर्म की विवक्षा होगी तो 'ग्राम गच्छति' यह रूप बन जायेगा। कर्म में द्वितीया होती ही है और जब सम्प्रदान की विवक्षा होगी तो 'ग्रामाय गच्छति' यह रूप बन जायेगा। सम्प्रदान में चतुर्थी प्रसिद्ध ही है। 'युद्धाय सन्नह्यते', पत्ये शेते' इत्यादि की तरह 'ग्रामाय गच्छति' में चतुर्थी सर्वथा उत्पन्न है। यदि यह कहा जाये कि गत्यर्थक धातुओं के कर्म में जहां द्वितीया की अपवाद रूप से बाधक षष्ठी विभक्ति प्राप्त होती है, उसको रोकने के लिये यहां द्वितीया' ग्रहण करना आवश्यक है अन्यथा 'चतुर्थी वा' ऐसा ही कह दिया जाता। 'द्वितीयाचतुर्थ्यौ'[2] कहकर साक्षात् द्वितीया का निर्देश किया है। उससे 'ग्राम गन्ता' यहाँ तृजन्त 'गन्तृ' शब्द के प्रयोग में "कर्तृकर्मणो: कृति"[3] से प्राप्त षष्ठी का द्वितीया से बाध हो जाता है तो इसका उत्तर है कि भाष्यकार द्वारा इस सूत्र का प्रत्याख्यान करने से यह बात ज्ञात होती है कि 'ग्राम गन्ता' में द्वितीया न होकर षष्ठी ही होती है। 'ग्रामस्य गन्ता' यही इष्ट रूप है।[1] तृन्' प्रत्यय की बात और है, वहां तो "नलोकाव्ययनिष्ठा"[4] से षष्ठी का निषेध होकर 'ग्राम गन्ता' यह द्वितीया होती है। जैसे 'ग्राम गमी' यहां भविष्यदर्थक 'इनि' के प्रयोग में "अकेनो-र्भविष्यदाधमर्ण्ययो"[5] से षष्ठी का निषेध होकर द्वितीया होती है। भाष्यकार प्रदत्त इस उदाहरण में 'गमी' यह गत्यर्थक धातु है। यदि षष्ठी की बाधक यह द्वितीया भाष्यकार का इष्ट होती तो 'ग्राम गमी' में द्वितीया निर्बाध थी। 'अकेनोर्भविष्यत्०" सूत्र में तो 'शत दायी' इत्यादि भी उदाहरण सम्भव

---

१ तुलना करो -- वा० प० साधन समुद्देश, ३ १३३
'भेदाभेदविवक्षा च स्वभावेन व्यवस्थिता ।
तस्माद् गत्यर्थकर्मत्वे व्यभिचारो न दृश्यते ॥'

२ पा० ।

३ तुलना करो महा० प्र० सू० २ १ २४—'भाष्यकारेण तु गत्यर्थसूत्रस्य प्रत्याख्यानात कृत्प्रयोगे षष्ठ्येवेष्यते इति तद्दर्शनेन सौत्र षष्ठी निषेध ।'

४ पा० २ ३ ६९ ।

५ पा० २ ३ ७० ।

है जो कि गत्यर्थक नहीं है।' इस प्रकार भाष्यकार के मत में प्रकृत सूत्र प्रत्याख्येय ही है। चन्द्रगोमी तथा देवनन्दी भी इसमें सहमत हैं। शाकटायन, भोज तथा हेमचन्द्र इस प्रत्याख्यान से एकमत न होकर इसे आवश्यक ही मानते हैं जो कि ज्यादा सयुक्तिक नहीं जचता। इस तरह से सूत्र का प्रत्याख्यान ही न्याय्य है।[2]

वा यौ ॥ २४५७॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र द्वितीयाध्याय के आर्धधातुक प्रकरण का है। इसका अर्थ है कि 'यु' अर्थात् 'ल्युट्' प्रत्यय परे होने पर 'अज्' धातु को 'वी' आदेश विकल्प से होता है। जैसे—'प्राजन'। प्रवयण'। प्र पूर्वक 'अज्' धातु से करण कारक में "करणाधिकरणयोश्च"[3] से 'ल्युट्' प्रत्यय होता है। 'यु' को "युवोरनाकौ"[4] से अनादेश हो जाता है, "वा यौ" इस प्रकृत सूत्र से 'अज्' को 'वी' आदेश

---

१ द्र० श० कौ० प्रकृत सूत्र, पृ० २२६-२७—'द्वितीया ग्रहणमपवादविषयेऽपि यथा स्यात् 'तेन वृत्तौगलक्षणा षष्ठी न भवति। अन्यथा चतुर्थ्येव स्यादिति वदन् वृत्तिकारो ग्रामं गन्तेति तृजन्तयोगे उदाजहार। इदं तु भाष्यविरुद्धम्। तथाहि – सन्दर्शनादिभिराप्यमानत्वात्क्रियापि कृत्रिम कर्मेति क्रिययाभिप्रेयमाणस्य सम्प्रदानत्वं सिद्धम्। सन्दर्शनादीनां गमनस्य च भेदाविवक्षाया तु द्वितीयामपि सिद्धेति सूत्रमिदं प्रत्याख्यातं भाष्ये। एवं हि वदता कृद्योगे षष्ठ्येवेष्यते। अतएव अकेनो' इति सूत्रे ग्रामं गमी इत्युदाहृतं भाष्ये।

२ प्रकृत सूत्र चान्द्र व्याकरण के २ १ ७७ सूत्र की वृत्ति में खण्डित किया गया है। जैनेन्द्र व्याकरण में यह सूत्र स्वतन्त्र सूत्र के रूप में न होकर वार्तिक के रूप में मिलता है —'गत्यर्थानां चेष्टायाममप्राप्तावपि'।
शा० सू० १ ३ १८७ --'चेष्टागत्यर्थेऽनाक्रान्ते द्वितीयाचतुर्थ्यौ'।
स० सू० ३ १ २४१—'गत्यर्थानां चेष्टायामनास्थिताध्वनि वा'।
है० सू० २ २ ६३—'गतेर्नवानाप्ते'।

३ पा० ३ ३ ११७।

४ पा० ७ १ १।

विकल्प से हो गया तो 'वी' पक्ष में सार्वधातुक गुण और अयादेश होकर 'प्रवयण' बन जाता है। 'वी' आदेश के अभाव में 'प्राजन' रहता है। 'प्रवयण' मे "कृत्यच"[1] से 'न' को 'ण' होता है। यही इस सूत्र का प्रयोजन है।

अनुवृत्ति द्वारा सूत्रका प्रत्याख्यान

इस सूत्र का प्रत्याख्यान न तो साक्षात रूप से भाष्यकार ने किया है और न ही वार्तिककार ने, इस दृष्टि से यह अस्पष्टलिङ्ग प्रत्याख्यान है। केवल नागेश ने "अजे र्घञपो"[2] सूत्र के भाष्य मे घञ् अप् चाप्ग्रहणवत् इदमपि व्यर्थमिति कश्चित" ऐसा कहकर इसका प्रत्याख्यान सूचित किया है। 'कश्चित' शब्द से नागेश का अभिप्राय सभवत स्वय से है या पदमजरीकार हरदत्त से अथवा शब्दकौस्तुभकार भट्टोजिदीक्षित से है। कुछ भी हो इस सूत्र का प्रत्याख्यान उन्होंने स्वीकार किया है। "अजेर्व्यघञपो" सूत्र मे वार्तिककार ने यह वार्तिक पढा है—

"घञपो प्रतिषेधे क्यप उपसख्यानम्।"

इसका अर्थ है कि अज् को 'वी' आदेश करने मे 'घञ्' और 'अप्' के साथ 'क्यप्' प्रत्यय के निषेध का भी उपसख्यान करना चाहिये। अर्थात् जैसे 'घञ्' और 'अप्' परे रहते अज् को 'वी' नही होता वैसे 'क्यप्' परे होने पर भी नही होता, यह कहना चाहिये। 'समज', 'समाज', 'समज्या' ये उदाहरण हैं। 'समज' में सम् पूर्वक 'अज्' धातु से "समुदोरज पशुषु"[3] से पशुसमुदाय मे 'अप्' प्रत्यय होता है। पशुसमुदाय से भिन्न समुदाय में 'समाज' बनता है। वहां 'अप्' न होकर औत्सर्गिक 'घञ्' प्रत्यय होता है। 'घञ्' के 'ञित्' होने से 'अज्' को उपधावृद्धि हो जाती है 'समज्या' मे समपूर्वक 'अज' धातु से "सनाम्ना समजनिषद निपत मन०"[4] इत्यादि सूत्र से 'क्यप्' होता है। तीनो प्रत्ययो के परे रहते 'अज्' को 'वी' आदेश का निषेध हो जाता है जो कि इष्ट है। इस पर भाष्यकार कहते हैं—

---

१ पा० ८४२९।
२ पा० २४५६।
३ पा० ३३६९।
४. पा० ३३९८।

"नाथ उपसङ्ख्यानेन, नापि घञपो प्रतिषेधेन । इदमस्ति—चक्षिङ ख्याञ् । वा लिटि इति । ततो वक्ष्यामि अजेर्वी भवति वा व्यवस्थित विभाषा चेति । तेनेह च भविष्यति—प्रवेता, प्रवेतुम्, प्रवीत, सवीति इति । इह च न भविष्यति-समाज, उदाज, समज, उदज, समजनम्, उदजनम् समज्येति । तत्रायमप्यर्थ इदमपि सिद्ध भवति—प्राजितेति ।"[1]

यहा भाष्यकार का आशय यह है कि न तो 'क्यप्' के उपसङ्ख्यान करने की जरूरत है और न ही 'अघञपो' कहकर 'घञ' और अप्' का निषेध करने की। "चक्षिङ ख्याञ्"[2] के बाद "वा लिटि"[3] सूत्र है। उसमे 'वा' ग्रहण है। उसकी अनुवृत्ति 'अजेर्वी०" इस सूत्र मे कर ली जायेगी और उस विकल्प को 'व्यवस्थित विभाषा' मान लिया जायेगा। 'व्यवस्थित विभाषा' का यह अभिप्राय होता है कि अपने अभीष्ट विषय मे विकल्प को मानना या न मानना। 'व्यवस्थित विभाषा' मे 'प्रवेता', 'प्रवेतुम्', प्रवीन', 'सवीति' इत्यादि अभीष्ट आर्धधातुक प्रत्ययो के परे रहने 'अज्' को 'वी' आदेश नित्य हो जायेगा। वहा विकल्प मे 'वी' आदेश नही माना जायेगा और 'समाज', 'उदाज', 'समज' 'उदज', 'समज्या' इत्यादि स्थलो मे 'अज्' को 'वी' आदेश नही माना जायेगा। वहा केवल 'अज्' धातु के ही रूप होगे। ऐसा मानने पर यह भी लाभ होगा कि 'प्राजिता' यह रूप भी बन जायेगा अर्थात् 'तृच के परे होने पर 'वीभाव' नही होगा, क्योंकि 'वा' ग्रहण के बिना नित्य प्राप्त होता है।[4] यह 'तृच्' प्रत्यय वलादि आर्धधातुक का उपलक्षण होगा। उससे "वलादावार्धधातुके वेष्यते"[5] यह इष्टि सिद्ध हो जायेगी। इसी इष्टि को सिद्ध करने के लिये आगे बहुत सुन्दर एव रोचक शब्दो मे सूत और वैयाकरण का सवाद उपस्थित करते हुए भाष्यकार कहते हैं—

'किं च भो इष्यते एतद्रूपम्। बाढमिष्यते। एव हि कश्चिद् वैयाकरण आह—कोऽस्य रथस्य प्रवेता इति। सूत आह आयुष्मन्! अहमस्य रथस्य

---

१ महा० भा० १, सू० २४५६, पृ० ४८८।

२ पा० २४५४।

३ पा० २४५५।

४ तुलना करो—स० सू० ६४६० 'तृच्योर्वा'। है० सू० ४४३ 'तृ-अने वा'।

५ वै० सि० कौ० भा० ३, सू० २४५६, पृ० १११।

प्राजिता इति। वैयाकरण आह अपशब्द इति। सूत आह—प्राप्तिज्ञो देवानां प्रियो न त्विष्टिज्ञ। इष्यते एतद्रूपम् इति। वैयाकरण आह—अहो खल्वनेन दुरुतेन बाध्यामहे इति। सूत आह—न खलु वेञः सूतः। किं तर्हि। सुवतेरेव सूतः। यदि सुवतेः कुत्सा प्रयोक्तव्या दुःसूतेनेति वक्तव्यम् इति।"[1]

इसका तात्पर्य स्पष्ट है कि 'प्रवेता' इस विधि प्राप्त रूप के साथ 'प्राजिता' यह रूप भी विध्यनुमोदित ही है। अर्थात् अज' धातु को वी' आदेश वलादि आर्धधातुक में विकल्प से अभीष्ट है। भाष्यकार ने यहां सूत और वैयाकरण का सवाद उपस्थित करके जहां 'प्राजिता' और प्रवेता' की गुत्थी सुलझा दी, वहां सूत' शब्द की द्वेधा व्युत्पत्ति को भी प्रदर्शित कर दिया है। सु+उत –सूत' 'सु' पूर्वक 'वेञ्' धातु से 'क्त' प्रत्यय, और सू+त सूत' इस प्रकार 'षू प्रेरणे' से क्त' प्रत्यय। सूत ने जिस प्रकार अपनी शाब्दिक योग्यता द्वारा वैयाकरण को निगृहीत किया है कि मुझे 'दुरुत' न कहिये, 'दुःसूत' कहिये। क्योंकि आपको मालूम नहीं है कि मैं कैसा 'सूत' हूं। कितना सुन्दर, आनन्दस्यन्दी मधुर आलाप है। अस्तु आगे भाष्यकार कहते हैं—

"न तर्हीदानीमिदं वा यौ इति वक्तव्यम्। वक्तव्य च। किं प्रयोजनम्। नेयं विभाषा। किं तर्हि। आदेशोऽयं विधीयते वा इत्ययमादेशो भवति अजेर्यौ परत वायुरिति"[2]।

अर्थात् यदि "अजेर्वी वा" को व्यवस्थित विकल्प मान कर अभीष्ट रूप सिद्ध कर लिया जायेगा तो "वा यौ" इस सूत्र के बनाने की भी कोई आवश्यकता न रहेगी। क्योंकि 'प्राजन', 'प्रवयण' यहां 'ल्युट्' प्रत्यय परे होने पर भी 'अज्' को 'वी' आदेश व्यवस्थितविभाषा से हो जायेगा। उत्तर में कहते हैं—यद्यपि 'वीभाव' का विकल्प करने के लिये सूत्र की आवश्यकता न रहेगी तो भी सूत्र में 'वा' का अर्थ 'विकल्प' न करके 'वा' आदेश कर लिया जायेगा। उससे 'वायु' यहां 'अज्' धातु से "यजिमनि शुन्धि०"[3] से बाहुलकात् विहित 'युण्' प्रत्यय परे होने पर 'अज्' को 'वा' आदेश सिद्ध हो जाता है। 'वायु' इस प्रयोग की सिद्धि भाष्यकार ने स्वोपज्ञप्रज्ञा से 'वा यौ" इस सूत्र के 'वा' शब्द का 'वा' आदेश मानकर अभ्यूहित की है। कितनी सुन्दर है। इस पर नागेश लिखते हैं—

---

१ महा० भा० १, सू० २४५६, पृ० ८२८।

२ वही।

३ उणादि, १००।

"यदि वानेरणि वायु प्रकारान्तरेण सिध्यति तर्हि घम् अप् क्यप् ग्रहण-वदिदमपि व्यर्थमिति कश्चित्"[1]।

अर्थात् 'वायु' शब्द की सिद्धि यदि "कृ वा पा जि मि स्वदि साध्यशूभ्य उण्"[2] इस उणादि सूत्र से 'वा' धातु से 'उण्' प्रत्यय करके युगागम द्वारा प्रकारान्तर से बुद्धिसिद्ध सिद्ध हो जाती है तब उसे 'अज धातु के स्थान मे 'वा' आदेश मानकर सिद्ध करना अप्रयोजक है। 'वातीति वायु' इस प्रकार 'वायु' शब्द की सिद्धि 'वा' धातु से अतिप्रसिद्ध है अजति क्षिपति इति वायु' इस प्रकार अज्' धातु से बनाने की फिर कोई आवश्यकता नहीं रहती। इसलिये अ यथासिद्ध 'वायु' शब्द के साधन के लिये इस सूत्र का बनाना विशेष महत्त्व नहीं रखता। इसका प्रत्याख्यान ही उचित है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यद्यपि उद्द्योतकार ने 'वा यौ' इस सूत्र को केवल 'वायु' शब्द की सिद्धि के लिये अप्रयोजक मान कर खण्डित कर दिया है तथापि भाष्यकार की नवीन कल्पना का आदर करते हुए यह सूत्र रहना ही चाहिये। 'वायु', 'वीणा', वेणु' आदि शब्द 'अज्' धातु से भी बन सकते हैं और वेन', 'वीणा', 'वेणु', 'वीर' इत्यादि तो उणादि कोष में बनाये भी गये हैं।[3] इसीलिए जैसे द्र, भोज तथा हैम व्याकरणों में इस सूत्र की सत्ता को स्वीकार किया गया है।[4] पदमंजरीकार तो सूत्र प्रत्याख्यान को ही उचित मानते हैं। काशिका में "वलादावार्धधातुके विकल्प इष्यते"[5] इस इष्ट को लेकर वे कहते हैं—

---

१ प्रकृत सूत्रस्थ महा० प्र० उ, भा० १, पृ० ८८१।

२ उणादि—१।

३ (क) यथा वेन—'धा पृ वस्यज्यतिभ्यो न' उणादि, २८६।

(ख) वेणु 'अजिवृरीभ्यो निच्च' – उणादि, ३१८।

(ग) वीणा—'रास्ना सास्ना स्थूणा वीणा'—उणादि, २६५।

(घ) वीर—स्फायितञ्चि वञ्चि शकि—'उणादि, १७०।

४ जै० सू० १४१२८ १२९— व्यजोऽघञपौ। बहुल खौ।'

स० स० ६४८९-९०—'अजेर्व्यघञ्क्यप्सु। तृन्वो वा।'

है० स० ४४७-३—'अघञक्यपलच्यजेर्वी। तृ—अने वा।'

५ वा० भा० २ सू० २४५६, पृ० २६८।

"नार्थोऽनयेष्ट्या । नापि घञपो प्रतिषेधेन । नापि क्यप उपसङ्ख्यानेन । नापि यायौ इति सूत्रेण । एतावदस्तु—वा लिटि । अजेर्वीत्येव । व्यवस्थित विभाषेयम् । तेन घञपो क्यपि नैव भवति । वलादौ नो न विकल्प । अन्यत्र नित्यम् । गमज्या इत्यत्र सञ्ज्ञाग्रहणाद बीभावाभाव । न ह्यादेशेन सञा गम्यते इति ।"[1]

किन्तु इनका यह मत सर्वग्राह्य नही है । अत सूत्र का प्रत्याख्यान ठीक नही है । इसीलिये स्वामी दयानन्द भी अपने अष्टाध्यायी भाष्य में भाष्यकार का ही समर्थन करते हुए कहते हैं — 'प्राचीन वृत्त्यनुरोधाज्जयादित्यस्वाह्-पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्प उच्यते इति । 'जयादित्येनास्य सूत्रस्यायमर्थ कृत — यो ल्युटि प्रत्यये अज् धातोर्विकल्पेन वी इत्यादेशो भवति । तत्र स्पष्टम साधितम् । तदिद पूर्वसूत्रे विकल्पानुवर्तनेनैव सिद्धम् पुनर्महाभाष्यविरुद्ध-त्वाज्जयादित्यस्य व्याख्यानमत्र तदसङ्गतम् ।"[2]

ननौ पृष्टप्रतिवचने ॥३ २ १२०॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह लकारार्थप्रक्रिया का सूत्र है । यह भूतकाल मे 'लट्' लकार का विधान करता है । इसका अर्थ है कि 'ननु' शब्द उपपद होने पर 'पूछी हुई बात का जवाब देने मे भूतकाल मे धातु मात्र से 'लट्' लकार होता है । भूतकाल चार प्रकार का है । परोक्ष अनद्यतन भूत, अपरोक्ष अनद्यतनभूत, अनद्यतन भूत और केवल भूत । इनमे परोक्ष अनद्यतन भूत मे 'लट् स्मे'[3] सूत्र से 'स्म' शब्द उपपद होने पर 'लट्' लकार होता है । अपरोक्ष अनद्यतन भूत मे "अपरोक्षे च"[4] सूत्र से 'स्म' शब्द उपपद होने पर 'लट्' लकार होता है । अनद्यतनभूत मे "पुरि लुङ् चास्मे"[5] सूत्र से 'लट्' और 'लुङ्' लकार होते हैं । केवल भूत मे 'ननौ पृष्टप्रतिवचने" तथा 'नन्वोर्विभाषा"[6] इन दोनो

१ प० म०, भा० २ ४५६-४७ ।
२ दयानन्दकृतअष्टाध्यायीभाष्य, स० २ ४ ५७ ।
३ पा० ३ २ ११८ ।
४ पा० ३ २ ११९ ।
५ पा० ३ २ १२२ ।
६ पा० ३ २ १२१ ।

सूत्रों में क्रमश 'ननु' एव 'नु' शब्द उपपद होने पर 'लट्' लकार होता है। इसका उदाहरण जैसे—'अकार्षी कट देवदत्त !' (हे देवदत्त ! क्या तुमने कट बना लिया) यह प्रश्न है, जो भूतकालिक है। यह सामान्य भूत है। इसमें परोक्ष, अपरोक्ष, अद्यतन-अनद्यतन का कोई सवाल नही। इस सामान्य भूतकालिक प्रश्न का उत्तर देता हुआ देवदत्त कहता है—'ननु करोमि भो !' (हा, मैं बना रहा हू) *कुछ बना लिया है, कुछ बाकी है। जो कट बना लिया* है, वह भूतकाल का विषय है। उसमे इस सूत्र से 'लट्' लकार हो जाता है। 'अकार्षम्' की जगह यहा 'करोमि' यह लट् लकार हुआ है। सूत्र में 'पृष्ट' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि पूछे गये प्रश्न का प्रत्युत्तर देने में ही 'लट्' लकार हो। 'प्रतिवचन' शब्द का प्रतिकूल वचन अर्थ भी सभव है, उसकी व्यावृत्ति के लिये यहा 'पृष्ट' ग्रहण किया है जिससे प्रत्युत्तर अर्थ स्पष्ट हो जाये[1]।

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

भाष्यवार्तिककार इस सूत्र का खण्डन करते हुए कहते हैं—"ननौ पृष्ट-प्रतिवचन इत्यशिष्य क्रियाऽसमाप्तेर्विवक्षितत्वात्। ननौ पृष्टप्रतिवचनेऽशिष्यो लट्। किं कारणम्। क्रियाऽसमाप्तेर्विवक्षितत्वात्' क्रियाया अत्र असमाप्तिर्विवक्षिता। एष सामन्यास्यो वर्तमान कालो यत्र क्रियाया असमाप्ति-र्भवति। तत्र वर्तमाने लट इत्येव सिद्धम्। यदि वर्तमाने लट इत्येव लड् भवति शतृशानचौ प्राप्नुत। इष्येते शतृशानचौ। ननु मा कुर्वन्त पश्य। ननु मा कुर्वाण पश्येति।"[2]

भाव स्पष्ट है कि "ननौ पृष्टप्रतिवचने" इस सूत्र की आवश्यकता नही। क्योंकि 'ननु करोमि भो' इस प्रत्युत्तर म मालूम होता है कि अभी कट करने की क्रिया पूरी तरह समाप्त नहीं हुई है। कट कर ही रहा है कुछ कर चुका है, कुछ अभी करना बाकी है—यह वर्तमान क्रिया का विषय बन जाता

---

१ तुलना करो—शा० स० ४ ३ २१६—'ननौ पृष्टोक्तौ।
है० स० ५ १ १७—'ननौ पृष्टोक्तौ सद्वत्।'
प्रतिवचन' शब्द में सन्देह होने से यहा स्पष्ट ही उक्त शब्द का प्रयोग किया गया है।

२ महा० भा० २, सू० ३ २ १२०, पृ० १२२।

है। "प्रारब्धापरिसमाप्तत्व वर्तमानत्वम्।"[1] जो क्रिया आरम्भ करके अभी समाप्त नही हुई है वह वर्तमान ही समझी जायेगी। वर्तमान काल का यही न्याय्य एव समुचित लक्षण है कि जहाँ क्रिया की समाप्ति न हुई हो, वहा उस क्रिया के अतीत क्षण भी वर्तमान काल म ही सम्मिलित समझे जाते हैं इसलिये यहा 'वर्तमाने लट्'[2] सूत्र से ही 'लट्' लकारसिद्ध हो सकता है। इस सूत्र से 'लट् विधान' की कोई आवश्यकता नही है। यदि यह कहा जाये कि इसे वर्तमान काल मानकर यदि "वर्तमाने लट्" से ही 'लट् लकार की सिद्धि हो जाती है तब तो वर्तमान काल मे होने वाले शतृ-शानच्' प्रत्यय भी प्राप्त होंगे तो उत्तर है कि 'शतृ शानच्' इष्ट ही हैं। 'ननु करोमि' की तरह 'ननु कुर्वन्त कुर्वाण वा मा पश्य' यह प्रयोग होता ही है। इसी प्रकार भूतकाल मे भी वर्तमान की विवक्षा करके इस सूत्र का खण्डन हो जाता है।

समीक्षा एव निष्कर्ष

भूतकालिक प्रश्न का उत्तर देने मे 'ननु' शब्द के उपपद होने पर जो 'लट्' लकार इस सूत्र से विधान किया है उसका भाष्यवार्तिककार के द्वारा प्रत्याख्यान करना ठीक ही है। जिस क्रिया मे यत्किंचित् भी वर्तमानता की गन्ध हो, वहा वर्तमान मे सामान्य विहित 'लट्' लकार हो ही जायेगा। इस सूत्र से अलग विधान करना व्यर्थ है। कैयट लिखते हैं—

"निवृत्तायामपि पाकादिक्रियायां तत्कृतस्य श्रमादेरनुवर्तनात् तस्या एवासमाप्तिविवक्षायां लट् सिद्ध इत्यर्थ।"[3]

ननु पचामि भो'। यहा पाक क्रिया के निवृत्त हो जाने पर भी, जो उस क्रिया के करने मे श्रम हुआ है, उसकी अनुवृत्ति अभी तक चल रही है, इसलिये वह क्रिया भूत होने पर भी वर्तमान की लपेट मे आ जाती है। अत वर्तमान की विवक्षा करके 'लट्' लकार अन्यथा सिद्ध हो जाता है।

इस सूत्र द्वारा भूतकाल में 'लट्' मानने पर यह कमी भी रह जाती है कि वर्तमान काल मे 'शतृ-शानच्' प्रत्यय नहीं प्राप्त होंगे। यह न्यूनता भी

---

१ तुलना करो—'वर्तमानकालत्व प्रारब्धापरिसमाप्तक्रियोपलक्षितत्वम'— परमलघुमजूषा, लकारार्थ निर्णय, पृ० २४८।

२ पा० ३ २ १२३

३ महा० प्र० भा० ३, सू० ३ २ १२० पृ० २७८।

वर्तमान की विवक्षा से दूर हो जाती है। सब विवक्षा और आरोप का खेल है। भूत में वर्तमान का आरोप या विवक्षा करके 'लट्' सिद्ध हो जाता है। यह सूत्र सामान्य भूतकाल में लुङ् को बाधने के लिये तथा परोक्ष अनद्यतन भूतकाल में 'लङ्', 'लिट्' को बाधने के लिये बनाया गया है। जब भूतकाल में वर्तमान का आरोप करके वर्तमान-काल कहना अभीष्ट होगा तब 'लट्' के सिद्ध हो जाने पर यह सूत्र अकिंचित्कर है। जैसे "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा"[1] सूत्र द्वारा भूत-भविष्यत्कालों में भी वर्तमान की विवक्षा करके वर्तमानवत् प्रत्ययों का विधान युक्तिसंगत है, वैसे यहां भी भूत में वर्तमान की सत्ता मानकर इसका खण्डन करना युक्तिसंगत ही है। इसीलिए आचार्य चन्द्रगोमिन् तथा देवनन्दी ने प्रकृत सूत्र को अपने अपने व्याकरणों में नहीं रखा है। किन्तु शाकटायन, भोज तथा हेमचन्द्र ने इसे यथास्थान पढ़ा है। अतः उनकी दृष्टि में यह सूत्र प्रत्याख्येय प्रतीत नहीं होता जो कि स्फुट बोध की दृष्टि से भी युक्तिसंगत नहीं जंचता।[2]

गर्हायां लडपिजात्वोः ॥३।३।१४२॥

सूत्र की सप्रयोजनता स्थापना

'गर्हा' का अर्थ निन्दा या कुत्सा है। 'गर्हा' गम्यमान होने पर 'अपि' और 'जातु' शब्द उपपद होने पर धातु मात्र में 'लट्' प्रत्यय होता है। यह सूत्र उक्त विषय में भूत-भविष्यत्-वर्तमान तीनों कालों में 'लट्' का विधान करता है। यद्यपि वर्तमान काल में तो "वर्तमाने लट्"[3] यह 'लट्विधायक' सामान्य सूत्र प्रसिद्ध ही है। भूतकाल में 'लट्स्मे', 'अपरोक्षे च'[4] इत्यादि सूत्रों से लट् का विधान है। भविष्यत्काल में भी 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्'[5] सूत्र से 'लट्' का

---

१ पा० ३।३।१३१।
२ शा० सू० ४।३।२१६—'ननौ पृष्टोक्तौ।'
स० सू० १।४।१६२—'ननौ पृष्टप्रतिवचने।'
है० सू० ५।१।१७—'ननौ पृष्टोक्तौ सद्वत्।'
३ पा० ३।२।१२३।
४ पा० ३।२।११८, ११९।
५ पा० ३।३।४।

का विधान किया गया है। 'पुरा पठति' (निकट भविष्य में पढ़ेगा) तो भी यह सूत्र 'गर्हारूप' अर्थविशेष में तीनों कालों के लिये सामान्य 'लट्' का विधान करता है। जैसे—'अपि तत्रभवान् वृषलं याजयति'। 'जातु तत्रभवान् वृषलं याजयति'। 'गर्हामहे'। अहो, अन्याय्यमेतत्' (क्या आप वृषल का यज्ञ कराते हैं या कराते रहे हैं। कभी आपने वृषल का यज्ञ कराया या कराते हो या कराओगे)। काल सामान्य में यज् धातु से 'लट्' लकार हो जाता है। वृषल याजन का शास्त्र में निषेध है। निषिद्धाचरण से निन्दा गम्यमान होती है। यह बहुत बुरी बात है। अन्याय्य है। अयुक्त है इससे आपकी निन्दा हो रही है फिर भी आप 'अयाज्ययाजन' करते ही चले आ रहे हैं।

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए भाष्यवार्तिककार कहते हैं— गर्हायां लड्विधानानर्थक्यं क्रियाऽसमाप्तिविवक्षितत्वात्। गर्हायां लड्विधिरनर्थकः। किं कारणम्। क्रियाया अत्र असमाप्तिर् गम्यते। एष च नाम न्याय्यो वर्तमान कालो यत्र क्रिया अपरिसमाप्ता भवति। तत्र वर्तमाने लट् इत्येव सिद्धम्। यदि वर्तमाने लट् इत्येवमत्र लड् भवति, शतृशानचावपि तर्हि प्राप्नुतः। इष्येते च शतृशानचौ। अपि मां याजयन्तं पश्य। अपि मां याजयमानं पश्येति।"[1]

इसका भाव यह है कि 'गर्हा' विषय में इस सूत्र से लट्विधान' अनर्थक है क्योंकि यहां क्रिया की असमाप्ति गम्यमान है। याजन क्रिया सर्वथा समाप्त नहीं हुई है। मौके बेमौके वह वृषल का यज्ञ कराता ही रहता है। उसका स्वभाव ही हो गया है कि वह इस गर्हित कर्म को करता रहे। इस प्रकार वृषलयाजन की क्रिया का अत्यन्त उच्छेद या परिसमाप्ति नहीं हो रही है और जब तक क्रिया चालू या जारी रहे, तब तक बीच में रुकावट आने पर भी वह वर्तमान काल ही रहता है। ऐसी अवस्था में "वर्तमाने लट्"[2] से ही 'लट्' लकार सिद्ध हो जायेगा तो यह सूत्र अनर्थक है, अनावश्यक है। यहां यह कहना ठीक नहीं कि वर्तमान काल मानकर यदि "वर्तमाने लट्" से 'लट्' किया जायेगा तो वर्तमानकाल में विहित 'लट्' के स्थान में "लट: शतृशानचौ"[3] से 'शतृ-शानच्' प्रत्यय भी प्राप्त होंगे। क्योंकि 'लट्'

१ महा० भा० २, सू० ३ ३ १४२, पृ० १६३।
२ पा० ३ २ १२३।
३ पा० ३ २ १२४।

की तरह 'शतृ शानच' यहां इष्ट हैं। 'अपि मां याजयन्तं याजयमानं वा पश्य' ये 'शतृ शानच्' वाले प्रयोग न्याय्य हैं।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

इस प्रकार 'लट्' को अन्यथा सिद्ध करके इस सूत्र का प्रत्याख्यान दोनों आचार्यों ने मिलकर कर दिया है। प्रदीपकार भी लिखते हैं—"तौ च (शतृ शानचौ) सूत्रारम्भे सति अवर्तमानविहितत्वात् लटा न प्राप्नुत इति दोषवानेव सूत्रारम्भ इत्यर्थ'।[1] अर्थात् 'शतृ शानच्' की सिद्धि के लिये लट् का वर्तमान काल में विहित होना आवश्यक है। वह इस सूत्र से विहित 'लट्' में सभव नहीं है क्योंकि यह तो काल सामान्य में विधान किया गया है। अतः इसका प्रत्याख्यान ही न्यायसंगत है। 'ननौ पृष्टप्रतिवचने'[2] इस पूर्व सूत्र के प्रत्याख्यान के साथ इसके प्रत्याख्यान की तुलना करने पर भी उक्त निष्कर्ष ही निकलता है। इसीलिए अर्वाचीन वैयाकरणों में चन्द्रगोमी तो उस प्रत्याख्यान से सहमत हैं किन्तु देवनन्दी तथा शाकटायनादि उसकी सत्ता को स्वीकार करते हैं[3] जो लाघव की दृष्टि से अनावश्यक ही लगती है।

धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः ॥३ ४ १॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

सूत्र में 'धातु' शब्द 'धात्वर्थ' में लाक्षणिक है। 'धात्वर्थ' का उपचार से 'धातु' कह दिया गया है। 'धातुसम्बन्धे' का अर्थ 'धात्वर्थसम्बन्धे' समझना चाहिये।[4] 'धात्वर्थ' 'क्रिया' को कहते हैं क्योंकि 'क्रिया' ही धातु का अर्थ होती है।[5] सम्बन्ध धात्वर्थ में ही सभव हैं, शब्द रूप धातु में सम्बन्ध का

१ महा० प्र० सू० ३ ३ १४२ भा० ३ पृ० ३५८।
२ पा० ३ २ १२०।
३ जै० सू० २ ३ ११८—'लड् गर्हेऽपिजात्वो।'
शा० सू० ४ ८ ११०—'गर्हे अपिजात्वोर्लट्।'
स० सू० २ ४ २००—गर्हायां लडपिजात्वो।'
है० सू० ५ ४ १२—'क्षेपेऽपिजात्वोर्वर्तमाना'।
४ द्र० का० सू० ३ ४ १ भा० ३, पृ० १४०—'धात्वर्थे धातुशब्द।'
५ द्र० महा० भा० १, सू० १ ३ १, पृ० २५८—'क्रिया वचनो धातु।'

सम्भव नही है। अत 'धातुसम्बन्ध' का अर्थ यहाँ 'धात्वर्थ सम्बन्ध' के उभय-निष्ठ होने से 'धात्वो (धात्वर्थयो) सम्बन्धे धातुसम्बन्धे' इस प्रकार द्वि-वचनान्त का विग्रह होकर षष्ठी समास होता है।[1]

'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा'[2] सूत्र से लेकर "लिङ्र्थे लेट्"[3] तक ये सब सूत्र लकारार्थ प्रक्रिया के हैं। इनमे लकारो का विधान अर्थवैशिष्ट्य को प्रकट करने के लिये काल विशेषो में किया गया है। यह सूत्र भी उसी प्रकरण के अन्तर्गत आता है। इसका अर्थ है कि 'प्रत्यया धातु सम्बन्धे (धात्वर्थ-सम्बन्धे) भवन्ति' अर्थात् जितने भी प्रत्यय है उनमे लकार भी आ गये, वे सब धात्वर्थों के परस्पर सम्बन्ध मे होते हैं। दो धात्वर्थों मे, जो मुख्य धात्वर्थ है, उसमें विहित प्रत्यय का जो काल है, वही काल अमुख्य धात्वर्थ में विहित प्रत्ययो का भी समझा जायेगा। जैसे--अग्निष्टोमयाजी अस्य पुत्रो जनिता' इसके घर मे अग्निष्टोम (यज्ञ करने वाला पुत्र पैदा होगा)। यहा 'जनिता' यह 'जन्' धातु से अनद्यतन भविष्यत् अर्थ में 'लुट्' लकार का प्रयोग है इसका भविष्यत्काल अर्थ है। "अग्निष्टोमयाजी मे 'यज्' धातु से "करणे यज"[4] से भूतकाल मे 'णिनि' प्रत्यय होता है। 'अग्निष्टोमेन इष्टवान् इति अग्निष्टो-मयाजी' (जो अग्निष्टोम यज्ञ कर चुका है) ऐसा पुत्र पैदा होगा, भला यह कैसे हो सकता है वह पैदा होने से पहले ही कब यज्ञ कर चुका है वह तो आगे यज्ञ करेगा। तब उसके लिये 'पैदा होगा' यह कहना नहीं बनता। भूत और भविष्यत् का परस्पर विरोध है। इस सूत्र द्वारा भूतकाल और भविष्यत्काल का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करके 'अग्निष्टोमयज्ञ करने वाला पुत्र पैदा होगा' यह अर्थ होता है जो कि सगत है। यहा भविष्यत् काल वाली 'जनिता' इस क्रिया के विधेय होने से प्रधानता है। अर्थात् 'पैदा होगा' यह अर्थ प्रधान है, मुख्य है, विशेष्य है। 'अग्निष्टोमयाजी' मे जो भूतकालिक 'णिनि' प्रत्यय है, वह विधेय न होने से अप्रधान है, अमुख्य है अतएव विशेषण

---

१ "अभेदैकत्वसख्याया वृत्तौ मानमिति" (वैयाकरणभूषणसार ५६ कारिका) इस नियम का यहाँ 'सम्बन्ध' ग्रहण के सामर्थ्य से बाध हो जाता है।

२. पा० ३ ३ १३१।

३ पा० ३ ४ ७।

४. पा० ३ २ ८५।

है। भविष्यत्काल वाली 'जनिता' क्रिया की प्रधानता से भूतकाल वाली यजनक्रिया इस सूत्र के विधान से परस्पर सम्बद्ध होकर भविष्यत्काल वाली बन जायेगी तो अग्निष्टोमयज्ञ करने वाला पुत्र पैदा होगा, यह अर्थ सगत हो जाता है। दोनो धात्वर्थों मे विशेषण-विशेष्यभाव से परस्पर सम्बन्ध होकर मुख्य धात्वर्थ की प्रधानता से शब्दबोध ठीक हो जाता है। इसी प्रकार 'कृत कट श्वो भविता' (कट या चटाई कल बन जायेगी, बनी हुई मिल जायेगी) यहाँ भी 'भविता' इस भविष्यत्काल के सम्बन्ध से 'कृत' यह भूतकालिक क्रिया भविष्यत् काल की बन जायेगी। विशेष्य क्रिया के प्रति विशेषण क्रिया के गौण होने से विपर्यय नही होगा। जो मुख्य क्रिया है, उसी का काल *गौण क्रिया को लेना होगा। गौण क्रिया का काल मुख्य क्रिया के काल को* ग्रहण नही करेगा। यद्यपि दोनो क्रिया मे परस्पर सम्बन्ध है।

सूत्र मे 'प्रत्यय' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि प्रत्ययमात्र धात्वर्थ के सम्बन्ध मे हों। जो प्रत्यय धातु से भिन्न प्रातिपदिक से विहित हैं वे भी धात्वर्थ सम्बन्ध मे ही होवें। जैसे—'गोमान् आसीत्'। 'गोमान् भविता' (विद्यमान गौ वाला था होगा) यहा 'गाव सन्ति यस्य स गोमान्' गो शब्द से वर्तमान काल मे 'मतुप्' प्रत्यय हुआ है। वह धातु से विहित नही है। फिर भी उसकी 'अस्ति' क्रिया का, जो वर्तमानकाल की है, 'आसीत्' और *'भविता' इन भूत-भविष्यत् कालवाली क्रियाओ से सम्बन्ध हो जाता है।* भूत-भविष्यत् काल की क्रियाओ के विधेय होने से प्रधानता है। अत 'गोमान्' की वर्तमानकालिक क्रिया भूत-भविष्य-काल वाली बन जाती है। अन्य उदाहरण इस प्रकार हैं—'वसन् ददर्श।'[1] 'साटोपमुर्वीमनिश नदन्तो ये प्लावयिष्यन्ति समन्ततोऽमी'[2] 'भाविकृत्यमासीत्' इत्यादि मे दो धात्वर्थों का परस्पर गुणप्रधानभाव से सम्बन्ध है। 'वसन्' यह वर्तमानकाल की क्रिया 'ददर्श' इस भूतकाल की क्रिया से सम्बद्ध होकर भूतकाल की बन जाती है। 'रहता हुआ देखता था।' यहा 'देखता' प्रधान है। 'रहना' गौण होने से 'देखना' क्रिया के काल मे समाविष्ट हो जाता है।

---

१ शिशुपाल वध, १ १—
"श्रिय पति श्रीमति शासितु जगज्जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि।
वसन् ददर्शावतरन्तमम्बरात् हिरण्यगर्भाङ्गभुव मुनि हरि ॥"

२ वही ३ ७४।

नन्दत प्लावनिष्वन्ति (नाद करते हुए भूमि को बहा दें, नष्ट कर दें) यहाँ वर्तमान कालिक नदनक्रिया भावष्यत्कालिक प्लावनक्रिया से सम्बद्ध होकर भविष्यत काल की बन जाती है। इस प्रकार प्रत्ययमात्र का अपने-अपने धात्वर्थों से परस्पर सम्बन्ध होना इस सूत्र का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है।[1]

स्वतःसिद्धमानना या लोकव्यवहार द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

भाष्यवार्तिककार इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं— धातुसम्बन्धे प्रत्ययानां कालविधानात् सिद्धम्। यथाकालं विहिता एवैते प्रत्ययाः स्वेषु स्वेषु कालेषु प्रयुज्यन्ते। उपपदस्य तु कालान्तरत्वम्। वाक्यमेवैतदव-जानीके प्रयुज्यते अग्निष्टोमयाज्यस्यैतत् तस्मिन् भविता। कस्मिन्? योऽस्य पुत्रो जनिता। पुत्रोऽस्य यदा जनिताग्निष्टोमयाजी भवति।[2]

महाभाष्यकार का तात्पर्य है कि सभी प्रत्यय अपने अपने काल में विहित हैं। जो दो धात्वर्थ भिन्न-भिन्न काल के उपस्थित होते हैं अर्थात् वाक्यार्थ-बोध का अवसर आता है, तब कालभिन्नता की प्रतीति होती है। वह तो इस सूत्र के बनाये बिना भी रहता ही है। अग्निष्टोमयाजी में भूतकाल में ही 'णिनि' प्रत्यय होता है। वह इस प्रकृत सूत्र के वचन से वर्तमान या भविष्यत् में कैसे हो सकता है। परस्पर सम्बन्ध से भी दोनों धात्वर्थों या प्रत्ययों का काल कैसे बदल जायगा। 'जनिता' इस क्रिया के लगने पर भूत-कालिक यजन का भावी व्यपदेश हो जाता है। वह पुत्र पैदा होगा जिसने अग्निष्टोम यज्ञ किया है'। जैसे अस्य सूत्रस्य शाटकं वय' है। (इस कपड़े की धोती बुनो) ऐसा सुनने पर बुनने वाला सोचता है कि "यदि शाटको, न वातव्यः। अथ वातव्यो, न शाटकः। शाटको वातव्यश्चेति विप्रतिषिद्धम्।

---

1 तुलना करो—काव्यप्रकाश मातृदा समुल्लास
'गुण कृतात्मसंस्कारं प्रधानं प्रतिपद्यते।
प्रधानस्योपकारे हि तथा भूयसि वर्तते॥'
वा० प० साधनसमुद्देश, ८१—
'प्रधानेतरयोयत्र द्रव्यस्य क्रियया पृथक्।
प्रधानविषया शक्ति शब्देन प्रतिपाद्यते॥'

2 महा० भा० २, प्रकृत सूत्र, पृ० १६८।

स पश्यति—भाविनी खल्वस्य सज्ञाभिप्रेता । मन्ये, स वातव्यो, यस्मिन्नुते शाटक इत्येतद् भवति"[1] अर्थात् यदि पहले से धोती है तो क्या बुनना और बुनना है तो धोती नहीं है। हमें यह ज्ञात ही नहीं कि धाता क्या होता है। अन्त में बहुत विचार के बाद वह कहता है कि धोती बुनवाने वाले का भावी सज्ञा अभिप्रेत है। यानि उस कपड़े को ऐसे बुनो कि जिसके बुने जाने पर लोग इसे धोती कहने लगें। वही बात यहां पर भी है। अग्निष्टोमयाजी में णिनि' प्रत्यय के भूतकाल में मानने पर भी इसका भावी व्यपदेश हो सकता है। इसके घर में वह पुत्र होगा जिसको लोग 'अग्निष्टोमयाजी' कहेंगे। जिसने 'अग्निष्टोम' यज्ञ कर लिया है, इस व्यपदेश को वह पुत्र प्राप्त करेगा।

इस प्रकार सभी प्रत्ययों को अपने अपने काल में हुआ मान लेना चाहिये। किसी का काल नहीं बदलना चाहिये, वाक्यार्थबोध का, जो अभ्युपाय अभी कहा है, उसमें कहीं विसङ्गति नहीं होगी। किया हुआ कट कल होगा' अर्थात् कल बना हुआ कट मिल जायेगा, यह 'कृत कट श्वो भविता' का वाक्यार्थ है, जो अत्यन्त स्पष्ट है। यहां 'कृत' के भूतकाल को भविता' के भविष्यत् काल में बदलने की कोई आवश्यकता नहीं है। 'भाविकृत्यमासीत्' (यह काम भविष्य में किया जाने वाला था) यहां 'भावी' को आसीत्' इस भूतकाल में बदलने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि भाषा के प्रयोग की शैली विचित्र है। 'भाविकृत्यमस्ति', 'भाविकृत्यमासीत्, 'भाविकृत्य भविष्यति' ये तीनों कालों के प्रयोग होते हैं। भविष्य में किया जाने वाला था', 'किया जाने वाला था', 'किया जाने वाला होगा'। प्रधान क्रिया के साथ जो उपपद अर्थात् विशेषण-भूत गौण क्रिया के काल की भिन्नता है, वह इस प्रकार वाक्यार्थबोध से दूर हो जाती है। उसके लिए इस सूत्र द्वारा काल परिवर्तन करना अनावश्यक है। इसलिए सूत्र व्यर्थ है। इस विषय में चन्द्रगोमी तथा शाकटायन भी भाष्यकार से सहमत हैं।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

भाष्यवार्तिककार द्वारा इस सूत्र का प्रत्याख्यान भी न्याय्य ही है। भाषा की प्रयोगशैली को समझते हुए प्रत्ययों के काल बदलने की आवश्यकता नहीं है। कैयट भी लिखते हैं—

---

१ द्र० महा० भा० १ मं० ११४५, पृ० ११२।

"अवश्य च स्वकाले एव प्रत्ययविधिरेष्टव्य । अन्यथा भाविकृत्यमासीत् इत्यत्र भाविशब्दस्य भूतत्वात्तत्वे भावीआसीत्शब्दयो पर्यायत्वात् युगपत् प्रयोगो न स्यात् ।"[1]

यहा 'भावी' आसीत्' यह उपलक्षण है। 'भावि अस्ति,' 'भावि भविष्यति' इनमें भी 'भू' और 'अस्' इन दोना धातुओं का युगपत् प्रयोग न बन सकेगा। इसलिये 'भावि' यह भविष्यत् काल है। क्योंकि भविष्यत्काल में 'भविष्यति गम्यादय'[2] से 'णिनि' प्रत्यय हुआ है। अस्ति' वर्तमानकाल है। 'होने वाला है' यह अर्थ है। 'होने वाला था' यहा भी 'आसीत्' यह भूतकाल है। 'भावी तो भविष्यत् ही है। 'भावि भविष्यति' (होने वाला होगा) यहा दोनो ही भविष्यत् काल हैं। 'वसन् ददर्श' में भूतकालिक वास क्रिया में वर्तमान काल का आरोप करके 'शतृ' प्रत्यय वर्तमान काल में ही होता है। 'उत्पतर्तैव वचनलोप चोदिता स्म' इस 'सरूपसूत्रस्थ' भाष्य प्रयोग में भी 'उत्पतता' में वर्तमानकाल में ही शतृ' प्रत्यय एष्टव्य है, भूतकाल में नहीं। 'चोदित' तो कर्मवाच्य में भूतकाल ही है।

किन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग मे भट्टोजिदीक्षित की दृष्टि मे तो प्रकृत सूत्र रहना ही चाहिये। इसीलिए एतत्प्रणीत प्रौढमनोरमा के मर्मज्ञ, सारग्राही विद्वान् तत्त्वबोधिनीकार भी इस सूत्र का समर्थन करते हुए कहते हैं—

"वसन् ददर्श इत्यादौ भूते लक्षणया यथायथ लडादि स्वीकर्तव्य। 'सोमयाजी अस्य पुत्रो जनिता' इत्यत्र तु भूते एव णिनि प्रत्यये जातेऽपि जनितेति लुडन्तसमभिव्याहारे सति सोमयाजीति व्यवहरिष्यमाण इत्यध्याहारेण णिने भविष्यदर्थे लक्षणया वा प्रयोगो भवेदिति किमनेन सूत्रेणेति चेत्, अत्राहु —अध्याहारलक्षणाप्रयुक्तक्लेश विनैव प्रायशो निर्वाहार्थ सूत्रारम्भ। न हि भाविकृत्यमासीन् इत्यादौ क्वचिदध्याहारादिकमगत्या भवतीति सर्वत्र तत् स्वीकर्तुमुचितमिति।"[3]

भाव यह है कि 'सोमयाजी' इत्यादि मे 'व्यवहरिष्यमाण' इत्यादि अध्याहार और लक्षणा के क्लेश से बचने के लिये इस सूत्र का आरम्भ है।

---

१ महा० प्र० सू० ३४१, भा० ३, पृ० १६८।
२ पा० ३३३।
१ त० बो० सूत्र ३४१।

'भाविकृत्यमासीत्' इत्यादि मे यदि 'अगतिकगति' होने से अध्याहार करना पडता है तो यह आवश्यक नही कि सर्वत्र अध्याहार करके ही काम चलाया जाये। इसलिए 'सोमयाजी अस्य पुत्रो जनिता' मे भविष्यदर्थ में 'णिनि' प्रत्यय को मानने के लिये यह सूत्र बनाना आवश्यक है। ऐसी स्थिति मे निष्कर्ष रूप से यही मानना उचित है कि अध्याहार तथा लक्षणा आदि के क्लेशो से बचने के लिए स्पष्ट प्रतिपत्त्यर्थ प्रकृत सूत्र रहना ही चाहिये। इसीलिए अर्वाचीन वैयाकरणो ने इस सूत्र का अनुमोदन किया है।[1]

यथाविध्यनुप्रयोग पूर्वस्मिन् ॥३४४॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र क्रियासमभिहार विषय मे "क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हिस्वौ वा च त ध्वमो"[2] इस पूर्व सूत्र से विहित 'लोट्' प्रत्यय के विधान मे 'यथा-विधि' अनुप्रयोग करता है। जिस धातु से 'लोट्' हुआ है उसी का 'लोट' के बाद अनुप्रयोग हो, अन्य किसी धातु का न हो, यह कहता है। धातु सम्बन्ध में 'लोट्' का विधान होने से उसके बाद किसी न किसी धातु का अनुप्रयोग तो होना ही है। वह किसी अन्य धातु का न होकर उसी का हो जिसमे 'लोट्' हुआ है। इसी का नाम यथाविधि अनुप्रयोग है। जैसे— 'याहि याहि इति याति।' 'याहि याहि इति यात'। 'याहि याहि इति यान्ति'। यहा 'या' धातु से क्रियासमभिहार अर्थ मे "क्रियासमभिहारे०" इस पूर्व सूत्र से 'लोट्' लकार होकर उसके स्थान मे 'हि' आदेश हो जाता है। "क्रियासमभिहारे द्वे भवत "[3] से द्वित्व होकर "याहि याहि' बन जाता है। 'याहि याहि' इस लोडन्त के बाद इस सूत्र के वचन से 'याति' यह यथाविधि 'या' धातु का ही अनुप्रयोग होता है। उसके पर्यायवाची व्रजति', 'गच्छति' इत्यादि का नही।

---

१ जैं० सू० २४१—'घुयोगे त्या।'
स० सू० २४२२४—'धातुसम्बन्धे प्रत्यया।'
है० सू० ५३४१—'धातुसम्बन्धे प्रत्यया।'

२ पा० ३४२।

३. पा० ८११२ पर वार्तिक।

इसी प्रकार 'अधीष्व अधीष्व इति अधीते' यहां 'अधि' पूर्वक 'इङ्' धातु से क्रिया समभिहार अर्थ में 'लोट्' होकर 'स्व' आदेश हो जाता है। 'क्रिया समभिहारे द्वे भवतः' से द्वित्व होकर 'अधीष्व अधीष्व' यह लोडन्त बन जाता है। इस सूत्र से लोडन्त के बाद 'अधीते' यह अधि पूर्वक 'इङ' धातु का ही यथाविधि अनुप्रयोग होता है। उसके पर्यायवाची 'पठति' आदि का नहीं। 'लुनीहि लुनीहि इति लुनीते' यहां भी 'लू' धातु से क्रिया समभिहार में 'लोट्' होकर उसके स्थान में 'हि' आदेश हो जाता है। 'क्र्यादिभ्य श्ना'[1] से श्ना विकरण तथा 'ईहल्यघोः'[2] से ईत्व होकर लुनीहि बनता है। उसे क्रियासमभिहार में द्वित्व होकर 'लुनीहि लुनीहि' हो जाता है। 'लुनीहि लुनीहि' इस लोडन्त के बाद 'लुनीते' यह लू धातु का ही इस सूत्र से अनुप्रयोग होता है। उसके पर्यायवाची 'छिनत्ति', 'वृश्चति' इत्यादि का नहीं यह इस सूत्र का प्रयोजन है।

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र के खण्डन मण्डन में वार्तिककार सर्वथा मौन हैं। इसलिए केवल भाष्यकार ही उक्त सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए पूछते हैं—"किमर्थमिदमुच्यते। अनुप्रयोगो यथा स्यात्। नैतदस्ति प्रयोजनम्। हिस्वान्तमव्यक्तपदार्थकम्, तेनापरिसमाप्तोऽर्थ इति कृत्वा अनुप्रयोगो भविष्यति। इदं तर्हि प्रयोजनम्—यथाविधीति वक्ष्यामि। एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। समुच्चये सामान्यवचनस्य इति वक्ष्यति। तत्रान्तरेण वचनं यथाविध्यनुप्रयोगो भविष्यति"[3]।

इसका भाव यह है कि यह सूत्र क्यों बनाया है, धातु सम्बन्ध में धातु का अनुप्रयोग करने के लिये। यह कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि 'लुनीहि', 'पाहि', 'अधीष्व' इत्यादि 'हिस्व' प्रत्यान्त लोडन्त शब्दों से पूरी तरह धात्वर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती। उसका अर्थावबोध अपूरा रहता है। इसलिये अर्थ को पूर्ण स्पष्ट करने के लिये यह लोडन्त के बाद यथाविधि धातु का अनुप्रयोग विधान किया है जिससे उसी धातु का अनुप्रयोग हो जिससे 'लोट्' किया गया है, अन्य का अनुप्रयोग न हो, इसलिए यह सूत्र बनाया

---

१ पा० ३।१।८१।

२ पा० ६।४।११३।

३। महा० भा० २, सू० ३४४, पृ० १७०।

है। किन्तु यह कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि इस सूत्र से आने वाले समुच्चय सामान्यवचनस्य" इस सूत्र से क्रियाओं के समुच्चय में सामान्यवाची धातुओं के अनुप्रयोग का विधान किया है। क्रिया समभिहार में इस सूत्र के बिना ही यथाविधि धातु का अनुप्रयोग सिद्ध हो जायगा। इसलिये यह सूत्र व्यर्थ है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यह तो ठीक है कि क्रियासमभिहार में विहित 'लोट' तथा हि-स्व' आदेश से संख्या, काल तथा पुरुष की अभिव्यक्ति न होने से पूर्ण अर्थाववोध नहीं होता। इसलिये अर्थ की पूर्ण परिसमाप्ति के लिये लोडन्त के बाद धातु के अनुप्रयोग की आवश्यकता है किन्तु इसमें यह कैसे विदित हुआ कि लोडन्त के अर्थ को पूर्ण करने के लिये उसी धातु का अनुप्रयोग होगा जिससे लोट् हुआ है। यदि यह कहा जाये कि उत्तर सूत्र में सामान्यवाची धातु के अनुप्रयोग का विधान किया गया है। उससे यह अनुमान किया जाता है कि इस सूत्र में यथाविधि धातु का अनुप्रयोग होगा तो इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि आपने यह कैसे समझ लिया कि समुच्चय में ही उत्तर सूत्र सामान्यवाची धातु का अनुप्रयोग विधान करता है। 'समुच्चये सामान्य-वचनस्य'[1] ऐसा नियम कैसे समझ लिया। उत्तरसूत्र में यह नियम भी तो समझा जा सकता है कि 'समुच्चये सामान्यवचनस्यैव' अर्थात् समुच्चय में यदि लोडन्त के बाद किसी धातु का अनुप्रयोग हो तो वह सामान्यवाची धातु का ही हो। उससे समुच्चय में तो अनुप्रयोग व्यवस्थित हो गया किन्तु क्रिया-समभिहार में कोई नियम न होने से वहाँ लोडन्त के बाद किसी भी धातु का अनुप्रयोग प्राप्त हो सकता है। उसको रोकने के लिये यह सूत्र आवश्यक है जिससे सामान्य धातु का अनुप्रयोग न होकर केवल यथाविधि धातु का ही अनुप्रयोग हो। उसमें 'याहि याहि इति याति' 'या' धातु का ही अनु-प्रयोग सिद्ध हो जाता है। व्रजति', गच्छति' 'करोति' इत्यादि सामान्य एवं पर्यायवाची धातुओं का अनुप्रयोग नहीं होता। यह इस सूत्र की सत्ता में ही संभव है।

हाँ एक बात अवश्य ध्यातव्य है—'एकस्या आवृत्तिश्चरि' प्रयोगो

---

१ पा० ३४५।

२ पा० ३४५।

द्वितीयस्यास्तृतीयस्याश्च न भवति"[1] इस परिभाषा एवं न्याय से 'लोट्' की प्रकृतिभूत 'या' धातु से पूरे अर्थ की पूरी अभिव्यक्ति के लिये 'या' धातु का अनुप्रयोग ही सर्वथा न्याय्य है। धात्वन्तर के अनुप्रयोग से इस अर्थ की पूर्णतया अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। उक्त परिभाषा का अर्थ है कि एक आकृति से जो शब्द प्रयोग किया गया वह उससे भिन्न दूसरी तीसरी आकृति से प्रयुक्त नहीं होना चाहिये। यदि गवां स्वामी' कह कर 'गो' शब्द से षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया है तो अश्व' में भी षष्ठी का प्रयोग करके 'अश्वानां स्वामी' कहना चाहिये। 'अश्वेषु स्वामी' नहीं। यद्यपि "स्वामीश्वराधिपति०"[2] सूत्र से स्वामी के प्रयोग में षष्ठी, सप्तमी दोनों विभक्तियों का विधान है। फिर भी उक्त न्याय के आधार पर गवाम् अश्वेषु च स्वामी' नहीं कहा जा सकता। या तो दोनों जगह षष्ठी हो या दोनों जगह सप्तमी। इस परिभाषा के मानने पर क्रिया-समभिहार में लोडन्त के बाद यथाविधि धातु का ही अनुप्रयोग हो जायेगा तो यह सूत्र व्यर्थ सिद्ध हो जाता है।

किन्तु पदमंजरीकार हरदत्त तो "एकस्या आकृतेश्चरित प्रयोग०" इस न्याय को लोक और वेद दोनों जगह व्यभिचरित बताकर इस सूत्र का समर्थन करते हैं। लोक में जैसे—'सस्नु' (उन्होंने स्नान किया)'पय' पपु (उन्होंने जल पीया) 'अनेनिजु' (कपड़े धोये) यहां 'सस्नु', पपु' इस 'लिट' लकार के प्रथम में 'अनेनिजु' यह 'लङ' लकार का प्रयोग करने से प्रथम भङ्ग हो गया।[3] इससे उक्त न्याय का व्यभिचार स्पष्ट है। जिस एक आकृति से आरम्भ किया था उसी एक आकृति से समाप्त नहीं किया। वेद में भी इस न्याय का व्यभिचार दृष्टिगोचर होता है। अश्वमेधयज्ञ के प्रकरण के मन्त्रों में "एण्यह्न"[4], 'पुरुषमृगश्चन्द्रमसे'[5], 'अन्य वापोऽर्धमासानाम्'[6], "वर्षाहूर्

१ परि० म० ११८।

२ पा० २ ३ ३९।

३ 'सस्नु', 'पय पपु', 'अनेनिजु' ये वसन्ततिलकाछन्दयुक्त प्रयोग कहां के हैं, यह द्रष्टव्य है। पदमंजरी में ये प्रयुक्त हुए हैं।

४- मा० यजु, २४ ३६।

५ वही, २४ ३५।

६ वही, २४ ३७।

ऋतूनाम्"[1] इत्यादि षष्ठी विभक्त्यन्त शब्दों के प्रकरण में "क्षिप्रश्येनाय वर्तिका"[2], "ह्रियै शल्यक"[3], "मृत्यवेऽसित"[4], 'कामाय पिक'[5] इत्यादि चतुर्थी विभक्त्यन्त शब्दों के प्रयोग से प्रक्रमभङ्ग हुआ है। या तो सब चतुर्थ्यन्त ही रखने थे या सब षष्ठ्यन्त ही।[6] क्योंकि वेद में षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी और चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी सूत्रवार्तिक द्वारा विहित है।[7] ऐसी स्थिति में उक्त

---

१ मा० यजु २४ ३८।

२ वही, २४, ३०।

३ वही, २४, ३५।

४ वही, २४ ३७।

५ वही, २४ ३९।

६ द्र० प० म० मू० ३ ४ ४—'ननु चैकस्याकृतेश्चरित प्रयोगो न द्वितीयस्यास्तृतीयस्याश्च भवति, एतच्च 'कृञ्चानुप्रयुज्यते' इत्यत्र व्याख्यातम्, तत्र यथा 'गवा स्वामी अश्वेषु च' इति न भवति तथेहापि येनैव धातुना लोट्प्रयोग प्रारब्ध तेनैवासौ समापयिष्यते। न, अस्यापि न्यायस्य लोके वेदे च व्यभिचारात्। वेदे तावत्‌दिन्द्राय राज्ञे सूकर इति चतुर्थी प्रयोगप्रकरणे क्षिप्रश्येनस्य वर्तिका ते धातुरिति षष्ठी, मयु प्राजापत्य इति तद्धितश्च देवतासम्बन्धे दृश्यते, लोकेऽपि—सक्तु पय पपुरिति लिटा सह अनैनिजुरिति लड प्रयुक्त। तस्मादारम्भमेवैतत्।'

बृ० श० शे० मा० ३, प्रकृत सूत्र, पृ० २००१—'नागेश ने भी भाष्यकार कृत इस सूत्र के प्रत्याख्यान को प्रौढिवाद कहा है—'नन्वेतत् प्रत्याख्यान प्रौढिवाद'।

७ पा० २ ३ ६२—'चतुर्थ्यर्थे बहुल छन्दसि' तथा इस पर वार्तिक 'षष्ठ्यर्थे चतुर्थीवचनम्।' वैसे आचार्यपाणिनि ने भी स्वय अपनी सूत्ररचना मे अनेकत्र भग्नप्रक्रम दोष किया है। तद्यथा—'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' इस प्रकार उपक्रम करके 'अनुवादे चरणानाम्', 'अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम्', 'शूद्राणामनिरवसितानाम्', 'विभाषा वृक्ष मृग—पूर्वापराधरोत्तराणाम्', (पा० २ ४ २,३,५,१०,१२) ऐसे षष्ठीविभक्त्यन्त शब्दों के क्रम में 'अध्वर्युक्रतुरनपुसकम्', 'जातिरप्राणिनाम्', 'विशिष्टलिङ्गो नदी देशोऽग्राम', 'क्षुद्रजन्तव' 'येषा च विरोध शाश्वतिक',

परिभाषा के व्यभिचरित स्वरूप को देखने पर इसी निष्कर्ष पर पहुंचना समीचीन जान पड़ता है कि सूत्र का प्रत्याख्यान न्याय्य नहीं है। सम्भवतः इसीलिए हेमचन्द्र ने प्रकृत सूत्र का समर्थन किया है[1] जबकि चन्द्रगोमी आदि इसके खण्डन में सहमत हैं। प्रस्तुत प्रसंग में पतञ्जलि की भांति चन्द्रगोमी आदि भी विचारणीय ही हैं।।

समुच्चये सामान्यवचनस्य ॥३ ४ ५॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र अनेक क्रियाओं के 'समुच्चय' में "समुच्चयेऽन्यतरस्याम्"[2] सूत्र से विकल्प से विहित 'लोट्' प्रत्यय के विधान में सामान्यवाची धातु का अनुप्रयोग करता है। जैसे – 'अन्नं भक्षय, सक्तून् पिब, धाना खाद इति अभ्यवहरति'। 'छन्दोऽधीष्व, व्याकरणमधीष्व, निरुक्तमधीष्व इति अधीते'। 'नर्दिहि स्वपिहि, क्रीड, प्रहस इति विलसति'। 'पुरीमवस्कन्द, नन्दनं लुनीहि, रत्नानि मुषाण, अमराङ्गना हर इत्यनुचितं चेष्टते।'[3] पक्ष में 'अन्नं भक्षयति,

---

'गवाश्वप्रभृतीनि च', 'विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि', 'न दधिपय आदीनि' (पा० २ ४ ४, ६,७,८,९,११,१३,१४) इस प्रकार प्रथमाविभक्त्यन्त शब्दों के उपन्यास से होने वाला यह विभक्तिविपर्यास किं हेतुक है, यह कुछ भी समझ में नहीं आता। षष्ठी विभक्त्यन्त से प्रारम्भ करके प्रथमाविभक्त्यन्त में प्रकरण को समाप्त करने में कोई निमित्त दृष्टिगोचर नहीं होता। यह आचार्य का साफ भग्नप्रक्रम दोष है। अथवा इसे आचार्य का वचित्र्य प्रदर्शन ही कहना पड़ेगा। 'विचित्रा हि सूत्रस्य कृतिः पाणिनेः' (का० भा० १, सू० १ २ ३५, पृ० ३२०)। इस विषय में विशेष अध्ययनार्थ द्रष्टव्य, मेरा लेख, 'पाणिनीयाष्टाध्याय्यां विभक्तिवैचित्र्यं निर्देशा असमञ्जसमानि स्थलानि च'— विश्वसंस्कृतम्, होशियारपुर, वर्ष १८, अङ्क ४, दिसम्बर १९८१।

1 है० स० ५ ४ ४२ –'भृशाभीक्ष्ण्ये हिस्वौ यथाविधि तध्वमौ च तद्युष्मदि।'

2 पा० ३ ४ ३।

3 द्र० शिशुपालवध, १ ५१—'पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं मुषाण रत्नानि हरामराङ्गना।

सक्तून पिबति, धाना खादति, इति अभ्यवहरति । छन्दोऽधीते, व्याकरणमधीते, निरुक्तमधीते इति अधीते ।'[1] इन सब भक्षणादि क्रियाओं के समुच्चय में इस सूत्र से सामान्यवाची अभ्यवहरण, 'अध्ययन', 'विलास', 'चेष्टादि' का अनुप्रयोग हो जाता है। विशेष क्रियाओं के एक साथ कहने में उन सबके बोध के लिये सामान्य क्रिया का अनुप्रयोग ही समुचित है। यही इस सूत्र का प्रयोजन है।

सामान्य विवक्षा द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार इस सूत्र पर सर्वथा मौन हैं। अतः केवल भाष्यकार ही इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए पूछते हैं—"किमर्थमिदमुच्यते। अनुप्रयोगो यथा स्यात्। नैतदस्ति प्रयोजनम्। हिस्वान्तमनभिव्यक्तपदार्थकं तेनापरिसमाप्तोऽर्थ इति कृत्वा अनुप्रयोगो भविष्यति। इदं तर्हि प्रयोजनम्—सामान्य वचनस्येति वक्ष्यामि। एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। सामान्य वचनस्यानुप्रयोगोऽस्तु, विशेषवचनस्य वा इति सामान्यवचनस्यैवानुप्रयोगो भविष्यति, लघुत्वात्।" भाव यह है कि यह सूत्र क्यों बनाया ? अनुप्रयोग करने के लिये। यह कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि 'हि स्व' प्रत्ययान्त लोडन्त पद से अर्थ की अभिव्यक्ति पूर्ण नहीं हो पाती है उससे अधूरा अर्थ रहता है। अर्थ को पूर्ण परिनिष्ठित करने के लिये धातु सम्बन्ध में धातु का अनुप्रयोग स्वतः सिद्ध है। यदि यह कहा जाये कि सामान्यवाची धातु का ही अनुप्रयोग अभीष्ट है, विशेषवाची का नहीं तो यह भी कोई प्रयोजन नहीं। क्योंकि सामान्य और विशेषवाचक धातुओं की विवक्षा में सामान्यवाचक का ही अनुप्रयोग होगा, विशेषवाचक का नहीं, विशेष-२ अनेक क्रियाओं के समुच्चय में सबका संग्रह करने के लिये सामान्यवाची धातु का अनुप्रयोग ही न्याय्य है। क्योंकि 'सामान्य' और 'विशेष' में 'सामान्य' ही लघु है आसान है। विशेष में गौरव है। 'सामान्य' में सब विशेषों का ग्रहण हो जाता है, विशेष में नहीं। अनेक विशेषों के होने से उपात्त सभी विशेष क्रियाओं का अनुप्रयोग प्राप्त होगा। उसकी निवृत्ति के लिये सामान्य क्रिया का अनुप्रयोग ही स्वतः सिद्ध हो जायेगा, इसलिये यह सूत्र व्यर्थ है। 'छन्दोऽधीष्व', 'व्याकरणमधीष्व', 'निरुक्तमधीष्व' यहाँ अध्ययन के सब में सामान्य होने पर भी छन्द आदि कारकों के भेद से

---

[1] महा० भा०, सू० ३४५, पृ० १७०।

क्रिया में भेद मान लिया गया है। अनुप्रयुज्यमान 'अधीते' यह क्रिया तो स्वरूप से सबमें सामान्य है, अत उनका अनुप्रयोग होने में कोई बाधा नहीं।

समीक्षा एव निष्कर्ष

भाष्यकार ने लाघवरूप हेतु से इस सूत्र का खण्डन कर दिया है जो समुचित ही है। इस पर कैयट लिखते हैं —'एतच्च लाघव क्वचिदेव विषये शिष्टप्रयोगदर्शनात् आद्रियते, न सवत्र। अन्यथा तरुद्रुमादीना सामान्यानामेव प्रयोग स्यात् न वनस्पत्यादिशब्दाना विशेषरूपाणामिति।'[1] यद्यपि "पर्याय-शब्दाना लाघवगौरव चर्चा नाद्रियते"[2] यह न्याय प्रसिद्ध है। फिर भी जहा लाघव से काम चल जाता हो, वहा गौरव का आश्रयण क्यो किया जाये। जहा तो 'विशेष' का अभिधान ही एप्टव्य है वहा तो गौरव होने पर भी 'विशेष' का प्रयोग किया जायेगा। काव्यशास्त्र में 'सामान्य' की जगह 'विशेष' और 'विशेष' की जगह 'सामान्य' का प्रयोग करना दोष माना गया है।[3] इसलिए शिष्टप्रयोग दशन से 'सामान्य विशेष' की व्यवस्था कर लेनी चाहिये।[4] इस दृष्टि से यह सूत्र इस विषय में तात्पर्य ग्राहक माना जा सकता है। अत सूत्र स्थापनीय ही है॥

---

१ महा० प्र० भा० ३, सू० ३४५, पृ० ३७४।

२ परि० स० ११५।

३ द्र० काव्यप्रकाश, ७वा उल्लास, कारिका ५६—'अनवीकृत सनियमा-नियम विशेषाविशेष परिवृत्ता।'

४ महा० पस्पशा०, पृ० ६—स्वय पाणिनीय व्याकरण भी तो 'सामान्य-विशेष' का ही प्रपच है। तुलना करो —'किंचित्सामान्यविशेषवल्लक्षण प्रवर्त्यम्। येनाल्पेन यत्नेन महतोमहत शब्दौघान् प्रतिपद्येरन।

विधिसूत्रों का प्रत्याख्यान

गोत्रावयवात् ॥४ १ ७६॥

सूत्र की आवश्यकता पर विचार

यह सूत्र 'गोत्रापत्य' में विहित 'अण्', 'इञ्' प्रत्ययों को स्त्रीलिङ्ग में 'ष्यङ्' आदेश करता है। इसका अर्थ है कि लौकिक 'गोत्र' के अवयववाची, देशविशेष मे 'गोत' के नाम से प्रसिद्ध 'पुणिक', 'भुणिक', 'मुखर' आदि शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में 'अण्', 'इञ्' प्रत्ययों के स्थान मे 'ष्यङ्' आदेश होता है। यह सूत्र *अपत्याधिकार से बाहर का है।* इसलिये *"अपत्याधिकारादन्यत्र लौकिकं गोत्रम्"*[1] इस भाष्यवचन से यहां लौकिक 'गोत्र' लिया गया है। "अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्"[2] यह शास्त्रीय पारिभाषिक 'गोत्र' यहां नहीं लिया गया है। सूत्र मे 'अवयव' शब्द का 'अप्रधान' अर्थ है। 'अवयवश्च तद् गोत्रं च' इस प्रकार कर्मधारय समास में विशेषणभूत 'अवयव' शब्द का पूर्व निपात न करके 'निपातनात' 'गोत्र' शब्द का पूर्वनिपात हुआ है। "अवयवगोत्रात्" के स्थान मे "गोत्रावयवात्" यह सौत्र निर्देश है। प्रवराध्याय में सात ऋषियों के साथ आठवें अगस्त्य ऋषि को मिलाकर आठ महागोत्र सब वंशों के प्रवर्तक माने गये हैं। उनमें 'पुणिक', 'भुणिक' इत्यादि के अपठित होने से ये अप्रधान 'गोत्र' हैं।

यदि यहां पौत्र प्रभृति 'गोत्र' का ग्रहण माना जाये तो 'देवदत्त्या', 'यज्ञदत्त्या' यहां अनन्तरापत्य में 'ष्यङ्' न हो सकेगा जो कि भाष्यकार के वचन

---

१ महा० भा० २, सू० ४ १ ८७, पृ० २३८।

२ पा० ४ १ १६२।

से इष्ट है। 'देवदत्तस्य अनन्तरापत्यं स्त्री दैवदत्या' यहां 'देवदत्त' शब्द से 'अनन्तरापत्य' अर्थ में 'अत इञ्' से इञ् होकर उसके स्थान में इस सूत्र से ष्यङ् हो जाता है। इस सूत्र के उदाहरण पौणिक्या', भौणिक्या' 'मौखर्या' इत्यादि हैं। 'पुणिकस्य भुणिकस्य मुखरस्य' गोत्रापत्यं स्त्री पौणिक्या', भौणिक्या मौखर्या'। पुणिक आदि शब्दों से गोत्रापत्य' में अत इञ् से इञ् होकर आदिवृद्धि हो जाती है। इस सूत्र से इञ् के स्थान में ष्यङ् आदेश होकर पश्चात् से चाप् प्रत्यय हो जाता है तो पौणिक्या' आदि बन जाते हैं। अनुपि तथा गुरूपोत्तम' शब्दों में तो ष्यङ् आदेश अणिञोरनार्षयोः' इस पूर्वसूत्र से ही सिद्ध है। अतः यह सूत्र 'गुरूपोत्तम से भिन्न गोत्र के वाचक शब्दों से ष्यङ् करने के लिये बनाया है। यद्यपि मुख्य गोत्र के अवयव एवं अवान्तरगोत्रवाची भार्गववंशीय 'च्यवन' आदि शब्द भी हैं तो भी उनके गुरूपोत्तम न होने पर भी इस सूत्र से ष्यङ् नहीं होता। केवल पुणिक', भुणिक आदि 'गुरूपोत्तमभिन्न शब्दों से ही ष्यङ् होता है। जिस शब्द में उपोत्तम' अक्षर गुरुसंज्ञक है उसे 'गुरूपोत्तम' कहते हैं। कम से कम तीन अक्षर वाले शब्द में अन्तिम तीसरा अक्षर 'उत्तम' कहाता है। उसके उप' अर्थात् समीप जो दूसरा अक्षर है वह उपोत्तम' होता है। जैसे—'वराह', तोक्ष' आदि में 'रा' और क' ये दोनों उपोत्तम' शब्द गुरु हैं। इसी प्रकार चार अक्षर वाले शब्द में 'तीसरा', पांच अक्षर वाले में 'चौथा' उपोत्तम' होता है। वह 'उपोत्तम' जहां गुरु हो, लघु न हो, वह गुरूपोत्तम' शब्द कहलाता है। 'वारीपगन्ध' में कार गुरूपोत्तम' है। सर्वत्र यह समझ लेना चाहिये।

अर्थभेद के आधार पर सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र का प्रत्याख्यान भाष्यकार ने यद्यपि 'अयं योगः शक्योऽवक्तुम्' ऐसा कहकर तो नहीं किया है अतः इस दृष्टि से यह अस्पष्टलिङ्ग प्रत्याख्यान ठहरता है। फिर भी भाष्यकार ने पूछा है कि यहां 'गोत्र' शब्द में शास्त्रीय जो पौत्रप्रभृति 'गोत्र' है, वह लिया जाता है या लौकिक 'गोत्र' या खानदान,

---

१ पा० ४।१।६५।
२ पा० ४।१।७४।
३ पा० ४।१।७८।

अपत्यमात्र ग्रहण किया जाता है। यदि शास्त्रीय 'गोत्र' यहाँ अभिप्रेत है तो यह सूत्र व्यर्थ है। 'गोत्रादिति चेद् वचनानर्थक्यम्' इस वार्तिक द्वारा प्रत्याख्यान करते हुए आगे कहा जाता है कि शास्त्रीय 'गोत्र' में तो 'अणिञोरनार्षयो' इस पूर्वसूत्र में ही 'गोत्रावयव' में भी ष्यङ् सिद्ध हो जायेगा। 'गोत्र' के अवयव को भी उपचार से 'गोत्र' कहा जा सकता है। क्योंकि पौत्र प्रभृति अपत्यों के समुदाय की 'जब गोत्र' संज्ञा है तब उस समुदाय के अन्तर्गत अवयवों की भी 'गोत्र' संज्ञा स्वतः सिद्ध है। भाष्यकार आगे पूछते हैं कि यदि यह कहा जाय कि पूर्वसूत्र तो 'गुरूपोत्तम गोत्र' शब्दों से ष्यङ् करता है और यह सूत्र 'गुरूपोत्तम' से भिन्न 'गोत्र' शब्दों में 'ष्यङ्' करने के लिये बनाया गया है, तो भी ठीक नहीं। क्योंकि — अगुरूपोत्तमार्थमिति चेन्न सर्वेषामवयवत्वात् सर्वप्रसङ्गः। अष्टाशीतिसहस्राण्यूर्ध्वरेतसामृषीणां बभूवुस्तत्रागस्त्याष्टमैर् ऋषिभिः प्रजनोऽभ्युपगतः। तत्र भवतां यदपत्यं तानि गोत्राणि। अतोऽन्ये गोत्रावयवाः। ततः उत्पत्तिं प्राप्नोति। तच्चानिष्टम्। तस्मान्नार्थोऽनेन योगेन।[1]

इसका भाव यह है कि सप्तर्षि सहित आठवें अगस्त्य ऋषि गोत्रों के प्रवर्तक हैं। प्रवराध्याय में वही आठ 'महागोत्र' माने गये हैं। उनसे भिन्न सब 'गोत्रावयव' हैं। ऋषि परम्परा में आने वाले भार्गव वंश के अन्तर्गत 'च्यवन' ऋषि भी 'गोत्रावयव' हैं। उनके ऋषि होने से तथा 'गुरूपोत्तम' न होने के कारण पूर्वसूत्र से चाहे 'ष्यङ्' न हो किन्तु 'अगुरूपोत्तमार्थ' आरम्भ किये इस सूत्र से तो 'ष्यङ्' प्राप्त होगा ही। च्यवन तो ऋषि होने से शायद छूट जायें परन्तु अन्य अनेक अवान्तर 'गोत्रवाची' शब्द हैं जिनसे 'ष्यङ्' प्राप्त होगा। इसलिये 'अगुरूपोत्तमार्थ' इस सूत्र का आरम्भ मानना दोषयुक्त ही है। फिर 'पुणिक', 'भुणिक' आदि 'अगुरूपोत्तम' शब्दों में ष्यङ् कैसे होगा तो इसका उत्तर देते हुए भाष्यवार्तिककार आगे कहते हैं — "सिद्धं तु रौढ्यादिषूपसंख्यानात्"[4] अर्थात् 'पुणिक', 'भुणिक' आदि शब्दों का 'रौढि' आदि गण में उपसंख्यान करने से 'ष्यङ्' सिद्ध हो जायेगा। यहाँ 'रौढि' शब्द

---

१ महा० भा० २, सू० ४।१।७९, पृ० २३३।

२ पा० ४।१।७८।

३ महा० भा० २, प्रकृत सूत्र, पृ० २३३।

४ महा० भा० २, सू० ४।१।७९, पृ० २३३।

'क्रौड्यादि' का उपलक्षक है।' "क्रौड्यादिभ्यश्च" से 'क्रौडि' आदि शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में 'ष्यङ्' विहित ही है। उस गण में 'पुणिक', 'भुणिक' आदि भी पढ़ दिये जायेंगे तो उनसे भी 'ष्यङ्' होकर 'पौणिक्या', 'भौणिक्या' आदि इष्ट रूप सिद्ध हो जायेंगे। इस प्रकार शास्त्रीय 'गोत्र' का यहां ग्रहण मानने पर तो यह सूत्र सर्वथा व्यर्थ हो जाता है।

रहा लौकिक 'गोत्र' सामान्य अपत्यमात्र जिसमे देश विशेष में प्रसिद्ध किसी पुरुष के खानदान 'गोत्र' या कुल का नाम चलता है, वह भी लक्ष्यानुरोध से व्यवस्थित है। सर्वत्र युवापत्य या अनन्तरापत्यवाची शब्दों से 'ष्यङ्' न होगा। भाष्यकार के वचन से केवल 'दैवदत्त्या', 'याज्ञदत्त्या' इन दो अनन्तरापत्य वाले शब्दों में 'ष्यङ्' हो जाता है। सर्वत्र 'ष्यङ्' नहीं होगा। इसी व्यवस्था को सूचित करने के लिये भाष्यकार भारद्वाजीय आचार्यों का इस सूत्र के विषय में मत प्रस्तुत करते हैं—"भारद्वाजीया पठन्ति—सिद्धं तु कुलाख्याभ्यो लोके गोत्राभिमताभ्य इति। कुलाख्या लोके गोत्रावयवा इत्युच्यन्ते। अथवा गोत्रावयव न भवितुमर्हति। यो गोत्रादवयुत। कश्च गोत्रादवयुत। योऽनन्तर—दैवदत्त्या, याज्ञदत्त्या इति।"

भाव यह है कि खानदान या गोत्र का सञ्चालक जो प्रसिद्ध पुरुष है, वह यहां 'गोत्रावयव' शब्द से लिया गया है। इस अर्थ में 'अवयव' शब्द पृथक् अर्थ का वाचक है। शास्त्रीय पौत्रप्रभृति गोत्र से अवयुत पृथग्भूत, जो अनन्तर अपत्य है, उससे भी कहीं पर 'ष्यङ्' करने के लिये यह सूत्र रह सकता है। यदि अनन्तरापत्य में 'ष्यङ्' का प्रयोग अभीष्ट है तो वह भी 'क्रौड्यादि' गण में सन्निविष्ट करके सिद्ध किया जा सकता है। इस प्रकार भारद्वाजीय मत में भी यह सूत्र व्यर्थ हो जाता है।[४]

---

१ पूर्वत प्राप्त गणपाठ मे किये गये परिवर्तन के प्रसग में प्राचीनो के 'रौढ्यादि' नाम के स्थान पर पाणिनि द्वारा रखे गये 'क्रौड्यादि' नाम की ओर विद्वानो का ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है। प्राचीनगण 'रौढ्यादि' ही पाणिनीय तन्त्र में नाम परिवर्तन करके 'क्रौड्यादि' इस नाम से स्वीकार किया गया है।

२ पा० ४ १ ८०।

३ महा० भा० २, सू० ४ १ ७६, पृ० २३३।

४ द्र० महा० प्र० उ०, सू० ४ १ ७६, भा० ३, पृ० ५४०। एवं च येभ्योऽनन्तरापत्यप्रत्ययान्तेभ्य ष्यङ् इष्यते तानपि क्रौड्यादिषु पठित्वा इदं सूत्रं त्याज्यमेवेति भाष्यमतमिति भाति।'

समीक्षा एवं निष्कर्ष

इस सूत्र का साक्षात् प्रत्याख्यान न तो भाष्यकार ने ही किया है और न प्रदीपकार कैयट ने। केवल उद्द्योतकार नागेश ने अपनी सम्मति प्रकट की है कि भाष्यकार का आशय इस सूत्र के प्रत्याख्यान में ही है। यहा यह देखना है कि अन्त में भारद्वाजीय मत को दिखाते हुए भाष्यकार की अपनी क्या सम्मति है। "कुलाख्याभ्यो गोत्राभिमताभ्य"[1] इस भाष्यवचन की व्याख्या करते हुए प्रदीपकार लिखते है—

"अप्रधानवचनोऽवयव शब्द इह गृह्यते। तत्र प्रवराध्यायपठितानां मुख्य गोत्रत्वम्। ये त्वादिपुरुषा श्रुतशीलसम्पन्ना अपत्यसन्तानप्रसिद्धिहेतवस्तेषाम-प्रधान गोत्रत्वम्। तेभ्योऽनेन सूत्रेण ष्यङ्विधानम्। पुणिकस्य अपत्य गोत्र स्त्री पौणिक्या"[2] इत्यादि।

यहा कैयट के शब्द स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करते हैं कि प्रधान गोत्र मे इस सूत्र की आवश्यकता न होने पर भी अप्रधान गोत्र मे 'ष्यङ्' करने के लिये यह सूत्र आवश्यक है। प्रधानगोत्रता का मापदण्ड उन्होंने प्रवराध्याय में पठित होना माना है।[3] 'पुणिक' आदि वैसे है नही, इसलिए इनका गोत्रत्व अप्रधान है। ये 'अवयव' गोत्र हैं। सूत्र की स्थापना में यह बात कही जा चुकी है कि पुणिक आदि अप्रधान 'गोत्र' हैं। यदि यहा शास्त्रपरिभाषित पौत्र प्रभृति को ही 'गोत्र' माना जाय तो 'दैवदत्या', 'याज्ञदत्या' इन अनन्तरापत्य वाले भाष्यकारोक्त प्रयोगो मे 'ष्यङ्' कैसे हो सकेगा। काशिका आदि वृत्तिकार स्पष्ट ही इस सूत्र का 'अगुरूपोत्तमार्थ आरम्भ' मानते हैं।[4] यद्यपि भाष्यकार ने इस सूत्र का 'अगुरूपोत्तमार्थ आरम्भ' मानना दूषित कर दिया है। परन्तु वस्तुस्थिति तो यही है कि 'पुणिक', 'भुणिक' आदि 'अगुरूपोत्तम' शब्दो से 'ष्यङ्' करने के लिये इस सूत्र का आरम्भ किया गया

---

१ महा० भा० २, प्रकृत सूत्र, पृ० २३३।

२ महा० प्र० भा० ३, प्रकृत सूत्र, पृ० ५४०।

३ तुलना करो—श० कौ० भा० ३, सू० ४१७६, पृ० ५,—'प्रवरान् व्याख्याम्यामस्तेंर्गोत्राणि इति सत्याषाढसूत्रात्।'

४ द्र० का० भा० ३, सू० ४१७६, पृ० ३६०—'अगुरूपोत्तमार्थ आरम्भ।'

है। 'अगुरूपोत्तमार्थ' आरम्भ किया हुआ यह सूत्र अनन्तरापत्य प्रत्ययान्त से भी 'ष्यङ्' करने के लिये आवश्यक रह जाता है। इससे अपत्यमात्र मे 'ष्यङ्' हो जाता है। अपत्यार्थ से भिन्न जात आदि अर्थ मे 'ष्यङ्' नही होगा। उससे 'अहिच्छत्रे जाता स्त्री आहिच्छत्री' यहा 'तत्र जात'[1] से अणन्त 'आहिच्छत्र' शब्द से स्त्रीलिङ्ग मे ष्यङ्' न होकर "टिड्ढाणञ्"[2] से 'ङीप्' ही हो जाता है।

यहा अवयव' शब्द के अप्रधान और पृथग्भाव ये दो अर्थ भाष्यकार ने स्वीकार किये है। कैयट लिखते हैं—'तदेवमयद्वयमस्य सूत्रस्य भाष्यकारेण व्याख्यातम्। अभिधानलक्षणाश्च कृतद्धितसमासा इति सवत्रानन्तरापत्ये ष्यङ् न भवति'[3]। इतना सब कुछ लिखते भी कैयट ने स्पष्ट शब्दो में यह नही लिखा कि भाष्यकार ने इस सूत्र का प्रत्याख्यान कर दिया है या उनका आशय इसके प्रत्याख्यान मे है। बृहच्छब्देन्दुशेखरकार तथा शब्दकौस्तुभकार भी इस सूत्र के प्रत्याख्यान पक्ष मे नही हैं। केवल नागेश ने ही अपना विचार स्पष्ट कर दिया कि भाष्य की दृष्टि मे यह सूत्र प्रत्याख्येय है।[4] विद्वान् लोग इस पर और विचार करे॥

पाण्डुकम्बलादिनि ॥४ २ ११॥

सूत्र का प्रतिपाद्य

यह सूत्र 'प्राग्दीव्यतीय' प्रकरण मे 'रक्तायर्थक' तद्धितो के अन्तर्गत आता है। इसका अर्थ है कि 'पाण्डुकम्बल' शब्द से 'तेन परिवृतो रथ'[5] (उससे ढका हुआ या मढा हुआ रथ) इस अर्थ मे 'इनि' प्रत्यय होता है। जैसे—'पाण्डुकम्बलेन परिवृतो रथ पाण्डुकम्बली' (राजकीय आस्तरणभूत

---

१ पा० ४ ३ २५।

२ पा० ४ १ १५।

३ महा० प्र० भा० ३, प्रकृत सूत्र, पृ० ५४०।

४ द्र० महा० प्र० उ० भा० २ प्रकृत सूत्र, पृ० ५४०—'एव च येभ्योऽनन्तरापत्यप्रत्ययान्तेभ्य इष्यते तानपि क्रौड्यादिषु पठित्वा इद सूत्र त्याज्यमेवेतिभाष्यमतमिति भाति।

५ पा० ४ २ १०।"

सुन्दरवर्ण वाले कम्बल से ढका हुआ रथ[1]) यहा 'पाण्डुकम्बल' शब्द से 'इनि' प्रत्यय होकर 'भ सज्ञा' द्वारा 'यस्येति च'[2] से आकार लोप हो जाता है तो 'पाण्डुकम्बली' बन जाता है। 'पाण्डुकम्बली', 'पाण्डुकम्बलिनो', 'पाण्डुकम्बलिन' ऐसे रूप चलते हैं। यहा पुलिङ्ग मे प्रथमाविभक्ति के एक वचन 'सु' परे रहते 'सो च'[3] से उपधादीर्घ हो रहा है। 'प्राग्दीव्यतीय अण्'[4] प्रत्यय की निवृत्ति के लिये यह सूत्र बनाया गया है। अन्यथा 'परिवृता रथ' इस सामान्य विहित 'अण्' प्रत्यय की प्राप्ति होती है।

पुनर्विधान अथवा अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार इस सूत्र पर सर्वथा मौन है। उन्होंने इसका न मण्डन किया है और न खण्डन ही। प्रकृत सूत्र का प्रत्याख्यान तो भाष्यकार की कल्पना से प्रसूत है। वे कहते हैं—'अय योग शक्योऽवक्तुम्। कथ पाण्डुकम्बली, पाण्डुकम्बलिनौ, पाण्डुकम्बलिन इति। इनिर्नैत मत्वर्थयेन सिद्धम्। पाण्डुकम्बलोऽस्यास्तीति पाण्डुकम्बली।'[5]

यहा भाष्यकार कहते हैं कि 'पाण्डुकम्बली' रूप बनाने के लिये इस सूत्र से 'इनि' प्रत्यय विधान करने की आवश्यकता नही है। "तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्"[6] इस 'मतुप्' प्रत्यय के विधायक 'मत्वर्थीय' प्रकरण मे आने वाले 'अत इनिठनौ'[7] सूत्र से ही 'इनि' प्रत्यय सिद्ध हो जायेगा। 'पाण्डुकम्बलोऽस्यास्तीति

---

१ द्र० श० कौ० भा० ४, सू० ४२११, पृ० १०४—पाण्डुकम्बलो गजास्तरणम्'। इन्द्र के हाथी तथा आसन पर भी बिछाने के लिए जातकों में इसका उल्लेख है। वहा यह भी कहा गया है कि यह चटकीले लाल रग का कम्बल गन्धार देश मे बनता था—'छन्दगोपकवण्णाभा गन्धारा पाण्डुकम्बला' (वस्सन्तर जातक, ६ ५००)। विशेष *अध्ययनार्थ देखें पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० २२३।*

२ पा० ६ ४ १४८।

३ पा० ६ ४ १२।

४ पा० ४ १ ८३,—'प्राग्दीव्यतोऽण्।'

५ महा० भा० २, सू० ४ २ ११, पृ० २७४।

६ पा० ५ २ ९४।

७ पा० ५ २ ११५।

पाण्डुकम्बली'। जो रथ 'पाण्डुकम्बल' से परिवृत है उसका सम्बन्ध 'पाण्डुकम्बल' से है ही। 'मत्वर्थीय' प्रत्यय 'बहुत्वादि' अर्थों मे होते है।[1] उनमे 'ससर्ग' अर्थ को लेकर 'पाण्डुकम्बल' से 'इनि' हो जायेगा तो 'पाण्डुकम्बली' यह इष्ट रूप बन जायेगा अत इस सूत्र की आवश्यकता नही है। इसका प्रयोजन मत्वर्थीय 'इनि' प्रत्यय से गतार्थ हो जाता है। 'परिवृतो रथ'[2] मे सामान्य प्राप्त 'अण्' प्रत्यय की निवृत्ति तो अनभिधान से हो जायेगी। 'पाण्डुकम्बल' शब्द से परिवृत रथ मे 'अण्' का अभिधान नही होता, ऐसा मान लिया जायेगा।

समीक्षा एव निष्कर्ष

यहा भाष्यकार ने 'इनि' प्रत्ययविधायक इस सूत्र का प्रत्याख्यान करके यह सूचित किया है कि जहा तक सभव हो, शब्द साधन मे लाघव से काम लिया जाये। जब मत्वर्थीय 'इनि' प्रत्यय अलग से विहित है ही और उससे अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति भी हो जाती है तब विशेष 'इनि' प्रत्यय विधान करना व्यर्थ है। यद्यपि काशिका आदि वृत्तिकार इस सूत्र का प्रयोजन 'परिवृतो रथ'[3] से प्राप्त 'अण्' की निवृत्ति ही मानते है, जो ठीक भी है, सभवत इसीलिए शाकटायन, भोज तथा हेमचन्द्र ने इस सूत्र का समर्थन किया है।[4] परन्तु भाष्यकार इस 'अण्' का निवारण अनभिधान रूपी ब्रह्मास्त्र से कर देते है। प्रदीपकार लिखते है—"अण् त्वनभिधानान्न भवतीति तद्बाधनार्थमपीद न वक्तव्यम्।"[5] ठीक ही तो है, इस समय वार्तिककार तथा

---

१ द्र० महा० भा० २, सू० ५ २ ९४, पृ० ३९३।
भूमनिन्दाप्रशसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
ससर्गेऽस्ति विवक्षाया भवन्ति मतुबादय ॥

२ पा० ४ २ १०।

३ पा० ४ २ १०।

४ शा० सू० २ ४ २३४—'पाण्डुकम्बली'। शाकटायन व्याकरण मे इसे निपातन माना गया है।
स० सू० ४ २ १५—'पाण्डुकम्बलादिनि'।
है० सू० ६ २ १३२—'पाण्डुकम्बलादिन्'।

५ महा० प्र० सूत्र ४ २ ११, भा० ३, पृ० ६३५।

भाष्यकार से भिन्न अन्य कौन शब्द विषय मे अभियुक्ततर हो सकता है। तीनो मुनियो मे उत्तर मुनि पतजलि का वचन ही सर्वाधिक प्रमाण है।[1] पाणिनि ने तो सभवत 'परिवृत रथ' अर्थ को मत्वर्थीय अर्थ मे यत्किंचित् पृथक् मानते हुए यह सूत्र बनाया हो किन्तु भाष्यकार ने दोनो अर्थों के 'अवान्तर विशेष' को न मानकर 'ममगरूप सामान्य' अर्थ की कल्पना से उक्त सूत्रविहित 'इनि' प्रत्यय का खण्डन कर दिया है जो कि न्याय्य ही है। न केवल इसी का अपितु आगे आने वाले "अनुब्राह्मणादिनि"[2] "चूर्णादिनि"[3] इत्यादि अन्य 'इनि' प्रत्ययविधायक सूत्रो का भी। इस विषय मे चान्द्र व्याकरण तथा जैनेन्द्र व्याकरण भी सम्मत हैं॥

कुलकुक्षिग्रीवाभ्य श्वास्यलकारेषु ॥४ २ ९६॥

सूत्र का अभिप्राय

यह सूत्र 'शैषिक' प्रकरण का है। इसका अर्थ है कि 'कुल', 'कुक्षि' और 'ग्रीवा' इन शब्दो से क्रमश 'श्वा' (कुत्ता), 'असि' (तलवार) तथा 'अलकार' (आभूषण) इन अर्थों मे 'ढकञ्' प्रत्यय होता है। वह 'शेषाधिकार' मे पठित होने के कारण 'शैषिक' है। 'शैषिक' प्रत्ययो के 'तत्र जात', 'तत्र भव', 'तस्येदम्'[4] इत्यादि अर्थ प्रसिद्ध ही हैं। 'कुले जाते', 'कुले भवो वा कौलेयक' यहा 'ढकञ्' प्रत्यय 'कुत्ते' के अर्थ मे हुआ है अत 'कुल' शब्द से 'कुत्ते का कुल' समझा जायेगा। 'कुल' शब्द से 'ढकञ्' प्रत्यय होकर 'ढ' को 'आयनेयीनीयिय फ ढ ख छ घा प्रत्ययादीनाम्'[5] सूत्र से 'एय् आदेश हो जाता है। 'ढकञ्' के 'ञित्' होने से 'तद्धितेष्वचामादे'[6] से आदि वृद्धि होकर 'कुल' के आकार का "यस्येति च"[7] से लोप होता है तो 'कौलेयक' यह रूप बन जाता

---

१ द्र०—महा० प्र० भा० १, सू० १२२६, पृ० २१३। 'यथोत्तर हि मुनित्रस्य प्रामाण्यम्।'

२ पा० ४२६२।

३ पा० ४४२३।

४ पा० ४३२५, ५३, १२०।

५ पा० ७१२।

६ पा० ६२११७।

७ पा० ६४१४८।

है। इसी प्रकार 'कुक्षौ भव कौक्षेयक' (तलवार जो मनुष्य की कोख के पास लटकती रहती है), 'ग्रीवाया भव ग्रैवेयक' (गले की कण्ठी आदि आभूषण) इनकी सिद्धि भी 'कौलेयक' के समान ही होती है। 'श्वा' आदि अर्थों से भिन्न अर्थ मे 'ढकञ्' नहीं होगा तो 'प्राग्दीव्यतीय' सामान्य 'अण्' प्रत्यय होकर 'कौल', 'कौक्ष', 'ग्रैव' ये रूप बन जायेंगे। "वस्त्यादिभ्यो ढकञ्"[1] इस सूत्र के गणपाठ में "कुल्याया यलोपश्च" ऐसा पढा है उससे 'कुल्याया भव कौलेयक' बनता है परन्तु उसका यहा विषय नही है।

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार इस सूत्र के खण्डन मे सर्वथा मौन हैं। केवल भाष्यकार ही इस सूत्र को अन्यथा सिद्ध समझते हुए इसका प्रत्याख्यान करते हैं—

"अय योग शक्योऽवक्तुम्। कथ कौलेयक। कुलस्यापत्यम्। कुक्षिग्रीवात्तु कन्वक्ष्ये। कुलस्यापत्य कौलेयको भविष्यति। कुक्षिग्रीवादपि ढञन्तात् कन् भविष्यति।"[2]

यहा भाष्यकार का तात्पर्य यह है कि इस सूत्रोक्त तीनो प्रयोग तो अन्यथा भी सिद्ध हो सकते है। 'कौलेयक' तो 'कुलस्यापत्यम्' इस अर्थ से 'अपूर्वपदादन्यतरस्या यड्ढकञौ'[3] इस सूत्र से 'कुल' शब्द से 'ढकञ्' प्रत्यय करने के बाद बन जायेगा। 'कुक्षि' और 'ग्रीवा' शब्दो से 'कौक्षेयक', 'ग्रैवेयक' यह भी 'ढञ्' के बाद स्वार्थिक 'कन्' प्रत्यय करके बन जायेंगे। 'कुक्षौ भव' इस अर्थ मे 'कुक्षि' शब्द से "दृति कुक्षि कलशि वस्त्यस्त्यहेर्ढञ्"[4] से 'ढञ्' प्रत्यय होता है। 'ढ' को 'एयादेश' होने पर 'कौक्षेय' बन जायेगा। उससे 'सज्ञाया कन्'[5] से सज्ञा मे स्वार्थिक 'कन्' करके 'कौक्षेयक' बन जायेगा। 'कन्' के नित् होने से 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्'[6] सूत्र से आद्युदात्त भी हो जायेगा। 'ढकञ्' करके भी आद्युदात्त होता था, वह 'ढञ्' के बाद 'कन्'

---

१ पा० ४ २ ६५।
२ महा० भा० २, सू० ४ २ ६६, पृ० २६१।
३ पा० ४ १ १४०।
४ पा० ४ ३ ५६।
५ पा० ५ ३ ७५।
६ पा० ६ १ १९७।

करके सिद्ध हो जायेगा। इसी प्रकार 'ग्रीवाया भव' इस अर्थ में 'ग्रीवा' शब्द से "ग्रीवाभ्योऽण् च"[1] से पक्ष में 'ढञ्' प्रत्यय होकर उससे स्वार्थ में 'कन्' प्रत्यय हो जायेगा। तो 'ग्रैवेयक' भी बन जायेगा। ढकञ्' से जो प्रयोजन इष्ट था, वह 'ढञ्' के बाद 'कन्' करके सिद्ध हो जायेगा। इस प्रकार तीनों प्रयोग अन्यथा सिद्ध हो जाने से यह सूत्र अनावश्यक हो जाता है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

'कौलेयक' इत्यादि तीनों प्रयोगों को अन्यथा सिद्ध मानकर भाष्यकार ने इस सूत्र का खण्डन कर दिया है जो समुचित ही है। 'अभिधानलक्षणा कृत्तद्धितसमासाः'[2] यह भाष्यकार का वचन सदा शब्दप्रयोग तथा उसके साधन में स्मरण रखना चाहिये। शब्द से जिस अर्थ का अभिधान अभीष्ट है, वह अर्थ मुख्य रूप से अभिहित होने पर उसके साधन की परवाह नहीं करनी चाहिये। शब्दशक्तिस्वभाव से 'कौलेयक' का अर्थ 'कुत्ता' प्रसिद्ध है। वहां 'कुलेभव' कहा जाये या 'कुलस्यापत्यम्' कहा जाये, कोई भेद नहीं पड़ता। "अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः"[3] यह भाष्यकार का वचन शब्द की अपेक्षा अर्थ की प्रधानता को प्रकट करता है। 'कुल' आदि शब्दों से 'ढकञ्' प्रत्यय करें या कोई और करें, यह मुख्य बात नहीं है। मुख्य तो अर्थाभिधान है। इसलिये 'ढकञ्' प्रत्यय का खण्डन करने पर भी 'श्वा', 'असि' और 'अलङ्कार' इन तीनों अर्थों का अभिधान ही 'कौलेयक' आदि शब्दों से होगा, यह भाष्यकार के प्रत्याख्यान द्वारा स्पष्ट हो जाता है। 'श्वा' आदि से भिन्न अर्थ में 'कौलेयक' आदि का प्रयोग नहीं होगा। क्योंकि उनसे भिन्न अर्थ में उक्त शब्दों का अभिधान नहीं है। स्थान-स्थान पर भाष्यकार 'अनभिधानात्' कह कर शब्दसाधन की प्रक्रिया को गौण सूचित करते हैं। तभी तो 'तत्र जातः'[4] के स्थान में "तत्र शेते, तत्र आस्ते" कहने पर अभीष्ट अर्थ का

---

१ पा० ४ ३ ५७।

२ महा० भा० २, सू० ३ ३ १९,।

३ महा० भा० १, सू० २ १ १, पृ० ३७०। तुलना करो—'अर्थनिमित्तक एव शब्दः', वही सू० १ १ ४६, पृ० ११४—'अर्थनित्यः परीक्षेत— (निरुक्त, २ १)।

४ पा० ४ ३ २५।

अभिधान नहीं होता। अतः "तत्र जातः" के अभाव में भी अभिधान के स्वाभाविक होने से कोई दोष नहीं आयेगा, ऐसा भाष्यकार का सिद्धान्त है।

इसलिये 'अङ्गुल्या खनति' यहां "तेन दीव्यति खनति जयति-जितम्"[1] सूत्र से 'अङ्गुलि' शब्द से 'ठक्' नहीं होता। क्योंकि इससे अभिमत अर्थ का अभिधान नहीं है। 'वृक्षमूलादागतः' यहां 'वृक्षमूल' शब्द से "तत आगतः"[2] अर्थ में 'अण्' नहीं होता। इन सबमें अनभिधान ही कारण है। भाष्यकार पतञ्जलि तथा वार्तिककार कात्यायन दोनों ही लक्ष्यैकचक्षुष्क होने से शब्दों की साधन प्रक्रिया एवं लक्षण सूत्रों पर ज्यादा आस्थित नहीं हैं। और जो ये दोनों मुनि सिद्धान्त स्थापित करते हैं वह अन्य सबको माननीय होता है। 'रङ्कोरमनुष्येऽण् च'[3] सूत्र में 'अमनुष्य' ग्रहण तथा 'अण्' ग्रहण दोनों का निरास करके केवल 'रङ्कोश्च' इतना सूत्र ही भाष्यवार्तिककार दोनों ने स्वीकार किया है जबकि काशिकाकार आदि वृत्तिकार 'अमनुष्य' ग्रहण तथा 'अण्' ग्रहण को सूत्र में सप्रयोजन स्वीकार करते हैं।[4] इस विलक्षणता को देखकर ही प्रदीपकार कहते है।

"न हि भाष्यकारवार्तिककाराभ्यामभियुक्ततरः शब्दविषये कश्चिदस्तीति।"[5]

इसलिये स्वाभाविक अर्थाभिधान को मुख्य मानकर शब्द साधन की प्रक्रिया को अधिक महत्त्व न देते हुए उक्त सूत्र का प्रत्याख्यान न्याय्य ही है। इससे 'कौर', 'कौलेयक', 'कौक्ष', 'कौक्षेयक', 'ग्रैव', 'ग्रैवेयक' इनके परस्पर अर्थ में भेद भी स्पष्ट हो जाता है। भाष्यकार की यह सूत्र प्रत्याख्यान-शैली अन्यत्र भी द्रष्टव्य है। वे शेषाधिकार के प्रथम अर्थ "तत्र जातः" इस सूत्र पर विचार करते हुए कहते है—

१, पा० ४ ४ २।
२ पा० ४ ३ ७४।
३ पा० ४ २ १००।
४ क्योंकि वृत्तिकार होने के नाते काशिकाकार के लिये तो यही न्याय्य है कि वह सूत्रकार के सूत्र का ही यथासंभव समर्थन करे—'सूत्रार्थ प्रधानो ग्रन्थो वृत्ति' (प० म० का प्रारम्भ)।
५, महा० प्र० भा० ३, सू० ४ २ १००, पृ० ६७२।

"न तर्हीदानीं जातादयोऽर्था निर्देष्टव्या । निर्देष्टव्याश्च । किंप्रयोजनम् । अपवादविधानार्थम् । प्रावृषण्यम्—प्रावृषिजात प्रावृषिक । क्व मा भूत-प्रावृषि भव प्रावृषेण्य यानि त्वेतानि निरपवादान्यर्थदिशनानि तानि शक्या-न्यकर्तुम् । कृतलब्धक्रीत कुशला स्रौघ्नो देवदत्त इति ।"[1]

कितनी सुन्दर प्रत्याख्यान शैली है जिसका अनुभव सहृदय वैयाकरण धुरीण विद्वान् ही कर सकते है। आचार्य चन्द्रगोमी तथा देवनन्दी भी इस सूत्र के प्रत्याख्यान मे सहमत हैं।[2] अत प्रत्येक दृष्टि से सूत्र अनावश्यक ही है।

सर्वत्राण् च तलोपश्च ॥४ ३ २२॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र 'शैषिक' प्रकरण का है। इसका अर्थ है कि 'हैमन्त' शब्द से सर्वत्र अर्थात् लोक और वेद सब जगह 'शैषिक अण्' प्रत्यय होता है और 'अण्' प्रत्यय के सनियोग के साथ 'हेमन्त' के तकार का लोप भी हो जाता है। चकार से "सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्"[3] से विहित 'अण्' प्रत्यय भी पक्ष में होता है। जैसे—'हेमन्ते भव हैमन, हैमन्त ।' यहा 'हेमन्त' शब्द से इस सूत्र से विहित 'अण्' प्रत्यय के साथ 'हेमन्त' के तकार का लोप और आदि वृद्धि होकर 'हैमन' यह रूप बनता है। जहा इससे 'अण्' नही हुआ वहा

---

१ महा० भा० २, सू० ४ ३ २५, पृ० ३०७।

२ प्रकृत सूत्र चान्द्रव्याकरण की स्वोपज्ञ वृत्ति में ३ २ ५ सूत्र पर खण्डित किया गया है। जैनेन्द्र व्याकरण मे यह सूत्र एक वार्तिक के रूप में देखने मे आता है—'कुलकुक्षि ग्रीवाभ्यो यथासख्य श्वास्यलकारेष्विति वक्तव्यम्' (३ २ ७५)।
हा शाकटायन आदि व्याकरणो में इस सूत्र की सत्ता अवश्य विचारणीय ही है।
शा० सू० ३ २ ६—'कुलकुक्षिग्रीवाच्छ्वास्यलकारे।'
स० सू० ४ ३ ८—'कुलकुक्षिग्रीवाभ्य श्वास्यलकारेषु।'
है० सू० ६ ३ १२—'कुलकुक्षिग्रीवाच्छ्वास्यलकारे।'

३ पा० ४ ३ १६।

"सन्धिवेलादि०" सूत्र से 'अण्' होकर आदिवृद्धि द्वारा 'हैमन्त' यह रूप बन जाता है। "सन्धिवेलादि" सूत्र से होने वाले 'अण्' प्रत्यय में तकार का लोप नही होता क्योंकि वह इसी सूत्र मे विहित 'अण्' के साथ सनियोग-शिष्ट है।

तकारलोप पक्ष मे दो मत हैं। कोई पूरे 'त' शब्द का लोप मानते हैं। उनके मत मे 'हेमन्' इस प्रकार 'अन्नन्त' हो जाने से "अन्"[1] से प्रकृति-भाव होकर "नस्तद्धिते"[2] मे टिलोप नही होता तो 'हैमन' बन जाता है। जो 'हेमन्त' शब्द मे पूरे तकार का लोप न मानकर केवल 'त्' वर्ण का लोप मानते है उनके मत मे शेष अकार का 'यस्येति च'[3] से लोप हो जायेगा। "यस्यति च" और "नस्तद्धिते" दोनो के "असिद्धवदत्राभात्"[4] के अधिकार मे 'आभीय' होने से "यस्येति च" से हुए अकारलोप की असिद्धता हो जायेगी तो 'हैमन्' नकारान्त न रहने से "नस्तद्धिते" से टिलोप नहीं होगा। इस प्रकार दोनो मतो में हैमन' यह रूप बन जायेगा।[5]

सूत्र मे 'सर्वत्र' ग्रहण का प्रयोजन यही है कि यहा "छन्दसि ठञ्"[6] से अनुवृत्त 'छन्दसि' की अनुवृत्ति न आये और यह सूत्र लोक-वेद सब जगह प्रवृत्त हो सके। काशिकाकार लिखते हैं यहा 'सर्वत्र' ग्रहण 'छन्दसि' की अनुवृत्ति न होने में तात्पर्यग्राहक[7] है। उनके विचार मे 'सर्वत्र' शब्द का सम्बन्ध 'देहलीदीपक न्यायेन' "हेमन्ताच्च"[8] से होने वाला 'ठञ्' प्रत्यय वेद

१ पा० ६ ४ १६७।
२ पा० ६ ४ १४४।
३ पा० ६ ४ १४८
४ पा० ६ ४ २२।
५ द्र०—प० म० सू० ४ ३ २२—"यदा तशब्दस्य समुदायस्य लोपस्तदा 'अन्' इति प्रकृतिभावात् नस्तद्धिते इति टिलोपो न भवति। यदा तु तकारस्यानेन लोप अकारस्य तु यस्येति च इति लोप, तदा तस्य असिद्धवदत्राभात्' इत्यसिद्धत्वात् स्थानिवद्भावाच्च टिलोपाभाव।"
६ पा० ४ ३ १९।
७ द्र० का० भा० ३, सू० ४ ३ २२, पृ० ६३१—'सर्वत्रग्रहण छन्दोऽधिकार-निवृत्त्यर्थम्।'
८ पा० ४ ३ २१।

के समान लोक में भी स्वीकार्य है। 'हैमन्तिकम्' यह रूप वेद के समान लोक में भी प्रयुक्त होता है। इस प्रकार 'हेमन्त' शब्द के तीन रूप शैषिक अर्थ में बनते हैं—'हैमन', 'हैमन्त', हैमन्तिक।' ये तीनो ही लोक वेद में समान हैं।

प्रकृत्यन्तर द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए भाष्यवार्तिककार कहते हैं—"हेमन्तस्याणि तलोपवचनानर्थक्य हेम्न प्रकृत्यन्तरत्वात्। हेमन्तस्याण्वचन अणि च तलोपवचनमनर्थकम्। किं कारणम्—हेम्न प्रकृत्यन्तरत्वात्। प्रकृत्यन्तर हेमन् शब्द आतश्च प्रकृत्यन्तरम् एव ह्याह—'हेमन् हेमन्नागनीगन्ति कर्णौ' तस्मादेतो हेमन्नशुष्यत इति। तत्र ऋतुभ्य इत्येव सिद्धम्।"[1]

इसका तात्पर्य यह है कि 'हेमन्त' के समान अर्थ वाला पृथक् 'हेमन्' शब्द है। उसी से 'हैमन' यह रूप बन जायेगा।[2] 'हैमन्त' और 'हैमन्तिक' ये दोनो रूप 'हेमन्त' शब्द के बन जायेंगे। इस प्रकार अभीष्ट तीनो रूपो की सिद्धि हो जाने से यह सूत्र अनर्थक है। 'हेमन्' शब्द से 'सन्धिवेलादि०'[3] सूत्र से 'अण्' होकर प्रकृतिभाव द्वारा 'हैमन' सिद्ध हो जाता है। 'सर्वविधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते'[4] के अनुसार 'हेमन्त' शब्द से भी "सन्धिवेलादि०" सूत्र से 'अण्' हो जायेगा तो 'हैमन्त' यह भी सिद्ध हो जाता है। 'हेमन्ताच्च'[5] से 'ठञ्' होकर 'हैमन्तिक' यह भी सिद्ध हो जायेगा।

---

१ महा भा० २, सू० ४ ३ २२, पृ० ३०४—'हेमन् हेमन्नागनीगन्ति—' इत्यादि उद्धरण कहा के हैं यह द्रष्टव्य है। केवल इतना अ श तो देखने मे आता है—'आगनीगन्ति कर्णम्' (भा० यजु, २९ ४०)।

२ द्र० शब्दकल्पद्रुम, पचमकाण्ड, पृ० ५४८ 'हेमन्न—ऋतुविशेष। स तु आग्रहायणपौषात्मक।—हेमन् शब्दोऽप्यस्ति इति माधवी। इति भरत ॥ तत्पर्याय। हेमन। इतिशब्दरत्नावली।

३ पा० ४ ३ १६।

४ महा० भा० १, सू० १ ४ १०, पृ० ३१५। परि० स० ३५।

५ पा० ४ ३ २१।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

भाष्यवार्तिक द्वारा किया गया इस सूत्र का प्रत्याख्यान युक्तियुक्त ही है। शब्दों का साधन करना है। जो अभिहित लौकिक प्रयोग हैं और साधु शब्द हैं, उनका व्युत्पादन किसी भी अभ्युपाय से करने में कोई अनौचित्य नहीं है। जब 'हेमन्' शब्द 'हेमन्त' का पर्यायवाची उपलब्ध होता है तो उसी से 'अण्' करके 'हैमन' बन सकता है। जैसे 'पद्', 'दत्', 'नस्', 'मास्', 'हृद्'[1] आदि 'पादादि' के प्रकृत्यन्तर हैं। भाष्यकार की दृष्टि से ये सब आदेश नहीं हैं। यही अवस्था यहां पर भी है। यहां पर भी 'हैमन', 'हैमन्त' और 'हैमन्तिक' इन तीनों में परस्पर वर्णविकार या वर्णलोप न मानकर इन्हें स्वतन्त्र प्रकृति से सिद्ध मानना चाहिये। ऐसा मानने में ही लाघव तथा अर्थबोध भी सुकर होगा। भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी यही न्याय्य मार्ग जचता है कि 'हैमन' की प्रकृति 'हेमन्' शब्द है तथा 'हैमन्त' एवं 'हैमन्तिक' की प्रत्ययभेद से 'हेमन्त' शब्द है। भाष्यवार्तिककार के द्वारा प्रस्तावित न्यायान्तरों या सूत्रप्रत्याख्यान प्रकारों से पूरा-पूरा लाभ उठाने वाले चान्द्र आदि व्याकरणों में प्रकृत सूत्र की सत्ता अवश्य विचार का विषय है। वहां उक्त सूत्र का यह स्वरूप है—

"हेमन्ताद्वा तलोपश्च" (चा० सू० ३ २ ८०)
'हेमन्तात्तरम्' (जै० सू० ३ २ १३८)
'निशाप्रदोषहेमन्तात् । तुवतोर्णिः' (शा० सू० ३ १ ७०-७१)
'हेमन्ताद्वा तलोपश्च' (स० सू० ४ ३ ११५)
'हेमन्ताद्वा तलुक्च (है० सू० ६ ३ ६१) ॥

प्रायभव ॥४ ३ ३९॥

सूत्र की सप्रयोजना स्थापना

यह सूत्र 'शैषिक' प्रकरण का है। इसका अर्थ है कि 'वहां पर प्राय होने वाला' इस अर्थ में प्रातिपदिक से 'प्राग्दीव्यतीय अण्' आदि प्रत्यय होते हैं। शैषिक प्रत्ययों के अर्थों में यह भी एक विशेष अर्थ है। जैसे 'तत्रजात', 'तत्र भव', 'तस्येदम्'[2] आदि अर्थ 'शेषाधिकार' में आते हैं वैसे 'प्राय भव'

१ पा० ६ १ ६३।
२ पा० ४ ३ २५, ५३, १२०।

यह अर्थ भी साधिकार रूप से 'शैषिकों' में गिना जाता है। जैसे—'स्रुघ्ने प्रायेण भवति इति स्रौघ्न' 'मथुराया प्रायेण भवति माथुर'। 'राष्ट्रे प्रायेण भवति राष्ट्रिय इत्यादि। यहां 'स्रुघ्न' और 'मथुरा' शब्दो से किसी विशेष प्रत्यय का विधान नही किया गया है। अत सामान्य विहित 'प्राग्दीव्यतीय अण्' प्रत्यय हो जाता है। 'अण्' के 'णित्' होने से "तद्धितेष्वचामादे"[1] से आदिवृद्धि और "यस्येति च"[2] से अवर्ण का लोप होकर 'स्रौघ्न', 'माथुर' ये रूप बन जाते है। 'राष्ट्रिय' में राष्ट्रावारपाराद् घखौ"[3] से विशेषविहित 'घ' प्रत्यय हो जाता है। 'घ' को 'आयनेयीनीयिय'[4] से 'इय्' आदेश होकर अवर्णलोप द्वारा 'राष्ट्रिय' यह रूप बन जाता है। इस 'प्रायभव' अर्थ का व्यापार बहुत थोडा है। केवल इससे आगे आने वाले "उपजानूपकर्णोपनीवेष्ठक्"[5] इस सूत्र मे ही यह व्यापृत होता है। आगे 'सभूते'[6] आदि अर्थ चल पडते हैं।

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र का प्रत्याख्यान तो स्वय काशिका आदि वृत्तिकारो ने ही कर दिया है।[7] यद्यपि उनका मूल भी महाभाष्य ही है। काशिकाकार लिखते है—

'प्रायभवग्रहणमनर्थकम्, तत्र भवेन कृतार्थत्वात्। अनित्यभव प्रायभव इति चेत्, नुक्तगशेयन तुल्यम्'।[8]

---

१. पा० ७ २ ११७।
२ पा० ६ ४ १४८।
३ पा० ४ ३ ९३।
४ पा० ७ १ २।
५ पा० ४ ३ ४०।
६ पा० ४ ३ ४१।
७ क्योकि काशिका एक वृत्तिग्रन्थ है। अत उसका लक्ष्य सूत्रानुमोदन करना ही होता है। लेकिन जब काशिका ही इस सूत्र को अनर्थक कह रही है तो इसका सीधा सा मतलब है कि प्रकृत सूत्र सर्वथा प्रत्याख्येय ही है।
८ का० भा० ३, सू० ४ ३ ३९, पृ० ६४३-६४४।

हूबहू यही शब्द भाष्यवार्तिककार के है। जिनका भाव है कि 'तत्र भव'[1] के अर्थ से ही 'प्रायभव' अर्थ सगृहीत हो जाता है। अत यह पृथक् सूत्र बनाने की आवश्यकता नही है। यदि यह कहा जाये कि 'प्रायभव' का अर्थ कभी-कभी रहने वाला है, जो स्थिर नही रहता। अनित्य रहता है और 'तत्रभव' का अर्थ सर्वथा स्थिर रहने वाला या नित्य रहने वाला है, तो यह बात ठीक नही। क्योकि जिस 'तत्रभव' को स्थिर रहने वाला मानकर जो 'सुघ्नेभव सौघ्न देवदत्त' यह उदाहरण दिया जाता है, वह 'देवदत्त' भी तो 'सुघ्न' मे सदा स्थिर नही रहता। वह कार्यवशात् सुघ्न' से बाहर भी चला जाता है। इसलिए 'तत्रभव' का उदाहरण भी 'प्रायभव' के समान ही है। पुन यदि यह कहा जाये 'सौघ्न देवदत्त' मे तो 'नित्यभव' और 'प्रायभव' दोनो समान प्रतीत होते है किन्तु 'सुघ्ने भवा प्रासादा प्राकारा वा सौघ्ना' यहा 'प्रासाद' और 'प्राकार' तो 'सुघ्न' मे सदा स्थिर रहते है, यह 'नित्यभव' का उदाहरण बन सकता है। इसमे 'प्रायभव' का काम नही, तो इसका उत्तर है कि "तत्रभव" के अधिकार मे 'जिह्वामूलाङ्गुलेश्छ'[2] से 'छ' प्रत्यय का विधान किया गया है। वहाँ 'जिह्वमूले भव जिह्वामूलीयम्'। अङ्गुल्या भवम् अङ्गुलीयम्' इन उदाहरणो मे 'जिह्वामूल' मे वर्णों के हमेशा स्थिर न रहने के कारण तथा 'अङ्गुलि' में अगूठी के हमेशा विद्यमान न रहने के कारण 'तत्र भव' का अर्थ कैसे घटेगा। वहा तो स्पष्ट ही 'प्रायभव' है। 'अङ्गुलि' मे अगूठी प्राय रहा करती है। वह कभी उतार भी ली जाती है। 'जिह्वामूल' में वर्ण भी जब उच्चारण करने की इच्छा हो तब प्राय रहा करते है हमेशा नही रहते। इससे मालूम होता है कि 'प्रायभव' और 'तत्रभव' दोनो समान ही है। अन्यथा 'प्रायभव' के अर्थ को 'तत्रभव' के अर्थ में क्यो रखा गया।

यहा यह शङ्का करना कि "उपजानूपकर्णोपनीवेष्ठक्"[3] से 'उपजानु' शब्द से विहित 'ठक्' प्रत्यय 'प्रायभव' अर्थ मे ही हो, 'तत्रभव' अर्थ मे न हो, इसलिए 'प्रायभव' यह सूत्र बनाया है तो इस सन्दर्भ मे शङ्काकर्ता से ही यह पूछा जाता है कि 'तत्रभव' इसके अधिकार मे पठित "शरीराव-

---

१ पा० ४ ३ ५३।
२ पा० ४ ३ ६२।
३ पा० ४ ३ ४०।

वाच्च''[1] से विहित 'यत्' प्रत्यय 'उपजानु' शब्द से क्यों नहीं होता। क्योंकि 'उपजानु' अर्थात जानु के समीप शरीर का कोई अवयव भी शरीरावयव होने से वहां 'यत्' प्राप्त होता है। 'तत्रभव' और 'प्रायभव' में वे भेद मानते ही हैं तो वहां 'तत्र भव' के अधिकार में कहा गया 'यत्' प्रत्यय अवश्य होना चाहिये। पुन यह कहना कि 'अनभिधानात्' वहां 'यत्' प्रत्यय नहीं होगा। क्योंकि 'उपजानु' शब्द से 'तत्रभव' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय करने पर अभिमत अर्थ का अभिधान नहीं होता तो वही बात यहां पर भी है कि 'उपजानु' शब्द से तत्रभव' अर्थ में किये गये 'ठक्' प्रत्यय से अभिमत अर्थ का अभिधान नहीं होगा। इसलिये चाहे 'तत्रभव' कहा जाये या 'प्रायभव' दोनों में कोई फर्क नहीं पड़ता। शब्द के प्रयोग ने उसके अभिधान या अनभिधान का प्रश्न है। इस प्रकार भाष्यकार ने अपनी युक्तिपूर्ण वाचोयुक्ति से इस सूत्र का खण्डन कर दिया है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

'तत्रभव' यह 'सामान्य' है। 'प्रायभव' यह 'विशेष' है। 'सामान्य' में 'विशेष' का अन्तर्भाव हो ही जाता है। अत 'तत्रभव' से गतार्थ होने पर यह सूत्र व्यर्थ सिद्ध हो जाता है। भाष्यकार अपनी अतिसूक्ष्मेक्षिका से शब्दप्रयोग का विचार करते हैं। अत उनके द्वारा प्रत्याख्यात यह सूत्र अनावश्यक बन जाता है। इस सूत्रके प्रत्याख्यान से भाष्यकार ने एक दिशा दिखाई है कि वस्तु के निर्णय में उसके अवान्तर छोटे-छोटे भेद नहीं गिने जाते। नित्य रहना या कभी-कभी रहना, दोनों में रहना तो है ही। इसलिए नित्य-अनित्य का भेद न करके केवल रहने को ही मुख्य मानकर इस सूत्र का अन्तर्भाव 'तत्रभव' में हो सकता है, इस विषय में किसी को विप्रतिपत्ति नहीं।

किन्तु इसी के साथ 'तत्र जात' की विद्यमानता में 'तत्र लब्ध', 'तत्र क्रीत', 'तत्र कुशल'[2] इत्यादि की भी समीक्षा होनी चाहिये। इस 'प्राग्दीव्यतीय' प्रकरण में विशेष रूप से 'शैषिकों' में आचार्य पाणिनि ने कुछ अर्थ ऐसे उपन्यस्त कर दिये हैं जो प्राय पुनरुक्त से दीखते हैं। उनमें यत्किंचित् ही अन्तर है। जैसे—'तत्र जात', 'तत्र कृत' इनमें थोड़ा ही अन्तर है, बल्कि

---

१ पा० ४ ३ ५५।

२ पा० ४ ३ ३८—"कृतलब्धक्रीतकुशला।"

'जो वहा किया है, वह वहा पैदा हुआ है' यह दोनों एक ही अर्थ के सूचक है। 'तत्र लब्ध', 'तत्र क्रीत' (वहा प्राप्त किया और वहा खरीदा) ये भी एक ही अर्थ के परिचायक है। 'जो खरीदा है, वह प्राप्त ही किया है।' किन्तु 'जो प्राप्त किया है, वह खरीदा है', ऐसा तो पूर्णतया सभव नही है। क्योंकि 'दान' आदि से भी वस्तु प्राप्त की जाती है और खरीदकर भी। अस्तु, इनके अतिरिक्त 'सभूते'[1] इस अर्थ का केवल एक ही सूत्र मे उपयोग हुआ है और वह भी असगत सा है। 'सभूते' के बाद 'कोशाड्ढञ्'[2] यह सूत्र है। 'कोशे सभूत कौशेयम्' यह उदाहरण है। किन्तु यह असगत है। स्वय भाष्यवार्तिककार कहते है—

"विकारे कोशाड्ढञ् वक्तव्य, न सभूते। न हि कौशेय कोशे सभवति अपितु कोशस्य विकारो भवति।"[3]

इस पर कैयट लिखते है—"इद सूत्र 'तस्य विकार' इत्यत्र प्रकरणे कर्तव्यम्। 'एण्या ढञ्' इत्यस्यानन्तर कोशात् इति वक्तव्यम्।" "सभूते" के अर्थ मे "कोशाड्ढञ्" रखने का तात्पर्य सभवत आचार्य पाणिनि का यह है कि वे 'सत्कार्यवाद' की झलक अपने शास्त्र मे दिखाते हैं। 'तन्तुषु पट' की तरह 'कोशे सभूत पट' यह कारण में विद्यमान कार्य को सूचित करता है। भाष्यकार तो साख्यसिद्धान्त के मानने वाले पद-पद पर प्रत्यक्ष दीखते है किन्तु "सभूते", "कोशाड्ढञ्" इन दोनो सूत्रो को देखने हुए आचार्य पाणिनि भी 'सत्कार्यवाद' के समर्थक प्रतीत होते हैं।[4]

अस्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग मे सभी अर्वाचीन वैयाकरण भी सहमत है कि प्रकृत सूत्र की कोई आवश्यकता नही है। अत निष्कर्ष रूप म यह कहा जा सकता है कि इसका प्रत्याख्यान ही ठीक है।

---

१ पा० ४ ३ ४१।

२ पा० ४ ३ ४२।

३ महा० भा० २, सू० ४ ३ ४२, पृ० ३०६।

४ प्रौ० म० सू० ४ ३ ४२,—'कौशेयमिति। ढञोयम्। कोशेसम्भवस्तु सत्कार्यवादाश्रयणात्। मतान्तरे तु विकारप्रकरणे एण्या ढञ् इत्यस्यानन्तर 'कोशाच्च इति पाठ्यम्।' इसी स्थल पर तत्त्वबोधिनी भी द्रष्टव्य है—'कोशे सभवस्तु सत्कार्यवादाभिप्रायेण।'

अव्ययीभावाच्च ॥४ ३ ५६॥

सूत्र की आवश्यकता पर विचार

यह सूत्र 'शैषिक' प्रकरण का है। इसका अर्थ है कि अव्ययीभाव सज्ञक 'परिमुख' आदि शब्दो से 'तत्र भव' के अर्थ मे 'ञ्य' प्रत्यय होता है। यहा अव्ययीभाव सज्ञक सब शब्दो से 'ञ्य' प्रत्यय नही होता किन्तु "परिमुखादिभ्य एवेष्यते"[1] इस 'इष्टि' से केवल 'परिमुख' आदि अव्ययीभावसज्ञक शब्दो से ही होता है। "दिगादिभ्यो यत्"[2] इस सूत्र प्रोक्त दिगादिगण के बाद "परिमुखादिभ्यश्च" यह गणसूत्र पढा गया है जिसमे 'परिमुख', 'परिहनु', 'पर्योष्ठ', 'पर्युलूखल' इत्यादि अव्ययीभावसज्ञक शब्दो का पाठ है। उन्ही निश्चित किये हुए शब्दो से यह सूत्र 'ञ्य' प्रत्यय करता है, सबसे नही। इसीलिये वार्तिककार ने "ञ्यप्रकरणे परिमुखादिभ्य उपसख्यानम्"[3] इस वार्तिक द्वारा 'परिमुखादि' शब्दो से 'ञ्य' प्रत्यय का उपसख्यान किया है। 'परिमुख' आदि से भिन्न अन्य 'उपकूल' आदि अव्ययीभावसज्ञक शब्दो से 'ञ्य' प्रत्यय नही होता है। "अव्ययीभावाद् विधाने उपकूलादिभ्य प्रतिषेध"[4] इस वार्तिक द्वारा 'उपकूल' आदि शब्दो से 'ञ्य' प्रत्यय का निषेध किया गया है। 'परिमुख' आदि तथा 'उपकूल' आदि दोनो के अव्ययीभावसज्ञक होने पर भी इस सूत्र द्वारा केवल 'परिमुख' आदि से ही 'ञ्य' प्रत्यय अभीष्ट है। जैसे—'परिमुख भव पारिमुख्यम्'। 'पारिहनव्यम्'। 'प्रातिशाख्यम्' इत्यादि।

यहा 'परिमुख' आदि अव्ययीभावसमास वाले शब्दो से 'तत्रभव' अर्थ मे 'ञ्य' प्रत्यय होकर आदिवृद्धि तथा 'यस्येति च'[5] से अवर्णलोप आदि हो जाते है तो 'पारिमुख्यम्' आदि शब्द बन जाते हैं। 'पारिहनव्यम्' मे "ओर्गुण"[6] से 'हनु' के उकार को गुण होकर अवादेश हो जाता है। 'उपकूल' आदि मे

---

१ पा० ४ ३ ५९ पर वार्तिक, वै० सि० कौ० भा० २, पृ० ४१६ से उद्धृत।
२ पा० ४ ३ ५४।
३ महा० भा० २, सूत्र ४ ३ ५८ पर वार्तिक, पृ० ३१०।
४ वही।
५ पा० ६ ४ १४८।
६ पा० ६ ४ १४६।

तो 'ञ्य' का प्रतिषेध हो जाने से सामान्य 'प्राग्दीव्यतीय अण्' प्रत्यय ही होता है। उससे 'औपकूल', 'औपमूल', 'औपशाल' ये रूप बनते हैं। 'उपकूल भवम्', 'उपमूल भवम्', 'उपशाल भवम्' ये विग्रह है।

अतिव्याप्तिदोषग्रस्त होने से न्यासान्तर द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र का साक्षात् प्रत्याख्यान न तो काशिका आदि वृत्तिकारों ने किया है और न ही भाष्यकार या वार्तिककार ने किया है। इस दृष्टि से यह अस्पष्टलिङ्ग प्रत्याख्यान है। केवल उद्द्योतकार नागेश ने निम्न शब्द कहे हैं—'परिमुखादिभ्य इत्येवोक्त्वा अव्ययीभावाच्च इति न वक्तव्यम् इति भाव'।[1] प्रदीपकार भी ऐसा लिखते हैं—"अव्ययीभावाच्च इत्येतदतिव्यापकत्वाद् अकृत्वा परिमुखादिभ्य एव ञ्यो विधेयः। गणे चाव्ययीभावकार्ययुक्तानि परिमुखादीनि पठितव्यानि, न तु प्रातिपदिकान्येव। तेन तेषां बहुव्रीहितत्पुरुषाणां ग्रहणं न भविष्यतीति भावः।"[2]

कैयट तथा नागेश दोनों का तात्पर्य इस सूत्र के स्थान में "परिमुखादिभ्य" के बनाने में ही है। इस प्रकार न्यासपरिवर्तन से यह सूत्र प्रत्याख्येय हो जाता है। "परिमुखादिभ्य" के कहने से "उपकूलादिभ्य प्रतिषेध" इस वार्तिक की आवश्यकता न रहेगी। "अव्ययीभावाच्च" के न्यास में तो 'परिमुख' आदि के साथ 'उपकूलादि' अव्ययीभावसंज्ञक शब्दों से भी 'ञ्य' प्रत्यय प्राप्त होगा। उनके निषेध के लिये वार्तिक बनाना पड़ेगा। अतः इस सूत्र को हटाकर "परिमुखादिभ्य" ऐसा सूत्र बनाना ही अधिक उपयुक्त है। 'परिमुख' आदि भी व्याख्यान से[3] अव्ययीभाव ही लिये जायेंगे। *इसीलिये महाभाष्य के मर्मज्ञ विद्वान् तथा कृतभूरिपरिश्रम आचार्य चन्द्रगोमी* ने भी अपने व्याकरणतन्त्र में प्रकृत सूत्र के स्थान पर भाष्यवार्तिककार द्वारा प्रस्तावित "ञ्यप्रकरणे परिमुखादिभ्य उपसंख्यानम्" इस वार्तिक का संक्षिप्त रूप 'परिमुखादिभ्य' (३ ३ २३) यह सूत्र बनाया है। इससे भी उक्त सूत्र अतिव्याप्ति दोष ग्रस्त सिद्ध होने के साथ-साथ प्रत्याख्येय बन

---

१ महा० प्र० उ० भा० ३, सू० ४ ३ ५९, पृ० ७०६।

२ महा० प्र० वही, पृ० ७०६।

३. द्र० 'परि०शा० १—'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्'।

जाता है। "अन्न पूर्वपदाट् ठञ्", "ग्रामातपर्यनुपूर्वात्"[1] इन दोनों उत्तर सूत्रों मे अव्ययीभाव ग्रहण करके अभीष्ट सिद्ध हो जायेगा।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

वस्तुत यह सूत्र प्रत्याख्यान के योग्य है ही नहीं। क्योंकि इसको हटा करके भी "परिमुखादिभ्य" यह बनाना पड़ेगा। इस न्यासपरिवर्तन से सूत्र का प्रत्याख्यान थोड़े हो जायेगा। अव्ययीभाव से 'ञ्य' प्रत्ययविधान की आवश्यकता तो रहेगी ही, वह चाहे केवल 'परिमुख' आदि के लिये ही हो। उत्तर सूत्रों के लिए 'अव्ययीभाव' ग्रहण की अनुवृत्ति अत्यन्त अपेक्षित है।[2] उनके लिये अलग 'अव्ययीभाव' ग्रहण की अपेक्षा "अव्ययीभावाच्च" इस सूत्र से 'अव्ययीभाव' का काम चलाने मे ही लाघव है। अत यह सूत्र रहना ही चाहिये। इसीलिये जैनेन्द्र—व्याकरणकार ने पाणिनिसम्मत सूत्र ही रखा है।[3] इस प्रकृत न्यास मे अतिव्याप्ति दोष को दूर करने के लिये शाकटायन आदि अन्य आचार्यों ने 'अव्ययीभाव' के साथ 'परिमुखादि' ग्रहण भी किया है।[4] लेकिन इसकी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। क्योंकि जैसे 'शिल्पिनि ष्वुन्'[5] का 'नृति', 'खनि' और 'रञ्जि' यह परिमित विषय है[6] वैसे इस सूत्र का भी 'परिमुख' आदि परिमित विषय समझा जायेगा। उससे सूत्र की उपयोगिता नष्ट नहीं होती॥

---

१ पा० ४ ३ ६०-६१।

२ प्रौ० म० प्रकृत सूत्र—'अव्ययीभावग्रहणस्योत्तरत्रोपयोगाच्चेति भाव।

३ जै० सू० ३ ३ ३४—'ह्रात्'। जैनेन्द्रव्याकरण मे अव्ययीभाव की 'ह' सज्ञा रखी गई है।

४ शा० सू० ३ १ १२४—'परिमुखादेरव्ययीभावात्।'
स० सू० ४ ३ १५७—'परेर्मुखौष्ठहनूलूखलेभ्योऽव्ययीभावे।'
है० सू० ६ ३ १३६—'परिमुखादेरव्ययीभावात्'।

५, पा० ३ १ १४५।

६ द्र० पा० ३ १ १४५ पर वार्तिक—'नृतिखनि रञ्जिभ्य एव।'

ञितश्च तत्प्रत्ययात् ॥४ ३ १५३॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र विकारावयवार्थक तद्धित प्रत्यय प्रकरण का है। इसका अर्थ है कि जिस प्रातिपदिक से विकारावयव अर्थ में 'ञित्' प्रत्यय हुआ है, उस ञित्प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से विकारावयव अर्थ में ही 'अञ्' प्रत्यय होता है। विकार और अवयव अर्थ में विहित प्रत्यय सात हैं। उनके विधायक सूत्र निम्न हैं—

"ओरञ्"। "अनुदात्तादेश्च।" "पलाशादिभ्यो वा।" "शम्याष्ट्लञ्।" "प्राणिरजतादिभ्योऽञ्।" "उष्ट्राद्वुञ्।" "उमोर्णयोर्वा।" "एण्या ढञ्।" "कसीयपरशव्ययोर्यञ्ञौ लुक् च।"[1]

'अञ्', ट्लञ्', 'वुञ्', 'ढञ्', 'यञ्' इन प्रत्ययों का अकार 'इत्' संज्ञक होने से ये 'ञित् प्रत्यय' कहलाते हैं। इनमें "ओरञ्" यह उवर्णान्त प्रातिपदिक से विकारावयव अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय करता है। जैसे—'देवदारु' यह शब्द उवर्णान्त है। उसके विकारावयव अर्थ में देवदारो विकार अवयवो वा इति दैवदारव।'

यहां 'अञ्' प्रत्यय होकर आदिवृद्धि और "ओर्गुण"[2] से गुण तथा अवादेश हो जाता है तो 'दैवदारव' बन जाता है। 'दैवदारव' इस विकारार्थक 'अञ्' प्रत्ययान्त शब्द से उसके भी विकार कहने में इस सूत्र से 'अञ्' प्रत्यय हो जायेगा तो 'दैवदारवस्य विकार, दैवदारव' यही रूप बनेगा। 'अञ्' प्रत्यय परे रहते "यस्येति च"[3] से अकार का लोप हो जायेगा तो एक सा ही रूप रहेगा। 'देवदारु' के विकार का 'दैवदारव' कहेंगे तो 'दैवदारव' का विकार भी 'दैवदारव' ही कहलायेगा। केवल प्रत्यय का अन्तर हो जायेगा। इसी प्रकार "अनुदात्तादेश्च" से अनुदात्तादि प्रातिपदिक से विहित 'अञ्' प्रत्ययान्त से भी यह सूत्र विकारावयव अर्थ में 'अञ्' कर देगा तो 'दधित्थस्य विकार अवयवो वा दाधित्थ' बनकर 'दाधित्थस्य विकार अवयवो वा

---

१ पा० ४ ३ १३७, १३८, १३९, १४०, १४२, १४५, १५६, १५७, १६६।
२ पा० ६ ४ १४६।
३ पा० ६,४ १४८।

दाधित्य' यही रूप बनेगा। 'दधित्थ' शब्द अन्तोदात्त है अतः शेषनिघात' से उसका आदि अक्षर अनुदात्त हो जायेगा तो दधित्थ' शब्द अनुदात्तादि बन जाता है।

इसी प्रकार 'पलाशादिभ्यो वा''[1] से भी विहित अञ्' प्रत्ययान्त से यह 'अञ्' कर देगा तो 'पलाशस्य विकारः पालाशः।' 'पालाशस्य विकारोऽपि पालाश' यह रूप बनेगा। ''शम्याष्ट्लञ्'' से भी 'शमी' शब्द से विहित 'ट्लञ्' प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से यह विकार अवयव अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय कर देगा तो 'शम्या विकारः शामीलः।' 'शामीलस्य विकारोऽपि शामील' यही रूप बनेगा। 'प्राणिरजतादिभ्योऽञ्' से भी प्राणिवाची 'कपोत' शब्द से तथा 'रजत' शब्द से विकारावयव अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय होकर 'कापोत', 'राजत' बन जायेगा। उससे विकार अवयव अर्थ में 'अञ्' होकर 'कापोतस्य राजतस्य च विकारः कापोत राजत' यही रूप बनेगा। ''उष्ट्राद्वुञ्''[5] से भी 'उष्ट्र' शब्द से विकारावयव अर्थ में 'वुञ्' होकर 'औष्ट्रक' बन जायेगा। फिर उस विकार प्रत्ययान्त से इस सूत्र द्वारा 'अञ्' होकर 'औष्ट्रक' यही रूप बनेगा। ''उमोर्णयोर्वा''[6] से भी पक्ष में 'उमा' और 'ऊर्णा' शब्द से विकार अवयव अर्थ में 'वुञ्' प्रत्यय होकर 'औमक', 'और्णक' बनता है। उससे फिर विकार अवयव अर्थ में 'अञ्' हो जायेगा तो 'औमक', 'और्णक' यही रूप बनेंगे। 'एण्या ढञ्'[7] से भी 'एणी' शब्द से विकार अवयव अर्थ में 'ढञ्' होकर 'ऐणेय' बनता है। उस 'ऐणेय' में भी विकार अवयव में 'अञ्' हो जायेगा तो 'ऐणेय' यही रूप बनेगा। ''कंसीयपरशव्ययोर्यञञौ लुक् च''[8] से भी 'कंसीय', 'परशव्य' शब्दों से विकार अवयव अर्थ में क्रम से 'छ' और 'यत्' प्रत्यय का लुक् होकर 'यञ्' और 'अञ्' हो जाते हैं तो

---

१ पा० ६ १ १५८।
२ पा० ४ ३ १३९।
३ पा० ४ ३ १४०।
४ पा० ४ ३ १५२।
५ पा० ४ ३ १५५।
६ पा० ४ ३ १५६।
७ पा० ४ ३ १५७।
८ पा० ४ ३ १६६।

'काश्य', 'पारशव' ये रूप बनते है। 'काश' और 'पारशव' शब्दों से भी विकारावयव अर्थ में इस सूत्र से 'अञ्' हो जायेगा तो वही 'काश्य', 'पारशव' ये रूप बन जायेंगे।

सूत्र में 'ञित्' ग्रहण इसलिये किया है कि ञित् प्रत्ययान्तों से अञ् हो। 'बैल्वस्य विकार बैल्वमय' यहां 'बिल्व' शब्द से विकार अवयव अर्थ में "बिल्वादिभ्योऽण्" से 'अण्' प्रत्यय होकर 'बैल्व' बनता है। 'अण्' प्रत्यय के 'ञित्' न होने से उसके विकार में यह सूत्र 'अञ्' नहीं करेगा तो 'बैल्व' शब्द में वृद्ध संज्ञक होने के कारण "नित्यं वृद्धशरादिभ्यः" से 'मयट्' प्रत्यय होकर 'बैल्वमय' बन जाता है। यही इस सूत्र का प्रयोजन है।

उपचार या लक्षणा से सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र का प्रत्याख्यान करने से पूर्व भाष्यवार्तिककार इसका प्रयोजन बताते हुए कहते हैं—

"विकारावयवयोर्विकारावयवयुक्तत्वात् मयट्प्रतिषेधार्थं ञितश्च तत्प्रत्ययादञो विधानम्। एवमर्थमिदमुच्यते।"

अर्थात् विकार का विकार से योग है और अवयव का अवयव से। 'कपोत' का विकार जो मांस है, वह 'कापोत' है। उस मांस का विकार जो रसादिविपाक है, वह भी 'कापोत' है। दोनों 'कापोत' विकार युक्त है। इसी प्रकार 'कपोत' का अवयव जो जाघ है, वह 'कापोत' है। उस जाघ का अवयव जो पूर्वापर भाग है वह भी 'कापोत' है। दोनों 'कापोत' अवयवयुक्त हैं। 'कापोत' शब्द के वृद्धसंज्ञक होने से विकार अर्थ में और अवयव अर्थ में "नित्यं वृद्धशरादिभ्यः" से 'मयट्' प्रत्यय प्राप्त होता है। उसको बाधकर 'अञ्' प्रत्यय करने के लिये यह सूत्र बनाया है जिससे दोनों 'कापोत' शब्दों की एक रूपता हो जाये और स्वर भी दोनों का आद्युदात्त बना रहे, इस प्रकार प्रयोजन बताकर भाष्यवार्तिककार इसका खण्डन करते हैं—

---

१ पा० ४ ३ १३६।
२ पा० ४ ३ १४४।
३ महा० भा० २ सू० ४ ३ १५३, पृ० ३२४।
४. पा० ४.३ १४४।

"न वा दृष्टो ह्यवयवे समुदायशब्दो, विकारे च प्रकृतिशब्दस्तस्मामयड-भाव ।"[1]

अर्थात् यह कोई प्रयोजन नहीं है। अवयव शब्द मे समुदायशब्द का प्रयोग देखा गया है और प्रकृति में विकार शब्द का प्रयोग भी देखा गया है। अवयव में समुदाय का प्रयोग जैसे—एक समुदित पाञ्चाल देश को 'यह पूर्व पञ्चाल हैं', 'यह उत्तर पचाल है', इस प्रकार अवयव रूप मे प्रयुक्त किया जाता है। घी और तेल से मिश्रित पदार्थ खाने पर भी 'हमने घी खाया' या तेल खाया' ऐसा प्रयोग करते हैं। प्रकृति में विकार शब्द का प्रयोग जैसे—'मूग की बनी दाल से चावल खाने पर लोग 'मूग से चावल खा रहे है,' ऐसा प्रयोग करते है। उसी प्रकार यहा 'कपात' के विकार मास मे और उसके अवयव जाघ मे 'कपोत' शब्द का प्रयोग करके या अध्यारोप मे 'कपोत' के विकार और अवयव को भी 'कपोत' मानकर "प्राणिरजतादिभ्योऽञ्"[2] सूत्र मे ही 'अञ्' हो जायेगा तो यह सूत्र अनावश्यक है। यदि यह कहा जाये कि जब विकारान्त मे ही विकार कहने की इच्छा होगी, तब 'कापोत' शब्द मे 'मयट्' प्राप्त होगा, उसकी निवृत्ति के लिये यह सूत्र आवश्यक है तो उसका उत्तर है कि विकारान्त 'कापोत' शब्द मे 'मयट्' करने पर अभिमत अर्थ का अभिधान नहीं होता। अत 'शब्दशक्तिस्वभाव' से 'मयट्' स्वत ही नही होगा। 'कापोतमयम्' कहने पर अभीष्टार्थ की प्रतीति नही होती।

यदि 'मयट्' करने पर यहा अभीष्टार्थ की प्रतीति हो जाती है तो केवल 'कापोतमयम्' ही क्यो, 'बैल्वमयम्' मे भी 'मयट्' करके अभीष्टार्थ की प्रतीति हो जानी चाहिये। 'बैल्वस्य विकार' यहा 'बिल्वादिभ्योऽण्'[3] स 'अण्' प्रत्यय हुआ है। यह ('अण्') 'ञित्' प्रत्यय भी नही है जहा 'मयट्' का बाधक इस सूत्र से 'अञ्' प्रत्यय होता है। इसलिए शब्द प्रयोग मे अभिधान या अनभिधान ही मुख्य कारण है। यदि 'मयट्' करने मे विकार अर्थ का अभिधान हो सकेगा तो 'मयट्' अवश्य होगा। उसे कोई रोक नहीं सकता। जब विकारान्त शब्द से विकार अर्थ मे 'मयट्' मे अर्थ का अभिधान ही नहीं

---

१ महा० भाग २, प्रकृतसूत्र, पृ० ३२४।
२ पा० ४ ३ १५२।
३ पा० ४ ३ १३४।

तो 'मयट्' स्वत ही नही होगा। "अभिधाने ह्यन्यतोऽपि मयट्प्रसङ्ग ।"[1] शब्दो से अर्थ का अभिधान स्वाभाविक माना जाता है।[2] यदि 'मयट्' करने पर अर्थ का अभिधान वस्तुत होता है तो वह अन्य विकारान्त शब्दो से भी प्राप्त होगा, न केवल 'जित्' प्रत्ययान्त विकारो मे ही।

यदि इस सूत्र से 'अञ्' प्रत्यय का विधान न मानकर 'मयट्' का लुक् माना जाये अर्थात् 'जितश्च तत् प्रत्ययान्ताल्लुक्' ऐसा सूत्र न्यास कर लिया जाय तो[3] उसमे अनेक अन्य दोष उपस्थित हो जाते है। यथास्थित न्यास मे भी 'औष्ट्रिका उपानत्' (ऊँट के चमडे की बनी जूती) इस इष्ट रूप के स्थान में 'औष्ट्रकी' यह अनिष्ट रूप प्राप्त होता है। 'उष्ट्रस्य विकार औष्ट्रक' यहा "उष्ट्राद् वुञ्"[4] से 'वुञ्' होता है। 'औष्ट्रकस्य विकार' इस विकारान्त के विकार में इस सूत्र से 'अञ्' प्रत्यय होगा तो स्त्रीलिङ्ग मे 'टाप्' को बाधकर 'अञन्त' होने से "टिड्ढाणञ्"[5] से ङीप् प्राप्त होगा जोकि अनिष्ट है।[6] इसलिए 'मयट्' के बाधनार्थ यह सूत्र अनावश्यक होता हुआ 'औष्ट्रिका' इत्यादि इष्ट रूपो की सिद्धि मे व्याघातक भी है, यह मानना चाहिये।

समीक्षा एव निष्कर्ष

विकार के विकार को भी मूल प्रकृति का विकार मानकर इस सूत्र का प्रत्याख्यान हो सकता है। इस विषय मे भाष्यकारादि सभी सहमत हैं। 'कपोत' का विकार मास और मास का विकार रसादि विपाक सब 'मूल-कपोत' से ही सम्बद्ध हैं। अत उस मूल 'कपोत' शब्द से ही 'प्राणिरजता-

---

१ महा० भा० २, प्रकृत सूत्र, पृ० ३२५।
२ महा० भा० २, सूत्र १२६८, पृ० २८३—'अभिधान पुन स्वाभाविकम्।
३ तुलना करो, पा० ४ ३ १६१ 'फले लुक्'।
४ पा० ४ ३ १५३।
५ पा० ४ १ १५।
६ द्र०—महा० भा० २, प्रकृत सूत्र, पृ० ३२५—'एव हि सौनागा पठन्ति—वुञश्चाप्रकृतप्रसङ्ग। इष्टमेवैतत् सगृहीत भवति—औष्ट्रिका इत्येव भवितव्यम्'—

दिम्योऽञ्"[1] से 'अञ्' प्रत्यय होकर विकार के विकार मे भी 'कापोतम्' यह इष्ट रूप बन जायेगा। "एको गोत्रे"[2] सूत्र के भाष्य मे स्वय भाष्यकार इस सूत्र की प्रत्याख्येयता की ओर निर्देश करते हुए कहते हैं—

"यथा तदेव विकारावयवप्रत्ययात द्वितीय च तृतीय च विकार मकामति एवमिहापि तदेवापत्यप्रत्ययात द्वितीय च तृतीय चापत्य सक्रमिष्यति"।[3]

इसकी व्याख्या मे प्रदीपकार कहते हैं—"ञितश्च तत प्रत्ययात् इति सूत्र प्रत्याख्यायते। यो हि कपोतस्य तदवयवस्य तद्विकारस्य वावयवो विकारो वा सोऽभेदोपचारात् कापोतस्याप्यवयवो विकारश्च भवतीति कापोत एव भविष्यति इति नार्थो मयड्बाधनार्थेन ञितश्च तत्प्रत्ययादित्यनेन सूत्रेण।"[4]

प्रस्तुत सन्दर्भ मे पदमञ्जरीकार तो काशिकावृत्ति के अनुकूल इस सूत्र का समर्थन करते हुए भाष्यवार्तिककार द्वारा इसके प्रत्याख्यान को भी स्वीकार करते है। उनका कथन है—"ञितो यत्नेन मयट सूत्रकारो निवर्तयन् अयतो वष्टि मयटम् इति वृत्तिकृतो मतम्। तेन बैल्वमयम् इति भवति। भाष्यवार्तिककारौ पुनराहतु—तच्चावश्यमनभिधानमाश्रयितव्यम्। अभिधाने ह्ययत्तोऽपि मयट्प्रसङ्ग बैलवस्य विकार इति'।[5]

इनके कहने का तात्पर्य है कि अनभिधान से ही 'कापोतम्' इत्यादि मे 'मयट्' की निवृत्ति हो जायेगी तो उसके लिए इस सूत्र द्वारा 'अञ्' विधान करना मुख्य तात्पर्य का विषय न होकर 'पित्' प्रत्ययात विकारो से भिन्न विकारवाची शब्दो से 'मयट्' अभीष्ट है,' इस अर्थ मे यह सूत्र तात्पयग्राहक है, ऐसा वृत्तिकारो का मत है। उनके मत मे 'बैल्वस्य विकार बैल्वमयम्' यहा 'मयट्' हो जायेगा। भाष्यवार्तिककार तो सर्वत्र विकाराता से विकार मे 'मयट्' को अनभिधान से रोकते हैं। उनके मत मे 'बैल्वमयम्' भी नही बनेगा बैल्व' ही रहेगा। जैसे—'कापोत' यह सवसम्मति से रहता है।

---

१ पा० ४९१५२।

२ पा० ४१९३।

३ महा० भा० २, सू० ४१९९, पृ० २४७।

४ महा० सू० सू० ४१९३, पृ० ५७७।

५ पा० म० सू० ४३१५३।

बृहच्छब्देन्दुशेखरकार भी भाष्यकारोक्त इस सूत्र के प्रत्याख्यान को न्याय्य मानते हैं। वे सूत्र की सत्ता में यह दोष देते हैं कि 'औष्ट्रिका', 'कास्या' यहा 'टाप्' न होकर 'ङीप्' की प्राप्ति होगी। क्योंकि 'उष्ट्रस्य विकार' इस अर्थ में 'उष्ट्र' शब्द से "उष्ट्राद् वुञ्"[1] से 'वुञ्' होकर 'औष्ट्रक' शब्द बनता है। फिर 'औष्ट्रकस्य विकार स्त्री औष्ट्रिका' इस इष्ट रूप के स्थान में इस सूत्र से 'जित् प्रत्ययान्त' 'औष्ट्रक' शब्द से 'अञ्' होकर स्त्रीलिङ्ग में "टिड्ढाणञ्"[2] से 'ङीप्' प्राप्त होगा 'टाप्' न हो सकेगा। क्योंकि 'अजन्त' से 'ङीप्' अनिवार्यत प्राप्त है। इसी प्रकार 'कसीयस्य विकार कास्य' यहाँ 'कसीय' शब्द से विकार अर्थ में "कसीयपरशव्ययोर्यञञौ लुक् च"[3] से 'छ' प्रत्यय का लुक् और 'यञ्' होकर 'कास्य' बनता है। फिर 'कास्यस्य विकार' इस अर्थ में इस सूत्र से 'अञ्' प्रत्यय हो जायेगा तो 'अजन्त' होने से स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' न होकर 'टिड्ढाणञ्'[4] से 'ङीप्' प्राप्त होगा। उसमें 'कास्या स्थाली' यह इष्ट रूप न बन सकेगा।

जहा इस सूत्र की सत्ता में ये दोष है वहा यह लाभ भी है कि 'शम्या विकार शामीलम्' यहा 'शमी' शब्द से "शम्या ष्लञ्"[5] से विकार अर्थ में 'ष्लञ्' प्रत्यय हुआ है। उसमें 'शामीलम्' बना। फिर 'शामीलस्य विकार स्त्री शामीली स्रुक्' यहा इस सूत्र से 'अञ्' प्रत्यय होने के कारण अजन्त हो जायेगा तो अजन्त से विहित "टिड्ढाणञ्" से ङीप् होकर 'शामीली' बन जाता है। 'ङीप्' के 'पित्' होने से यह अनुदात्त है तो 'शामीली' यह आद्युदात्त पद हो जाता है जोकि इष्ट है। यदि यह सूत्र न बनाया जाये तो 'ष्लञ्' के 'षित्' होने से "षिद्गौरादिभ्यश्च"[6] से 'ङीष्' होगा। 'ङीष्' प्रत्यय "आद्युदात्तश्च"[7] से उदात्त है उसमें 'शामीली' यह अन्तोदात्त प्राप्त होगा जो कि अनिष्ट है। भाष्यकारोक्त इस सूत्र के प्रत्याख्यान को देखते हुए

---

१ पा० ४ ३ १५७।
२. पा० ४ १ १५।
३ पा० ४ ३ १६८।
४ पा० ४ १ १५।
५ पा० ४ ३ १४०।
६ पा० ४ १ ४१।
७ पा० ३ १ ३।

"शम्या ष्लञ्" प्रत्यय न मानकर "शम्याष्टलञ्" इस प्रकार 'टलञ्' प्रत्यय मानना चाहिये जैसा कि बहुत से अष्टाध्यायी सूत्रपाठों में भी मिलता है। काशिका में 'टलञ्' पाठ है। 'टलञ्' के 'टित्' होने से "टिड्ढाणञ्" से ङीप् होगा जो 'पित्' होने से अनुदात्त है। इस सूत्र में 'अञ्' होने पर भी 'ङीप्' ही होगा। वहाँ सर्वथा आद्युदात्त 'शामीली' शब्द बना रहेगा जो अभीष्ट है।[1] चान्द्र व्याकरण में भी 'शम्याष्टलञ्' (३ ३ ११६) यह अभिमत सूत्रपाठ ही मिलता है। कौमुदीकार के अभिमत 'ष्लञ्' पाठ में तो 'शामीली' के स्वर में इस सूत्र की सत्ता एवं असत्ता से फलभेद प्राप्त होता है। इस प्रकार संक्षेपतः यह कहा जा सकता है कि सूत्र का प्रत्याख्यान ही ठीक है। क्योंकि 'शामीलस्य विकारः शामीली' इस प्रयोग में जो उक्त दोष दिखाया गया है वह तो "शम्या ष्लञ्" के स्थान पर "शम्या ष्टलञ्" पाठ मानने पर दूर हो जाता है। अन्य प्रयोग अभिधान-अनभिधान रूप ब्रह्मास्त्र से सिद्ध हो जायेंगे। इसीलिए जैनेन्द्र व्याकरण में भी यह सूत्र नहीं मिलता। चन्द्राचार्य आदि ने यह सूत्र रखा है[2] लेकिन वह अनावश्यक गौरव ही लगता है ॥

---

१ द० बृ० श० शे० भा० १, सू० ४ १ १५, पृ० ७३६-७३७। "ननूष्ट्-स्यावयवो विकारो वा औष्ट्रक चर्मादि। उष्ट्राद् वुञिति वुञ्। कसीयस्य विकार कांस्यम्। कसीयपरशव्ययोरिति यञ्। तयोर्विकारे 'जितश्च तत्प्रत्ययादिति अञि औष्ट्रिका उपानत्। कांस्या स्थालीत्यादौ ङीप् प्राप्नोति। न चेष्टापत्ति। पूर्वे पञ्चाला, पटो दग्ध इत्यादौ समुदाय-वाचकानामवयवे दर्शनेन उष्ट्रकसीयशब्दयोरेव औष्ट्रक कांस्यार्थे वृत्तिमाश्रित्य—मुख्यार्थकौष्ट्रकादेश्च मयडादीनामनभिधानमाश्रित्य, जित-श्च तत्प्रत्ययादित्येतत्प्रत्याख्यानपरभाष्यविरोधात्। न हि भाष्यमते ङीप् प्राप्नोतीतिचेत् न, अजादिषु पाठेन दोषाभावात्। न च शामीलशब्दादजि ङीपि आद्युदात्त पदम्। अभेदविवक्षायां तु शमीशब्दादेव तदर्थे ष्लञि, षित्वात् ङीष्यन्तोदात्त स्यात् इति वाच्यम्। भाष्यप्रामाण्यात् टलञ् टिदेव प्रत्यय इति दोषाभावादित्याहु'।

२ चा० सू० ३ ३ १२७ न द्वि।
शा० सू० २ ४ १६८—नानोऽफलद्वयात्।
स० सू० ४ ४ ४४ न द्विरद्वय गोमयफलेभ्य।
है० सू० ६ २ ६१ न द्विरद्वयगोमयफलात्।

फले लुक् ॥ ४ ३ १६१ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र विकारावयवार्थक तद्धित प्रकरण का है। इसका अर्थ है कि विकार और अवयव अर्थ में उत्पन्न तद्धित प्रत्यय का 'फल' की विवक्षा में 'लुक्' हो जाता है। क्योंकि 'फल' भी वृक्ष का विकार या अवयव विशेष है। अतः उसमें "अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः"[1] से प्राप्त 'प्राग्दीव्यतीय अणादि' प्रत्यय का 'लुक्' इष्ट है। जैसे—'आमलक्याः फलम् आमलकम्'। 'बदर्याः फलं बदरम्'। 'कुवल्याः फलं कुवलम्' यहाँ 'आमलकी' तो वृद्धसंज्ञक है। उसमें "नित्यं वृद्धशरादिभ्यः"[2] से 'मयट्' प्रत्यय होता है। 'फल' की विवक्षा में इस सूत्र से उसका 'लुक्' हो जाता है तो "लुक् तद्धितलुकि"[3] से 'आमलकी' के स्त्री प्रत्यय का भी 'लुक्' होकर 'आमलकम्' बन जाता है। "विवलुगुण्धात्वचङ्पर निर्ह्रासकुत्वेषूपसंख्यानम्"[4] से स्त्री प्रत्यय के 'लुक्' में स्थानिवद्भाव का निषेध होने से "यस्येति च"[5] से 'आमलक' के अकार का लोप नहीं होगा। 'कुवली', 'बदरी' शब्द गौरादिगण में पठित हैं। अतः उनमें 'ङीष्' प्रत्यय उदात्त है। शेषनिघात होकर 'कुवली', 'बदरी' दोनों अनुदात्तादि शब्द बन जाते हैं। उनसे विकारावयव अर्थ में "अनुदात्तादेश्च"[6] से 'अञ्' प्रत्यय होता है। उसका इस सूत्र से 'लुक्' होकर "लुक् तद्धितलुकि"[7] स्त्री प्रत्यय का भी 'लुक्' हो जाता है तो 'कुवलम्', 'बदरम्' बन जाते हैं।

प्रकृत्यन्तर से सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए भाष्यवार्तिककार कहते हैं—
"फले लुग्वचनानर्थक्यं प्रकृत्यन्तरत्वात्"[8]

---

१ पा० ४ ३ १३३।
२ पा० ४ ३ १४२।
३ पा० १ २ ४६।
४ पा० १ १ ५८ पर वार्तिक महा० भा० १, पृ० १५३।
५ पा० ६ ४ १४८।
६ पा० ४ ३ १३८।
७ पा० १ २ ४६।
८ महा० भा० २, सू० ४ ३ १६१, पृ० ३२७।

अर्थात् "फलेलुक्" इस सूत्र के बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है। 'आमलक' और 'आमलकी' ये दोनों अलग-अलग प्रकृति हैं। 'आमलकी' आंवले वृक्ष का नाम है। 'आमलक' आंवले के फल का नाम है। 'आमलकी' के विकार को 'आमलक' नहीं कहते अपितु 'आंवले फल' का वाचक 'आमलक' शब्द स्वतन्त्र है। उसका 'आमलकी' से सम्बन्ध नहीं है। दोनों जाति शब्द हैं। एक वृक्षजाति का वाचक है, दूसरा फलजाति का। इसलिए 'आमलक्या: फलम्' इस विग्रह में 'आमलकी' शब्द से तद्धित प्रत्यय ही उत्पन्न नहीं होता तो 'लुग्विधान' अनर्थक है। आगे कहा गया है—"एकान्तदर्शनात् प्रसङ्ग इति चेत् वृक्षे लुग्वचनम्"[1] अर्थात् यदि यह कहा जाये कि 'आमलक' फल 'आमलकी' वृक्ष से नित्य सम्बद्ध है, उसका एकान्तभूत एव अवयवरूप है, तो यह भी बात नहीं। तब तो फल के समान वृक्ष भी फल से नित्य सम्बद्ध है। इसलिए 'आमलकस्य फलस्य इयम् आमलकी वृक्ष' इस प्रकार अवयवावयवी सम्बन्ध में "तस्येदम्"[2] से प्राप्त 'शैषिक अण्' का भी 'लुग्' विधान करना चाहिये। किन्तु 'आमलकी' शब्द से कोई यह नहीं समझना कि यह 'आमलक' से सम्बन्ध रखती है इसलिये 'आमलकी' कहलाती है। वृक्षवाचक 'आमलकी' शब्द स्वतन्त्र रूप से पृथक् प्रयुक्त होता है। उसी प्रकार 'आमलक' भी समझना चाहिये। 'आंवले फल' का वाचक 'आमलक' शब्द स्वतन्त्र रूप से पृथक् प्रयुक्त होता है। 'आमलकी' के विकार से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार 'आमलक' शब्द यौगिक न होकर फल के अर्थ में रूढ है। 'आमलकी' शब्द वृक्ष के अर्थ में रूढ है। 'कुवलम्', 'बदरम्' में भी यही बात है। 'कुवली', 'बदरी' के विकार अर्थ में 'कुवलम्', 'बदरम्' नहीं बनते अपितु बेरी वृक्ष या झाड़ी के वृक्ष का वाचक 'कुवली', 'बदरी' शब्द अलग हैं और बेर फल के वाचक अलग हैं। दोनों में प्रकृति प्रत्यय के सम्बन्ध का सर्वथा अभाव है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

भाष्यवार्तिककार द्वारा इस सूत्र का खण्डन न्यायोचित ही है। वृक्ष और फल दोनों अपने-अपने अर्थ में स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त होते हैं। उनमें परस्पर

---

१ महा० भा० २, सू० ४ ३ १६१, पृ० ३२७।

२ पा० ४ ३ १२०।

अवयवावयवीभाव या विकारावयव की कल्पना करके प्रत्यय विधान करना और फिर उस प्रत्यय का 'लुग्विधान' करना, ये दोनों ही गौरवग्रस्त है। 'आम्र भक्षय' कहने से आम्रफल का बोध स्वयं होता है तथा 'आम्रस्तिष्ठति' से आम्रवृक्ष का। 'आम्रमयम्' कहने से वृक्ष और फल दोनो का ही विकार समझा जाता है। इसलिए प्रकृत्यन्तर ही मानना युक्तियुक्त है। इसीलिए आचार्य चन्द्र ने यह सूत्र नहीं बनाया। ये भी इसके प्रत्याख्यान में सहमत है। लेकिन देवनन्दी आदि व्याकरणकार इस सूत्र को रखने में ही रुचि रखते हैं[1] जोकि अनावश्यक गौरवापत्ति की दृष्टि से ज्यादा महत्त्वपूर्ण नही है।

चूर्णादिनिः ॥ ४४२३ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र प्राग्वहतीय 'ठक्' प्रत्यय के अधिकार में आता है। इसका अर्थ है कि 'चूर्ण' शब्द से 'संसृष्ट' अर्थ में 'इनि' प्रत्यय होता है। 'चूर्णेन संसृष्टा चूर्णिन अपूपा' (चूर्ण से मिले हुए पूड़े)। यहाँ 'चूर्ण' शब्द से 'इनि' प्रत्यय होकर "यस्येति च"[2] से 'चूर्ण' के अकारलोप द्वारा 'चूर्णी' रूप बनता है। उसके प्रथमा बहुवचन में 'चूर्णिन' यह बन जाता है। "प्राग् वहतेष्ठक्"[3] से प्राप्त 'ठक्' प्रत्यय का यह बाधक सूत्र है।

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र पर वार्तिककार सर्वथा मौन है। केवल भाष्यकार ही इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते है—"अयोग शक्योऽवक्तुम्। कथम् चूर्णी, चूर्णिनौ, चूर्णिन इति। इनि नैतन्मत्वर्थीयेन सिद्धम्"।[4]

१ जै० सू० ३ ३ १२१—'उप्फले।'
शा० सू० २ ४ ७०—'फले।'
म० सू० ४ ४ ३३—'फले लक्।'
है० सू० ६ २ ५८—'फले।'

२ पा० ६ ४ १४८।

३ पा० ४ ४ १।

४ महा० भा० २, सू० ४ ४ २३, पृ० ३३०।

अर्थात् यह सूत्र बनाना व्यर्थ है। 'चूर्णी', 'चूर्णिनौ', 'चूर्णिन' यहाँ 'चूर्ण' शब्द से मत्वर्थीय 'इनि' प्रत्यय होकर ये रूप सिद्ध हो सकते हैं तो इस सूत्र से अलग 'इनि' प्रत्ययविधान की क्या आवश्यकता है। "तदस्यवास्त्यस्मिन्निति मतुप्"[1] इस 'मतुप्' प्रत्ययविधायक सूत्र के अधिकार में "अत इनिठनौ"[2] से मत्वर्थीय 'इनि' प्रत्यय होता है। 'चूर्ण विद्यते अस्मिन् से चूर्णी' (जिसमें चूर्ण या आटा विद्यमान है वह चूर्णी कहाता है)। इस सूत्र से 'ससृष्ट' अर्थ में विहित 'इनि' में भी वही बात है।

"भूमनिन्दाप्रशसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
ससर्गेऽति विवक्षाया भवति मतुबादय ॥"[3]

इस भाष्यकारिका से 'मत्वर्थीय प्रत्यय' 'भूमादि' अर्थों में विहित होते हैं। उनमे 'ससर्ग- अर्थ भी है। 'मसृष्ट' का अर्थ भी 'ससर्गयुक्त' है अत मत्वर्थीय 'इनि' मे पूर्णतया इष्टसिद्धि हो जाने पर यह सूत्र अनावश्यक है। भाष्यकार-वचन से 'चूर्णी' मे मत्वर्थीय 'ठन्' की और प्राग्वहतीय 'ठक्' की अनभिधान से निवृत्ति मान ली जायेगी या शब्द शक्तिस्वभाव से स्वत हो जायेगी।

समीक्षा एव निष्कर्ष

"पाण्डुकम्बलादिनि", "अनुब्राह्मणादिनि"[4] इत्यादि अन्य 'इनि' प्रत्ययो के समान इस 'इनि' प्रत्यय का भी भाष्यकार ने मत्वर्थीय 'इनि' से गतार्थ होने के कारण प्रत्याख्यान कर दिया है। प्राग्वहतीय 'ठक्' की निवृत्ति तो अनभिधान से हो जायेगी। प्रदीपकार का मत है—"ठक् तु समृष्टे इत्यनेन अनभिधानान्न भविष्यति इति भाव"[5] अर्थात इस सूत्र के अभाव मे "समृष्टे"[6] से प्राप्त 'ठक्' प्रत्यय 'चूर्ण' शब्द से अनभिधान के कारण नहीं होगा। 'अभिधानलक्षणा कृत्तद्धितसमासा" यह भाष्यकार का वचन तद्धित प्रत्ययो

---

१ पा० ५ २ ९४।
२ पा० ५ २ ११५।
३ महा० भा० २, सू० ५ २ ९४, पृ० ३९३।
४ पा० ४ २ ११, ६२।
५ महा० प्र०, भा० ३, सू० ४ ४ २६, पृ० ७४५।
६ महा०, भा० २, सू० ३, ३, १९

मे विशेष रूप से स्मरणीय है। यदि 'चूर्ण' शब्द से 'संसृष्ट' अर्थ मे 'ठक्' प्रत्यय करने से अभिमत अर्थ का अभिधान नही होता तो 'ठक्' प्रत्यय करके क्या किया जायेगा। 'किस प्रत्यय से किस अर्थ का अभिधान या अनभिधान होता है', यह तो अभियुक्ततर भाष्यकार के वचनो से ही जाना जा सकता है। पदमजरीकार हरदत्त तो काशिकावृत्ति के अनुकूल इस सूत्र का समर्थन करते हुए कहते है—'अनभिधान तु दुर्ज्ञानम् ससग विवक्षाया ठक् प्राप्नोति इति।'[1]

जैसे 'ठक्' प्रत्यय की अनभिधान से निवृत्ति मानी जायेगी वैसे मत्वर्थीय 'ठन्' प्रत्यय की भी निवृत्ति अनभिधान से ही समझ ली जायेगी। इसलिए भाष्यकारोक्त प्रत्याख्यान को प्रामाणिक मानते हुए इस सूत्र का प्रत्याख्यान समुचित ही है। वैसे बृहच्छब्देन्दुशेखरकार भी हरदत्त के समान 'ठन्' की निवृत्ति के लिए इस सूत्र का उपयोग मानते है।[2] अत उनकी दृष्टि मे उक्त सूत्र प्रत्याख्येय नही है। इसी प्रकार आचार्य चन्द्रगोमी आदि अर्वाचीन वैयाकरणो ने भी उक्त सूत्र को अपने व्याकरण मे रखा है।[3] ऐसी स्थिति मे इनके द्वारा समान रचना तथा समान कार्य वाले "पाण्डुकम्बलादिनि"[4] तथा "अनुब्राह्मणादिनि"[5] सूत्रो को न रख करके भी केवल 'चूर्णादिनि' इस सूत्र को रखना चिन्त्य प्रयोजन ही है क्योकि अयाचित गौरव भी व्याकरण मे दोषावह ही माना जाता है।।

---

१ प० म०, सू० ४ ४ २३।

२ बृ० श० शे० भा० २, प्रकृत सूत्र, पृ० १३७६—'मत्वर्थीयेन इनिना सिद्धे ठन् बाधनार्थमिदम्।'

३ चा० सू० ३ ४ २३—चूर्णादिनि।
जै० सू० ३ ३ १४७—'चूर्णादिन् वक्तव्य (वार्तिक)।'
शा० सू० ३ २ २३—'चूर्णलवणमुद्गादिनाण्।'
स० सू० ४,४ ६५—'चूर्णादिनि।'
है० सू० ६ ४ ७—'चूर्णमुद्गाभ्यामिनणौ।'
- यहा शाकटायन और हैम व्याकरण मे पाणिनि के तीन सूत्रो 'चूर्णादिनि', 'लवणाल्लुक्' तथा 'मुद्गादण्' को एक ही सूत्र बना दिया गया है।

४ पा० ४ २ ११।

५ पा० ४ २-२।

लवणाल्लुक् ॥४ ४ २४॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र प्राग्वहतीय तद्धित प्रकरण का है। इसका अर्थ है कि 'लवण' शब्द से 'संसृष्ट' अर्थ में विहित प्राग्वहतीय 'ठक्' प्रत्यय का 'लुक्' होता है। यहाँ 'लवण' शब्द द्रव्यवाची है। 'लवण' का अर्थ 'नमक' है। एक 'लवण' शब्द नमकीन रस का भी वाचक है जो कि कटु, अम्ल, लवण, तिक्त, कषाय तथा मधुर इन छै रसो में परिगणित है। यह सूत्र नमकवाची 'लवण' शब्द से विहित 'ठक्' प्रत्यय का 'लुक्' करता है। जैसे—'लवणेन द्रव्येण संसृष्ट सूप लवण सूप'। 'लवण शाकम्'। 'लवणेन संसृष्टा यवागू लवणा यवागू' (नमक से मिली हुई दाल आदि)। यहा 'लवण' शब्द से संसृष्ट' अर्थ मे विहित प्राग्वहतीय ठक् प्रत्यय[1] का 'लुक्' हो गया तो केवल 'लवण' शब्द रह गया। वह विशेषण होने से तीनो लिङ्गो मे प्रयुक्त हो जायेगा तो 'लवण', 'लवणा', 'लवणम्' ये रूप बन जाते हैं।

अर्थभेद द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

भाष्यवार्तिककार इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—

'लवणाल्लुग्वचनानर्थक्य रसवाचित्वात्। रस वाच्येष लवणशब्द। नैष संसृष्टिनिमित्त। आतश्च रसवाची। असंसृष्टे च दर्शनात। असंसृष्टेऽपि हि लवणशब्दो दृश्यते—लवण क्षीरम्। लवण पानीयम् इति। संसृष्टे चादर्शनात्। संसृष्टेऽपि च यदा नोपलभ्यते तदाह—अलवण सूप। अलवणा यवागू। अलवण शाकम् इति'[2]।

इसका तात्पर्य यह है कि 'लवण' शब्द के दो अर्थ हैं। एक नमक, दूसरा नमकीन रस जो कि मधुरादि रसो मे परिगणित होता है। जब रसवाची 'लवण' शब्द का ग्रहण किया जायेगा तो 'अम्ल दधि', 'मधुर गुड' इत्यादि की तरह गुण और गुणी में अभेदोपचार होकर 'लवण सूप', 'लवणा यवागू' (नमकीन दाल, नमकीन खिचड़ी) यहाँ 'लवण' शब्द सूप आदि का वाचक हो जायेगा तो 'ठक्' प्रत्यय की प्राप्ति के अभाव में उसका 'लुक्' करने की आवश्यकता ही नहीं होगी। अत यह सूत्र अनर्थक है। 'लवण सूप' में

---

१ पा० ४४१।

२ महा० भा० २, सू० ४४२४, पृ० ३३०-३३१।

'लवण' शब्द का अर्थ नमक द्रव्य नहीं, अपितु नमकीन रस है। उस रस से युक्त सूप को 'लवण सूप' शब्द से कहा जाता है। 'लवणद्रव्य से समृष्ट' यह अर्थ यहाँ विवक्षित नहीं है, बल्कि 'नमकीन रस वाला 'सूप' ही विवक्षित है। 'लवण' शब्द का 'नमकीन रस' यह अर्थ इसलिये भी मानना चाहिये कि जहाँ 'लवण' द्रव्य नहीं मिलाया गया है वहाँ भी लवण' शब्द का प्रयोग दीखता है। जैसे - 'लवण क्षीरम्' । 'लवण पानीयम्' (यह पानी या दूध नमकीन है)। इसके साथ जहाँ 'लवण' द्रव्य मिलाया गया है और वह उपलब्ध नहीं हो तो वहाँ कहते हैं—'अलवण सूप'। 'अलवणा यवागू' (इस दाल या खिचड़ी में नमक नहीं है)। इसलिये जब असंसृष्ट में भी 'लवण' शब्द का 'नमकीन रस' यह अर्थ दीखता है और संसृष्ट में भी उपलब्ध न होने पर नहीं दीखता तो मानना पड़ेगा कि 'लवण' शब्द यहाँ 'नमकीन रस' का वाचक होने से 'शुक्ल पट' की तरह उसका 'सूप' आदि के साथ अभेदोपचार से प्रयोग सिद्ध हो जायेगा तो यह सूत्र अनर्थक है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

शुक्ल, मधुर आदि गुणवाचक शब्द गुण के साथ उपचार से गुणी के वाचक भी जब लोक तथा शास्त्र के व्यवहार में प्रसिद्ध हैं तो 'लवण' शब्द के गुणवाचक मान लेने पर वह भी गुणी का वाचक स्वतः सिद्ध हो जायेगा। अतः इस सूत्र का प्रत्याख्यान न्याय्य ही है। पूज्यपाद देवनन्दी द्वारा इस सूत्र के प्रत्याख्यान का मूलाधार भी यही है। इसी आधार पर "गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्ट"[1] यह 'मतुप्' का 'लुग्विधायक' वार्तिक भी प्रत्याख्येय हो जाता है। 'शुक्ल पट', 'मधुर गुड', 'लवण सूप' ये प्रयोग गुण गुणी में अभेद मानकर बन जायेंगे। 'लावणिक' इस 'ठक् प्रत्ययान्त' प्रयोग का तो भाष्यकारकृत सूत्र के प्रत्याख्यान से अनभिधान ही मानना पड़ेगा। वैसे बृहच्छब्देन्दुशेखरकार तो 'लावणिक' की निवृत्ति के लिये इस सूत्र का उपयोग मानते हैं[2]। अतः इनकी दृष्टि में प्रकृत सूत्र प्रत्याख्येय नहीं है। इसी प्रकार भाष्यानुसारी चान्द्र आदि व्याकरणों में भी यह सूत्र इसी रूप में सत्ता

१ महा० भा० २, सू० ५ २ ६४ पर वार्तिक, पृ० ३६४।
२ द्र०, बृ० श० शे० भा० २, प्रकृत सूत्र, पृ० १३७६—"लवणरसवदर्थेनैव 'लवण' समुद्र' इतिवत् सिद्धे लावणिकनिवृत्यर्थंवचनम्"।

धारण किये हुए हैं[1]। भाष्यकार द्वारा प्रस्तावित संशोधनों को मानने पर भी प्रकृत सूत्र का इनके वहाँ होना विशेष विचार का विषय है। विशेषत उस *स्थिति में जबकि वहाँ इसकी स्थापना में कोई विशेष युक्ति भी नहीं दी गई* है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में आचार्य शाकटायन तथा हेमचन्द्र ने 'लवण' शब्द से 'ठक्' प्रत्यय का 'लुक्' न मानकर उसमें 'अ' प्रत्यय का विधान माना है। बात तो यही है कि 'लवण' शब्द बनाना है। वह चाहे 'ठक्' प्रत्यय का 'लुक्' करके बनाया जाये अथवा 'अ' प्रत्यय का सनियोग करके सिद्ध किया जाये। हर हालत में सूत्र बनाना निष्प्रयोजक ही है। क्योंकि गुण और गुणी के अभेदोपचार से इष्ट सिद्ध हो जायेगा। 'लवण' शब्द का अर्थ यहाँ 'नमकीन रस रूप' गुण है। अत प्रत्याख्यान ही ठीक है॥

कम्बलाच्च सज्ञायाम्॥ ५ १ ३॥

सूत्र की सप्रयोजना स्थापना

यह सूत्र प्राक्क्रीतीय तद्धित प्रकरण का है। इसका अर्थ है कि 'कम्बल' शब्द से 'प्राक्क्रीतीय' "तस्मै हितम्"[2] इत्यादि अर्थों में 'यत्' प्रत्यय होता है, सज्ञा विषय में। "प्राक् क्रीताच्छ"[3] से 'तेन क्रीतम्'[4] इस सूत्र मे कहे हुए, 'क्रीत' अर्थ से पूर्व तक केवल तीन ही अर्थ आते हैं तद्यथा --"तस्मै हितम्", "तदर्थं विकृते प्रकृतौ", 'तदस्य तदस्मिन् स्यादिति'[5]। इन तीनो अर्थों में यथासभव 'कम्बल' शब्द से 'यत' प्रत्यय हो जायेगा। जैसे—'कम्बलाय हित कम्बल्यम् ऊर्णापलशतम्'। कम्बल के लिये हित एव उपयोगी सौ पल ऊन 'कम्बल्य' कहाती है। ऊनी शाल का नाम है जिसमे इतने परिमाण की ऊन लगती है। कम्बल्य' मे 'कम्बल' शब्द से 'यत्' प्रत्यय होकर 'यस्येति च'[6] से

---

१ चा० सू० ३ ४ २८ लवणाल्लुक्
शा० सू० ३ २ २३—चूर्ण लवण मुद्गादिनण्।
स० सू० ४ ४ ७६—लवणाल्लुक्।
है० सू० ६ ४ ६ लवणाद।
२ पा० ५ १ ५।
३ पा० ५ १ १।
४ पा० ५ १ ३६।
५ पा० ५ १ ५, १२, १६
६ पा० ६ ४ १४८।

अकारलोप हो जायेगा तो 'कम्बल्य' बन जायेगा। 'यत्' प्रत्यय के तित्' होने से तित् स्वरितम्[1] से स्वरित होकर 'कम्बल्य' शब्द अन्तस्वरित बन जाता है।

निपातन द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र पर वार्तिककार सर्वथा मौन हैं। केवल भाष्यकार ही इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—

अथ योग शक्योऽवक्तुम्। कथम्—कम्बल्यमशीतिशतमिति। निपातनादेतत सिद्धम्। किं निपातनम्। अपरिमाणबिस्ताचित कम्बल्येभ्यो न तद्धित लुकि इति। इद तर्हि प्रयोजनम्—सञ्ज्ञायामिति वक्ष्यामि इति। इह मा भूत् —कम्बलीया ऊर्णा। एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। परिमाणपर्युदासेन पर्युदासे प्राप्ते तत्र कम्बल्यग्रहण क्रियते परिमाणार्थम्। परिमाण च सञ्ज्ञैव[2]।

भाव यह है कि 'कम्बल्य' शब्द की सिद्धि के लिये इस सूत्र की आवश्यकता नहीं है। 'कम्बल्य' शब्द तो निपातन से ही सिद्ध है। "अपरिमाण बिस्ताचितकम्बल्येभ्य"[3] इस सूत्र में "कम्बल्य" शब्द का जो ग्रहण किया है, वह उस निपातन से ही सिद्धि हुआ समझा जायेगा। यदि यह कहा जाये कि सञ्ज्ञाविषय में ही इस सूत्र से यत्' प्रत्यय अभीष्ट है। जो ऊनी शालविशेष है, उसे ही 'कम्बल्य' कहते हैं। 'सामान्य कम्बल के लिए हित ऊन में तो कम्बलीया ऊर्णा' ही बनेगा। वहाँ 'प्राक्क्रीतीय 'छ' प्रत्यय ही होगा। 'यत्' प्रत्यय नहीं होगा, तो इसका उत्तर है कि ,'अपरिमाणविस्ताचित०" सूत्र में जो 'कम्बल्य' शब्द निपातित है, वह भी सञ्ज्ञा में ही निपातित है और अन्तस्वरित पढ़ा गया है। क्योंकि उस सूत्र में 'अपरिमाण' से पृथक् 'बिस्त', 'आचित' तथा 'कम्बल्य' इन तीन शब्दों का ग्रहण किया गया है। उससे मालूम होता है कि 'बिस्त' आदि तीनों शब्द परिमाण वाचक हैं। वहाँ परिमाणवाचक शब्द से भिन्न शब्दों का ग्रहण अभीष्ट है, इसीलिए वहां 'अपरिमाण' ग्रहण किया है जिससे 'पञ्चभिरश्वैः क्रीता पञ्चाश्वा' यहाँ 'पञ्चाश्व' शब्द के अपरिमाणवाचक होने से 'ङीप्' का निषेध हो जाता है। यदि

---

१ पा० ६ १ १८१।

२ महा० भा० २, सू० ५ १ ३, पृ० ३३८।

३ पा० ४ १ २२।

'कम्बल्य' शब्द परिमाणवाचक से भिन्न होता तो 'अपरिमाण' ग्रहण से ही 'ङीप्निषेध' सिद्ध होकर 'द्विकम्बल्या' (द्वाभ्या कम्बल्याभ्या क्रीता) यह रूप बन जाता । कि तु आचार्य समझते हैं कि 'कम्बल्य' परिमाणवाची शब्द हैं । उसका 'अपरिमाण' ग्रहण से ग्रहण नही हो सकेगा अत पृथक् ग्रहण करते हैं । परिमाण एक सज्ञा विशेष ही है । इस प्रकार उक्त निपातन से ही अभीष्ट रूपसिद्धि हो जाने पर यह सूत्र व्यर्थ है ।

समीक्षा एव निष्कर्ष

'कम्बल्य' शब्द को सज्ञा विशेष मे रूढ मानकर भाष्यकार ने निपातन के आधार पर इस सूत्र का खण्डन कर दिया है । 'कम्बल्य' कितने ऊन का परिमाण है, यह नही कहा जा सकता । भाष्यकार तो 'अशीतिशत कम्बल्यम्'[1] ऐसा कहते हैं । काशिका आदि वृत्तिकार 'ऊर्णापलशत कम्बल्यम्'[2] कहते हैं । कुछ भी हो, यह शब्द है परिमाण विशेष का वाचक ही, जो सज्ञारूप मे 'विस्त', 'आचित' शब्दो की तरह रूढ है । निपातन मे सिद्ध होने पर प्रत्याख्यान भी ठीक हो सकता है जैसा कि कैयट आदि ने स्वीकार किया है । किन्तु पदमजरीकार कहते हैं—"निपातनेन हि परिमाणे कम्बल्य शब्द साधुरित्येतावदवगम्यते, न तु यदन्तोऽयम् इति । ततश्चान्तस्वरितत्व न स्यात् । अथ निपातने एव अन्तस्वरितत्व पठ्यते तत्र व्याख्यान शरणम् । व्याख्यानाच्च लघु सूत्रमिति ।"[3] इसी प्रसङ्ग मे न्यासकार भी लिखते हैं—"गवादिष्वेव कम्बलाच्च सज्ञायाम् इति कस्मान्न पठति । तत्र पाठे न कश्चिद् गुरुलाघवकृतो विशेष इति यत् किंचिदेतत् ।"[4]

इस प्रकार न्यास और पदमजरीकार के मत में इस सूत्र के बनाने में ही लाघव है । इसलिये यह सूत्र रहना ही चाहिये । भट्टोजिदीक्षित आदि ने भी इस सूत्र का स्पष्ट रूप से खण्डन नही किया है । सभवत इसीलिये शाकटायन और हैम व्याकरण में इस सूत्र को रखा गया है ।[5] क्योंकि प्रकृत सूत्र के बिना

---

१ महा० भा० २, प्रकृत सूत्र, पृ० ३३८ ।
२ का० भा० ४, सू०, पृ० १० ।
३ प० म०, मू ५ १ ३ ।
४ न्यास, प्रकृत सूत्र ।
५ शा० सू० ३ २ २१२—'कम्बलान्नाम्नि' ।
हे० सू० ७ १ ३४—'कम्बलान्नाम्नि' ।

सन्देह का पैदा होना और उसकी निवृत्ति के लिए व्याख्यान का आश्रयण करना ये दोनों ही आवश्यक हो जाते हैं। इससे गौरव स्पष्ट ही है। जबकि व्याकरण का लक्ष्य है—लध्वर्थंचाध्येयं व्याकरणम्। असन्देहार्थंचाध्येयं व्याकरणम्।[1] अतः कुल मिलाकर सूत्र का रहना ज्यायान् है। "सुवर्णबिस्तौ हेम्नोऽक्षे। आचितो दशभारा स्युः"[2] इनकी तरह 'कम्बलमूर्णापलशतम्' यह भी कोश का वचन प्रतीत होता है॥

न नञ्पूर्वात् तत्पुरुषादचतुरसंगत लवणवटयुधकतरसलसेभ्यः॥५ । १ । १२१॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र भावकर्मार्थक तद्धित प्रकरण का है। इसका अर्थ है कि 'नञ्-पूर्वक' तत्पुरुष समास से परे 'त्व', तल्' से भिन्न अन्य आगे आने वाले यक्', 'अण्', 'वुञ्'[3] आदि भावकर्मार्थक तद्धित प्रत्यय नहीं होते, 'चतुर', 'संगत', 'लवण', 'वट', 'युध', 'कत', 'रस', 'लस' शब्दों को छोड़कर। जैसे—'अपति-त्वम्।' 'अपतिता।' 'अपटुत्वम्।' 'अपटुता।' 'अरमणीयत्वम्।' 'अरमणीयता' इत्यादि। 'न पति अपति' यहां 'नञ्तत्पुरुषसमास' है। तस्य भाव' अर्थ में "पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्"[4] से 'यक्' प्राप्त होता है। उसका यह सूत्र निषेध कर देगा तो सामान्यविहित त्व', तल्'[5] प्रत्यय होकर 'अपतित्वम्', 'अपतिता' रूप बन जाते हैं। 'न पटु अपटु' यहां 'नञ्' तत्पुरुष समास है। तस्य भाव' अर्थ में "इगन्ताच्च लघुपूर्वात्"[6] से 'अण्' प्रत्यय प्राप्त होता है। उसका यह सूत्र निषेध कर देगा तो सामान्य विहित 'त्व', 'तल्' होकर

---

१ महा० भा० १, पस्पशा, पृ० १।

२ अमरकोष, २ ६,८६। मोनियर विलियम कोश में भी 'कम्बल्य' को 'ऊर्णापलशत' के परिमाण वाला माना गया है। डा० अग्रवाल भी 'कम्बल्य' को 'ऊर्णापलशत' के परिमाण वाला ही इष्ट मानते हैं (देखें —पाणिनि कालीन भारतवर्ष, पृ० १३५)।

३ पा० ५ १ १२८, १३०, १३१, १३२।

४ पा० ५ १ १२८।

५ पा० ५ १ ११९।

६ पा० ५ १ १३१।

'अपटुत्वम्', 'अपटुता' रूप बन जाते हैं। 'न रमणीयम् अरमणीयम्' यहा 'नञ्' तत्पुरुष समास है। 'तस्यभाव' अर्थ में "योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्' प्राप्त होता है। उसका यह सूत्र निषेध कर देगा तो सामान्य विहित 'त्व', 'तल्' होकर 'अरमणीयत्वम्', 'अरमणीयता' ये रूप बन जाते हैं। 'चतुर' आदि शब्दों के 'नञ्' समास में उत्तरभावकर्मार्थक प्रत्ययों का यह सूत्र निषेध नहीं करेगा तो वहा 'न चतुर अचतुर तस्य भाव आचतुर्यम्' यहा "गुणवचन ब्राह्मणादिभ्य कर्मणि च"[२] से 'ष्यञ्' प्रत्यय होकर आदि वृद्धि द्वारा 'आचतुर्यम्' यह रूप बन जाता है। इसी प्रकार असगतस्य भाव आसगत्यम्।' 'अलवणस्य भाव आलवण्यम्'। 'अवटस्य भाव आवट्यम्'। 'अयुधस्य भाव आयुध्यम्।' 'अकतस्य भाव आकत्यम्। 'अरसस्य भाव आरसम्यम्'। 'अलसस्यभाव आलस्यम्' ये रूप भी बन जाते हैं।

सूत्र में 'नञ्पूर्व' ग्रहण इसलिये किया है कि 'बृहस्पते भवि बार्हस्पत्यम्।' 'सेनापतेर्भाव सैनापत्यम्' यहा 'बृहस्पति', सेनापति' इन तत्पुरुष समासो से परे "पत्यन्त पुरोहितादिभ्यो यक्"[३] से प्राप्त भावकर्मार्थक 'यक्' प्रत्यय का निषेध न हो सके। तत्पुरुष' ग्रहण इसलिये किया गया है कि 'नाऽस्य पटव सन्ति सोऽयमपटु। तस्य भाव आपटवम्' यहा बहुव्रीहि समास में "इगन्ताच्च लघुपूर्वात्"[४] से प्राप्त 'अण्' प्रत्यय का निषेध न हो।

ज्ञापक द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

भाष्यकार या वार्तिककार ने इस सूत्र का प्रत्याख्यान अय योग शक्योऽवक्तुम् कह कर तो नहीं किया है तथापि सूत्र के व्याख्यान से यह सिद्ध कर दिया है कि यह प्रत्याख्यान के योग्य ही है। इस दृष्टि से यह अस्पष्टलिङ्ग प्रत्याख्यान है। प्रथम तावत् सूत्र का प्रयोजन जानने के लिये भाष्यकार पूछते हैं—

'कस्याय प्रतिषेध। त्वतलोरित्याह। नैतदस्ति प्रयोजनम्। इष्येते नञ्पूर्वात् तत्पुरुषात् त्वतलौ। अब्राह्मणत्वम्। अब्राह्मणता इति।'[५]

---

१ पा० ५ १ १३२।
२ पा० ५ १ १२४।
३ पा० ५ १ १२८।
४ पा० ५ १ १३१।
५ महा० भा० २, सू० ५ १ १२१, पृ० ३६६।

भाव यह है कि यह सूत्र कौन से भाव कर्मार्थक प्रत्यय का निषेध करता है। यदि यह कहा जाये कि 'त्व', 'तल्' प्रत्ययों का निषेध इससे होता है, तो वह व्यर्थ है। क्योंकि 'नञ्पूर्वक' तत्पुरुष से 'त्व', 'तल्' प्रत्यय इष्ट हैं। 'अब्राह्मणस्य भाव अब्राह्मणत्वम्', अब्राह्मणता' ये त्व-तल् प्रत्ययान्त 'नञ्' तत्पुरुषसमास है। भाष्यकार पुन आगे कहते हैं—

"न नञ् पूर्वादित्युत्तरस्य प्रतिषेध ।"[1]

अर्थात् "न नञ्पूर्वात्०" यह अधिकार सूत्र है। इसका अधिकार "पत्यन्तपुरोहितादिभ्योक्"[2] इत्यादि सूत्रों में जाता है। अत यह 'त्व', 'तल्' से भिन्न अन्य आगे आने वाले 'यक' आदि प्रत्ययों का निषेध करता है। तब पुन भाष्यकार इसके उत्तर में कहते हैं—

"नैतदस्ति प्रयोजनम् । यद्येतावत् प्रयोजनस्यात् तत्रैवाय ब्रूयात्—पत्यन्तात् यग् भवति, नञ्पूर्वात् तत्पुरुषान्नेति ।"[3]

अर्थात् यदि 'यक्' आदि आगे आने वाले प्रत्ययों का यह सूत्र निषेध करता है तो इसे वहीं पढना चाहिये था। इतना व्यवहित पढना व्यर्थ है। पुन आगे कहते हैं—

"एव तर्हि ज्ञापयत्याचार्य उत्तरो भाव प्रत्ययो नञ्पूर्वाद् बहुव्रीहे-र्भवतीति । नैष्यते । त्वतलावेवेष्येते । अविद्यमाना पृथवोऽस्य सोऽपृथु । अपृथो र्भाव अपृथुत्वम्, अपृथुता इति ।"[4]

अर्थात् 'नञ्पूर्वक' तत्पुरुष से भावकर्मार्थक उत्तर प्रत्ययों का निषेध करते हुए आचार्य यह ज्ञापित करते हैं कि 'नञ्पूर्वक' बहुव्रीहि से उत्तर भाव प्रत्यय होते हैं। केवल तत्पुरुष से ही निषेध है, तो इसका उत्तर देते हैं कि यह कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि 'नञ्पूर्वक' बहुव्रीहि में भी उत्तर भाव प्रत्यय इष्ट नहीं है। वहां भी 'त्व', 'तल्' ही इष्ट हैं। बहुव्रीहि समास वाले 'अपृथु' शब्द से भी 'अपृथुत्वम्', 'अपृथुता' ये 'त्व', 'तल्' प्रत्यय ही होते हैं, "पृथ्वादिभ्य इमनिज् वा"[5] से विहित 'इमनिच्' आदि नहीं। फिर कहते हैं—

---

१ वही।

२ पा० ५ १.१२८।

३ महा० भा० २, सू० ५ १ १२१, पृ० ३७०।

४ वही।

५ पा० ५ १ १२२।

"एवं तर्हि ज्ञापयत्याचार्य उत्तरो भाव प्रत्ययोऽन्यपूर्वात् तत्पुरुषाद् भवतीति"।[1]

अर्थात् 'नञ्पूर्वक' तत्पुरुष से उत्तर भावप्रत्ययों का निषेध करते हुए आचार्य इस बात को ज्ञापित करते हैं कि 'नञ्' से भिन्न अन्य शब्दपूर्वक तत्पुरुष से उत्तर भाव प्रत्यय हो जाते हैं उनका निषेध नहीं होता तो इसके उत्तर में कहते हैं—"नैवेष्यते। त्वतलावेवेष्यते। परम पृथु परमपृथु। परमपृथोभाव परमपृथुत्वम्, परमपृथुता"[2] अर्थात् 'नञ' से भिन्न तत्पुरुष से भी उत्तरभाव प्रत्यय इष्ट नहीं है। वहां भी 'त्व', 'तल्' ही इष्ट हैं। 'परम पृथु परमपृथु' यहां 'नञ्' से भिन्न समानाधिकरण तत्पुरुष है। उससे भी भाव अर्थ में 'त्व', 'तल्' ही प्रत्यय होकर 'परमपृथुत्वम्', परमपृथुता' ये रूप बनते हैं। पुन आगे कहते हैं—

"एवं तर्हि ज्ञापयत्याचार्य उत्तरो भाव प्रत्यय सापेक्षाद् भवतीति। किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्। नञ्समासादयो भाववचन स्वरोत्तरपदवृद्धयर्थम् इत्युक्त तदुपपन्न भवति"।[3]

अर्थात् 'नञ्पूर्वक' तत्पुरुष से उत्तर भाव प्रत्यय का निषेध करते हुए आचार्य यह बात ज्ञापित करते हैं कि उत्तर भाव प्रत्यय सापेक्ष से होते हैं। क्योंकि 'नञ्पूर्वक' तत्पुरुष से जब निषेध किया है तो उससे भिन्न किसी अन्य की अपेक्षा करके उत्तर भाव प्रत्यय होंगे, यह सूचित होता है। उसका प्रयोजन यह है कि "तस्य भावस्त्वतलौ"[4] सूत्र में कहा हुआ 'नञ्समासादयो भाववचन स्वरोत्तरपदवृद्धयर्थम्" यह वचन संगत हो जाता है। इस वचन का अर्थ है कि 'नञ्तत्पुरुषसमास' और 'त्व', 'तल्' से भिन्न अन्य 'इमनिच्' आदि भाव प्रत्ययों की प्रतिस्पर्धा में 'इमनिच्' आदि भाव प्रत्यय ही पहले हो जाते हैं। उसके बाद 'नञ्' समास होता है। जैसे—'न पृथोर्भाव' यहां 'पृथु' शब्द से भाव प्रत्यय और 'नञ् समास दोनों की एक साथ विवक्षा में 'नञर्थ' की अपेक्षा रखने वाले 'पृथु' शब्द से असामर्थ्य होने पर भी पहले भाव प्रत्यय 'इमनिच्' होकर फिर नञ् समास होगा तो 'अप्रथिमा' यह इष्ट

१ महा० भा० २, प्रकृत सूत्र, पृ० ३७०।
२ महा० भा० २, सू० ५ १ १२१, पृ० ३७०।
३ वही
४. पा० ५ १ ११९।

रूप बन जाता है। इसी तरह 'न शुक्लस्य भाव' यहाँ 'शुक्ल' शब्द से भाव प्रत्यय और 'नञ्समास' दोनों की युगपत् विवक्षा में सापेक्ष होने से असमर्थ होने पर भी 'शुक्ल शब्द' से पहले 'ष्यञ्' प्रत्यय' होता है। उसके बाद 'नञ्' समास होकर 'अशौक्ल्यम्' बन जाता है। इस प्रक्रिया में आदि वृद्धि 'नञ्' को न होकर 'शुक्ल' को होती है। अप्रथिमा' में 'इमनिच्' का स्वर न होकर 'नञ्' का स्वर, जो अव्ययपूर्वपद प्रकृति स्वर, "तत्पुरुषे तुल्यार्थ तृतीया०"[1] से विहित है वह हो जाता है। अन्त में सूत्र के इस प्रयोजन को भी अन्यथा सिद्ध करते हुए भाष्यकार कहते हैं—

"तदपि नास्ति प्रयोजनम्। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—सर्वे एते तद्धिता सापेक्षाद् भवन्तीति। यदय नञो गुणप्रतिषेधे सम्पाद्यर्हहितालमर्थास् तद्धिता इत्याह।"[3]

अर्थात् प्रकृत सूत्र का यह भी कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि केवल उत्तर भाव प्रत्यय ही क्या, सभी तद्धित प्रत्यय सापेक्ष से भी होते हैं। इस विषय में "नञो गुणप्रतिषेधे"[4] यह स्वर विषयक सूत्र ही ज्ञापक है। इस सूत्र का अर्थ यह है कि "सम्पादिनि", "तदर्हति", "तस्मै हितम्", "तस्मै प्रभवति" "सन्तापादिभ्य"[5] इन अर्थों में विहित तद्धित प्रत्ययान्त शब्द इनके निषेधक 'नञ्' शब्द के साथ सापेक्ष होकर भी समास को प्राप्त हुए अन्तोदात्त होते हैं। जैसे—' तस्मै हितम्" यह 'हित' अर्थ में 'प्राक्क्रीतीय छ' प्रत्यय करता है। उससे वत्सेभ्यो हित वत्सीय' यह स्वतन्त्र रूप बनता है। उसका नञ् समास होकर 'न वत्सीय अवत्सीय' यह भी स्वतन्त्र रूप बनता है। किन्तु जब 'हित' अर्थ की और 'नञ् समास' की एक साथ कहने की इच्छा होगी तो 'न वत्सेभ्यो हित' इस विग्रह में 'नञर्थ' के प्रति सापेक्ष 'वत्स' शब्द से असामर्थ्य होने के कारण न तो 'हितार्थक छ' प्रत्यय होता है और न ही 'नञ् समास।' यदि नञ् समास' के उत्तर पदार्थ प्रधान होने से प्रधान के सापेक्ष होने पर भी किसी प्रकार समास मान लिया जाये तो भी तद्धित प्रत्यय 'छ' तो किसी प्रकार

---

१ पा० ५ १ १२४।
२ पा० ६ २ २२।
३ महा० भा० २, सू० ५ १ १२१, पृ० ३७०।
४ पा० ६ २ १५५।
५ पा० ५ १ ९९, ६३, ५, १०१।

भी प्राप्त नहीं होता। 'अवत्सीय' इस रूप के न बनने से उसे अन्तोदात्त कैसे होगा। किन्तु इस सूत्र के वचन सामर्थ्य से सापेक्ष 'वत्स' शब्द से भी 'छ' प्रत्यय होकर अन्तोदात्त हो जाता है। यह सूत्र इस विषय का स्पष्ट ज्ञापक है कि सामान्य रूप से सभी तद्धित प्रत्यय 'नञ' की अपेक्षा करके भी हो जाते हैं। तब तो इस सूत्र की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। लक्ष्यानुरोधात् कहीं पहले भाव की विवक्षा करके भाव प्रत्यय कर लिये जायेंगे, फिर 'नञ् समास' हो जायेगा। इसी तरह कहीं पहले निषेध की विवक्षा करके 'नञ् समास' कर लिया जायेगा तथा उसके बाद भाव प्रत्यय हो जायेंगे। इस प्रकार 'न पत्युरभाव.' यहां पहले 'नञ्' समास करके फिर भाव प्रत्यय किये जायेंगे तो 'त्व', 'तल्' होकर 'अपतित्वम्', 'अपतिता' ये इष्ट रूप बन जायेंगे। 'न पटोर्भाव' यहां "नञोगुणप्रतिषेधे०"[1] इस ज्ञापक से 'नञर्थ' की अपेक्षा रखने वाले 'पटु' शब्द से पहले "इगन्ताच्च लघुपूर्वात्"[2] से 'अण्' प्रत्यय होकर फिर 'नञ्' समास हो जायेगा तो 'अपाटवम्' यह इष्ट रूप बन जायेगा। यह इस सूत्र के बिना ही इष्ट सिद्धि हो गई। अन्यथा 'न पटु अपटु' इस 'नञ्' तत्पुरुष से प्राप्त भावार्थक 'अण्' प्रत्यय होकर आपटवम्' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता। उसको रोकने के लिये यह सूत्र बनाना होता। अब इसकी आवश्यकता कुछ नहीं है।

'न मनुष्यस्य भाव.', 'न रमणीयस्य भाव' इन विग्रहों में भी 'नञ्' समास से पहले 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद्०'[3] से 'वुञ्' हो जायेगा तो 'अमानुष्यकम्', 'अरामणीयकम्' ये इष्ट रूप बन जाते हैं। 'त्व', 'तल्' तो औत्सर्गिक हैं। उनका यह सूत्र निषेध करता ही नहीं, इसलिये पहले नञ् समास' होने पर 'अमनुष्यत्वम्', 'अमनुष्यता', 'अरमणीयत्वम्', 'अरमणीयता' ये भी बन जाते हैं। इस सूत्र के रहने में दोष भी है। 'अशुचि' यहां 'न शुचि अशुचि' यह 'नञ् तत्पुरुष समास' है। 'तस्यभाव', इस अर्थ में "इगन्ताच्च लघु०" से प्राप्त 'अण्' प्रत्यय का यह निषेध कर देगा तो आशौचम्', 'अशौचम्' ये इष्ट रूप नहीं बन सकेंगे। अब तो पहले 'अण्' होकर फिर 'नञ् समास' होता है। "नञः शुचीश्वरक्षेत्रज्ञकुशलनिपुणानाम्"[4]

---

१ पा० ६ २ १५५।
२ पा० ५ १ १३१।
३ पा० ५ १ १३२।
४ पा० ७ ३ ३०।

से पूर्वपद को विकल्प में वृद्धि और उत्तरपद को नित्य वृद्धि होती है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

जो इस सूत्र का प्रयोजन था, वह तो भाष्यकार ने "नञो गुणप्रतिषेधे०" इस सूत्र के ज्ञापक से ही निरस्त कर दिया है। अतः इसे या तो उसी अर्थ में तात्पर्यग्राहक मानना चाहिये अथवा प्रत्याख्यात ही समझना चाहिये। इस सूत्र का प्रत्याख्यान हो जाने पर भी कोई दोष नहीं आता। 'नञो गुणप्रतिषेधे०" के ज्ञापक से लक्ष्यवशात् वही तो भाव प्रत्यय और 'नजर्थ' की सह विवक्षा में पहले भाव प्रत्यय और फिर नञ्' समास हो जायेगा। 'त्व', 'तल्' तो नियमपूर्वक 'नञ् समास' करने के बाद ही होंगे। क्योंकि उनके विषय में विशेष वार्तिकवचन है—

"त्वतल्भ्यो नञ् समास त्वतलो स्वरसिद्धयर्थम्।"[1]

अर्थात् 'त्व', 'तल्' प्रत्ययों के करने से पहले 'नञ् समास' होता है यह कहना चाहिये। जिससे 'अब्राह्मणत्वम्', अब्राह्मणता' इत्यादि में 'त्व' और 'तल्' प्रत्ययों का स्वर सिद्ध हो जाये। 'त्व' प्रत्यय का स्वर तो आद्युदात्त है। इसलिये अब्राह्मणत्वम्' यह शब्द अन्तोदात्त हो जाता है। 'तल्' के लित् होने से "लिति"[2] से प्रत्यय से पूर्व उदात्त होकर 'अब्राह्मणता' यह शब्द उदात्त णकार वाला मध्योदात्त बन जाता है। लक्ष्यानुरोध से 'व्यवस्था' तथा 'विवक्षा' होने में "यथातथयथापुरयो पर्यायेण"[3] सूत्र का भाष्यकारकृत प्रत्याख्यान ही प्रमाण है। 'अयायातथ्यम्' को बनाने के लिए पहले भाव प्रत्यय 'ष्यञ्' की विवक्षा करके 'ष्यञ्' हो जायेगा। उसके बाद निषेध की विवक्षा में 'नञ् समास' होकर 'अयाथातथ्यम्' बन जायेगा। 'आयथातथ्यम्' बनाने के लिए 'यथातथ' शब्द से निषेध की विवक्षा में पहले 'नञ् समास' हो जायगा। फिर भाव प्रत्यय की विवक्षा में ष्यञ्' प्रत्यय करके आदि वृद्धि द्वारा 'आयथातथ्यम् बन जायेगा। इस प्रकार दोनों रूप "यथातथयथापुरयो०" सूत्र के बिना ही सिद्ध हो जाते हैं। उसी आधार पर यहां भी सब अभीष्ट लक्ष्यों की सिद्धि हो जाने से यह सूत्र अनावश्यक हो जाता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में कैयट लिखते हैं—

---

१ महा० भा० २, सू० ५ १ ११६, पृ० ३६८।

२, पा० ६,१ १९३।

३, पा० ७ ३,३१।

"तदेव सूत्रेऽस्मिन् प्रत्याख्याते लक्ष्यदर्शनवशात् क्वचिद्भावनिषेधयोर्युगपद् विवक्षाया ज्ञापकात् नञर्थापेक्षत्वेपि पूर्वं यथा प्राप्त भावप्रत्यय। पश्चात् अञ् समास। त्वतलौ तु कृते नञ् समासे। क्वचित् पूर्वं भावविवक्षा। क्वचित् पूर्वं निषेधविवक्षा।"[1] प्रस्तुत प्रसङ्ग मे अर्वाचीन वैयाकरण तो इस सूत्र के रखने के पक्ष मे ही हैं[2]। सभवत इन्होने इसे "सभी तद्धित प्रत्यय सापेक्ष से भी होते हैं" इस नियम मे तात्पर्य ग्राहक मान कर सूत्रकार का समर्थन किया है। किन्तु यह अनावश्यक गौरव ही कहा जायेगा। क्योकि इसके न रहने पर भी जब कोई अनिष्टापत्ति नही होती, तब ऐसी स्थिति मे सूत्र का प्रत्याख्यान ही न्याय्य है॥

रसादिभ्यश्च ॥ ५ २ ९५ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र मत्वर्थीय प्रकरण का है। इसका अर्थ है कि 'रस' आदि शब्दो से 'मतुप्' प्रत्यय होता है, 'तदस्यास्त्यस्मिन्' इस अर्थ मे। 'रस अस्य अस्ति, अस्मिन् वा अस्ति इति रसवान्' 'रूपवान्'। 'स्पर्शवान्' इत्यादि उदाहरण हैं। 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्'[3] इस पूर्वसूत्र से ही 'मतुप्' सिद्ध हो जाने पर जो फिर 'मतुप्विधान' किया है, वह इस बात को सूचित करता है कि 'रस' आदि शब्दो से केवल 'मतुप्' ही हो, अन्य 'इनि', 'ठन्'[4] आदि मत्वर्थीय प्रत्यय न हो। वैसे कहीं-कहीं पर लौकिक प्रयोग के आधार पर 'मतुप्' से भिन्न 'इनि', 'ठन्' हो जाते हैं। जैसे—'रूपिणी कन्या', 'रूपिको बाल'। यहाँ

---

१ महा० प्र० भा० ४, सू० ५ १ १२१, पृ० १००।

२, चा० सू० ४ १ १३७-१३८ 'नञोऽनन्यार्थे'। 'चतुरसगतलवणवडबुधकत-रमलसाढा'।
  जै० सू० ३ ४ ११५ 'नञ् से चतुर सगतलवण वडबुधक्तरसलसेभ्य'।
  शा० सू० ३ ३ ७ —'नञ्तत्पुरुषादबुधादे'।
  स० सू० ५ १ १३४-१३५—'नञादेस्तत्पुरुषात्। चतुरसगत लवणवडबुध-क्तरसलसेभ्यो वा'।
  है० सू० ७ ३ ७१—'नञ्तत्पुषादबुधादे'।

३ पा० ५ २ ९४।

४ पा० ५ २ ११५।

'रूप' शब्द से प्रशस्त रूप' अर्थ में 'इनि' प्रत्यय और 'ठन्' प्रत्यय होते हैं। इस विषय में लोक प्रयुक्त शब्दो का अनुरोध ही कारण है।

'तदस्यास्त्यस्मिन् इति' यहाँ 'इति' शब्द लगाने से यह अर्थ समझा जाता है कि लोक में प्रयोग की जैसी विवक्षा है उसके अनुसार प्रत्यय होवें[1]। जहां 'मतुप् प्रत्ययान्त' से ही लोक मे प्रयोग करने की विवक्षा है वहाँ 'रसवान्', 'रूपवान्' ये 'मतुप् प्रत्ययान्त ही प्रयुक्त होगे। वहा अन्य प्रत्ययो की यह सूत्र निवृत्ति करेगा, सब जगह नही, इसलिए लौकिकी विवक्षा को मानकर 'रसिक', 'रूपिक' इत्यादि प्रयोग भी बन जायेंगे। अथवा रसादि गण मे 'गुणात्' पढने से रूप', रस', स्पर्श', गन्ध' आदि जो इन्द्रियग्राह्य गुण हैं, उन्ही से मतुप्' होगा, गुण से भिन्न अन्य अर्थ मे 'मतुप्' नही होगा। उससे 'रूपिणी', 'रूपिक' रसिक' ये प्रयोग भी उत्पन्न हो जायेंगे। 'रूपिणी', 'रूपिक' मे प्रसिद्ध चक्षुरिन्द्रिय ग्राह्य गुण की विवक्षा नही है अपितु सौन्दर्य की विवक्षा है अत मतुप्' न होकर 'इनि', 'ठन्' हो गये। गुण की विवक्षा में 'रूपवती', 'रूपवान्' होते ही है। 'रसिक' मे भी रसनेन्द्रियग्राह्य गुण विवक्षित नही है अपितु अन्त करणस्थित स्थायी भाव विवक्षित है। अत गुण वाचकता न होने से 'मतुप्' नही हुआ।

शब्याप्ति दोषग्रस्त होने से सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार कात्यायन इस सूत्र के खण्डन में मौन है। केवल भाष्यकार ने ही 'रसादि' शब्दो से केवल 'मतुप्' प्रत्यय का ही दर्शन न होने से इस सूत्र का प्रत्याख्यान कर दिया है। वे कहते है—

"रसादिभ्य पुनर्वचनमन्यनिवृत्त्यर्थम्। रसादिभ्य पुनर् वचन क्रियते अन्येषा मत्वर्थीयाना प्रतिषेधार्थम्। मतुवेव यथा स्यात्। येऽन्ये मत्वर्थीया प्राप्नुवन्ति ते मा भूवन्निति। नैतदस्ति प्रयोजनम्। दृश्यन्ते ह्यन्ये रसादिभ्यो मत्वर्थीया रसिको नट। उर्वशी वै रूपिणी अप्सरसाम्। स्पर्शिको वायुरिति"[2]।

यहाँ स्पष्ट है कि 'रसादि' शब्दो से 'मतुप्' के साथ अन्य मत्वर्थीय 'इनि', 'ठन्' आदि प्रत्ययो का भी प्रयोग देखा जाता है। अत अन्यनिवृत्ति रूप

---

१ वं० सि० कौ० भा० २, सू० ५ २ ९६, पृ० ८८—इति शब्दो लौकिकी विवक्षामनुसारयति।

२ महा० भा० २, सू० ५ २ ९५, पृ० ३९४।

प्रयोजन इस सूत्र का न रहने से यह प्रत्याख्यान के योग्य हो जाता है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

लौकिक प्रयोग के आधार पर शब्दानुशासन का विधान है। जब लोक-वेद दोनो मे 'रसादि' शब्दो से 'मतुप्' के साथ अन्य 'इनि', 'ठन्' आदि का भी प्रयोग देखने मे आता है तो इस सूत्र को विशेष रूप से केवल 'मतुप्' विधान के लिये बनाना व्यर्थ हो जाता है। लोक मे भी 'रसवान्', 'रसिक' यही प्रयोग होता है, 'रसी' का प्रयोग नही होता। 'पुलिङ्ग मे 'रूपी' का भी प्रयोग नही होता। केवल ठन्' और 'मतुप्' का प्रयोग ही होता है। अन्य 'धन', 'गुण' आदि शब्दो से 'धनवान्', 'धनी', धनिक' 'गुणवान', 'गुणी', 'गुणिक' इत्यादि 'मतुप्', 'इनि', 'ठन्' इन सब प्रत्ययो का प्रयोग लोक में देखा जाता है। किन्तु 'रसादि' शब्दो से 'रसवान्', 'रसिक', 'रूपवान्', 'रूपिक', 'रूपिणी', 'गन्धवान्', 'स्पर्शवान्', 'स्पर्शिक' इत्यादि कुछ विशिष्ट प्रत्ययो का ही प्रयोग लोक-वेद में दृष्टिगोचर होता है। इसलिये शब्दप्रयोग को लोक-वेद के अधीन छोडकर इस सूत्र का खण्डन हो सकता है। आचार्य पाणिनि ने संभवत: प्रसिद्ध अनुरोध से 'मतुप्' का विधान किया है। क्योकि 'रसादि' शब्दों से 'मतुप्' ही प्रसिद्ध है। प्राय करके 'रसादि' शब्द मतुप् प्रत्ययान्त ही प्रयुक्त होते हैं। किन्तु भाष्यकार ने लोक मे 'रसादियों' से अन्य प्रत्ययो का भी कादाचित्क प्रयोग देखकर सूत्र का प्रत्याख्यान किया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में कैयट लिखते हैं—

"प्रयोगमूलत्वाल्लक्षणस्य नियमार्थत्वायोगात् सूत्रं प्रत्याख्यातम्"[1]।

अर्वाचीन वैयाकरणो ने भी इसे प्रत्याख्येय मानकर अपने-अपने व्याकरणो मे इसे नही रखा है। इस प्रकार यह सूत्र अव्याप्ति दोष ग्रस्त होने से प्रत्याख्येय ही ठहरता है।

न सामिवचने ॥ ५ ४ ५ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र 'कन्' प्रत्यय का निषेध करता है। इसका अर्थ है कि 'सामि-वाचक' शब्द उपपद होने पर 'क्तान्त' से 'कन्' प्रत्यय नहीं होता। 'सामि' का अर्थ 'आधा' है। आधे अर्थ के वाचक शब्द 'सामि' 'नेम', 'अर्ध' आदि हैं।

---

१ महा० प्र० भा० ४, सू० ५ २ ९५, पृ० १६२।

जैसे—'सामिकृतम्', 'अर्धकृतम्'। 'नेमकृतम्'। 'सामिभुक्तम्'। 'अर्धभुक्तम्'। 'नेमभुक्तम्' (आधा किया। आधा खाया) यहाँ 'कृतम्', 'भुक्तम्' ये 'क्त' प्रत्ययान्त शब्द हैं। उनसे 'अनत्यन्त गति' अर्थ में अर्थात् पूरी तरह क्रिया न करने के अर्थ में "अनत्यन्तगतौ क्तात्"[1] सूत्र से 'कन्' प्रत्यय प्राप्त होता है। उसका 'सामिवाचक' शब्द उपपद होने पर इस सूत्र से निषेध हो जाता है तो 'सामिकृतम्' इत्यादि रूप बन जाते हैं।

प्रकृति से ही अभिहित होने से सूत्र का प्रत्याख्यान

भाष्यवार्तिककार इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—

"सामिवचने प्रतिषेधानर्थक्यं प्रकृत्यभिहितत्वात्। सामिवचनेप्रतिषेधोऽनर्थकः। किं कारणम्। प्रकृत्याभिहितत्वात्। प्रकृत्याभिहित सोऽर्थ इति कृत्वा कन् न भविष्यति"[2]।

इसका भाव यह है कि "सामिवचन" इस सूत्र से 'कन्' प्रत्यय के निषेध की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि 'सामिकृतम्' यहाँ 'सामि' इस प्रकृति एवं उपपद से ही अनत्यन्तगति अर्थात् 'अधूरे' अर्थ की प्रतीति हो जाने से 'कन्' होगा ही नहीं तो निषेध करना व्यर्थ है। इस प्रकार भाष्यवार्तिककार ने इतना ही कहकर सूत्र का खण्डन कर दिया है। किन्तु काशिकादिवृत्तिकारों ने तो अनत्यन्तगति से भिन्न स्वार्थ में प्राप्त 'कन्' का निषेधक इसे मानकर चरितार्थ कर दिया है। स्वार्थ में 'कन्' कौन करेगा तो इसके लिये यही सूत्र ज्ञापक होगा कि स्वार्थ में भी 'कन्' होता है[3]। उससे 'कृतमेव कृतकम्'। 'यवनहृत एव यवनहृतक'। 'बहुतरमेव बहुतरकम्'। अभिन्नतरमेव अभिन्नतरकम्' इत्यादि प्रयोग उपपन्न हो जाते हैं। 'सामिवाचक' शब्द उपपद होने पर स्वार्थिक 'कन्' भी नहीं होगा तो 'सामिकृतम्', 'अर्धकृतम्' यही रूप बनेंगे, 'सामिकृतकम्', अर्धकृतकम्' नहीं बनेंगे।

---

१ पा० ५।४।४।

२ महा० भा० २, सू० ५।४।५, पृ० ४३१।

३ द०, का० भा० ४, सू० ५।४।५, पृ० ३२६।३२७—'एवं तर्हि नैवायमनत्यन्तगतौ विहितस्य कन प्रतिषेध। किं तर्हि, स्वार्थिकस्य। केन पुन स्वार्थिक कन् विहित। एतदेव ज्ञापकमनुमास्यते—भवति स्वार्थे कन्निति'।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यह सूत्र स्वार्थिक 'कन्विधान' का ज्ञापक है। इस विषय में भाष्यकार ने कुछ नहीं कहा तथापि वृत्तिकार लोग भाष्यकार से विरुद्ध सूत्रार्थ की कल्पना नहीं कर सकते। इस लिये इस सूत्र द्वारा स्वार्थ में 'कन्' विधान का ज्ञापकत्व भाष्यकार को भी अभीष्ट ही है यही मानना पड़ेगा। 'स्वार्थ' का अर्थ 'प्रकृति के अर्थ का अभिधान करना' है। स्वार्थिक प्रत्ययों में प्रत्यय का अपना अर्थ प्रधान न होकर प्रकृति के अर्थ की ही प्रधानता होती है। और जिन प्रत्ययों का अपना कुछ अर्थ नहीं कहा गया है वे "अनिर्दिष्टार्थाश्च प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति"[1] इस भाष्यकार के वचनानुसार स्वार्थ में अर्थात् प्रकृति के अर्थ में होते हैं। जैसे—'देव एव देवता'। 'प्रज्ञ एव प्राज्ञः'। 'रक्ष एव राक्षसः'। 'बन्धुः एव बान्धवः'। 'समीपमेव सामीप्यम्'। 'कुटी एव कुटीरम्' इत्यादि। 'तरप्', 'तमप्' आदि भी स्वार्थिक प्रत्यय हैं। किन्तु उनमें प्रकृत्यर्थ, जो अतिशय आदि है, उसकी द्योतकता रहती है। इसलिये वे स्वार्थिक तो हैं किन्तु अत्यन्त स्वार्थिक नहीं हैं। यह सूत्र अत्यन्त स्वार्थिक प्रत्ययों का ज्ञापक है। जैसे कि अत्यन्त स्वार्थिक 'कन्' के भाष्यकारोक्त प्रयोग हैं—

एते खल्वपि नैर्देशिकानां वार्ततरका भवन्ति। एतद् हि बहुतरकं व्याप्यते"[2]।

इस प्रकार 'सामिवाचक' शब्द उपपद होने पर स्वार्थिक कन्' प्रत्यय को रोकने के लिए प्रकृत सूत्र की आवश्यकता बनी रहती है। इसका खण्डन न्याय्य नहीं है। इसी लिए प्रायः सभी अर्वाचीन वैयाकरणों ने इस सूत्र को अपने अपने तन्त्रों में रखा है[3]॥

१ महा० भा० २, सू० ३ २ ४, पृ० ६८।

२ महा० भा० १, सू० १ १, ६६, पृ० १७२।

३ जै सू० ४ २ १३ 'न सामे'।
शा० सू० ३ ४ ११० —'न सामिवचने'।
स० सू० ९ ४ ३३— न सामि नेमार्थयोगे'।
है० सू० ७ ३ १७ —'न सामिवचने'।
चान्द्र व्याकरण की स्वोपज्ञवृत्ति में (४ ४ १६) उक्त सूत्र का खण्डन किया गया है।

यथातथयथापुरयो पर्यायेण ॥ ७ ३ ३१ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र अङ्गाधिकार प्रकरण का है। इसका अर्थ है कि 'नञ्' से परे 'यथातथ', 'यथापुर' शब्दो में पूर्वपद और उत्तरपद को पर्याय से वृद्धि होती है, 'ञित्', 'णित्', 'कित्' प्रत्यय परे होने पर। जैसे—'आयथातथ्यम्'। 'आयथा-पुर्यम्'। 'अयाथापुर्यम्'। 'अयाथापुयम्' 'यथातथ' और यथापुर' ये दोनो शब्द 'यथा' के अर्थ में[1] अव्ययीभाव समासान्त हैं। 'तथा अनतिक्रान्त यथातथम्'। 'पुरा अनतिक्रान्त यथापुरम्'। कुछ लोग 'यथातथ' शब्द न मानकर 'यथा-तथा' मानते है। उनके मत मे 'यथातथा' शब्द मे "सुप् सुपा"[2] समास होगा, अव्ययीभाव नही[3]। अव्ययीभाव समास मानने पर ह्रस्व हो जायेगा तो 'यथा-तथ' बनेगा। सूत्र मे भी वे यथातथा' पढते है। 'न यथातथा भाव' इस प्रकार भाष्य मे विग्रह किया गया है। उससे तो 'सु'सुपा' समास मानना ही सगत प्रतीत होता है।

'न यथातथा अयथातथा, तस्य भाव आयथातथ्यम्, अयाथातथ्यम्,' —यहाँ 'यथातथा' या 'यथातथ' शब्द से 'नञ्' समास में भाव अर्थ मे "गुणवचनब्राह्मणादिभ्य कर्मणि च"[4] से 'ष्यञ्' प्रत्यय होता है। 'ष्यञ्' के ञित् होने से "तद्धितेष्वचामादे "[5] से आदि 'अच्' को प्राप्त वृद्धि इस सूत्र से पूवपद और उत्तरपद को पर्याय से हो जाती है एक बार पूवपद को और दूसरी बार उत्तरपद को। जब पूवपद को वृद्धि होगी तो 'आयथातथ्यम्' यह रूप बनेगा। उत्तरपद को वृद्धि होने पर 'अयाथातथ्यम्' यह रूप बनेगा।

---

१ द्र० वै० सि० कौ० भा० २, पृ० १४—'योग्यतावीप्सा पदार्थानतिवृत्ति सादृश्यानि यथार्था'।

२ पा० २ १ ४।

३ द्र० प्रकृत सूत्रीय महा० प्र०—'यथातथ इत्यय निपात अविपरीतार्थवृत्ति इति केचिदाहु। अन्ये तु यथातथाशब्दयो सु'सुपेति समास एतदर्थ इत्याहु'। इसी स्थल पर महा० प्र० उ० द्र०—'एतौ पदार्थानतिवृत्तौ अव्ययीभावौ—अत एव सूत्र ह्रस्वनिर्देश इति केचित्। एतच्च यथातथा भाव भाष्येण विरुध्यते। तस्मात् सूत्रेऽपि दीर्घपाठ एवोचित इति परे'।

४. पा० ५ १ १२४।

५. पा० ७ २ ११७।

इसीप्रकार 'न यथापुर भाव' इस अर्थ मे 'नञ समास होने पर जब पूर्वपद को वृद्धि होगी तब 'आयथापुरम्' बनेगा। उत्तरपद वृद्धि होने पर 'अयाथापुयम्' यह रूप बनेगा। ये दोनो 'नञ्समासयुक्त' 'ष्यञ् प्रत्ययान्त' शब्द है।

विवक्षा भेद से अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार इस सूत्र के खण्डन-मण्डन मे सर्वथा मौन है। केवल भाष्यकार ही इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते है।

'अय योग शक्योऽवक्तुम्' कथम्, आययातथ्यम्, आयथातथ्यम्। आयथापुयम्, अयाथापुयम्। यदा तावत् पूर्वपदस्य वृद्धिस्तदैव विग्रह करिष्यते न यथातथा अयथातथा। अयथातथा भाव आयथातथ्यम् यदोत्तरपदस्य वृद्धिस्तदैव विग्रह करिष्यते यथातथाभावो याथातथ्यम्। न याथातथ्यम् अयाथातथ्यम् इति"[1]।

तात्पर्य यह है कि जब पहले 'नञ्' समास करके भाव प्रत्यय 'ष्यञ्' किया जायेगा तब 'अयथातथ' शब्द मे आदि 'अच्', नञ् का अकार होने से उसी को "तद्धितेष्वचामादे"[2] से वृद्धि हो जायेगी तो 'आयथातथ्यम्' बन जायेगा। और जब पहले भाव प्रत्यय 'ष्यञ्' करके 'नञ्' समास किया जायेगा तो 'यथातथाभाव याथातथ्यम्' बनाकर फिर 'नञ्' समास होगा। उसमे 'याथातथ्य' मे आदि 'अच् यथा का अकार होने से उसको "तद्धितेष्वचामादे" से वृद्धि हो जायेगी तो 'अयाथातथ्यम्' यह रूप बन जायेगा। 'अयथापुयम्', 'आयथापुयम्' मे भी यही बात है। 'नञ्' समास करके 'ष्यञ्' किया जायेगा तो 'आयथापुर्यम्' बनेगा। 'ष्यञ्' करके फिर 'नञ्' समास किया जायेगा तो 'अयाथापुयम्', बनेगा। इस प्रकार तद्धितेष्वचामादे" से ही आदि 'अच्' को वृद्धि होकर इष्ट रूप सिद्ध हो जायेगे तो यह सूत्र व्यर्थ हो जाता है।

समीक्षा एव निष्कर्ष

भाव प्रत्यय और 'नञ्' समास दोनो की अलग-अलग विवक्षा मे तो दोनो रूप ठीक सिद्ध हो जाने से यह सूत्र व्यर्थ है। किन्तु जब भाव प्रत्यय और 'नञ्' समास दोनो की सहविवक्षा होकर 'न यथातथाभाव' इस प्रकार विग्रह होगा तब 'नञो गुण प्रतिषेधे'[3] इस ज्ञापक से नञ् समास के साम्य सापेक्ष होने पर भी भाव प्रत्यय 'ष्यञ्' हो जायेगा तो 'यथातथ' शब्द की आदि वृद्धि होकर 'अयाथातथ्यम्' ही बन सकेगा। 'आयथातथ्यम्' तो सह विवक्षा मे न

---

१ महा० भा० ३, सूत्र ७ ३ ३१, पृ० ३२२।
२. पा० ७ २ ११७।
३ पा० ६ २ १५५।

बन सकेगा। उसके लिये यह विवक्षा न मानकर पहले 'नञ्' समास की विवक्षा से 'अयथातथा' शब्द बनाया जायेगा तथा उसके बाद भाव प्रत्यय किया जायेगा तो 'आयथातथ्यम्' भी इस सूत्र के बिना ही सिद्ध हो जायेगा। विवक्षाधीन होने से "न नञ्पूर्वात् तत्पुरुषात्०"[1] यह सूत्र भी व्यर्थ हो जाता है। इसलिये 'नञ्' समास के बाद 'ष्यञ्' होने में कोई बाधा नहीं है। 'ष्यञ्' के 'ञित्' होने से 'आयथातथ्यम्' यह आद्युदात्त है। 'अयाथातथ्यम्' यह भी 'नञ्' समास के अव्यय पूर्वपद प्रकृति स्वर से आद्युदात्त है। इस प्रकार लक्ष्यानुरोध से 'व्यवस्था' और 'विवक्षा' होने से प्रकृत सूत्र स्वतः प्रत्याख्येय हो जाता है। अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी इसका प्रत्याख्यान ही प्रायः न्याय्य माना है।[2] केवल जैनेन्द्र व्याकरणकार तथा सरस्वती कण्ठाभरणकार ने ही इसे अपने अपने व्याकरणों में रखा है[3] जोकि अयाचित गौरवापत्ति ही है॥

निष्ठायां सेटि ॥६।४।५२॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र अङ्गाधिकारीय आर्धधातुक प्रकरण का है। इसका अर्थ है कि 'सेट्' निष्ठा परे रहते 'णि' का लोप होता है। जैसे—'कारितम्'। 'हारितम्'। 'कथितम्' इत्यादि। 'कृ' धातु से "हेतुमति च"[4] से प्रेरणा अर्थ में 'णिच्' प्रत्यय करके "अचोञ्णिति वृद्धिः"[5] द्वारा 'कारि' बन जाता है। 'कारि' इस णिजन्त धातु से निष्ठा प्रत्यय 'क्त' होता है। "आर्धधातुकस्येड् वलादेः" से 'इडागम' होकर 'कारि+इत' यह 'सेट्' निष्ठा होने पर इस सूत्र से 'णि' का लोप हो जाता है तो 'कारितम्' बन जाता है 'कथितम्' में 'कथ' धातु

---

1 पा० ५।१।१२१।

2 तुलना करो शा० सू० २।३।१०४ पृ० १६८ की अमोघवृत्ति-आयथातथ्यमिति समासात्प्रत्ययः। अयाथातथ्यमिति प्रत्ययान्तेन समासः। एवमायथापूर्व्यम्। अयाथापूर्व्यम्। यथा आचतुरम्, अचातुर्यम्। यथा तथायथापुरयोः पर्यायेणेति नारभ्यत।

3 जै० सू० ४।२।३५—'यथातथयथापुरयोः क्रमेण।'
स० सू० ७।१।५०—'यथातथायथापुरयोः पर्यायेण।'

4 पा० ३।१।२६।

5 पा० ७।२।३५।

के अदन्त होने से 'णिच्' परे रहते उसके अकार का लोप "अतो लोप" [1] से होता है। अकारलोप को "अच परस्मिन्" [2] से स्थानिवत मानकर उपधा-वृद्धि [3] नही होती। 'सेट्' निष्ठा में इस सूत्र से 'णि' का लोप हो जाता है तो 'कथितम्' बन जाता है।

सूत्र में 'सेड्' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि निष्ठा को 'सेट्' बनाकर फिर 'णिलोप' हो। पहले 'इट्' करके पश्चात् इस सूत्र से 'णि' का लोप करने के लिये सेट्' ग्रहण किया है। उससे काल का अवधारण हो जाता है कि किस काल में णि का लोप हो। अन्यथा 'इट्' और 'णि लोप' की सम्प्रधारणा में 'णि लोप' के नित्य होने से 'इट्' करने से पहले 'णिलोप' हो जाता तो धातु के 'एकाच्' होने पर "एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्" [4] से इट् सर्वथा प्रतिषिद्ध हो जाता। 'कारितम्', 'हारितम्' इत्यादि में इकार का श्रवण न होने से अनिष्ट रूप की आपत्ति होती। 'णिलोप' इसलिये नित्य है कि वह 'इट्' करने पर भी प्राप्त है। किन्तु 'इट्' णिलोप' करने पर प्राप्त नही है। "एकाच उपदेशे०" में प्रतिषिद्ध हो जाता है। इसलिये सूत्र में काल के अवधारण के लिये 'सेट्' ग्रहण किया गया है जिससे 'इट्' करने पर ही 'णिलोप' हो, उससे पूर्व न हो। 'सज्ञपित पशु' यहा भी णिजन्त ज्ञप्' धातु से परे 'सेट्' निष्ठा ही मिलेगी। यद्यपि 'ज्ञप्' धातु "मनीवन्तर्धभ्रस्ज०" [5] से विकल्पित 'इट्' वाला होने से "यस्य विभाषा" [6] से निष्ठा में सर्वथा अनिट् होकर 'सेट्' का व्यावर्त्य सम्भव है तो भी "यस्य विभाषा" सूत्र में 'एकाच्' की अनुवृत्ति होने से 'ज्ञप्' से परे निष्ठा प्रत्यय में 'इट्' का निषेध नही हो सकता, तो वह भी 'सेट्' ही रहेगी। ऐसी अवस्था में सेड्' ग्रहण का कोई व्यावर्त्य न होने से यह कालावधारणार्थ ही रहता है। 'इट्' करने पर 'णिलोप' हो, पहले न हो, इस बात में तात्पर्य ग्राहक है। 'सज्ञपित' में भी पहले 'इट्' होकर फिर इस सूत्र से 'णिलोप' हो जाता है तो 'सज्ञपित' बन जाता है।

---

१ पा० ६ ४ ४८।
२ पा० १ १ ५७।
३ पा० ७ २ ११६।
४ पा० ७ २ १०।
५ वही
६ पा० ७ २ ४६।

योग विभाग द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार इस सूत्र के मण्डन में मौन हैं। केवल भाष्यकार ही इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—

'नार्थ मह्ग्रहणेन। नापि सूत्रेण। कथम्। सप्तमे योग विभाग करिष्यते। इदमस्ति निष्ठाया नेट् भवतीति। तत णे। ण्यन्तस्य निष्ठाया नेट् भवति। कारितम् हारितम्। तत वृत्तम्। वृत्तमिति च निपात्यते। किं निपात्यते। णेर्निष्ठाया लोपो निपात्यते। किं प्रयोजनम्। नियमार्थम्, अत्रैव निष्ठायां णेर्लोपो भवति नान्यत्र। क्व मा भूत्। कारितम्, हारितम्। इहापि तर्हि प्राप्नोति वर्तितमन्नम्। वर्तिता भिक्षा। तत अध्ययने। अध्ययने चेद् वृत्तिर्वर्तते इति''[1]—

तात्पर्य यह है कि 'कारितम्', 'हारितम्', 'रचितम्' इत्यादि को इस सूत्र के बिना ही सिद्ध कर लिया जायेगा तो यह सूत्र व्यर्थ हो जाता है। सो कैसे ? ''श्वीदितो निष्ठायाम्''[2] से निष्ठा मे 'इट्-निषेध' चल रहा है। उस 'इण्निषेध' को ''णेर् अध्ययने वृत्तम्''[3] इस सूत्र में ले जाकर वहां 'णे' 'वृत्तम्', 'अध्ययने' यह तीन सूत्रों वाला योग विभाग किया जायेगा। इनमें 'णे' का अर्थ होगा कि तमाम 'ण्यन्त' धातुओं से परे निष्ठा में 'इट्' का निषेध हो जाता है। उससे 'कारितम्', 'हारितम्' इत्यादि णिजन्त धातुओं से निष्ठा-प्रत्यय को 'इट्' का निषेध होकर 'णि' का श्रवण रहेगा तो 'कारितम्' आदि इष्ट रूप सिद्ध हो जायेंगे। अनिट् निष्ठा हो जाने पर ''णेरनिटि''[4] से प्राप्त 'णिलोप' को 'वृत्तम्' इस योग विभाग से रोक दिया जायेगा कि यदि निष्ठा में 'णिलोप' हो तो वह 'वृत्' धातु में ही हो, अन्यत्र 'कारितम्', 'हारितम्' आदि में न हो। 'वृत्' धातु में भी 'अध्ययन' अर्थ में ही 'णिलोप हो— 'वृत्तमध्ययनम्।' 'वृत्त पारायणम्' इत्यादि। 'अध्ययन' से भिन्न अर्थ में 'वृत्' धातु से भी 'णिलोप' न हो। उससे 'वर्तितमन्नम्। 'वर्तिता भिक्षा' यहां 'णिलोप' न होगा। इस प्रकार 'वृत्तम्' इस योग विभाग से 'कारितम्' इत्यादि में 'णिलोप' रुक जायेगा तो 'कारितम्' इत्यादि में 'णि' का श्रवण रहने से

---

१ पा० ७।२।१५।
२ महा० भा० ३, सू० ६।४।५२, पृ० २०३।
३ पा० ७।२।१४।
४ पा० ७।२-२६।
५ पा० ६।४।५१।

इष्ट रूप सिद्धि हो जायेगी। सूत्रारम्भ में 'णि' का लोप होकर 'इट्' का श्रवण होता है। सूत्र के बिना 'इट्' का निषेध होकर णि' का श्रवण रहेगा। फल में कोई अन्तर नही पडेगा। ऐसी अवस्था मे यह सूत्र प्रत्याख्यान के योग्य बन जाता है।

समीक्षा एव निष्कर्ष

भाष्यकार द्वारा प्रकारान्तर से योग विभाग करके इष्ट रूपो की सिद्धि मान लेने पर इस सूत्र का खण्डन कर दिया गया है जो परिणाम की दृष्टि से तो ठीक ही है। क्योंकि 'कारितम्' इत्यादि रूप बनाने हैं। वे चाहे 'णिलोप' करके बनाए जायें अथवा 'इट्' का निषेध करके बनाये जाये, दोनो में अन्तर कुछ नहीं पडता। फिर भी आचार्य पाणिनि ने "णेरध्ययने वृत्तम्"[1] के योग विभाग रूप क्लेश मे बचने के लिये यह सूत्र बनाया है। इससे अनायास ही 'णिलोप' होकर 'कारितम्' आदि इष्ट रूप सिद्ध हो जाते हैं। क्योंकि "णेरनिटि"[2] से विधीयमान 'णिलोप' इस सूत्र के साथ-साथ "जनिता मन्त्रे, शमिता यज्ञे"[3] इन सूत्रो में भी अनुवृत्त हो रहा है। इसलिये 'णिलोप' करके 'कारितम्' इत्यादि बनाने मे लाघव है। 'इट्निषेध' प्रकरण में 'णे' का योग विभाग करके 'इट् निषेध' द्वारा 'कारितम्' आदि बनाने मे गौरव है। स्पष्ट प्रतिपत्तिमें बाधाभूत इस अनावश्यक गौरव से बचने के लिए ही सभवत अन्य सभी वैयाकरणो ने सूत्रकार पाणिनि के सूत्र का समर्थन करते हुए इसे स्व स्वतन्त्रों में रखा है।[4] फिर भी कल्पना यह बहुत अच्छी है कि साधु शब्दो के अन्वाख्यान मे जो सुन्दर अभ्युपायान्तर सभव हो उसका आश्रयण करके इष्ट रूप सिद्ध कर लिया जाये। पतञ्जलि

---

१ पा० ७ २ २६।

२ पा० ६ ४ ५१।

३ पा० ६ ४ ५३, ५४।

४ चा० सू० ५ ३ ६८—'ततवतीटि।'
जै० सू० ४ ४,५८— ते सेटि।
शा० सू० ५ २ १०१—'णेरिक्तानिडामाल्वन्तेन् न्वाय्ये।'
सू० सू० ६ ३ ६७—'निष्ठाया सेटि।'
है० सू० ४ ३ ८४—'सेट्क्तयो।'

मुनि इस बात में सिद्धहस्त हैं कि लक्ष्यसिद्धि को मुख्य मानकर किस प्रकार लक्षणों का परिवर्तन किया जा सकता है। 'णेरध्ययने' के योग विभाग से भी 'कारितम्' इत्यादि बन सकते हैं, इस बात का ज्ञान भाष्यकार के बिना कौन दे सकता है। अतः गौरव अथवा दुरूह होने पर भी भाष्यकार द्वारा किया गया इस सूत्र का प्रत्याख्यान माननीय ही है ॥

आडजादीनाम् ॥६४७२॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र अङ्गाधिकार का है। इसका अर्थ है कि 'अच्' है आदि में जिनके ऐसी 'अजादि' धातुओं को 'लुङ्', लङ्', 'लृङ्' परे रहते 'आट्' का आगम होता है और वह उदात्त भी होता है। यहाँ "लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः"[1] इस पूर्वसूत्र से 'उदात्त' ग्रहण की अनुवृत्ति आती है। जैसे 'हलादि' धातुओं को विहित 'अडागम' उदात्त होता है वैसे 'अजादि' धातुओं को विहित 'आट्' का आगम भी उदात्त होता है। जैसे—'ऐक्षिष्ट'। 'ऐक्षत'। 'ऐक्षिष्यत'। 'ऐधिष्ट'। 'ऐधत'। ऐधिष्यत'। 'ऐज्यत'। 'औप्यत'। 'औह्यत' इत्यादि। 'ऐक्षिष्ट' में 'ईक्ष्' धातु 'अजादि' है। उससे कर्तृवाच्य में 'लुङ्' लकार परे रहते इस सूत्र से 'आट्' का आगम होकर 'आटश्च'[2] से वृद्धि एकादेश होता है तो 'ऐक्षिष्ट' बन जाता है। 'ऐक्षत' में लङ्' लकार परे रहते 'आट्' होकर वृद्धि हो जाती है। 'ऐक्षिष्यत' में 'लृङ्' लकार परे रहते 'आट्' होकर वृद्धि हो जाती है।

इसी प्रकार 'ऐधिष्ट' इत्यादि में एध्' धातु है, जो 'अजादि' है। उसको 'लुङ्' आदि परे रहते 'आट्' होकर वृद्धि हो रही है। 'ऐज्यत, 'औप्यत', 'औह्यत' यहाँ 'यज्', 'वप्', 'वह्' इन धातुओं से कर्मवाच्य में 'लङ्' लकार हुआ है। 'लङ्' की 'लावस्था' में ही अन्तरङ्ग होने से 'आदेश' जो 'त' प्रत्यय है, वह 'लुङ् ' लङ् लृङ्क्ष्वडुदात्तः " से होने वाले 'अट्' आगम को बाध लेता है। 'त' प्रत्यय करने पर नित्य होने से यक्' विकरण भी 'अडागम' को बाध लेता है। क्योंकि 'यक्' तो 'अडागम' करने या न करने पर भी प्राप्त होने से नित्य है, 'अट्' का आगम नित्य नहीं है। क्योंकि "शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्यो

---

१ पा० ६४७१।
२ पा० ६१९०।

भवति"[1] इस परिभाषा के वचन से वह अनित्य है। 'यक्' विकरण करने पर विकरणान्त अङ्ग बनता है और न करने पर केवल धातु मात्र अङ्ग है। इस प्रकार 'अडागम' की प्राप्ति शब्दान्तर में होने से वह अनित्य बन जाता है। यद्यपि 'यक्' विकरण भी शब्दान्तर से परे प्राप्त होने के कारण अनित्य होना चाहिये किन्तु "शब्दान्तरात प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति"[2] इस परिभाषा को स्वीकार नहीं किया गया है। केवल शब्दान्तर को प्राप्त होने वाला आगम या आदेश ही अनित्य माना गया है। इसलिये 'यक्' विकरण तो शब्दान्तर में परे प्राप्त होने के कारण नित्य ही रहेगा। 'अट' का आगम शब्दान्तर को प्राप्त होने के कारण सर्वथा अनित्य है। इसलिये 'अट्' से पूर्व 'यक्' विकरण करने पर नित्य होने के 'यज्', 'वप', 'वह्' को "वचि स्वपि यजादीना किति"[3] से प्राप्त 'सम्प्रसारण' भी 'अट' को बाध लेगा। 'सम्प्रसारण' करने पर 'यज', 'वप्', 'वह्' के अजादि हो जाने से "आडजादीनाम्"[4] इस प्रकृत सूत्र से 'अडागम' की बाधा होकर 'आट्' का आगम हो जाये। तो "आटश्च"[5] से वृद्धि होने पर 'ऐज्यत' आदि रूप सिद्ध हो जाते हैं।

लाघवार्थ अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र के प्रत्याख्यान में श्लोकवार्तिककार तथा भाष्यकार दोनों सहमत हैं। इसलिए 'न माड्योगे'[6] सूत्र के भाष्य में भाष्यकार इस सूत्र के प्रयोजनों को अन्यथा सिद्ध करते हुए श्लोककारिका द्वारा इसका प्रत्याख्यान करते हैं--

"अजादीनामटासिद्धम्। अजादीनामटैव सिद्धम्। माथ आटा।"[1]

अर्थात् 'अजादि' धातुओं को भी "लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः"[7] से विहित 'अट्' का आगम करके सब इष्ट रूप सिद्ध हो जायेंगे। इसलिये 'आडजादीनाम्' इस सूत्र द्वारा 'आट्' आगम का विधान करना व्यर्थ है अर्थात् यह

१ परि० स० ४३।
२ परि० स० ४४।
३ पा० ६ १ १५।
४ पा० ६ १ ९०।
५ पा० ६ ४ ७४।
६ महा० भा० ३, सू० ६ ४ ७४, पृ० २०८।
७ पा० ६ ४ ७१।

सूत्र प्रत्याख्येय है। यदि यह कहा जाये कि "वृद्धयर्थमिति चेदट"[1] अर्थात् 'ऐक्षिष्ट' इत्यादि 'अजादि' धातुओं में वृद्धि करने के लिये 'आट्' आगम होना चाहिये तो इसका उत्तर है कि "आटश्च" के स्थान में "अटश्च" सूत्र बनाकर 'अट् से 'अच्' परे होने पर वृद्धि एकादेश होता है" ऐसा अर्थ किया जायेगा तो 'ऐक्षिष्ट' इत्यादि 'अजादि' धातुओं में अट्' से परे वृद्धि हो जायेगी।

"अस्वपो हसतीत्यत्र"[2]—यदि पुन यह कहा जाये कि "अटश्च" सूत्र बनाकर "अट् से परे 'अच्' होने पर वृद्धि होती है", ऐसा माना जायेगा तो 'अस्वपो हसति' यहां दोष आयेगा। क्योंकि 'स्वप्' धातु के 'लङ्' लकार में मध्यम पुरुष के एक वचन 'सिप्' को "अड् गार्ग्यगालवयो"[3] से 'अट्' का आगम होता है। 'सिप्' के इकार का "इतश्च"[4] से लोप होकर 'अस्वपस्' ऐसा बनता है। "स सजुषो रु"[5] से पदान्त में 'स' को 'र' हो जाता है। आगे 'हसति' शब्द का हकार परे होने पर "हशि च"[6] से 'रु' को 'उत्व' होकर 'अस्वप उ हसति' इस अवस्था में 'आद्गुण'[7] से प्राप्त गुण को "अटश्च" यह नवनिर्मित सूत्र अपवाद होने से बाध लेगा तो ओकार गुण न होकर औकार वृद्धि प्राप्त होगी। 'अस्वपो हसति' न बनकर 'अस्वपौ हसति' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है तो इसका उत्तर यह है कि "धातो वृद्धिमट स्मरेत्"[8] अर्थात् 'अट्' से धातु का 'अच्' परे होने पर "अटश्च" से वृद्धि होगी, सर्वत्र नहीं। "उपसर्गाद् ऋति धातौ"[9] सूत्र में पठित 'धातु' शब्द को "अटश्च" और "उपसर्गाद्०" इन दोनों का 'एकशेष' मान लिया जायेगा तो अभीष्टार्थ सिद्ध हो जायेगा। 'अस्वपो' में जो 'अट्' से परे 'अच्' है वह उत्तर आदेश का है, धातु का नहीं है। इसलिए यहां वृद्धि न होकर

---

१ महा० भा० ३, सू० ६ ४ ७४, पृ० २०८।
२ वही, सू० ६ ४ ७४ पर श्लोकवार्तिक, पृ० २०८।
३ पा० ७ ३ ९९।
४ पा० ३ ४ १००।
५ पा० ८ २ ६६।
६ पा० ६ १ ११४।
७ पा० ६ १ ८७।
८ महा० भा० ३, सू० ६ ४ ७४ पर श्लोक वार्तिक, पृ० २०८।
९ पा० ६ १ ९१।

"आद्गुण"[1] से गुण ही हो जायेगा।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में पुन यह शङ्का करना सङ्गत नहीं है कि 'आट्' का काम 'अट्' से ही चलाने पर 'आटीत्', 'आशीत्' यहा 'अट्', 'अश्' धातुओं से पूर्व 'अट्' का आगम होगा। 'अ+अट्', 'अ+अश्' इस अवस्था में पर होने से 'अतो गुणे'[2] यह पररूप एकादेश "अटश्च" से प्राप्त वृद्धि को बाध लेगा तो वहा वृद्धि न होकर पररूप प्राप्त होगा। क्योंकि "पररूप गुणे नाट। ओमाङोर्मि तत् समम्"[3] अर्थात् 'अट्' से गुण परे होने पर पररूप नहीं होता," ऐसा वचन कह दिया जायेगा। वस्तुत पृथक ऐसा कहने की भी आवश्यकता न होगी। क्योंकि 'उस्योमाङ्क्ष्वाट प्रतिषेधो वक्तव्य'[4] यह पररूप का बाधक वचन पहले ही कह रखा है। उसका अर्थ है कि "उस्यपदातात्" "ओमाङोश्च"[5] इन दोनों सूत्रों से विहित पररूप का "आटश्च"[6] से विहित वृद्धि विधान में प्रतिषेध कहना चाहिये। जैसे—'औङ्कारीयत्।' 'औढीयत्।' 'औस्रीयत।' यहा 'ओङ्कारमिच्छति ओङ्कारीयति।' 'आ+ऊढा ओढा। तामिच्छति ओढीयति।' 'उस्रा गौ तामिच्छति उस्रीयति' इन 'क्यजन्त' नाम धातु के शब्दो के 'लङ्लकार' में 'आट्' आगम होने पर 'आ+ओङ्कारीयत्', 'आ+ओढीयत', 'आ+उस्रीयत्' इस अवस्था में "ओमाङोश्च" तथा "उस्यपदातात" इन सूत्रों से पररूप प्राप्त होता है। उस पररूप का उक्त वार्तिक द्वारा निषेध होकर "आटश्च" से वृद्धि हो जाती है तो 'औङ्कारीयत,' 'औढीयत्', औस्रीयत्' ये अभीष्ट रूप सिद्ध हो जाते हैं। यह पररूप का बाधक वचन पहले ही बना हुआ है। इसलिये उसको उपलक्षण मानकर 'अट्' से गुण परे होने पर पररूप नहीं होता, यह अलग से कहने की आवश्यकता न होगी। वृद्धि के प्रति पररूप निषेधक वचन पहले ही "उस्योमाङ्क्ष्वाट प्रतिषेध" इस वचन द्वारा विद्यमान है। यदि 'पररूपविधौ नाट" इस सामान्य वचन द्वारा "अटश्च' के वृद्धि विधान में' पररूप का निषेध माना जाता है तो "उस्योमाङ्क्ष्वाट" इस प्रतिषेध वचन की आवश्यकता

---

१ पा० ६ १ ८७।

२ पा० ६ १ ९७।

३ महा० भा० ३, सू० ६ ४ ७४ पर श्लोक वार्तिक, पृ० २०१।

४ पा० ६ १ ९५ पर वार्तिक।

५ पा० ६ १ ९६, ९५।

६ पा० ६ १ ९०।

नहीं, इस प्रकार दोनों तुल्य हो जाते हैं।

यदि पुन यह कहा जाये—'छन्दोऽर्थम्'[1] अर्थात् 'आरैक्',[2] 'आयुनक्',[3] 'आव'[4] इत्यादि वैदिक प्रयोगों में 'आट्' श्रवण के लिये 'अडागम' की आवश्यकता है तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि 'बहुल दीर्घ'[5] अर्थात् वेद में बहुलतया दीर्घ दीखता है। जैसे पुरुष[6] के स्थान में 'पूरुष'[7] तथा नरक[8] के स्थान में 'नारक,'[9] इत्यादि। इसी प्रकार 'आरैक्', 'आयुनक्', 'आव' इन वैदिक प्रयोगों में भी 'अडागम' के अकार को ही सांहितिक दीर्घ होकर आकार हो जायेगा। उसके लिये अलग आडागम विधान करना व्यर्थ है।

यहां यह कहना ठीक नहीं है कि 'आट्' आगम के बिना 'आयन्' 'आसन्' कैसे बनेंगे। 'आयन्' यह 'इण्' धातु के लङ् लकार में प्रथम पुरुष का बहुवचन है। झि' को 'अन्तादेश' होने पर "इणो यण्"[8] से 'इण्' को यणादेश हो जाता है। यणादेश होकर 'इण्' के 'अजादि' न रहने से 'आडागम' के बिना 'आयन्' में आकार कैसे सुनाई देगा। इसी प्रकार 'आसन्' यहां 'अस्' धातु के 'लङ्' लकार में 'झि' को 'अन्तादेश' हुआ है। "श्नसोरल्लोप"[9] से 'अस्' के अकार का लोप हो जाने पर 'अस्' के 'अजादि' न रहने से 'आडागम' के बिना 'आसन' में आकार का श्रवण कैसे होगा।

इसका उत्तर है—"इणस्त्योरन्तरङ्गत"[10] अर्थात् 'आयन्', 'आसन्' में "इणो यण्" और 'श्नसोरल्लोप' को बाँध कर अन्तरङ्ग होने से "अटश्च" से वृद्धि हो जायेगी। तो 'अयन्', आसन्' ये अभीष्ट रूप सिद्ध हो जायेंगे 'आसन्' यहां 'अ+इ+अन्' इस अवस्था में 'अन्' की अपेक्षा रखने से "इणो यण्" बहिरङ्ग है तथा "अटश्च" से होने वाली वृद्धि तो अन्यापेक्ष या पूर्वतर होने से

---

१ महा० भा० ३, सू० ६ ४ ७४ पर श्लोक वार्तिक, पृ० २०६।
२ ऋक्० १ ११ ३ २।
३ ऋक्० १ १६३ २।
४ ऋक्० १ ११३ ४।
५ महा० भा० ३, सू० ६ ४ ७४ पर श्लोक वार्तिक, पृ० २०६।
६ ऋक्० १० ९० ३।
७ मा० यजु० ३० ५।
८ पा० ६ ४ ८१।
९ पा० ६ ४ १११।
१०, महा० भा० ३, सू० ६ ४ ७४ पर श्लोक वार्तिक, पृ० २०६।

अन्तरङ्ग है।[1] इसलिये "असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गे"[2] इस परिभाषा के वचन से बहिरङ्ग 'यण्' को असिद्ध समझकर पहले 'अ+इ' को "आटश्च" से 'ऐ' वृद्धि हो जायेगी। फिर 'अन्' परे रहते "एचोऽयवायाव"[3] से 'आय्' आदेश होकर 'आयन' बन जायेगा। 'आसन्' मे भी "श्नसोर् अल्लोप"[4] यह 'अन्' की अपेक्षा रखने से बहिरङ्ग है। 'आटश्च' से होने वाली वृद्धि पूर्वतर होने से अन्तरङ्ग है। बहिरङ्ग के असिद्ध हो जाने पर पहले 'आटश्च' मे वृद्धि हो जायेगी तो दोनो अकारो को आकार होकर 'आसन' बन जायेगा। यहा भी 'आट्' आगम की जरूरत नही है। 'आयन्' मे वृद्धि करने पर 'इ' न रहने से "इणो यण्"[5] न होगा। क्योकि उस सूत्र मे "एरनेकाचोऽसयोगपूर्वस्य"[6] इस उत्तरसूत्रस्थ 'ए' पद की योग विभाग द्वारा आकृष्टि करके इवर्णान्त 'इण्' धातु को ही 'यण्' माना जायेगा। 'ऐवणान्त' होने पर 'यण्' नही होगा। "अन्तादिवच्च"[7] इस अन्तादिवद्भाव से भी 'ए' को 'इ' नही माना जा सकता। क्योकि वर्णन के रूप का अतिदेश अन्तादिवद्भाव से नही होता। केवल 'ऐ' को 'इ' मानकर काम किया जा सकता है रहेगा वह 'ऐ' ही। वार्तिक भी है—

"न वाताद्रूप्यातिदेशात्।"[8]

---

१ इ० परि० स० ५०—'अल्पापेक्षमन्तरगम्। बह्वपेक्ष बहिरगम्—
तुलना करो—"बहिरगविधिभ्य स्यादन्तरङ्गविधिर्बली।
प्रत्ययाश्रितकार्यं तु बहिरङ्गमुदाहृतम्॥
प्रकृत्याश्रितकार्यं स्यादन्तरगमिति ध्रुवम्।
प्रकृते पूर्वं पूर्वं स्यादन्तरङ्गतर तथा॥
मुग्ध बोध व्याकरण, अच् सन्धि, सूत्र २१ की दुर्गादासीय टीका (पाणिनि व्याकरण का अनुशीलन के पृष्ठ ३९ से उद्धृत)

२ परि० स० ५०।

३ पा० ६ १ ७८।

४ पा० ६ ४ १११।

५ पा० ६ ४ ८१।

६ पा० ६ ४ ८२।

७ पा० ६ १ ८५।

८ पा० ६ १ ८५ पर वार्तिक।

इसी प्रकार 'आसन्' में 'आ' वृद्धि होने पर "श्नसोरल्लोप" में 'अत्' के तपर होने के कारण 'आ' का लोप नहीं होगा। 'आयन्', 'आसन्' में वृद्धि और 'यण्' अल्लोप के भिन्न-भिन्न आश्रय होने के कारण "वार्णादाङ्गं बलीयो भवति"[1] इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि वह परिभाषा वार्णशास्त्र और आङ्गशास्त्र दोनों के समान आश्रय होने पर ही लगती है। इसलिये उसके आधार पर पहले आङ्गशास्त्र 'यण' और 'अल्लोप' नहीं होंगे। इस प्रकार भाष्यकार ने 'अडागम' से ही सब अभीष्ट प्रयोगों की सिद्धि करके 'आडागमविधायक' इस सूत्र का स्पष्ट प्रत्याख्यान कर दिया है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

भाष्यश्लोकवार्तिककारकृत इस सूत्र के प्रत्याख्यान में सभी सहमत हैं। क्या पदमञ्जरीकार, क्या सिद्धान्तकौमुदी के तत्त्वबोधिनी व्याख्याकार, क्या कैयट या नागेश, किसी ने भी 'आट्' के समर्थन में कुछ नहीं कहा। हां, कैयट ने 'आयन्', 'आसन्' के लिए 'आडागम' की आवश्यकता का भाष्यकार द्वारा खण्डन करने पर कहा—"एतच्च वार्णादाङ्गं बलीय इत्यनाश्रित्योक्तम्। तदाश्रयणे हि वृद्धिं बाधित्वा यण्-लोपौ स्याताम्। अत एव आड्वचनमेव ज्ञापकमत्रे वर्णयन्ति—भवत्येषा परिभाषा वार्णादाङ्गं बलीय इति। तस्या हि सत्यां यण्लोपयो वृद्धिं बाधित्वा प्रवृत्तयो आयन्, आसन् इति न स्यादित्याड् विधीयते इति।'[2]

इसका आशय यह है कि किन्हीं के मत में "वार्णादाङ्गं बलीय"[3] इस परिभाषा के ज्ञापन करने के लिये 'आट्' आगम का विधान किया है। उक्त परिभाषा का अर्थ है कि वर्ण सम्बन्धी विधि और अङ्गाधिकारस्थ अङ्गसम्बन्धी विधि इन दोनों की प्राप्ति में अङ्गसम्बन्धी विधि बलवान् होती है। 'आयन्', 'आसन्', में "इणो यण्"[4] और "श्नसोरल्लोप"[5] ये दोनों विधियां अङ्गाधिकारस्थ अङ्गसम्बन्धी हैं। "अटश्च" यह वृद्धि विधायक विधिसूत्र अङ्गाधिकार बहिर्भूत है और 'अट्', 'अच्' रूप वर्ण से सम्बन्ध रखता है। इसलिये वर्ण

१ परि० स० ५५।

२ महा० प्र० भा० ४, सू० ६४७४, पृ० ७१८।

३ परि० स० ५५।

४ पा० ६४८१।

५ पा० ६४१११।

सम्बन्धी है। दोनों में अङ्गसम्बन्धी विधि बलवान् होने से 'अटश्च' को बाधकर "इणो यण्" और "श्नसोरल्लोप" ये पहले हो जायेंगे तो 'आयन्' 'आसन्' में आकार कहा स जायेगा। 'आट्' आगम का विधान करने पर तो 'यण्' और 'अल्लोप' होने पर भी उनके "असिद्धवदत्राभात्"[1] स असिद्ध होने के कारण 'अजादि' मानकर "आडजादीनाम्" से 'आट्' हो जायेगा तो आकार का श्रवण होने से इष्ट रूप बन जाते हैं।

वस्तुत इस सूत्र का प्रत्याख्यान न्याय्य ही है। "आटश्च" की जगह "अटश्च" करने में एक मात्रा का लाघव होता है।[2] 'अट्' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय करके बने हुए 'अटन' शब्द में "अटश्च" से प्राप्त वृद्धि भी रोकी जा सकती है। क्योंकि "अटश्च" सूत्र में "आद्गुण"[3] से 'आत्' शब्द की अनुवृत्ति मानकर अकार रूप 'अट्' से अर्थात् जिसके 'टकार' की इत्संज्ञा होकर केवल 'अकार' रह गया है उससे 'अच्' पर होने पर वृद्धि होगी। 'अटन' में 'अकार रूप' 'अट्' के न होने से वृद्धि नहीं होगी। "वर्णादाङ्गं बलीय" यह परिभाषा अनित्य है और भिन्नाश्रय में प्रवृत्त भी नहीं होती, इसलिये उसके आश्रयण से 'आडागम' का समर्थन नहीं किया जा सकता। यहां व्याकरण शास्त्र में जहां भी 'अट्' शब्द की गन्ध है वह सब भाष्यकार ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देखकर "अटश्च" से प्राप्त वृद्धि का समाधान कर दिया है। इसलिये 'आडागम' का कार्य 'अडागम' से ही चलाकर इस सूत्र का प्रत्याख्यान अनुचित नहीं है। अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी भाष्यकार के इस प्रत्याख्यान का सर्वथा अनुमोदन करते हुए प्राय "आटश्च" की जगह "अटश्च" सूत्र को ही रखा है।[4] ऐसी स्थिति में सूत्र का खण्डन ही ठीक है।

---

१ पा० ६ ४ २२।

२ तुलना करो परि० स० १३३—"अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणा"।

३ पा० ६ १ ८७।

४ परि० स० ५५।

५ चा० सू० ५ ३,८२-८३—'लुङ्लङ् लृङ्क्ष्वमाड्योगे। आदेजेवाघट।'
जै० सू० ४ ४ ७०, ४ ३ ७८—'लुङ् लङ् लृङ्यट्। अटश्च।'
शा० सू० ४ २ १३१-१३२— लुङ् लङ् लृङ्यमाटाट्। औरचाद्यच।'
स० सू० ६ ३ ८१, ६ १ ६७—'लुङ् लङ् लृङ्क्ष्वमाड्योगे। वृद्धिरेवाघट।
हे० सू० ४ ४ २९-३१—'अट्धातोरादिर्ह्यस्तन्या चामाङा। एत्यस्ते- वृद्धि। स्वरादेस्तासु।'

पूङश्च ॥७ २ ५१॥

सूत्र का प्रतिपाद्य

यह सूत्र अङ्गाधिकार में 'इड्विधायक' सूत्रों में पठित है। इसका अर्थ है कि 'पूङ्' धातु से परे 'क्त्वा' और 'निष्ठा' ('क्त', 'क्तवतु'[1]) प्रत्ययों को विकल्प से 'इट' का आगम होता है। 'पूङ्' धातु 'एकाच्' उगन्त है। उसमें पर 'क्त्वानिष्ठा' प्रत्ययों को 'श्र्युकः किति'[2] से सर्वथा 'इट्' का निषेध प्राप्त होता है। यह उसका अपवाद सूत्र है। इससे जिस पक्ष में 'इट्' हो जायेगा वहाँ "पूङः क्त्वा च"[3] से 'सेट् क्त्वा निष्ठा' को नित्य कित्व का निषेध हो जाने से 'पूङ्' को 'सार्वधातुक गुण' और अवादेश होकर 'पवित्वा', 'पवित' 'पवितवान्' ये इष्ट रूप बन जाते हैं। जिस पक्ष में 'इट्' नहीं होगा वहाँ "क्त्वा च" से कित्व का निषेध न होने से 'क्त्वो', 'निष्ठा' दोनों 'कित' ही, रहेंगे। इसलिये "क्ङिति च"[4] से 'सार्वधातुक गुण' का निषेध होकर, 'पूत्वा', 'पूत', 'पूतवान्' ये दो इष्ट रूप भी बन जाते हैं। इस प्रकार दो दो अभीष्ट रूप सिद्ध हो जाते हैं।

लाघवार्थ सूत्र का प्रत्याख्यान

"पूङः क्त्वा च" सूत्र के भाष्य में भाष्यवार्तिककार उक्त सूत्र के अर्थ पर आक्षेप करते हुए कहते हैं —"पूङः क्त्वानिष्ठयोरिटि या प्रसङ्गः सेट् प्रकरणात्"[5] अर्थात् "पूङः क्त्वाच" सूत्र में ऊपर से यदि 'सेट्' और 'अन्यतरस्याम्' इन दोनों की एक साथ अनुवृत्ति मानते हैं तो 'पूङ्' से परे 'सेट् क्त्वा निष्ठा को विकल्प से 'कित्व' प्राप्त होता है। उस अवस्था में 'सेट्' पक्ष में ही अनिष्ट 'पवित्वा' 'पुवित्वा' 'पवित' 'पुवित' 'पवितवान्' 'पुवितवान्' ये दो-दो रूप बनने लगेंगे। क्योंकि 'सेट् क्त्वा निष्ठा' को विकल्प से 'कित्' मानने पर 'कित्व' पक्ष में सार्वधातुक गुण न होकर 'अचि श्नुधातुभ्रुवाम्'[6] से 'उवङ्' हो जायेगा तो उक्त 'उवङ' वाले अनिष्ट रूप प्राप्त होंगे।

१ पा० १ १ २६—'क्तक्तवतू निष्ठा।'
२ पा० ७ २ ११।
३ पा० १ २ २२।
४ पा० १ १ ५।
५ महा० भा० १, सू० १.२ २२, पृ० २११।
६. पा० ६ ४ ७७।

इस आक्षेप का उत्तर देते हुए आगे कहते हैं—"न वा सेट्त्वस्याकिदाश्रयत्वादनिटि वा कित्त्वम् ।"[1]

अर्थात् 'सेट्त्व' तो 'अकित्त्व' के आश्रित है। जब 'क्त्वा-निष्ठा' को 'कित्त्व' का 'निषेध हो जायेगा तभी वे 'सेट्' बनेंगे, उससे पहले नही। क्योकि 'कित्त्व' की अवस्था मे "श्र्युक किति"[2] से 'इट्' का निषेध प्राप्त है। ऐसी अवस्था मे 'पूङ्' से परे अनिट् 'क्त्वा निष्ठा' को ही विकल्प से 'कित्त्व' होगा। जिस पक्ष मे 'कित्त्व' हो जायेगा वहा 'इट्' और गुण दोनो का निषेध होकर 'पूत्वा', 'पूत', 'पूतवान्' ये इष्ट रूप बन जायेंगे। जिस पक्ष मे 'कित्त्व' नही होगा वहा 'इट्' और गुण दोनो होकर 'पवित्वा', 'पवित', 'पवितवान्' ये दो इष्ट रूप भी बन जायेंगे।

यदि यह कहा जाये कि "श्र्युक किति" का अपवाद "पूङश्च" यह सूत्र 'पूङ्' से परे 'क्त्वा निष्ठा' को पक्ष मे 'इट्' कर देगा तो 'सेट् क्त्वा निष्ठा' के मिलने से वहीं पर विकल्प से 'कित्व' प्राप्त होगा, तो यह कोई दोष नही है। क्योकि "इड्विधौ ह्यग्रहणम्"[3] अर्थात् 'इट्' के विधान मे 'पूङ्' का ग्रहण नही किया जायेगा। भाव यह है कि "पूङश्च" यह प्रकृत सूत्र नही बनाया जायेगा। उसके विना भी उक्त दो-दो अभीष्ट रूप सिद्ध हो जाते हैं। आचार्य पाणिनि ने लाघव का आदर न करते हुए "स्पष्ट्प्रतिपत्त्यर्थंपूङश्च" यह सूत्र बना दिया है। वार्तिककार की दृष्टि मे यह सूत्र अनावश्यक है।[4] "पूङ क्त्वा च" यह सूत्र अनिट् 'क्त्वा निष्ठा' को विकल्प से 'कित्वविधान' कर देगा। उससे अभीष्ट दो-दो रूप स्वत सिद्ध हो जायेंगे। इस प्रकार "पूङश्च" सूत्र का प्रत्याख्यान हो जाता है।

समीक्षा एव निष्कर्ष

वार्तिककार द्वारा "पूङश्च" सूत्र का प्रत्याख्यान एक पक्षीय ही है। वैसे उन्होने "पूङश्च" सूत्र की सत्ता मे यह महान् अनिष्ट भी दर्शाया है कि

---

१ महा० भा० १, सू० १ २ २२, पृ० २०६।
२ पा० ७ २ ११।
३ महा० भा० १, सू० १ २ २२, पृ० २०६।
४ द्र० महा० प्र० १ २ २२, भा० २, पृ० ३२—'इड्विधौ पूङश्चेति सूत्र वार्तिककार प्रत्याचष्टे—लाघवमनादृत्य सूत्रकारेण पूङश्चेति इड्विधौ पठितम्।'

"पूङ क्त्वा च" से विधीयमान 'क्त्वा निष्ठा' को 'कित्वविकल्प', 'सेट् क्त्वा निष्ठा' को प्राप्त होता है, अनिट् को नहीं। इष्ट यह है कि अनिट 'क्त्वा निष्ठा' को ही 'पूङ्' से परे 'कित्वविकल्प' हो, 'सेट्' को न हो। यह बात सूत्र के अभाव मे ही सिद्ध हो सकती है। किन्तु यदि 'पूङ क्त्वा च' सूत्र मे ऊपर से केवल 'सेट्' की अनुवृत्ति मानी जाये, 'अन्यतरस्याम्' को न मानी जाये, जैसा कि काशिकाकार कहते हैं—

"अन्यतरस्याम् इति न स्वयते, उत्तरसूत्रे पुनर्वावचनात्।"[1]

अर्थात् "पूङ क्त्वा च" सूत्र मे "उदुपधाद्भावादिकर्मणोरन्यतरस्याम्"[2] सूत्र से 'अन्तरस्याम्' की अनुवृत्ति नही आती। क्योकि 'नोपधात् थफान्ताद्वा'[3] इस उत्तरसूत्र मे विकल्पार्थक 'वा' शब्द का ग्रहण किया है। "विभाषामध्ये च ये विधयस्ते नित्या भवन्ति"[4] इस भाष्यवचन से भी यह बात सिद्ध होती है कि दो विभाषा या विकल्पो के मध्य मे जो, विधि होती है, वह नित्य समझी जाती है। तब तो 'सेट् क्त्वा निष्ठा' को नित्य ही 'कित्व निषेध' होने से उक्त दोष नही आयेगा। 'पूङ' से परे 'क्त्वा निष्ठा' को 'सेट्' बनाने के लिये "पूङश्च" यह सूत्र बनाना आवश्यक हो जाता है। इसी बात को भारद्वाजीय आचार्य यो पढते हैं—

"नित्यमकित्त्वमिडाद्यो क्त्वानिष्ठयो क्त्वाग्रहणमुत्तरार्थम् इति।"[5]

इसका भाव यही है कि "पूङ क्त्वा च" सूत्र मे ऊपर से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति नही आती। केवल 'सेट्' की अनुवृत्ति आती है। उससे सूत्र का यह अर्थ हुआ कि 'पूङ्' से परे 'सेट् क्त्वानिष्ठा' प्रत्यय 'कित्' नहीं होते। उसमे 'क्त्वा' का 'कित्वनिषेध' तो "न क्त्वा सेट्"[6] इससे ही सिद्ध है। इसलिए सूत्र मे 'क्त्वा' ग्रहण "नोपधात्थफान्ताद्वा" इत्यादि उत्तरसूत्रो के लिये है जिससे उनमे केवल 'क्त्वा' की ही अनुवृत्ति हो, 'निष्ठा' की न हो।

---

१ महा० भा० १, सू० १२२२, पृ० २०१।
२ पा० १२२१।
३ पा० १२२३।
४ महा० भा० १, सू० १२२२, पृ० २०१।
५ वही।
६ पा० १२१८।

"पूङश्च" सूत्र की सत्ता मे "पूङ क्त्वा च" मे 'सेट्' की अनुवृत्ति लानी पडती है। यदि "पूङश्च" सूत्र न हो तो 'पूङ्' से परे 'सेट् क्त्वा निष्ठा' मिलने सभव ही नहीं। "श्र्युक किति" से नित्य 'इट्' का निषेध प्राप्त है। उस अवस्था में "पूङक्त्वा च" मे केवल 'अन्तरस्याम्' की अनुवृत्ति करके 'पूङ्' से परे अनिट् 'क्त्वा निष्ठा' को ही विकल्प से 'किरव' का निषेध हो जायेगा तो पूर्वोक्त अभीष्ट रूपों की सिद्धि हो जाने से "पूङश्च" सूत्र व्यर्थ सिद्ध हो जाता है।

यदि यह कहा जाये कि "विभाषामध्ये ये विधयस्ते नित्याभवन्ति" इस भाष्यवचन से "पूङ क्त्वा च" सूत्र में अन्तरस्याम्' की अनुवृत्ति न करके इसे नित्यविधि ही माना जायेगा। 'सेट्' की अनुवृत्ति को रोकने में कोई प्रवल प्रमाण नहीं है। इसलिए 'सेट्' की अनुवृत्ति द्वारा सूत्र का अथ होगा कि 'पूङ्' से परे 'सेट् क्त्वानिष्ठा' 'क्ति्' नहीं होते जैसा कि सभी काशिका कौमुदीकार आदि व्याख्यान करते हैं। तब तो 'पूङ्' से परे 'क्त्वा निष्ठा' को 'सेट्' वनाने के लिए "पूङश्च" यह सूत्र वनाना आवश्यक हो जाता है।

इसके अतिरिक्त उत्तर सूत्रो मे भी 'सेड्' ग्रहण की अनुवृत्ति अभीष्ट है अत यहा 'सेड्' ग्रहण की अनुवृत्ति न मानने पर भी 'मण्डूक प्लुति' द्वारा 'सेड्' ग्रहण वहा उपस्थित होता है। उसमे क्लेश स्पष्ट ही है। स्पष्ट प्रतिपत्ति के दृष्टिकोण से भी 'सेड्' ग्रहण की अनुवृत्ति होनी ही चाहिये।[1] उस स्थिति में 'पूङ' से परे 'क्त्वा निष्ठा' को 'सेट्' बनाने के लिए "पूङश्च" सूत्र आवश्यक होने से प्रत्याख्येय नहीं है।

इसलिये अर्वाचीन वैयाकरणो ने भी वार्तिककार की उपर्युक्त एकपक्षीय युक्ति को न स्वीकार करके प्रस्तुत सूत्र को अपने-अपने तन्त्रो मे समुचित स्थान दिया है और आचार्य पाणिनि के "पूङश्च", "पूङ क्त्वा च" इन दोनो सूत्रो के समान इन्होंने भी उक्त दोनो सूत्रो को रखा है।[2] ऐसी स्थिति मे सूत्र का प्रत्याख्यान न्याय्य नहीं है॥

---

१ द्र० श० कौ० भा० २, पृ० १२—'कात्यायनस्तु—पूङश्चेति सूत्र प्रत्याचख्यौ उत्तरसूत्रे वा ग्रहण च। किन्त्वस्मिन् पक्षे उत्तरत्र सेड्ग्रहण मण्डूकप्लुत्यानुवर्तनीयमिति क्लेश'।

२ (क) चा० सू० ५ ५ १११—'पूक्लिशिस्त्वश्च।
वही ६ २ १६—'ततवनोरपूशीस्विदिमिदिक्ष्विद धृष।

विभाषा द्वितीयातृतीयाभ्याम् ॥ ७ ३ ११५॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र अङ्गाधिकारप्रकरण का है। इसका अर्थ है कि 'तीय प्रत्ययान्त' स्त्रीलिङ्ग 'द्वितीया', 'तृतीया' शब्दों से परे ङित् विभक्तियों को विकल्प से 'स्याट्' का आगम होता है। और 'द्वितीया', 'तृतीया' को ह्रस्व भी हो जाता है। जैसे—'द्वितीयस्यै', 'द्वितीयायै।' तृतीयस्यै' 'तृतीयायै।' 'द्वितीयस्याः', 'द्वितीयायाः।' 'तृतीयस्याः', 'तृतीयायाः।' 'द्वितीयस्याम्', 'द्वितीयायाम्।' 'तृतीयस्याम्', 'तृतीयायाम्।' यहाँ "द्वेस्तीय।" "त्रेः सम्प्रसारणं च"[1] इन सूत्रों से 'द्वि', 'त्रि' शब्दों से 'तीय' प्रत्यय करके 'द्वितीय', 'तृतीय' शब्द 'तीयप्रत्ययान्त' बनते हैं उनसे स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' होकर सवर्णदीर्घ एकादेश से 'द्वितीया',' तृतीया' से स्त्रीलिङ्ग शब्द है। उनसे 'ङे', 'ङसि', 'ङस्' 'ङि' इन 'ङित्' विभक्तियों के परे रहते 'स्याट्' आगम विकल्प से हो गया। 'स्याट्' के अभाव में "याडापः"[2] से 'याट्' हो जाता है। वृद्धि, दीर्घ आदि होकर 'द्वितीयस्यै', 'द्वितीयायै' ये दो-दो रूप बनते है। 'स्याट्' पक्ष में 'द्वितीया', 'तृतीया' को ह्रस्व भी होता है। दोनों शब्दों के सर्वनाम संज्ञक न होने से "सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च" इस पूर्वसूत्र से 'स्याट्' का आगम प्राप्त नहीं था। उसके विधान के लिये यह सूत्र बनाया गया है। यही इस सूत्र का प्रयोजन है। पाणिनि के इसी आशय को लेकर आचार्य चन्द्रगोमिन् और

(ख) जै० सू० ५ १ ६८—'पूङः।'
वही १ १ ६२—'न सेट् पूङ्शीङ् स्विद्मिदक्ष्विद्धृषो न'।

(ग) शा० सू० ४ २ १६०—'पूङ्क्लिशो वा'।
वही ४ १ १५४—'शीङ् डीङ् पूङ् स्विदिमिदिक्ष्विद्धृषो न'।

(घ) स० सू० ६ ४ ११७—'पूङ्क्लिशिभ्यां क्त्वश्च'।
वही ७ २ १४—'निष्ठायामशीङ्पूङ्स्विदिमिदिक्ष्विदिधृष।'

(ङ) है० सू० ४ ४ ४५—'पूङ्क्लिशिभ्यो नेवा'।
वही ४ ३ २७—'न डीङ् शीङ् पूङ् धृषिक्ष्विदिस्विदिमिद'।

१ पा० ५ २ ५४, ५५।
२ पा० ७ ३ ११३।
३ पा० ७ ३ ११४।

भोजराज ने भी "द्वितीया तृतीयाद् वा" अथवा "द्वितीया तृतीयाभ्यां वा" ऐसा सूत्र बनाया है।[1] ये भी इन दोनों शब्दों को 'ङित्' विभक्तियों के परे रहते 'स्याट्' का आगम तथा ह्रस्व करते हैं।

उपसंख्यान वार्तिक का आश्रयण करके सूत्र का प्रत्याख्यान

भाष्यकार इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए "वा प्रकरणे तीयस्य ङित्सूपसंख्यानम्" इस उपसंख्यान वार्तिक का आश्रयण करते हैं। उनका कथन है—

"वा प्रकरणे तीयस्य ङित्सूपसंख्यानं कर्तव्यम्। द्वितीयस्यै, द्वितीयायै द्वितीयस्यै, तृतीयायै। विभाषा द्वितीया तृतीयाभ्याम् इत्येतन्न वक्तव्यं भवति। किं पुनरत्र ज्याय। उपसंख्यानमेवात्र ज्याय। इदमपि सिद्धं भवति—द्वितीयाय, द्वितीयस्मै। तृतीयाय, तृतीयस्मै"[2]।

यहां भाष्यकार का आशय यह है कि यह उपसंख्यान वार्तिक ही व्यापक होने से रख लेना चाहिये। "विभाषा द्वितीयातृतीयाभ्याम्" इस सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यह केवल स्त्रीलिङ्ग 'द्वितीया', 'तृतीया' शब्दों में ही प्रवृत्त होता है। पुलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग 'द्वितीय', 'तृतीय', शब्दों में इसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिये इस सूत्र की अपेक्षा यह उपसंख्यान वार्तिक ही ज्यायान् है। इस वार्तिक का अर्थ है कि सर्वनाम संज्ञा के विकल्प प्रकरण में 'तीय प्रत्ययान्त' शब्दों का भी 'ङित्' विभक्तियों के परे रहते कथन कर देना चाहिये अर्थात् 'तीय' प्रत्ययान्त 'द्वितीय', 'तृतीय' शब्दों की भी 'ङितविभक्तियों' में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है ऐसा कहना चाहिये। उससे न केवल 'स्याडागम' ही अपितु 'स्मै' आदि भी सर्वनाम संज्ञापक्ष में हो जायेंगे—द्वितीयस्यै, 'द्वितीयाय'। 'तृतीयस्यै', 'तृतीयाय' यहां पुलिङ्ग नपुंसकलिङ्ग 'द्वितीय' 'तृतीय' शब्दों में 'ङे' विभक्ति परे रहते सर्वनाम संज्ञा के पक्ष में "सर्वनाम्नः स्मै"[3] से आदेश सिद्ध हो जाता है। "द्वितीया', 'तृतीया' शब्दों में 'टाप्' के सवर्णदीर्घ एकादेश को 'अन्तादिवच्च"[4] से पूर्व के प्रति अन्तवद्भाव मानकर 'तीय' प्रत्ययान्तता बन जाती है। अतः 'द्वितीयस्यै', 'द्वितीयायै',

---

१ चा० सू० ६ २ ५८। भ० सू० ७ २ ५५।
२ महा० भा० १, सू० १ १ ३६ पृ० ६३।
३ पा० ७ १ १४।
४. पा० ६ १ ८५।

इत्यादि में वार्तिक द्वारा सर्वनाम संज्ञा का विकल्प होकर पक्ष में "सर्वनाम्न स्याड् ढ्रस्वश्च"[1] से ही 'स्याट्' आगम और ह्रस्व सिद्ध हो जायेंगे तो यह सूत्र व्यर्थ है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यहां भाष्यकार ने अपनी युक्तिप्रयुक्तियों से अधिक लक्ष्य संग्रह का ध्यान रखकर इस सूत्र का खण्डन कर दिया है जो समुचित ही है। किन्तु इस प्रसङ्ग में पदमंजरीकार हरदत्त तो भाष्यकार से सर्वथा विरुद्ध ही वचन कहते हैं। उनके शब्द हैं—

"नैतद् युक्तमुच्यते। यदि सूत्रेणासिद्ध तदुपसंख्यानेन साधनीयम्। न पुनरुपसंख्यानाश्रयणेन सूत्रस्य प्रत्याख्यानं युज्यते। यदि पुनरत्र ह्रस्वयोर्ग्रहणं कृत्वा स्याड्ग्रहणं च निवर्त्य सर्वनाम्न इत्येवानुवर्त्यातिदेश आश्रीयते। सर्वनाम्नो यदुक्तं तद् विभाषा भवति द्वितीयतृतीययोरिति तदोपसंख्यानं शक्यमकर्तुमिति।"[2]

न्यासकार भी पदमञ्जरीकार से सहमत होते हुए कहते हैं—

"अन्ये त्वनेनैव स्याडादयः सिध्यन्तीत्युपसंख्यानमेव प्रत्याचक्षते। वयम्। सर्वनाम्न इत्येतदिहानुवर्तते। स्याडिति निवृत्तम्। तेनैवमभिसम्बन्धः क्रियते—सर्वनाम्नो ङिति यदुक्तं तद् विभाषा द्वितीयतृतीयाभ्यां भवतीति। तेन स्याडादयोऽप्यनेनैव भविष्यन्ति इति नार्थ उपसंख्यानेन।"[3]

एक दृष्टि से न्यासकार तथा पदमंजरीकार की बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि सूत्रकार ने वार्तिककार के वार्तिक को देखकर सूत्र नहीं बनाया था। सूत्रकार के समय वार्तिक की सत्ता नहीं थी। अतः इसके आधार पर सूत्र का खण्डन कुछ युक्तिसंगत नहीं जचता। इसके अतिरिक्त वार्तिक का प्रयोजन भी उक्त उपाय से गतार्थ हो सकता है। अतः भाष्यकारकृत प्रत्याख्यान कुछ दुर्बल सा प्रतीत होता है तथापि न्यासकार तथा पदमंजरीकार का समर्थन नहीं किया जा सकता। क्योंकि उक्त अनुवृत्तिरूप उपाय से मन्द बुद्धियों को स्पष्ट प्रतिपत्ति नहीं हो सकेगी। उसमें क्लिष्ट कल्पना से गौरवातिशय ही होगा। अतः स्फुट बोध की दृष्टि से सूत्र स्थापनीय ही ठहरता

---

१ पा० ७.३.११४।
२ प० मं० सूत्र ७.३.११५।
३ प्रकृतसूत्रीय न्यास।

है। नागेश तो भाष्यकार का ही समर्थन करते हुए कहते है—

"तीयस्येत्यस्य पुनपुसकाथमावश्यकत्वादिति भाव । ननु भागार्थकान्-प्रत्ययान्ते लाक्षणिकतया तीयस्येति वार्तिकस्याप्रवृत्तौ भवतो विवक्षितायां स्त्रीलिङ्गे विकल्पार्थं सूत्रमावश्यकम् । अत्र सूत्रे तु न प्रतिपदोक्तपरिभाषा प्रवर्तते । प्रतिपदोक्तस्याभावात् इति चेन, भागार्थे विधीयमानस्य स्त्रीत्वाभावात् । अत्र च प्रत्याख्यानपर भाष्य मानम् । अतएव सज्ञोपमर्जनार्थमपि न । सर्वनाम्न स्याडिति साहचर्याच्च ।"[1]

यहा नागेश का यही आशय है कि 'द्वितीया भक्ति —द्वितीया' इस अर्थ मे 'पूरणाद्भागे तीयादन्'[2] से स्वार्थ मे 'भाग' या 'भक्ति' अथ का अभिधान करने के लिये जो 'अन्' प्रत्ययान्त 'द्वितीया' शब्द है, उसके लाक्षणिक होने से 'तीयस्य ङित्सूपसख्यानम्'[3] मे ग्रहण नही होगा तो स्त्रीलिङ्ग मे 'स्याट्' का विकल्प करने के लिये यह सूत्र होना चाहिये, यह भी बात ठीक नही *क्योकि इस सूत्र के प्रत्याख्यानपरक भाष्य से यह समझा जायेगा कि 'अन्'* प्रत्ययान्त 'द्वितीया' शब्द की स्त्रीलिङ्ग मे अप्रवृत्ति होती है। इसीलिये सज्ञा और उपसर्जन अर्थ मे भी स्त्रीलिङ्ग 'द्वितीया' शब्द की प्रवृत्ति नही होती, यह इस सूत्र के प्रत्याख्यान से समझा जाता है। "सर्वनाम्न स्याड् ढ्रस्वश्च"[4] इस पूर्ववर्ती सूत्र से सवनाम शब्द का साहचर्य भी सज्ञोपसर्जन की व्यावृत्ति के लिये प्रबल उपोद्बलक है। शब्दरत्नकार भी भाष्यकार का ही समथन करते हुए कहते हैं—

"तृतीय शब्दसाहचर्येण सहायवाचिद्वितीया शब्दस्य न ग्रहणम् । भागार्थे विधीयमानस्यानो भक्तेर्विशेष्यत्वेन न स्त्रीत्वमनभिधानात् । एतेन तत्र लाक्षणिकत्वात् वार्तिकाप्रवृत्ताविदमावश्यकम् इति परास्तम् ।"[5]

इन सब समर्थनो से तथा 'यथोत्तर मुनीना प्रामाण्यम्'[6] इस प्रसिद्ध

---

१ बृ० श० शे०, भा० १, सू० १ १ २८, पृ० ४२८-२६ ।

२ पा० ५ ३ ४८ ।

३ महा० भा० १, सू० १ १ ३६ पर वार्तिक, पृ० ६३ ।

४ पा० ७ ३ ११४ ।

५ प्रौढमनोरमास्य लघुशब्दरत्न, स० सीताराम शास्त्री—भा०, १ सू० १ १ २८, पृ० ४२० ।

६ वै० सि० कौ० भा० १, सू० १ १२६, पृ० २२३ ।

न्याय से भाष्यकार विहित इस सूत्र का प्रत्याख्यान ही न्यायोचित है। यही कारण है कि अर्वाचीन वैयाकरण चन्द्रगोमिन्, देवनन्दी, शाकटायन तथा हेमचन्द्र आदि ने प्रकृत सूत्र को न रखकर भाष्यवार्तिककार द्वारा प्रस्तावित संशोधन ही "तीयस्यङिति", "तीय ङिति", "तीयङित्वार्ये वा" इत्यादि के रूप में अपने-अपने तन्त्रों में पढ़ा है।[1] प्रस्तुत सन्दर्भ में आचार्य चन्द्रगोमी तथा भोज अन्य वैयाकरणों की अपेक्षा अपेक्षित लाघव न प्राप्त कर सके। उक्त प्रयोगों के लिए इन्होंने दो सूत्र अलग-अलग बनाये हैं।[2] जबकि एक सूत्र से भी इष्ट साधन किया जा सकता था जैसा कि अभी ऊपर दिखाया गया है ॥

न क्वादेः ॥७ ३ ५९॥

अजिव्रज्योश्च ॥७ ३ ६०॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

ये अङ्गाधिकार के सूत्र हैं। इनका क्रम से अर्थ है—'कवर्ग' है आदि में जिसके ऐसे धातु के चकार, जकार को 'कुत्व' नहीं होता। 'अज्' और 'व्रज्' धातुओं के जकार को भी 'कुत्व' नहीं होता। जैसे—'कूज्यम्।' 'खर्ज्यम्।' 'गर्ज्यम्।' 'समाज।' 'परिव्राज।' 'कूज्यम्' में 'कूज्' धातु से "ऋहलोर्ण्यत्"[3] से 'ण्यत्' प्रत्यय होता है। "चजोः कु घिण्ण्यतोः"[4] से प्राप्त 'कुत्व' का यह सूत्र निषेध कर देता है। क्योंकि 'कूज्' धातु 'कवर्गादि' है। इसी तरह 'खर्ज्यम्' में 'खर्ज्' धातु से ण्यत् है। 'गर्ज्यम्' में 'गर्ज्' धातु से ण्यत् है। सभी कवर्गादि हैं। इसलिये जकार को 'कुत्व' का निषेध हो जाता है। 'समाज' में 'सम्' पूर्वक 'अज्' धातु है। 'परिव्राज' में 'परि' पूर्वक 'व्रज्'

---

१ जै० सू० ११४४।
   शा० सू० १२१७३।
   है० सू० १४१४।
२ चा० सू० ६२५८, २११६—"द्वितीयातृतीयाद्वा"। "स्मै च तीयात्।"
   सा० सू० ७२५५, ३१७४—"द्वितीयातृतीयाभ्यां वा।" "स्मे चतीयात्।"
३ पा० ३११२४।
४. पा० ७३५२।

धातु है। दोनो से 'घञ्' प्रत्यय हुआ है। "चजो कु०" से प्राप्त 'कुत्व' का "अजिव्रज्योश्च" से निषेध होकर 'उपधावृद्धि' द्वारा 'समाज', 'परिव्राज' बन जाते हैं। 'कूज', 'खर्ज', 'गज' यहा 'कूज्' आदि से 'घञ्' प्रत्यय परे होने पर "चजो कु" से प्राप्त 'कुत्व' का निषेध हो जाता है।

न्यासान्तर से सूत्र का प्रत्याख्यान

यहा वार्तिककार इन सूत्रों का प्रत्याख्यान करते हैं जिसे भाष्यकार भी स्वीकार करते हैं। वार्तिक है—

"क्वाचजिव्रजियाचिरुचीनामप्रतिषेधो निष्ठायामनिट कुत्ववचनात्"।[1]

इसका अर्थ है कि "चजो कु घिण्यतो" इस 'कुत्वविधान' करने वाले सूत्र में "निष्ठायामनिट" ऐसा कह देना चाहिये जिससे "न क्वादे", "अजिव्रज्योश्च" इन सूत्रों की आवश्यकता न रहेगी। जो धातु निष्ठा मे 'अनिट्' हैं, उन्ही को 'कुत्व' होता है, अन्य को नही, ऐसा कहने पर 'कवर्गादि' 'कूज्' 'खर्ज्' 'गज्' आदि धातुओ के निष्ठा मे 'अनिट्' न होने से 'कुत्व' प्राप्त ही नही होगा तो निषेध करना व्यर्थ है। 'कूज्' आदि सब धातु निष्ठा मे 'सेट्' हैं। 'कूजितम्'। 'गर्जितम्' रूप बनते हैं। यद्यपि 'अज्' धातु को "अजेर्व्यघञपो"[2] से 'वी' आदेश विकल्प से होकर 'वीतम्' यह निष्ठा मे 'अनिट्' रूप बनता है तो भी वह 'अज्' नही है और न ही उसमे चकार, जकार हैं जिससे 'कुत्व' प्राप्त हो, इसलिये उक्त दोनों सूत्र "निष्ठायामनिट" इस न्यास से 'कुत्वप्राप्ति' से व्यावृत्त हो जाते हैं। इन सूत्रों के स्थान मे "निष्ठायामनिट" यह वचन ही सर्वसाधारण धातुओ के लिये उपयोगी हो जायेगा। जिन धातुओ की निष्ठा मे 'इट्' नही होता उन्ही को 'कुत्व' होगा। 'सेट्' निष्ठा वाली धातुओ को नही होगा।

यद्यपि "निष्ठायामनिट" इस वार्तिककार के न्यास मे भी यह दोष आता है कि 'मुचु', 'ग्लुचु', 'कुजु', 'खुजु' इन धातुओ के 'उदित्' होने से सब निष्ठा में 'अनिट्' हैं। क्योंकि 'यस्य विभाषा'[3] से ये सब धातुए निष्ठा मे 'अनिट्' बन जाती हैं, जिनको कही भी विकल्प से 'इड्विधान' किया गया है। 'मुचु',

---

१ महा० भा० ३, प्रकृत सूत्र, पृ० ३३१।
२ पा० २४५६।
३ पा० ७२१५।

'ग्लुचु' आदि को "उदितो वा"[1] से 'क्त्वा' प्रत्यय में 'इट्' का विकल्प होता है, इसलिये इनसे परे निष्ठा में सर्वथा 'इट्' का निषेध हो जाता है। ये भी निष्ठा में 'अनिट्' बन जाती हैं तो वार्तिककार के मत में इनको 'कुत्व' प्राप्त होता है, परन्तु सूत्रकार आचार्य पाणिनि के मत में इन सब धातुओं के 'कवर्गादि' होने से "न क्वादे" से 'कुत्वनिषेध' प्राप्त होता है। ऐसी अवस्था में फलभेद होने पर क्या किया जाये। इसके अतिरिक्त 'अर्ज्', 'सर्ज', 'तर्ज' धातुओं ने निष्ठा में 'सेट्' होने से 'कुत्व' प्राप्त नहीं होगा जबकि इन्हें कुत्व इष्ट है। 'निष्ठायामनिट' कहने पर 'शोक', 'समुद्ग' यहाँ भी 'कुत्व' प्राप्त नहीं होगा। क्योंकि 'शुच्' और 'उब्ज्' ये दोनों धातु निष्ठा में 'सेट्' है। यद्यपि 'ईशुचिर् पूतिभावे' यह 'शुच्' धातु 'ईदित्' होने से "श्वीदितो निष्ठायाम्"[2] के वचन से निष्ठा में 'अनिट्' है, तो भी 'शुच् शोके' तो 'सेट्' ही है। शोक में 'शुच् शोके' धातु ही है, 'ईशुचिर्' नहीं, यह तो 'शोक' शब्द के अर्थ में ही प्रकट हो रहा है।

यदि यह कहा जाये कि 'शोक' 'समुद्ग' के लिये तो विशेष रूप से "शुच्युब्जोर्घञि कुत्वम्"[3] यह वचन कहकर केवल 'घञ्' में ही कुत्वविधान सिद्ध हो जायेगा तो भी 'अर्क' में 'कुत्व' न हो सकेगा। 'अर्च्' धातु निष्ठा में 'सेट्' है। यदि पुनः यह शंका की जाये कि 'अर्क' में भी 'अर्च्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय न करके औणादिक 'क' प्रत्यय "कृदधाराचिकलिभ्यः कः"[4] से करके 'अर्क' बना लिया जायेगा और 'समुद्ग' को भी 'उब्ज्' से न बनाकर 'सम्+उद्' पूर्वक गम् धातु से 'ड' प्रत्यय करके बना लिया जायेगा, तो भी वार्तिककार तथा सूत्रकार के वचनों से प्रयोगों में जो फलभेद हो रहा है उसका क्या समाधान किया जायेगा, तो इसका स्पष्ट उत्तर है कि सूत्रकार की अपेक्षा वार्तिककार के अधिक प्रामाणिक होने से उन्हीं की बात मानी जायेगी।[5] "न क्वादे" "अजिव्रज्योश्च" ये न बनाकर "निष्ठायामनिट" यह न्यास ही बनाया जायेगा। उससे फलभेद न होगा।

---

१ पा० ७.२.५६।

२ पा० ७.२.१४।

३ महा० भा० ३, प्रकृत सूत्र पर वार्तिक, पृ० ३३३।

४ उणादि, ३२७।

५ द्र० महा० प्र०, सू० १.१.२६। "यथोत्तरं हि मुनित्रयस्य प्रामाण्यम्"।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

उक्त दोनो सूत्रों को अव्याप्ति दोष ग्रस्त समझते हुए आचार्य कात्यायन ने अपना व्यापक अभीष्ट लक्ष्यसाधक "निष्ठायामनिट" यह न्यास करके सूत्रों का प्रत्याख्यान कर दिया है। यद्यपि दोष इस न्यास में भी हैं तो भी उनका समाधान होने में तथा भाष्यकार द्वारा इस न्यासान्तर का निराकरण न किया जाने से यह बात समझी जा सकती है कि जो वार्तिककार को अभिमत है अर्थात् जहा वे 'कुत्व' चाहते हैं वही सिद्ध तद्रूप में माननीय है। इसीलिये प्रदीपकार लिखते हैं—

"ननु ग्रुचु, ग्लुचु, कुजुखुजूना निष्ठायामनिट्त्वात् घिण्यतो कुत्व वार्तिककारमते प्राप्नोति, सूत्रकारमते तु न क्वादेरिति प्रतिषेधप्रसङ्ग। तथार्जिसर्जितर्जीना निष्ठाया सेट्त्वात् कुत्वाप्रसङ्ग। उच्यते, वार्तिककारस्य सूत्रकारात् प्रमाणतरत्वात् तन्मतेन कुत्वस्य भावाभावावगन्तव्यौ।"[1]

उद्योतकार नागेश भी कैयट का समर्थन करते हुए कहते हैं—

"भाष्यकृता निष्ठायामनिट इति वार्तिककृन्न्यासस्याप्रत्याख्यानात्। भाष्यकारस्य चाज्ञानकल्पनापेक्षया एकस्य सूत्रकृतस्तत्कल्पना युक्तेति भाव। उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ताकरत्व हि वार्तिकत्वम्।"[2]

पदमञ्जरीकार हरदत्त भी इससे सर्वथा सहमत हैं। वे कहते हैं—

"यथोत्तर मुनीना प्रामाण्यम् इति वार्तिकानुसारेण कुत्वस्य भावाभावौ व्यवस्थाप्यौ इति।

सबसे पहले प्रमाणभूत तो सूत्रकार आचार्य पाणिनि हैं। उनसे ऊपर वार्तिककार कात्यायन हैं। उनमे भी ऊपर प्रमाणभूत भाष्यकार पतजलि हैं। पाणिनि ने सूत्र बनाया—"भोज्य भक्ष्ये।"[3] उसके खण्डन मे वार्तिककार ने कहा—'भोज्यमभ्यवहार्ये।" उसके भी खण्डन करने के लिये पतजलि ने कहा—"भोज्य भक्ष्ये इत्येव सिद्धम्"। यहा भाष्यकार ने वार्तिककार की बात न मानकर सूत्रकार की मान ली। पाणिनि ने सूत्र बनाया—"न क्वादे।" उसके खण्डन के लिये कात्यायन ने कहा—"निष्ठायामनिट कुत्वम्'। उसके बाद भाष्यकार ने दोनो का पर्यालोचन करके वार्तिककार के न्यास का

---

१ प्रकृतसूत्रस्य महा० प्र०, भा० ५, पृ० २२०।

२ प्र० महा० प्र० उ० भा० ५, प्रकृत सूत्रस्य, पृ० २२०।

३ पा० ७ ३ ६९।

समर्थन कर दिया। पाणिनि का निराकरण किया। पाणिनि ने सूत्र बनाया—"भुजन्युब्जौ पाण्युपतापयो।"[1] उस पर कात्यायन ने "भुज पाणौ" कहकर केवल 'भुज' को रख लिया और "न्युब्जे कर्तृस्वादप्रतिषेध" कहकर 'न्युब्ज' का खण्डन कर दिया। आगे भाष्यकार ने वार्तिककार की बात का ही अनुसरण किया। यद्यपि वे घञन्त 'भुज' शब्द को 'क प्रत्ययान्त' मानकर स्वरव्यत्यय से सिद्ध करते हुए खण्डन कर सकते थे और इस प्रकार समस्त सूत्र ही प्रत्याख्यात हो सकता था, परन्तु उन्होंने वैसा नहीं किया। इससे प्रतीत होता है कि तीनों मुनियों में उत्तरोत्तर प्रमाण हैं। प्रस्तुत प्रसङ्ग में अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी प्रायः भाष्यवार्तिककार द्वारा प्रस्तावित संशोधनों को स्वीकार करते हुए उसे ही अपने-अपने तन्त्रों में स्थान दिया है।[2] इससे भी सूत्रों का प्रत्याख्यान पक्ष ही प्रबल होता है। क्योंकि जहां पाणिनि को दो सूत्र पढ़ने पड़ते थे वहां वार्तिककार ने बिना किसी विशेष यत्न के न्यासान्तर द्वारा एक सूत्र से ही काम चला दिया। अतः इनका खण्डन न्याय्य ही है। हां, आचार्य चन्द्रगोमी तथा भोज सूत्रकार के सूत्र का ही समर्थन करते हैं[3] जोकि विशेष महत्त्व नहीं रखता॥

पदान्तस्य ॥८।४।३७॥

सूत्र का प्रतिपाद्य

यह सूत्र 'णत्व' का निषेध करता है। "अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि"[4] से 'न' को 'णत्व' प्राप्त होता है। उसका पदान्त में निषेध हो जाता है। इस सूत्र का यही अर्थ है कि पद के अन्त में आने वाले नकार को णकार नहीं होता। जैसे—'वृक्षान्।' 'प्लक्षान्।' 'रामान्' इत्यादि। यहाँ पद के अन्त में आने वाले नकार को णकार नहीं हुआ।

१ पा० ७।३।६०।
२ जै० सू० ५।२।५६—'यजो कु पिण्यमोस्तेऽनिट।'
शा० सू० ४।१।१७१—'कोऽनिट् यज कुधिति।'
है० सू० ४।१।१११—'कोऽनिटश्चजो: कगौ घिति'।
३ चा० सू० ६।१।६०-६१—'न ववादे। अजिव्रजो।
स० सू० ७।२।११७—'न ववाद्यजिव्रज्यादे।
४. पा० ८।४।२।

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

"अपदान्तस्य मूर्धन्य"[1] सूत्र के भाष्य मे भाष्यकार ने इस सूत्र को अनावश्यक बताकर इसका प्रत्याख्यान कर दिया है। वहा भाष्यकार लिखते हैं—

"अवश्य मूधन्यग्रहण कर्तव्यम्। इहार्थमुत्तरार्थं च। इहार्थं तावत् इण-षीध्व लुङ्लिटा धोऽङ्गात्" इत्यत्र मूधन्यग्रहण ढ ग्रहण वा कर्तव्य भवति। उत्तरार्थं च—रषाभ्या नो ण समानपदे इत्यत्र णकारग्रहण न कत्तव्य भवति। तत्रायमप्यर्थं पदान्तस्य नेति प्रतिषेधो न वक्तव्यो भवति। अपदान्ताभिसम्बद्ध मूर्धन्यग्रहणमनुवर्तते।"

इसका तात्पर्य यह है कि "अपदान्तस्य मूर्धन्य" इस अधिकार सूत्र मे 'अपदान्त' के साथ 'मूर्धन्य' ग्रहण भी अवश्य करना चाहिये जिससे 'अपदान्त' अर्थात् पदान्त भिन्न को ही 'मूर्धन्य' आदेश हो, पदान्त को न हो। इससे षत्व प्रकरण में और णत्वप्रकरण मे पदान्तभिन्न को ही कार्य होगा। "इण षीध्व लुङ्लिटा धोऽङ्गात्"[2] सूत्र मे धकार को मूर्धन्य' ढकार करने के लिये 'ढकार' ग्रहण या 'मूर्धन्यग्रहण' अलग नहीं करना पडेगा। "अपदान्तस्य मूर्धन्य" की ही अनुवृत्ति होकर मूर्धन्य' णकार हो जायेगा। इसी प्रकार "रषाभ्या नोण समानपदे"[3] सूत्र मे 'णकार' ग्रहण भी नही करना पडेगा। ऊपर से 'मूर्धन्य' की अनुवृत्ति होकर 'न' को 'मूर्धन्य' णकार हो जायेगा। "अपदान्तस्य मूर्धन्य" इस सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति होने पर यह लाभ भी होगा कि "पदान्तस्य" यह 'णत्व निषेध' करने वाला प्रकृत सूत्र भी न बनाना पडेगा, यह लाघव हो जायेगा।[4] क्योंकि अपदान्त अर्थात् पदान्तभिन्न को ही मूर्धन्य' एव 'णत्व' होगा। पदान्त को 'णत्व' नही होगा।

इस प्रकार भाष्यकार द्वारा इस सूत्र का प्रत्याख्यान हो जाता है। पदान्त भिन्न मे 'णत्व' को भी रोकने के लिये "अपदान्तस्य मूधन्य" इस

---

१ पा० ८ ३ ५५।
२ पा० ८ ३ ७८।
३ पा० ८ ४ १।
४ महा० प्र०, प्रकृत सूत्रस्य—'रषाभ्यामित्यत्रापदान्तग्रहणानुवर्तनात्-पदान्तस्येति सूत्र न कर्तव्य भवतीति लाघव सम्पद्यते।'

सूत्र मे 'मूर्धन्य' ग्रहण किया है। अन्यथा "अपदान्तस्य ष" ऐसा ही कह दिया जाता। अथवा 'इण ष'[1] इस सूत्र से षकार की अनुवृत्ति आ जाने पर 'षकार' ग्रहण करना भी व्यर्थ होता। 'अपदान्तस्य' इतना ही सूत्र बना दिया जाता। 'मूर्धन्य' ग्रहण का प्रयोजन ही यह है कि 'मूर्धन्य' षकार के साथ 'मूर्धन्य णकार' भी अपदान्त मे विहित हो। पदान्त मे विहित न हो।

समीक्षा एव निष्कर्ष

काशिका आदि वृत्तिकारो ने "अपदान्तस्य मूर्धन्य" इस सूत्र का अधिकार अष्टमाध्याय के तृतीयपाद की समाप्ति तक माना है।[2] अर्थात् केवल षत्वविधान प्रकरण तक ही "अपदान्तस्य मूर्धन्य" का अधिकार है। चतुर्थपाद के आरम्भ मे 'रषाभ्या नोण समानपदे'[3] इत्यादि सूत्रो से विहित 'णत्व प्रकरण' मे उक्त सूत्र का अधिकार नही है, ऐसा वृत्तिकारो का मत है। किन्तु भाष्यकार ने 'अपदान्तस्य मूर्धन्य' का अधिकार 'णत्व प्रकरण' तक मानकर "पदान्तस्य" सूत्र का खण्डन कर दिया है। ऐसी स्थिति मे यदि वृत्तिकारो की बात मानी जाये तब तो 'णत्वप्रकरण' में 'अपदान्त' का अधिकार न होने से पदान्त मे नकार को 'णत्व' प्राप्त होता है। उसको रोकने के लिए "पदान्तस्य" सूत्र आवश्यक है। अर्वाचीन वैयाकरणो ने तो अपने-अपने तन्त्रो मे प्रकृत सूत्रस्थानापन्न "अन्ते", "पदान्तस्य" इत्यादि सूत्र बनाकर काशिकाकार का ही समर्थन किया है।[4] इसका कारण सभवत उनके तन्त्रो

---

१ पा० ८ ३ ३९।

२ द्र० का० भा० ६, सू० ८ ३ ५५, पृ० ५४१—'अपदान्तस्य इति मूर्धन्य इति चैतदधिकृत वेदितव्यमापादपरिसमाप्ते।'

३ पा० ८ ४ १।

४ (क) चा० सू० ६ ४ १३१ 'अन्ते।'

(ख) जै० सू० ५ ४ ११५—'अन्तस्य।'

(ग) शा० सू० १ २ ५४—'अन्त क्षुम्नादीनाम्।'

(घ) स० सू० ७ ४ १४४—'पदान्तस्य।'

(ङ) है० सू० २ ३ ६३—'रषृवर्णाद् नो ण एकपदेऽनन्त्यस्याल च ट तवर्ग शसान्तरे।'

५ द्र० महा० प्र० भा० ५, सू० ७ ४ २४, पृ० २५६—'वृत्तिकारारत्वधिकाराणा प्रवृत्तिनिवृत्ती व्याचक्षते।'

में "अपदान्तस्य मूधन्य" इस अधिकार सूत्र का न होना है। इस प्रकार प्रकृत सूत्र की प्रयोजनवत्ता और निरर्थकता "अपदान्तस्य मूधन्य" इस सूत्र के अधिकार की 'णत्वप्रकरण' तक प्रवृत्ति पर ही निर्भर है। वैसे अधिकारो की प्रवृत्ति-निवृत्ति को बतलाना वृत्तिकारो का काम है' तथापि भाष्यकार व्याकरणशास्त्र के प्रमाणभूत आचार्य है और उनके द्वारा प्रस्तावित अधिकार की सीमा को बढाने से कोई अनिष्ट भी नही होता अत 'अपदान्तस्यमूध य' सूत्र का अधिकार 'णत्वप्रकरण' तक ही मानना चाहिये। जहा तक स्पष्ट प्रतिपत्ति का सम्बन्ध है, उसमें भी कोई क्लिष्ट कल्पना गौरव नही करना पडता। अत भाष्यकार द्वारा प्रकृत सूत्र का प्रत्याख्यान न्याय्य ही है जिससे इष्टापत्ति के साथ-साथ आवश्यक लाघव भी हो सके॥

चतुर्थ अध्याय

नियम सूत्रों का प्रत्याख्यान

ते प्राग्धातो ॥१४८०॥

छन्दसि परेऽपि ॥१४८१॥

व्यवहिताश्च ॥१४८२॥

सूत्रों की सप्रयोजन स्थापना

ये तीनो सूत्र 'प्र', 'परा' आदि शब्दो के प्रयोग तथा उनकी 'गति', 'उपसर्ग सज्ञा' का नियम विधान करते है। इनमे प्रथम सूत्र का अर्थ है कि क्रिया योग मे जिनकी 'गति', 'उपसर्ग सज्ञा' की गई है ऐसे वे 'प्र', 'परा' आदि शब्द धातु से पूर्व प्रयुक्त होते है, धातु के इधर-उधर नही। जैसे—'प्रपचति।' 'अनुभवति।' यहा 'प्र' और 'अनु' शब्दो का धातु से पूर्व प्रयोग हुआ है। दूसरे सूत्र का अर्थ है कि छन्द मे अर्थात् वेद मे 'प्र', 'परा' आदि शब्दो का धातु से परे भी प्रयोग हो जाता है। जैसे—'निहन्ति।' इसके साथ 'हन्ति नि'—यहा 'नि' शब्द का 'हन्' धातु से परे भी प्रयोग हो गया है। तीसरे सूत्र का अर्थ है कि वेद मे 'प्र', 'परा' आदि शब्दो का धातु के व्यवधान मे भी प्रयोग हो जाता है। जैसे—"आ मन्द्रैरिन्द्र याहि"[1] यहा "आयाहि' इस प्रकार अव्यवहित प्रयोग करने के स्थान में 'आ' और 'याहि' का व्यवहित प्रयाग भी वेद में होता है।

उदाहरण सहित इन सूत्रो का अर्थ व्यवस्थित होने पर भी यहा दो प्रकार का नियम सभावित होता है। एक प्रयोग का नियम तथा दूसरा सज्ञा का नियम। 'प्रयोगनियम' का स्वरूप यह है कि 'प्र', 'परा' आदि शब्दो का धातु से पूर्व ही प्रयोग होता है। अन्यत्र इधर-उधर प्रयोग नही हो सकता। धातु से परे या उसके व्यवधान में भी नही हो सकता। ऐसी अवस्था में छन्द में धातु से परे तथा व्यवहित प्रयोग का विधान करने के लिये "छन्दसि

---

१ मा० यजु, २०५३।

परेऽपि", "व्यवहिताश्च" ये दोनों सूत्र बनाने होंगे। साथ ही "अनुकरण चानितिपरम्"[1] इस सूत्र में 'अनितिपरम्' इस शब्द का ग्रहण करना होगा। जिससे 'खाडिति कृत्वा निरष्ठीवत्' (उसने खरड-खरड करके थूक दिया) यहा 'इति' शब्द परे रहने 'खाट्' इस अनुकरण शब्द की 'गतिसंज्ञा' न हो। क्योंकि 'प्रयोगनियम' में धातु से पूर्व ही 'खाट्' शब्द का प्रयोग होगा तो 'इति खाट्कृत्य' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होगा। 'संज्ञानियम' का स्वरूप यह है कि 'प्र', 'परा' आदि शब्दों का धातु से पहले पीछे व्यवहित जहा चाहो प्रयोग हो सकता है किन्तु 'गति' और 'उपसर्ग संज्ञा' तभी होगी जब वे धातु से पूर्व प्रयुक्त होंगे। ऐसी अवस्था में 'प्र', 'परा' आदि शब्दों का प्रयोग यथेच्छ होने के कारण वे वेद में धातु से परे तथा व्यवधान में भी प्रयुक्त हो जायेंगे तो उक्त दोनों सूत्र बनाने नहीं पड़ेंगे, यह लाघव भी होगा। साथ ही "अनुकरण चानितिपरम्" यहा 'अनितिपरम्' शब्द का ग्रहण भी नहीं करना पड़ेगा। 'खाडिति कृत्वा' इस अनुकरण शब्द में 'इति' शब्द का व्यवधान होने से 'गतिसंज्ञा' प्राप्त ही नहीं होगी तो 'अनितिपरम्' यह निषेध करना व्यर्थ है। 'खाट्' की 'गतिसंज्ञा' ही तब होगी जब वह धातु से पूर्व प्रयुक्त होगा।

अनिष्टादर्शन होने से सूत्रों का प्रत्याख्यान

अर्थोदाहरण सहित उक्त तीनों सूत्रों के व्यवस्थित होने पर भी वार्तिककार से सहमत न होकर भाष्यकार इनका प्रत्याख्यान करते कहते है—"उभयोरनर्थकं वचनमनिष्टादर्शनात्"।[2]

इसका भाव है कि दोनों ही नियमों में ये सूत्र निरर्थक है। इनके बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्या 'प्रयोगनियम' और क्या 'संज्ञानियम' दोनों अवस्थाओं में ही ये व्यर्थ हैं क्योंकि कहीं अनिष्ट प्रयोग नहीं दीखता। कोई मनुष्य 'प्रपचति' के स्थान में 'पचति प्र' का प्रयोग नहीं करता। यदि कहीं अनिष्ट दिखाई देता तो उसके लिये यत्न करने की आवश्यकता थी। वैसी बात यहा नहीं है। लोक में तो 'प्र', 'परा' आदि का धातु से परे या व्यवधान में कहीं प्रयोग नहीं दीखता। जो 'गौ', 'गावी', 'गौणी' आदि लोक में सकीर्ण प्रयोग है, उनमें असाधु शब्दों को छोड़ने तथा साधु शब्दों के परिज्ञान के लिये शास्त्र द्वारा यत्न किया जाता है।[3] किन्तु जो असंदिग्ध असकीर्ण 'प्रपचति', 'अनुभवति' आदि शुद्ध प्रयुक्त शब्द हैं उनके लिये शास्त्रविधान का

---

१ पा० १४६१।

२ महा० भा० १, सू० १४७६, पृ० ३४५।

३ द्र०—महा० भा० ३, सू० ६३१०८, पृ० १७४—'शिष्टपरिज्ञानार्थाष्टाध्यायी'।

क्या आवश्यकता है। रह गया वेद, सो वेद में भी दृष्टानुविधि होती है।[1] वहां जैसा देखते है, वैसा कर लेते है। वेद में धातु से परे तथा व्यवधान में 'प्र', 'परा' आदि का प्रयोग दिखाई देता है अत वहां वैसी ही व्यवस्था होगी।

यदि यह कहा जाये कि 'उदि कूले रुजिवहो'[2] यहां 'उदि' और 'कूले' ये दोनो सप्तमी विभक्ति से निर्दिष्ट होने के कारण "तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्"[3] से 'उपपदसंज्ञक' है। उनका 'कूलमुद्रुज', 'कूलमुद्वह' यहां 'उपपदसमास' होने पर 'उपसर्जनं पूर्वम्'[4] से पूर्व निपात होने से अव्यवस्था होगी। कभी 'उत्कूलरुज', उत्कूलवह' ऐसा अनिष्ट रूप भी प्राप्त होगा। उसकी निवृत्ति के लिये यह सूत्र आवश्यक है जिससे 'गतिसंज्ञक उद्' शब्द का धातु से पूर्व ही प्रयोग का नियम बन सके और नियम से 'कूलमुद्रुज', 'कूलमुद्वह' यही इष्ट रूप सिद्ध हो तो इसका उत्तर स्पष्ट है कि "उदिकूले०" सूत्र में उदि' यह उपपद नही है किन्तु 'रुज्', 'वह्' धातुओं का विशेषण है। 'उद्' पूर्वक 'रुज्', 'वह्' धातुओं से 'खश्' प्रत्यय होता है 'कूल' शब्द उपपद होने पर यह इस सूत्र का अर्थ है। सूत्र की सत्ता में बल्कि यह दोष भी आता है कि 'सुकटकराणि वीरणानि' (आसानी से चटाई बनाने लायक वीरण) यहां सु' शब्द का धातु से पूर्व प्रयोग प्राप्त होता है। 'सुखेन कटा क्रियन्ते इति सुकटकराणि' यहां "कर्तृकर्मणोश्च भूकृञो"[5] सूत्र से कर्म मे 'खल्' प्रत्यय 'ईषद्', 'दुस्, 'सु' इन उपपदो के होने पर होता है। 'कृ' धातु से पूर्व 'सु' का प्रयोग होने पर 'कटसुकराणि' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होगा। इसलिये प्रयोगनियम या संज्ञानियम दोनों ही के लिये इस सूत्र की सर्वथा आवश्यकता नही है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

भाष्यकार ने 'अनिष्टादर्शनात्' या 'अनियमादर्शनात्' कहकर इन तीनो सूत्रो का खण्डन कर दिया है जो न्यायसंगत ही है। वार्तिककार ने तो "उपसर्जनसन्निपाते तु पूर्वपरव्यवस्थार्थम्"[6] यह वचन कहकर सूत्र की प्रयोजनवत्ता कही है किन्तु भाष्यकार ने वार्तिककार की उक्त बात को भी अपनी वाचोयुक्ति की प्रयुक्ति से निराकरण कर दिया है। यहां यह तो कहा जा सकता है कि 'प्र', 'परा' आदि 'गति', 'उपसर्ग' संज्ञक शब्दो का धातु के साथ प्रयोग करने मे किसी प्रदेश या स्थान का संकेत तो सामान्यरूप से करना

---

१ द्र०—महा० भा० १, सू० ११६, पृ० ५५—'दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति।

२ पा० ३ २ ३१।

३ पा० ३ १ ९२।

४ पा० २ २ ३०।

५ पा० ३ ३ १२७।

६ महा भा० १, सू० १४८०, पृ० ३४६।

उचित है। सभवत यही समझकर आचार्य पाणिनि ने स्पष्टप्रतिपत्त्यथ अथवा मन्दबुद्ध्यनुग्रहार्थ 'प्र', 'परा' आदि के प्रयोग का समुचित स्थान "ते प्राग्धातो" इस सूत्र द्वारा धातु से पूव निर्दिष्ट किया है। इसलिये सूत्र के रखने मे भी कोई हानि नही है। सुकटकराणि वीरणानि' मे तो "कर्तृकर्मणा"[1] इस वचनसामर्थ्य से धातु से पूव 'सु' का प्रयोग नहीं होता। सिद्धान्तकौमुदीकार लिखते हैं—"कर्तृकर्मणी च धातोरव्यवधानेन प्रयोज्ये, ईषादादयस्तु तत प्राक्"[2]। कमकारकरूप 'कट' शब्द का प्रयोग 'कृ' धातु से पूर्व अनिवाय है। उससे पूव 'सु' का प्रयोग होता है।

इस प्रकार सूत्रो का निराकरण या प्रत्याख्यान सभव होने पर भी इनमे से "ते प्राग्धातो" यह सामान्य सूत्र तो रहना चाहिए जिससे 'प्र', 'परा' आदि 'गति', 'उपसर्ग' सज्ञक शब्दो का धातु के साथ प्रयोग करने मे किसी स्थान आदि का ज्ञान सामान्यरूपेण हो सके। रहे 'छन्दसि परेऽपि' तथा "व्यवहिताश्च" ये सूत्र, ये दोनो केवल वेदैकगम्य सूत्र है। और वैदिक प्रयोगो के तो "बहुल छन्दसि", "व्यत्ययो बहुलम्", "सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्त" इत्यादि अनेक अभ्युपायान्तर हैं। अत उनके लिए तो इन सूत्रो की कोई 'सामान्य' या 'विशेष' आवश्यकता महसूस नही होती। इसलिए इनका तो प्रत्याख्यान ठीक कहा जा सकता है। यद्यपि ये सूत्र वैदिक होने के कारण वैदिक सूत्रो के अतर्गत विवेचित होने चाहिए थे किन्तु "ते प्राग्धातो" इस लौकिक सूत्र के तुल्ययोगक्षेम होने के कारण तथा भाष्य मे भी एकत्र ही विचारित होने के कारण इन्हे यहा समीक्षित किया गया है।

प्रस्तुत प्रसङ्ग मे अर्वाचीन वैयाकरणो ने भी प्राय "ते प्राग्धातो" इस सूत्र का समथन ही किया है[3]। शेष दोनो सूत्रो को वैदिक होने के नाते सभवत वही छोड दिया गया है। क्योकि ये केवल लौकिक भाषा के व्याकरण माने जाते है[4]। इस प्रकार सक्षेपत यही कहा जा सकता है कि इनमे प्रथम सूत्र ही स्थापनीय है। शेष दोनो प्रत्याख्येय है॥

१ पा० ३ ३ १२७।
२ वै० सि० कौ० भा० ४, सू० ३ ३ १२७, पृ० ३४६।
३ जै० सू० १ २ १४६—'प्राग्धातोस्ते
शा० सू० १ १ २५ 'तस्यागतार्थाधिपर्यर्चास्वत्यति क्रमात्युपसर्ग प्राक् च'।
है० सू० ३ १ १ 'धातो पूजार्थ स्वतिगतार्थाधिपर्यतिक्रमार्थातिवज प्रादिरुपसग प्राक् च।
४ द्र० म० व्या० शा० ३, भा० १—यद्यपि पाणिनि से अर्वाचीन व्याकरण-ग्रन्थो को केवल लौकिक मानने मे विद्वानो मे मतभेद है। शोधकर्ता की सम्मति मे तो इन व्याकरणो मे (कम से कम चान्द्र व्याकरण मे अवश्य) कोई न कोई छोटा मोटा वैदिक प्रकरण रहा प्रतीत होता है।

पञ्चम अध्याय

अतिदेश सूत्रों का प्रत्याख्यान

आद्यन्तवदेकस्मिन् ॥ १ १ २१॥

सूत्र की आवश्यकता पर विचार

यह सूत्र 'अतिदेश' सूत्र है। 'अतिदेश' का अर्थ है—एक के तुल्य दूसरे को मानकर काम करना'। सस्कृत व्याकरण शास्त्र मे ६ या ७ प्रकार के 'अतिदेश' सूत्र उपलब्ध होते हैं। तद्यथा—'निमित्तातिदेश', 'व्यपदेशातिदेश', 'तादात्म्यातिदेश', 'शास्त्रातिदेश', 'कार्यातिदेश', 'रूपातिदेश' तथा 'अर्थातिदेश'।

१ 'निमित्तातिदेश' जैसे "पूर्ववत्सन" है[2]। यहा पहले जिस निमित्त को मानकर धातु से आत्मनेपद विधान किया गया है, सन्नन्त मे भी उस धातु से उसी निमित्त को लेकर आत्मनेपद होता है।

२ 'व्यपदेशातिदेश' जैसे यही "आद्यन्तवदेकस्मिन्" सूत्र है। यह एक मे असहाय मे 'आदि' और 'अन्त' के सम्बन्धी कार्यों का 'अतिदेश' करता है। यानि एक मे भी 'आदि' और 'अन्त' का व्यवहार या कथन (व्यपदेश) मान लिया जाता है। क्योकि जो अकेला, असहाय, वर्ण है उसमे 'आदि' और 'अन्त' का व्यवहार नही घट सकता।

'आदि' उसे कहते हैं जिसके पूर्व मे कुछ न हो, परे अवश्य हो तथा 'अन्त' उसे कहते जिससे परे कुछ न हो, पूर्व मे अवश्य हो[3]। 'आद्यन्त' के ये दोनो लक्षण एक असहाय वर्ण मे घटने कठिन है। क्योकि वह तो एक ही

---

१ तुलना करो, महा० भा० १, सू० १ १ २३, पृ० ८१—'तद्वदतिदेशोऽयम्'।

२ पा० १ ३ ६२।

३ द्र० महा० भा० १, सू० १ १ २१, पृ० ७६—'सत्यन्यस्मिन् यस्मात् पूर्वं नास्ति परमस्ति स आदिरित्युच्यते। सत्यन्यस्मिन् यस्मात् पर नास्ति पूर्वमस्ति सोऽन्त इत्युच्यते'।

है। उसके पूर्व और परे कुछ भी नहीं है। यह सूत्र उस एक मे भी 'आदि-अन्त' का व्यपदेश कर देगा तो एक असहाय वर्ण मे भी 'आदि-अन्त' के कार्य हो जायेगे। जैसे—"आद्युदात्तश्च"[1] यह सूत्र प्रत्यय के 'आदि' अक्षर को उदात्त करता है। तब 'कर्तव्यम्' यहा 'तव्यत्' प्रत्यय मे तो 'आदि' अक्षर 'तकार' के होने से उसे आद्युदात्त सिद्ध हो जाता है किन्तु 'औपगव' (उपगोरपत्यम्) यहा अपत्यवाचक 'अण्' प्रत्यय मे एक ही अक्षर 'अकार' के होने से वह 'आदि' नही बनता तो उसे आद्युदात्त प्राप्त नही होता। इस सूत्र से एक वर्ण मे भी 'आदि' का व्यपदेश या व्यवहार करने से वहा भी आद्युदात्त सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार इस सूत्र के अनेक प्रयोजन है जो भाष्य-वार्तिको मे स्पष्टतया वर्णित हैं।

३ 'तादात्म्यातिदेश' जैसे—"सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे"[2] है। यहा 'आमन्त्रित' परे रहते सुबन्त को 'पराङ्गवद्भाव' द्वारा 'आमन्त्रित' का ही आत्मा बना दिया जाता है। यथा—'द्रवत्पाणी शुभस्पती'[3]—इस मन्त्र मे 'शुभम्' को 'पती' इस 'आमन्त्रित' का अङ्ग मानकर "आमन्त्रितस्य च"[4] से होने वाला आद्युदात्त 'शुभस्' के 'उकार' को होता है।

४ 'शास्त्रातिदेश' जैसे—'कालेभ्यो भववत्'[5] सूत्र है। यहा कालवाची शब्दो के 'सास्य देवता'[6] अर्थ मे होने के लिये 'तत्र भव'[7] इस सूत्र या शास्त्र का ही 'अतिदेश' किया जाता है कि उस "तत्रभव" शास्त्र मे कालवाचियो से, जो प्रातिस्विक प्रत्यय विधान किये हैं, वे ही प्रत्यय यहा 'सास्य देवता" अर्थ मे भी हो। उसमे 'मासो देवता अस्य' यहा 'मास' शब्द मे 'कालाट्ठञ्'[8] होकर 'मासिकम्' बनता है। इसी प्रकार 'प्रावड्देवता अस्य प्रावृषेण्य' यहा 'प्रावृष्' शब्द से भी 'प्रावृष एण्य'[9] सूत्र से विहित 'एण्य' प्रत्यय सिद्ध हो जाता है।

---

१ पा० ३ १ ३।
२ पा० २ १ २।
३ ऋक्० १ ३ १।
४ पा० ६ १ १६८।
५ पा० ४ २ ३४।
६ पा० ४ २ २४।
७ पा० ४ ३ ५३।
८ पा० ४ ३ ११।
६ पा० ४ ३ १७।

५ 'कार्यातिदेश' जैसे—"स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ",[1] "कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः"[2] तथा "गोतोणित्"[3] इत्यादि सूत्र हैं। यहां क्रमशः 'स्थानिवद्भाव' के 'अतिदेश' से स्थानी सम्बन्धी कार्य किये जाते हैं। 'कर्मवद्भाव' के 'अतिदेश' से 'चिण्', 'चिण्वदिट्' इत्यादि कर्मकारक के कार्य किये जाते हैं। 'गो' शब्द से परे 'सर्वनामस्थान' को 'णिद्वद्भाव' मानकर 'णित्' का कार्य "अचोञ्णिति वृद्धि"[4] किया जाता है।

६ 'रूपातिदेश' जैसे—"तृज्वत्क्रोष्टुः"[5] यह सूत्र है। यहां 'क्रोष्टु' शब्द को 'तृज्वद्भाव' मानकर तृजन्त क्रोष्टु इस रूप का ही अतिदेश किया जाता है। इसी प्रकार 'द्विवचनेऽचि'[6] यह सूत्र भी विशेष रूप से 'रूपातिदेश' माना जाता है।

७ 'अर्थातिदेश' जैसे—"स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुंस्कादनूङ्०"[7] तथा "स्त्री पुंवच्च"[8] इत्यादि सूत्र हैं। यहां स्त्रीत्व अर्थ के स्थान में पुंस्त्व अर्थ का 'अतिदेश' किया जाता है।

सूत्र में 'एकस्मिन्' यह सप्तमी विभक्ति का निर्देश है। इसलिये 'आद्यन्तवत्' यहां भी सप्तमी विभक्ति के अर्थ में ही 'वति' प्रत्यय माना जायेगा। सप्त्यर्थ में 'वति' प्रत्यय करने वाला "तत्र तस्येव" यह सूत्र विद्यमान है। जो विभक्ति उपमेय में होती है वही विभक्ति उपमान में भी कल्पित कर ली जाती है। इसलिये उक्त सूत्र का अर्थ संस्कृत भाषा में इस प्रकार हुआ—

'आदौ इव अन्ते इव एकस्मिन्नपि कार्यं भवति'

अर्थात् 'आदि' और 'अन्त' के विषय में, जो कार्य कहे गये हैं, वे अकेले, असहाय एक वर्ण में भी हो जाते हैं। कोशकारों ने 'एक' शब्द के आठ अर्थ लिखे हैं।[10] उनके अनुसार 'एक' शब्द 'अन्य', 'प्रधान', 'प्रथम', 'केवल',

---

१ पा० १ १ ५६ ।
२ पा० ३ १ ८७ ।
३ पा० ७ १ ९० ।
४ पा० ७ २ ११५ ।
५ पा० ७ १ ९५ ।
६ पा० १ १ ५९ ।
७ पा० ६ ३ ३४ ।
८ पा० १ २ ६६ ।
९ पा० ५ १ ११६ ।
१० द्र०, प्रौढमनोरमा, अजन्त पुंलिङ्ग प्रकरण, पृ० ३३६ ।
'एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा ।
साधारणे समानेऽल्पे संख्यायां च प्रयुज्यते' ॥

'साधारण', 'समान', 'अल्प' तथा 'सख्या' अर्थों मे प्रयुक्त होता है। प्रकृत सूत्र मे 'एक' शब्द का 'केवल' या 'असहाय' अर्थ लिया गया है जिससे जो एक है असहाय है, अकेला है, उसमे भी 'आदि-अन्त' के कार्य हो सके। 'एकस्मिन्' कहने का यही प्रयोजन है कि अकेले असहाय वर्ण मे ही 'आद्यन्तवद्भाव' हो सके। यदि सूत्र मे 'एक' ग्रहण न किया जाये तो 'सभासनयने भव साभासनयन' यहा 'सभासनयन' शब्द के भकारोत्तरवर्ती आकार को भी 'आदिवत्' मानकर "वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्"[1] इस सूत्र से उक्त शब्द की वृद्ध सज्ञा प्राप्त हो जायेगी। तब वृद्ध सज्ञा होकर "वृद्धाच्छ"[2] से शैषिक 'छ' प्रत्यय प्राप्त होगा जो कि अनिष्ट है। 'सभासनयन' शब्द मे भकारोत्तरवर्ती वृद्धिसज्ञक आकार अकेला या असहाय नही है। उसके आगे पीछे अन्य अच् भी विद्यमान हैं। अत यहा आकार को 'आदि' न मानने से वृद्ध सज्ञा न हुई तो 'छ' प्रत्यय नही होता। असहाय मे ही 'आद्यन्तवद्भाव' हो ससहाय मे नही, इसी प्रयोजन के लिये सूत्र में 'एक' ग्रहण किया है।

"वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्" इस सूत्र मे 'आदि' ग्रहण का प्रयोजन भी यही है कि जहा वृद्धि सज्ञक वर्ण मुख्य रूप से 'आदि' मे ही हो, वही उस शब्द की वृद्ध सज्ञा होती है। जहा 'आद्यन्तवद्भाव' के व्यपदेश से 'आदि वर्ण वृद्धि सज्ञक हो, वहा शब्द की वृद्ध सज्ञा नही होती। दोनो का व्यावर्त्य यह 'सभासनयन' शब्द ही है। इस प्रकार सूत्र की सप्रयोजन स्थापना स्थिर हो जाती है।

न्यासान्तर तथा लोकव्यवहार द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

"सत्यन्यस्मिन्नाद्यन्तवद्भावादेकस्मिन्नाद्यन्तवद्वचनम्"[3] इस वार्तिक द्वारा सूत्र की प्रयोजनवत्ता स्थिर सिद्ध करने के बाद भी वार्तिककार इस सूत्र का खण्डन करते है। उनके कहने का आशय यह है कि यह ठीक है कि यह सूत्र आवश्यक है किन्तु इससे तो अल्प ही प्रयोजन सिद्ध होते है। क्योंकि यह सूत्र तो केवल 'आदि' और 'अन्त' सम्बन्धी कार्यों के विषय मे ही अतिदेश

इनके उदाहरणो के लिये देखे "एकोगोत्रे"(पा० ४ १ ९३)पर महा० प्र०। तुलना करो—महा० भा० १, सू० १ १ २४, पृ० ८३—एकशब्दोऽय बह्वर्थ। अस्त्येव सख्यापदम्। तद्यथा—एक द्वौ बहव इति। अस्त्यसहायवाची। तद्यथा—एकाग्नय। एकहलानि। एकाकिभि क्षुद्रकैर्जितमिति। असहायैरित्यर्थ। अस्त्यन्यार्थेवर्तते। तद्यथा-प्रजामेका रक्षत्यूर्जमेकेति। अन्येत्यर्थ।

१ पा० १ १ ७३।
२ पा० ४ २ ११४।
३ महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० ७६।

कर सकता है। अभीष्ट है कि इससे अत्यधिक विषय व्याप्त हो। उसमें यह असमर्थ है। इसलिये इसके स्थान में यदि "व्यपदेशिवदेकस्मिन्"[1] ऐसा सूत्र बना दिया जाये तो अधिक अच्छा रहेगा। "व्यपदेशिवत्' कहने से न केवल 'आदि' और 'अन्त' का ही विषय गृहीत होगा प्रत्युत अन्य अनेक विषयों में 'अतिदेश' की व्याप्ति हो जायेगी। मुख्य के समान अमुख्य को मानकर काम करना ही 'व्यपदेशिवद्भाव' है। निमित्त होने से जिसका मुख्य व्यपदेश है, वह व्यपदेशी है। 'पठ्' धातु एक अच् वाला शब्द रूप है, 'एकाच्' इसका मुख्य व्यपदेश है। 'इ (ण्)' यह अच् रूप ही है, 'एकाच्' नहीं है तो भी व्यपदेशी 'पठ्' की तरह इसके विषय में भी कार्य होगा। यही 'व्यपदेशिवद्भाव' है। इस 'व्यपदेशिवद्भाव' का प्रयोजन बताते हुए वार्तिककार कहते हैं।

"एकाचो द्वे प्रथमार्थम्"। "षत्वे चादेशसम्प्रत्ययार्थम्"[2]

भाव यह है कि "एकाचो द्वे प्रथमस्य"[3] इस सूत्र का अधिकार करके जो "लिटिधातोरनभ्यासस्य"[4] इत्यादि सूत्रों से द्वित्व विधान किया गया है, वह केवल 'पपाच', 'पपाठ' इत्यादि में 'पच', 'पठ' आदि धातुओं को ही हो सकता है। 'इयाय', 'आर' यहां 'इण् गतौ' तथा 'ऋ' धातुओं को नहीं हो सकता। क्योंकि 'एकाच्' शब्द में बहुव्रीहि समास स्वीकार किया गया है[5]। 'एकोऽज्विद्यते यस्मिन स एकाच्' अर्थात् एक अच् वाला धातु। 'पच्', 'पठ्' में तो 'पकार', 'चकार' तथा 'ठकार' के साथ एक 'अकार' अच् विद्यमान है। इसलिये वे तो 'एकाच्' बन जायेंगी। 'एकाच्' होने से उन्हें द्वित्व हो जायेगा किन्तु 'इयाय', 'आर', में तो केवल 'इ' और 'ऋ' यह एक अच् ही है। ये धातु तो एक अच् रूप है एक अच् वाले नहीं। एक अच् वाला बनाने के लिये इनमें कुछ अन्य वर्ण भी चाहिये। वे हैं नहीं। इसलिये 'एकाच्' न होने से द्वित्व प्राप्त नहीं होगा। जब "व्यपदेशिवदेकस्मिन्" यह परिभाषा बना दी जायेगी तो एक अज्रूप 'इ' और 'ऋ' भी 'व्यपदेशिवद्भाव' से एक अच् वाले मान लिये जायेंगे। तब द्वित्व सिद्ध हो जायेगा।

---

१ 'व्यपदेशिवदेकस्मिन्' (परि० सं० ३०) यह एक परिभाषा भी है। सम्भवतः इसी परिभाषा के आधार पर वार्तिककार ने उक्त सूत्र का खण्डन किया है।

२ महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० ७७।

३ पा० ६ १ १।

४ पा० ६ १ ८।

५ द्र० महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० ७७—'वक्ष्यत्येकाचो द्वे प्रथमस्येति बहुव्रीहिनिर्देश इति।

इसी प्रकार 'आदेशप्रत्यययो'[1] सूत्र से प्रत्यय के अवयव सकार को षत्व विधान किया गया है, सकार रूप प्रत्यय को नही। उससे 'करिष्यति' इत्यादि मे तो 'स्य' प्रत्यय का अवयव सकार होने से षत्वसिद्ध हो जायेगा किन्तु 'यक्षत्', 'वक्षत्', इत्यादि प्रयोगो मे लेट् लकार मे हुए 'सिप' के इकार तथा पकार की इत्संज्ञा लोप होने पर केवल सकार रूप प्रत्यय शेष होने से षत्व प्राप्त नही होता। "व्यपदेशिवदेकस्मिन्" कहने से केवल सकार रूप प्रत्यय का भी "व्यपदेशिवद्भाव' मे प्रत्यय का अवयव मानकर षत्व सिद्ध हो जाता है।

'आदि' और 'अन्त' के कार्यों मे भी 'व्यपदेशिवद्भाव' से इष्ट सिद्ध हो जायेगा। जिस प्रकार 'घटाभ्याम्' यहा साक्षात् अदन्त होने से "सुपिच"[2] मे दीर्घ होता है उसी प्रकार 'आभ्याम्' यहा अकार रूप प्रातिपदिक को भी 'व्यपदेशिवद्भाव' से अदन्त मानकर दीर्घ सिद्ध हो जायेगा।

इस प्रकार भाष्यकार और वार्तिककार दोनो ने मिलकर "व्यपदेशिवदेकस्मिन्" इस परिभाषा को स्वीकार करते हुए "आद्यन्तवदेकस्मिन्' सूत्र की अल्पविषयता को जानकर उसका खण्डन कर दिया है। यह बात दूसरी है कि आगे चलकर वार्तिककार ने लोकव्यवहार को प्रधान मानकरके "व्यपदेशिवदेकस्मिन्" इस न्यासान्तर का भी प्रत्याख्यान कर दिया है।[3] किन्तु वार्तिककार ने स्वतन्त्र रूप मे भी उक्त सूत्र का खण्डन कर दिया है। इसके लिये इन्होने भाष्यकार से भिन्न 'आदि' और 'अन्त' का स्वसम्मत लक्षण किया है। वार्तिककार के मत मे 'आदि' का लक्षण यह नही है कि जिसके पूर्व से कुछ न हो, पर परे अवश्य हो तथा इसी प्रकार 'अन्त' का भी यह लक्षण नहीं है कि जिसके परे कुछ न हो, पर पूर्व मे अवश्य हो। इनके मत मे 'आदि' वह है—जिसके पूर्व मे कुछ न हो, परे हो या न हो तथा 'अन्त' भी वह है—जिसके परे कुछ न हो, पूर्व मे हो या न हो। 'आदि' और 'अन्त' के ये दोनो लक्षण अकेले, असहाय वर्ण मे भी घट जाते हैं।[4] क्योकि अकेला वर्ण 'आदि' भी कहा जा सकता है तथा 'अन्त' भी। जैसे कि कहावत प्रसिद्ध है—'*देवदत्तस्य एक एव पुत्र, स एव ज्येष्ठ स एव मध्यम, स एव कनीयानिति*'। 'आदि' और अन्त' के उक्त लक्षणो के आधार पर सूत्र का प्रत्याख्यान स्वत सिद्ध हो जाता है।

---

१ पा० ८ ३ ५९।
२ पा० ३ १ ३४।
३ द्र० महा० भा० १ प्रकृत सूत्र, पृ० ७७—'अवचनाल्लोकविज्ञानात् सिद्धमेतत्'।
४ द्र० महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० ७७—'अपूर्वानुत्तरलक्षणत्वादाद्यन्तयो सिद्धमेकस्मिन्'।

किन्तु प्रस्तुत प्रसग मे भाष्यकार का वार्तिककार से मतभेद है। उनके कथन का आशय है कि 'आदि' और अन्त' का पहले जो लक्षण किया गया है, वही ठीक है। वार्तिककार द्वारा बाद मे किया गया 'आद्यन्त' का लक्षण 'अपूर्ण' एव सदिग्ध होने से न्याय्य नही है। इस दृष्टि से अकेले मे आदि' और 'अन्त' का लक्षण न घटने से इनके मत मे सूत्र की आवश्यकता बनी रहती है।

समीक्षा एव निष्कर्ष

प्रस्तुत प्रसग मे विचारणीय है कि वार्तिककार ने तो अपनी बुद्धि से 'आदि' तथा 'अन्त' का स्वसम्मत लक्षण करके सूत्र का खण्डन कर दिया है किन्तु भाष्यकार ने सब कुछ समझते हुए भी आदि' और 'अन्त' का अपना किया हुआ लक्षण ही परिनिष्ठित मानकर सूत्र को आवश्यक ठहराया। वार्तिककार ने युक्तिप्रयुक्तियो से 'अपूर्व' और अनुत्तर' ये 'आदि' और 'अन्त' के लक्षण करते हुए यह नही सोचा कि ये लक्षण मिथ सकीर्ण हो जाते हैं। 'आदि' का लक्षण जो 'अपूर्व' अर्थात् जिसमे पहले कुछ न हो—यह है, वह तो 'अन्त' मे भी चला जाता है। तथा इसी प्रकार 'अन्त' का लक्षण जो 'अनुत्तर' अर्थात् जिसमे परे कुछ न हो—यह है, वह 'आदि' मे चला जाता है। वास्तविक 'आदि' तथा 'अन्त' तो दोनों तरफ एक दूसरे की सत्ता या असत्ता मे ही बन सकते हैं। अकेले को 'आदि' तथा 'अन्त' कैसे कहा जा सकता है।

इसलिये व्यावहारिक दृष्टि से तो 'आदि' और 'अन्त' का जो लक्षण भाष्यकार ने किया है और जिसे प्रथम वार्तिक मे वार्तिककार ने भी स्वय स्वीकार किया है, वही ठीक है। इस लक्षण को मानते हुए "आद्यन्तवदेकस्मिन्" सूत्र की आवश्यकता बनी ही रहती है। सभवत इसीलिए चान्द्र आदि अर्वाचीन व्याकरणो ने परिभाषा पाठों में उक्त सूत्र को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है।[1]

स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ ॥१ १ ५६॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह अतिदेश सूत्र है। जो पहले होकर पीछे न रहे वह 'स्थानी' होता है

---

१ (क) चा० परि० सू० १७—'व्यपदेशिवदेकस्मिन्'।
(ख) वही १८—'आद्यन्तवदेकस्मिन्'।
(ग) है० परि० सू० ५—'आद्यन्तवदेकस्मिन्'।

और जो पहले न होकर पीछे हो जाये वह 'आदेश' होता है। 'स्थानी' और 'आदेश' के अलग-अलग होने से 'स्थानी' के कार्य 'आदेश' में प्राप्त नहीं होते। अभीष्ट है कि आदेश में भी 'स्थानीसम्बन्धी' कार्य हो जाय, इसलिये यह सूत्र बनाया है। इसका अर्थ है कि आदेश स्थानिवत् होता है। 'स्थानिना तुल्य वर्तते इति स्थानिवत्'।[1] "आदेश में स्थानी के तुल्य कार्य हो जाते हैं, स्थानी सम्बन्धी अल्विधि को छोड़कर'। "अइउण्" के अकार से लेकर "हल्" के लकार तक सब वर्ण 'अल' कहलाते हैं। यह अवश्य ध्यातव्य है कि अलग-अलग प्रत्येक वर्ण 'अल्' है किन्तु वर्ण समुदाय 'अल्' नहीं है। एक से अतिरिक्त वर्ण मिलने पर जो विधि होगी वह 'अल्विधि' नहीं बल्कि 'अनल्विधि' है। केवल एक वर्ण सम्बन्धी विधि ही 'अल्विधि' मानी जाती है। और 'अल्' या वर्ण भी स्थानीय सम्बन्धी हो स्थानी में सम्बन्ध रखता हो तभी 'अनल्विधौ' यह निषेध लगता है। आदेश सम्बन्धी 'अल्विधि' में तो 'अनल्विधौ' यह निषेध नहीं लगता। जैसे—'रामाय'। यहाँ 'राम' शब्द से चतुर्थी विभक्ति का एकवचन 'ङे' प्रत्यय होता है। उसे "ङेर्यः"[2] से यकारादेश हो जाता है। यकारादेश को इस सूत्र से स्थानिवद्भाव मानकर 'ङे' का सुप्त्वधर्म यकार में अतिदिष्ट हो जायेगा तो यकार के 'अजादि सुप्' हो जाने से 'सुपि च'[3] से दीर्घ होकर 'रामाय' बन जाता है। यकार में 'यञादित्व रूप अल्' अपना आदेश का है, स्थानी 'ङे' में नहीं पाया गया। अतः आदेश सम्बन्धी 'अल्विधि' होने पर भी स्थानी सम्बन्धी कोई 'अल्विधि' नहीं है। 'अनल्विधि' होने से स्थानिवद्भाव हो जाता है।

इस सूत्र का व्याकरण शास्त्र में बहुत भारी व्यापार है। इसके अन्य उदाहरण इस प्रकार हैं—'भव्यम्'। 'बभूव'। यहाँ 'अस्तेर्भूः'[4] से 'अस्' धातु को 'भू' आदेश हुआ है। इस सूत्र में स्थानिवद्भाव द्वारा 'भू' आदेश को धातु मानकर धातु से विहित "अचो यत्"[5] इत्यादि प्रत्यय हो जाते हैं। 'केन', 'काभ्याम्', 'कैः'। यहाँ अग मसंज्ञक 'किम्' शब्द को 'किमः कः'[6] से

---

१ का० प्रकृत सूत्र भा० १, पृ० १८३।
२ पा० ७ १ १३।
३ पा० ७ ३ १०२।
४ पा० २ ४ ५२।
५ पा० ३ १ ९७।
६ पा० ७ २ १०३।

'क' आदेश हुआ है। इस सूत्र से स्थानिवद्भाव द्वारा 'क' आदेश को अ ग मानकर अ गाधिकार विहित "टाङसिङ्सामिनात्स्या" इत्यादि कार्य सिद्ध हो जाते हैं। काशिकाकार ने इस सूत्र के बहुत से प्रयोजन एक ही पंक्ति में लिख दिये हैं—

"धात्वगकृत्तद्धिताव्ययसुप्तिङ्पदादेशा प्रयोजनम्"[1]

ये सब सोदाहरण वहीं द्रष्टव्य हैं। 'अनल्विधौ' को समझाने के लिए प्राचीन वृत्तिकार तथा भाष्यकार आदि ने अल्विधि' शब्द में चार प्रकार का समास निकाला है।[2] 'अलि विधि —अल्विधि'। 'अला विधि —'अल् विधि'। 'अल परस्य विधि = अल्विधि'। 'अल सम्बन्धी विधि = अल्विधि' इत्यादि। अल् परे रहते जो विधि उसमें स्थानिवद्भाव का निषेध होता है। जैसे 'क इष्ट' यहाँ 'किम्' शब्द प्रथमा एकवचन में 'क' यह रूप बनता है। 'इष्ट' में 'यज्' धातु से निष्ठा प्रत्यय 'क्त' हुआ है। 'क्त' के 'कित्' होने से "वचिस्वपि०"[4] से 'यज्' के 'य' को 'इ' सम्प्रसारण हो जाता है। "व्रश्च भ्रश्च सृज मृज०"[5] सूत्र से 'षत्व' तथा 'ष्टुत्व' होकर 'इष्ट' बनता है। यहाँ 'यज्' के 'इ' को स्थानिवद्भाव से 'य' मानकर 'हश्' परे हो जाने से "हशि च"[6] से 'क' के 'र' को 'उत्व' होकर 'को इष्ट' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है। उसको रोकने के लिए 'अल्' परे रहते विधि करने में अनल्-विधौ' से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाता है तो इष्ट रूप बन जाता है। यहाँ 'य और 'इ' ये दोनों अलग-अलग 'अल्' हैं, यह स्पष्ट ही है।

'अल्' में जो विधि उसमें भी स्थानिवद्भाव का निषेध होता है। यथा —'व्यूढोरस्केन'। यहाँ 'व्यूढमुरो यस्य' इस बहुव्रीहि समास में 'कप्' प्रत्यय परे रहते "कस्कादिषु च"[7] से 'उर' शब्द के विसर्ग को सकार होता है।

---

१ पा० ७ १ १२।
२ का० प्रकृत सूत्र, भा० १, पृ० १८६।
३ दा० महा० प्रकृत सूत्र, १, प्रकृत सूत्र, पृ० १३३—'अथ विधिग्रहण विमर्षम्। सर्वविभक्त्यन्त समासो यथा विज्ञायेत। अल परस्य विधिरल्विधि। अलो विधिरल्विधि। अलि विधिरल्विधि। अला विधिरल्विधिरिति'।
४ पा० ६ १ १५।
५ पा० ८ २ ३६।
६ पा० ६ १ ११४।
७ पा० ८ ३ ४८।

उस सकार को स्थानिवद्भाव से विसर्ग मानकर विसर्गों का 'अटो' में पाठ होने से "अट् कुप्वाङ्०"[1] सूत्र से 'न' को 'ण' प्राप्त होता है[2]। उसको रोकने के लिए 'अल्' के द्वारा विधि करने में स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायेगा तो 'न' को णत्व नहीं होता, यह इष्ट सिद्ध हो जाता है।

'अल्' से परे विधि करने में भी स्थानिवद्भाव का निषेध होता है। जैसे – 'द्यौ', 'पन्था', 'स',। यहाँ 'दिव्', 'पथिन्', 'तद्' इन हलन्त शब्दों को प्रथमा के एकवचन 'सु' परे रहते क्रमश "दिव औत्"[3] से 'व' को औकार "पथिमथ्यृभुक्षामात्"[4] से 'न' को आकार तथा "त्यदादीनाम"[5] से 'तद्' के दकार को अकार होता है। इन औकारादि को स्थानिवद्भाव से हलन्त मानकर हलन्त से परे "हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्"[6] सूत्र से 'सु' का लोप प्राप्त होता है। उसको रोकने के लिए 'अल्' से परे विधि करने में भी अनल्विधौ' से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायेगा तो उक्त प्रयोगों में 'सु' का लोप नहीं होता।

'अल्सम्बन्धी' विधि करने में भी स्थानिवद्भाव का निषेध होता है। जैसे—'द्युकाम'। 'दिवि कामोऽस्य' इस बहुव्रीहिसमास में "दिव उत्"[7] से 'व' को उकार होता है। "इकोयणचि"[8] से 'यण' होकर 'द्युकाम' बन जाता है। "दिव उत्" से हुए उकार को स्थानिवद्भाव से वकार मानकर "लोपो व्योर्वलि"[9] से उसका लोप प्राप्त होता है। 'अल्सम्बन्धी' विधि करने में 'अनल्विधौ' से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायेगा तो वकार का लोप नहीं होता। इस प्रकार इस प्रसिद्ध सूत्र की उपयोगिता सिद्ध हो जाती है।

---

१ पा० ८ ४ २।
२ अयोगवाह होने से 'अटो' में पठित विसर्ग 'अल्' है, यह तो स्पष्ट ही है।
३ पा० ७ १ ८४।
४ पा० ८ १ ८५।
५ पा० ७ २ १०२।
६ पा० ६ १ ६८।
७ पा० ६ १ १३१।
८ पा० ६ १ ७७।
९ पा० ६ १ ६६।

लोक व्यवहार तथा ज्ञापक द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार इस सूत्र के खण्डन में मौन धारण किए हुए हैं। केवल भाष्यकार पतंजलि ही इस सूत्र की आत्यन्तिक उपयोगिता अनुभव करते हुए भी लोक व्यवहार का आश्रयण करके इसका प्रत्याख्यान कर देते हैं। वे कहते हैं—

'लोकत एतत् सिद्धम्। तद्यथा-लोके यो यस्य प्रसंगे स्थाने वा भवति, लभतेऽसौ तत्कार्याणि। तद्यथा-उपाध्यायस्य शिष्यो याज्यकुलानि गत्वा अग्रासनादीनि लभते"[1]।

इनका भाव यह है कि स्थान्यादेशाभाव' लोक व्यवहार से सिद्ध है। जो जिसके स्थान में होता है, वह उसके कार्यों को प्राप्त करता है। जैसे—उपाध्याय का शिष्य उसके अभाव में अपने यजमानों के घर जाकर उच्चासनादि सत्कार को उपलब्ध करता है। "तत्स्थानापन्ने तद्धर्मलाभ"[2] इस न्याय के अनुसार गुरु के स्थानापन्न शिष्य में भी गुरु के धर्मों का अतिदेश हो जाता है। इसलिए आदेश में भी स्थानी के धर्मों का अतिदेश हो जायेगा, तो इस सूत्र की क्या आवश्यकता है।

यदि यह कहा जाय कि आदेश में स्थानी के धर्मों का अतिदेश होने में एक बहुत बड़ी बाधा है। वह है 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा'[3] इस सूत्र से शब्द के स्वरूप का ग्रहण। उससे "आङो यमहनः"[4] सूत्र से विहित 'आङ्' पूर्वक 'हन्' धातु से आत्मनेपद 'हन्' के स्थान में होने वाले 'वधादेश' को प्राप्त नहीं होता। केवल सूत्रोपात्त 'हन्' शब्द से ही होगा तो इस दोष की निवृत्ति के लिये भाष्यकार ज्ञापक सूत्रों द्वारा स्थानिवद्भाव की सिद्धि करते हैं। वे कहते हैं—'एवं तर्हि आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति स्थानिवदादेशो भवतीति। यदयं युष्मदस्मदोरनादेशे इत्यादेशे प्रतिषेधं शास्ति कथं कृत्वा ज्ञापकम्। युष्मदस्मदो विभक्तौ कार्यमुच्यमानं क प्रसंगो यदादेशे स्यात्। पश्यतित्वाचार्यो यत् स्थानिवदादेशो भवतीति तत आदेशे प्रतिषेधं शास्ति"[5]।

---

१ महा० भा० १, सूत्र १ १ ५६, पृ० १३३।

२ महा० प्र० भा० १, प्रकृतसूत्र—तुलना करो—'लोके हि वचनमन्तरेणापि तत्स्थानापत्त्या तद्धर्मलाभो दृष्ट'।

३ पा० १ १ ६८।

४ पा० १ ३ २८।

५ महा० भा० १, सू० १ १ ५६, पृ० १३४।

अर्थ सर्वथा स्पष्ट है। "युष्मदस्मदोरनादेशे"[1] इस सूत्र में आदेश परे रहते आत्व का निषेध ही इस बात का ज्ञापक है कि आदेश में भी स्थानी सम्बन्धी कार्य होते हैं। 'अल्विधि' में स्थानिवद्भाव का निषेध करने के लिए भी इस सूत्र की आवश्यकता नहीं। क्योंकि वहाँ भी 'अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति'[2] इस सूत्र में 'ति किति' रहते हुए जो ल्यप्' ग्रहण किया है, वह इस बात का ज्ञापक है कि 'अल्विधि' में स्थानिवद्भाव नहीं होता। अन्यथा 'क्त्वा' के स्थान में होने वाले 'ल्यबादेश' में स्थानिवद्भाव से 'प्रत्ययत्व' 'अव्ययत्व की तरह तादि कित्व' भी आ ही जाता, तो 'तिकित' से ही सिद्ध हो जाने पर 'ल्यप्' ग्रहण व्यर्थ है। परन्तु आचार्य देखते हैं कि 'क्त्वा' का तकारादित्व 'अल्विधि' होने से ल्यप्' में नहीं आ सकता। इसलिए 'ल्यप्' ग्रहण करते हैं।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

ज्ञापकसूत्र तथा लोकव्यवहार द्वारा इस सूत्रकी अन्यथा सिद्धि होने पर भी यह सूत्र अत्यन्त आवश्यक होने से प्रत्याख्यान के योग्य नहीं है। जहाँ 'अनल्विधि' के लिए प्रकृत सूत्र की आवश्यकता है वहाँ 'अल्विधि' के लिए "अचः परस्मिन् पूर्वविधौ"[3], 'द्विर्वचनेऽचि'[4] इन दोनों सूत्रों का बनाना भी आवश्यक है। यदि स्थानिवद्भाव विधायक ये सूत्र ही नहीं रहेंगे तो उनका निषेध करने वाले "न पदान्त द्विवचन०"[5] इस सूत्र की क्या गति होगी। व्याकरणशास्त्र में स्थानिवद्भाव का बहुत बड़ा क्षेत्र है। प्रौढिवाद से स्थानिवद्भाव का खण्डन करना और बात है तथा वस्तु स्थिति को समझते हुए उसकी उपयोगिता को आकना और बात है। भाष्यकार प्राय लाघव से काम लेते हैं किन्तु उस शब्दकृत लाघव में अर्थकृतलाघव को तिरोहित नहीं करना चाहिए। खण्डन करते समय स्पष्ट प्रतिपत्ति के दृष्टिकोण पर भी ध्यान देना चाहिये। यही कारण है कि भाष्यकार आपाततः किसी सूत्र का खण्डन करके भी अन्त में उसकी सत्ता को स्वीकार कर लेते हैं। इसीलिए ज्ञापकों द्वारा इस सूत्र का खण्डन करके फिर स्वयं "आरभ्यमाणेऽ-

१ पा० ७२८६।
२ पा० २४३६।
३ पा० ११५७।
४ पा० ११५६।
५ पा० ११५८।

प्येतस्मिन् योगे अल्विधौ प्रतिषेधेऽविशेषणेऽप्राप्तिस्यादर्शनात्"[1]—इत्यादि वचन द्वारा उक्त सूत्र के पदों पर विशिष्ट विचार करते हैं। इससे यह समझा जाता है कि भाष्यकार ने प्रकृष्टबुद्धि वालों या व्युत्पन्नमतियों के लिये सूत्र का खण्डन करके भी स्फुटप्रतिपत्ति की दृष्टि से सामान्यबुद्धि वाले या मन्द-बुद्धि लोगों के लिए इस सूत्र की सत्ता को स्वीकार ही कर लिया है। इसीलिए शब्दकौस्तुभकार कहते हैं—

"किमनेन सूत्रेणेति। उच्यते। उत्तरार्थं तावत् स्थानिवदादेश इति कर्त्तव्यमेव। तस्यैव यागविभागमात्रेणोपपत्तौ सत्यामर्थापत्तिव वचन न कल्प्यम्। एव स्थितेऽनल्विधाविस्ययमप्यश स्पष्टप्रतिपत्त्यर्थं क्रियते। उत्तरसूत्रे द्वितीय-विधिग्रहणस्यनुवृत्त्यर्थं च। एतदेव सकलमभिप्रेत्य भगवतोक्तम् आरम्भमाणेऽप्येतस्मिन् योगे इति"।[2]

प्रस्तुत प्रसग में अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी इस सूत्र की आवश्यकता एव उपयोगिता को अनुभव किया और इसीलिए प्राय सभी ने किंचित् शब्द परिवर्तन के साथ इसको स्वीकार किया है।[3] इस प्रकार निष्कर्षत यही कहा जा सकता है कि प्रकृत सूत्र प्रत्याख्यान के योग्य नहीं है॥

तृज्वत्क्रोष्टुः ॥७ १ ९५॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र अ गाधिकार प्रकरण का है। इसका अर्थ है कि 'क्रोष्टु' शब्द को तृज्वद्भाव होता है, सम्बुद्धि भिन्न सर्वनामस्थान परे रहते। यह 'रूपातिदेश' है। 'क्रोष्टु' को 'क्रोष्टृ' इस तृजन्त रूप का अतिदेश करता है। 'निमित्त', 'व्यपदेश', तादात्म्य', 'शास्त्र', 'कार्य', 'अर्थ' तथा 'रूप' भेद से अतिदेश ६ या ७ प्रकार के होत हैं। उनमें यह सूत्र 'रूपातिदेश' है। जैसे—'क्रोष्टा', 'क्रोष्टारौ', 'क्रोष्टार', 'क्रोष्टारम्', 'क्रोष्टारौ'। 'सु' आदि पाँच प्रत्ययों की 'सुडनपुसकस्य'[4] से 'सर्वनामस्थानसज्ञा' होती है। 'क्रोष्टा' में 'क्रोष्टु' शब्द से 'सु' परे होने पर इस सूत्र से 'तृज्वत्' होकर 'क्रोष्टृ' शब्द बन जाता है।

---

१ महा० भा० १, सू० १ १ ५६, पृ० १३४।
२ श० कौ० भा० १, पृ० २०६।
३ जै० सू० १ १ ५६—'स्थानीवादेशोऽनल्विधौ'।
शा० सू० १ १ ५०—'स्थानीवानलाश्रये'।
है० सू० ७ ४ १०६—'स्थानीवावर्णविधौ'।
४ पा० १ १ ४३।

ऋदुशनस् पुरुदसोऽनेहसा च"[1] से 'ऋ' को 'अनङ्' आदेश होकर 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ"[2] से नान्त की उपधा को दीर्घ हो जाता है तो 'सुलोप', 'नलोप' होने पर क्रोष्टा बन जाता है 'क्रोष्टारौ' इत्यादि में 'क्रोष्टु' को 'तृज्वत्' होकर 'क्रोष्टृ' बन जाता है "ऋतो ङि सर्वनामस्थानयोः" से ऋ' को 'अर्' गुण होकर 'अप्तृन्तृच०"[4] से उपधा दीर्घ हो जाता है तो 'क्रोष्टारौ' इत्यादि बन जाते हैं। सर्वनामस्थानसंज्ञक' 'सु' आदि पांच प्रत्ययों के परे होने पर ही 'तृज्वद्भाव' होता है। आगे शस्' में नहीं। वहाँ 'क्रोष्टु' शब्द ही रहता है। उसका 'क्रोष्टून्' यह रूप बनता है। 'टा' आदि तृतीया विभक्तियों में 'विभाषा तृतीयादिष्वचि"[5] से विकल्प से 'तृज्वद्भाव' होकर 'क्रोष्ट्रा', 'क्रोष्टुना' इत्यादि दो रूप बनते हैं।

प्रकृत्यन्तर द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

भाष्यवार्तिककार इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—

"तृज्वद्वचनमनर्थकं तृज्विषये तृचो मृगवाचित्वात्। तृज्विषये एतत् तृजन्तं मृगवाचि। तुनो निवृत्त्यर्थमिति चेत् सिद्धं यथान्यत्रापि। वावचनानर्थक्यं च स्वभावसिद्धत्वात्। तुनो निवृत्त्यर्थमिति चेदन्तरेण वचनं सिद्धम्। यथान्यत्रापि अविशेषविहिताः शब्दा नियतविषया दृश्यन्ते, तद्यथा —घरनिरस्मा अविशेषेणोपदिष्ट स घृतम् घणा घम इत्येव विषय। रश्मिरस्मा अविशेषेणोपदिष्ट स राशि रश्मि रशना इत्येव विषय। वावचनं चानर्थकम्। किं कारणम्। स्वभावसिद्धत्वात्। स्वभावत एव तृतीयादिषु अजादिषु विभक्तिषु तृजन्तं च तुनन्तं च मृगवाचीति"।[6]

भाष्यकार के इन वचनों का तात्पर्य स्पष्ट है कि "तुन् प्रत्ययान्त क्रोष्टु' शब्द का जो मृगजातिपरक गीदड़ अर्थ है, वही 'तृच्प्रत्ययान्त 'क्रोष्टृ' शब्द का भी है। जब दोनों का एक अर्थ है तब 'तृच् प्रत्ययान्त 'क्रोष्टृ' शब्द के 'क्रोष्टा', 'क्रोष्टारौ', 'क्रोष्टारः' इत्यादि रूप इस सूत्र द्वारा 'तृज्वद्भाव' विधान किये बिना भी सिद्ध हो जायेंगे। क्रोष्टु' शब्द 'तुन् प्रत्ययान्त' है। उसके रूप, 'भानु' के समान होंगे और 'क्रोष्टृ' जो 'तृच् प्रत्ययान्त' स्वतन्त्र शब्द

१ पा० ७ १ ९४।
२ पा० ६ ४ ८।
३ पा० ७ ३ ११०।
४ पा० ६ ४ ११।
५ पा० ७ १ ९७।
६ महा० भा० ३, सू० ७ १ ९५ पृ० २७५।

है, उसके रूप "क्तृ" शब्द के 'कर्त्ता', 'कर्तारौ', 'कर्तार' के समान बन जायेंगे। दोनों पृथक्-पृथक् शब्द हैं। उनमें 'स्थान्यादेश भाव' या 'तृज्वद्भाव' मानने की कोई आवश्यकता नहीं। इसलिये यह "तृज्वद्भाव" का विधान करना व्यर्थ है।

यदि यह कहा जाये कि 'सर्वनामस्थान' में 'तृच् प्रत्ययान्त 'क्रोष्टृ' शब्द का प्रयोग हो 'क्रोष्टु' का न हो, तो वह भी बात नहीं। क्योंकि शब्दों के अपने अपने प्रयोग के विषय निश्चित होते हैं। सर्वनामस्थान' में 'क्रोष्टृ' शब्द का प्रयोग ही निश्चित है अत वही प्रयुक्त होगा, 'क्रोष्टु" शब्द प्रयुक्त नहीं होगा। अन्यत्र भी शब्द प्रयोग निश्चित विषय वाला है। जैसे— 'घृक्षरणदीप्त्यो' यह धातु सामान्य रूप से पढा गया है। यह जुहोत्यादिगण में पठित है और 'गधृ सेचने' यह भ्वादिगण में पठित है। भ्वादिगण पठित का 'करति' यह रूप बनता है और जुहोत्यादि का 'जिघर्ति'। किन्तु ये दोनों धातु केवल 'घृतम्', 'घृणा' 'घर्म' इन शब्दों में ही उपयुक्त होते हैं। अन्यत्र इनका उपयोग या प्रयोग उपलब्ध नहीं होता। 'रश्' और 'लुश्' ये धातु भाष्यकार वचन से प्रमाणित हैं किन्तु इनमें भी "रश्" के प्रयोग का विषय 'रशना',' 'रश्मि', राशि' ये कतिपय निश्चित शब्द ही हैं। 'लुश्' का भी "लोष्ट" यह शब्द निश्चित प्रयोग का विषय है। उसी प्रकार 'क्रोष्टृ' का अपना प्रयोगविषय निश्चित है और 'क्रोष्टु' का अपना। तृतीयादि विभक्तियों में विकल्प करने के लिये 'विभाषा तृतीयादिष्वचि'[2] यह सूत्र बनाना भी व्यर्थ हो जाता है। क्योंकि स्वभाव से तृतीयादि में 'क्रोष्टु' और 'क्रोष्टृ' इन दोनों शब्दों का प्रयोग निश्चित है। इसलिये प्रत्येक शब्द का अपना प्रयोग विषय निश्चित होने से 'क्रोष्टु' भी अपने विषय में प्रयुक्त होगा और 'क्रोष्टृ' भी। उसके लिये 'तृज्वद्भाव विधान' करना व्यर्थ है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यहां पर भाष्यकार ने 'क्रोष्टु' और 'क्रोष्टृ' इन दो शब्दों को पृथक्-पृथक् मानकर और उनके प्रयोग का विषय भी निश्चित कहकर इस सूत्र का प्रत्याख्यान कर दिया है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से यह ठीक ही

१ यहाँ यह अवश्य ध्यातव्य है कि उणादिकोष में 'अशे रश् च" (२३३) सूत्र के अनुसार 'अशूङ् व्याप्तौ' धातु को 'रश्' आदेश मानकर "रशना" शब्द बनाया गया है। वहाँ "रश्" धातु नहीं स्वीकार किया गया है।

२. पा० ७।१।९७।

है कि दोनो पृथक स्वतन्त्र शब्द मान लिये जाये। स्यान्यादेशभाव तो काल्पनिक है। 'पाद', 'दन्त', 'नासिका' आदि के स्थान मे 'पद्', 'दत्' 'नस्' आदि आदेश की कल्पना भी व्यर्थ ही है।[1] 'पाद' स्वतन्त्र शब्द है, 'पद्' भी स्वतन्त्र है। दोनो के अपने अपने प्रयोग के विषय है। 'पाद', 'पादौ', 'पादा' 'पादम्', 'पादौ', 'पादान्' ये 'पाद' शब्द के अपने स्वतन्त्र रूप हैं और 'पन्', 'पद्' 'पदौ', 'पद', 'पदम्', 'पदौ', 'पद', 'पदा' 'पद्भ्याम्', पद्भि' ये 'पद्' शब्द के अपने स्वतन्त्र रूप हैं। यह कल्पना कुछ अच्छी नही मालूम होती कि 'शस्' प्रभृतियों में तो 'पद्' शब्द का आदेश मानकर प्रयोग हो तथा अन्यत्र 'पाद' शब्द ही स्वीकार किया जाये। जब दोनो के प्रयोग विषय निश्चित हैं तब दोनो को स्वतन्त्र पृथक् पृथक् शब्द ही क्यो न मान लिया जाये। 'पाद' शब्द के स्थान मे 'पद्' आदेश होता है, ऐसा क्यो माना जाये। इसी प्रकार 'जरा' को 'जरस्',[2] 'अस्' को 'भू'[3] 'ब्रू' को 'वच्'[4] 'चक्षिङ्' को 'ख्याञ्'[5] 'वेञ्' को 'वयि',[6] 'अज्' को 'वी',[7] 'अद्' को 'घस्'[8] इत्यादि आदेश न मानकर 'जरा', 'जरस्' इत्यादि पृथक् स्वतन्त्र शब्द हैं। और उनके अपने अपने प्रयोग विषय भी निश्चित हैं, ऐसा मानने में ही लाघव है। अर्थ प्रतिपत्ति भी स्पष्ट होती है। अथवा यहा यह कल्पना करना भी असगत प्रतीत नही होता कि आचार्य पाणिनि ने जहाँ-जहाँ लोप, आगम तथा वर्णविकारादि द्वारा रूपान्तर का प्रतिपादन किया है, वे रूप प्राचीनकाल मे सस्कृत भाषा मे स्वतन्त्ररूप से लब्धप्रचार थे। उनका लोक मे अप्रयोग हो जाने पर पाणिनि आदि ने उनसे निष्पन्न व्यावहारिक भाषा में अवशिष्ट शब्दो का अन्वाख्यान करने के लिए लोप, आगम, वर्णविकारादि की कल्पना की है। ऐसी स्थिति मे पाणिनि ने जहाँ जहाँ 'पा', 'घ्रा' आदि के स्थान में 'पिब', 'जिघ्र' आदि का आदेश किया है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र उन्हें स्वतन्त्र धातु समझना चाहिये। समानार्थक दो धातुओ मे से एक का

---

१ पा० ६ १ ६३—'पद्दन्नोमासहृन्निशसन् यूषन्दोषन् ।'
२ द्र० पा० ७ २ १०१—'जराया जरसन्यतरस्याम्'।
३ द्र० पा० २ ४ ५२—'अस्तेर्भू'।
४ द्र० पा० २ ४ ५३—'ब्रूवो वचि'।
५ द्र० पा० २ ४ ५४—'चक्षिङ ख्याञ्'।
६ पा० २ ४ ४१—'वेञो वयि'।
७ द्र० पा० २ ४ ५६—'अजेर्व्यघञपो'।
८ द्र० पा० २ ४ ३७—'लुङ्सनोर्घस्लृ'।

सार्वधातुक में प्रयोग नष्ट हो गया, दूसरी का आर्धधातुक मे। वैयाकरणो ने अन्वाख्यान के लिए 'नष्टाश्वदग्धरथवत् न्याय" से दोनो को एक साथ जोड दिया। इसी प्रकार वर्णलोप, वर्णागम वर्णविकार तथा स्थान्यादेश भाव आदि के द्वारा वैयाकरण जिन रूपो को निष्पन्न करते हैं वे रूपान्तर भी मूल रूप मे स्वतन्त्र धातुएं हैं।[१] ठीक यही बात यहाँ पर भी है। क्रोष्टु अलग स्वतन्त्र प्रकृति थी तथा क्रोष्टृ अलग। कालान्तर में दोनो प्रकृतियो के कुछ विभक्तियों के रूप लुप्त हो गये। समानार्थक होने के कारण तब वैयाकरणो ने इनमें परस्पर वर्णविकार आदि की कल्पना करके इन्हे परस्पर सम्बद्ध कर दिया। लेकिन स्पष्ट प्रतिपत्ति की दृष्टि से यह क्लिष्ट कल्पना ही होगी। अस्तु—प्रस्तु। सन्दर्भ मे प्रदीपकार लिखते हैं—

'प्रयुक्तानामिदमन्वाख्यानम्', न त्वस्मादपूर्वशब्द प्रतिपत्तिरिति नियत-विषयत्वमुच्यते। अनेनैव न्यायेन अस्तेर्भू इत्यादीन्यपि प्रत्याख्येयानि। अबुध बोधनार्थं तु किंचिद् वचनेन प्रतिपाद्यते। न्यायव्युत्पादनार्थं चाचार्य किंचित् प्रत्याचष्टे। न ह्येक पन्था समाश्रीयते इति।[२]

आचार्य पाणिनि ने अबुध बोधनार्थ (स्पष्ट प्रतिपत्त्यर्थ) सूत्र रचना की है किन्तु भाष्यकार वास्तविक सिद्धान्त की बात करते हैं। वे जानते हैं कि प्रकृति प्रत्यय, स्थानी-आदेश की कल्पना वास्तविक नही है[३]। साधारण मनुष्य वास्तविक बात को नही जान सकते। उनको वास्तविकता का ज्ञान कराने के लिए पतंजलि मुनि सूत्रो का प्रत्याख्यान करते हैं। इसलिए इस सूत्र का

---

१ विशेष अध्ययनार्थ द्रष्टव्य—सं० व्या० शा० इ० भा० १, प्रथम अध्याय।

२ महा० प्र० भा० ५, सू० ७ १ ९५, पृ० ९०-९१।

३ प्रस्तुत प्रसंग मे भर्तृहरि की निम्न कारिकाये विशेष महत्व की है—
वा० प० २ ३८—'उपाया शिक्षमाणानां बालानामुपलालना।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा तत सत्यसमीहते'॥
वा० प० १ ९२ — निर्भागेष्वभ्युपायो वा भागभेदप्रकल्पना'॥
वा० प० १ १० इत्यादि—'यथा पदे विभज्यन्ते प्रकृतिप्रत्ययादय।
अपोद्धारस्तथा वाक्ये पदानामुपवर्ण्यते॥
महा० प्र० भा० ४, सू० ५ ३ ६८, पृष्ठ २२७—तुलना करो—'अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रकृतिप्रत्ययानामिहशास्त्रेऽप्यवस्तापरिकल्पनात्'।

प्रत्याख्यान शब्द प्रयोग की वस्तु स्थिति का सूचक होने से न्याय्य ही है। पदमजरीकार हरदत्त भी लिखते हैं—

"यस्तु मन्यते अभिधानस्वभावादेव तुस्तृचोर्व्यवस्थितविषय प्रयोग इति त प्रति सूत्रत्रयमपि शक्यमकर्तुम्"।

उनके मत मे "तृज्वत् क्रोष्टु" विभाषा तृतीयादिष्वचि', 'स्त्रिया च'[1] ये तीनो सूत्र प्रत्याख्येय है। प्रस्तुत प्रसग मे अर्वाचीन वैयाकरण तो इन सूत्रो का समर्थन ही करते हुए प्रतीत होते हैं। क्योंकि यहा इन्होंने भाष्यवार्तिककार के व्याख्यान (प्रत्याख्यान) को सयुक्तिक न मानकर अन्य वृत्तिकारो का आश्रयण करते हुए इन सूत्रो को रखा ही है।[2] केवल जैनेन्द्र व्याकरणकार ही इस सूत्र के प्रत्याख्यान से सहमत हैं। इस प्रकार इन वैयाकरणो का मत भी युक्ति-प्रयुक्त न होने से यहाँ ग्राह्य नहीं है। अत सूत्र का प्रत्याख्यान ही ठीक है।

---

१ पा० ७ २ ९५ ९६ ९७।

२ चा० सू० ५ ४ ८-४९—'क्रुशस्तुनस्तृच्। 'स्त्रियाम्'।
शा० सू० १ २ १३१-१३२, १ ३ १—'क्रोष्टोस्त्रोष्टे'। 'वाऽच्यापि'
स० 'क्रोष्टु र्' सू० ६ ४४७-४८-४९—'क्रुशस्तुनस्तृच'। स्त्रियाम्'।
'टादा वजादौ वा'।
है० सू० १ ४ ९१-९३—'क्रुशस्तुनस्तृच् पुंसि'। 'टादौस्वरे वा'।
स्त्रियाम्'।

षष्ठ अध्याय

अधिकार सूत्रों का प्रत्याख्यान

अनभिहिते ॥२ ३ १॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह अधिकार सूत्र है। इसके आगे 'कर्मणि द्वितीया'[1] इत्यादि सूत्रों में इसका अधिकार जाता है। इसका अर्थ है कि 'अनभिहित' कर्मादि कारकों में ही द्वितीयादि विभक्ति हो, 'अभिहित' कर्मादि में न हो। 'अनभिहित' का अर्थ 'अनुक्त', 'अकथित', 'अवाच्य' एवं 'अनिर्दिष्ट' है। जहाँ किसी अन्य से कर्मादि कारक का 'अभिधान' नहीं हुआ हो, वहाँ द्वितीयादि विभक्ति होती है। 'अभिहित' या अन्य द्वारा 'कथित' कर्मादि में नहीं होती। जैसे— कटं करोति' 'ग्रामं गच्छति'। 'पचत्योदनं देवदत्तः'। यहाँ 'करोति', 'गच्छति', 'पचति' इन क्रियाओं में 'तिप्' प्रत्यय परस्मैपद तथा 'तान्येकवचनद्विवचन-बहुवचनान्येकशः'[2] से एकवचन सम्भव है। वह "शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्", "द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने", बहुषु बहुवचनम्"[3] इन सूत्रों की एकवाक्यता से 'एकत्व विशिष्ट कर्ता कारक' में हुआ है। 'तिप्' का वाच्य 'कर्ता' है। उससे कर्ता 'अभिहित' है। कर्मकारक में 'तिप्' प्रत्यय नहीं हुआ है, उसका वाच्य कर्म नहीं है। कर्म 'अनभिहित' है। कर्म के 'अनभिहित' होने से 'कट', 'ग्राम' या 'ओदन'— रूप कर्म में "कर्मणि द्वितीया" से द्वितीया विभक्ति हो जाती है। किन्तु कर्ता के 'अभिहित' होने से कर्ताभूत 'देवदत्त' शब्द से 'कर्तृकरणयोस्तृतीया'[4] से तृतीया विभक्ति न होकर 'प्रातिपदिकार्थ' में "प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा"[5] से प्रथमा होती है। क्योंकि

---

१ पा० २ ३ २।

२ पा० १ ४ १०२।

३ पा० १ ३ ७८, १ ४ २२, २१।

४ पा० २ ३ १८।

५ पा० २ ३ ४६।

प्रत्येक कारक का 'अभिहित' हुआ अर्थ प्रातिपदिक के अन्तर्भूत होकर 'प्रातिपदिकार्थ' बन जाता है। 'अभिहित' हुए प्रत्येक कारक से केवल प्रथमा ही होती है, अन्य द्वितीयादि विभक्तियां नहीं हो सकती।

कारकों का 'अभिधान' प्रायः 'तिङ्', 'कृत्', 'तद्धित' तथा समास से होता है। भाष्यवार्तिक भी है 'तिङ्कृत्तद्धितसमासैः परिसंख्यानम्'[1] अर्थात् 'तिङ्', 'कृत्', 'तद्धित' तथा समासों' से कारक का अभिधान' न होने पर ही द्वितीयादि विभक्तियां होती हैं, यह परिगणन कर दिया है। इनमें 'तिङ्' जैसे—'क्रियते कटः'। यहां 'क्रियते' आत्मनेपद 'त' प्रत्यय 'तिङ्' है। "भावकर्मणोः"[2] से वह कर्म में हुआ है। उसका कर्म वाच्य है। कर्म के 'अभिहित' होने से 'कटरूप' कर्म में "कर्मणि द्वितीया"[3] से द्वितीया नहीं होती अपितु 'प्रातिपदिकार्थ' में प्रथमा हो जाती है। 'कृत्' जैसे—'कृतः कटः', यहां 'कृत' में 'क्त' प्रत्यय 'कृतसंज्ञक' है वह "तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः"[4] के नियम से कर्म में हुआ है। उसका कर्म वाच्य है। कर्म के अभिहित होने से वहाँ भी 'कटरूप' कर्म में द्वितीया न होकर प्रथमा होती है। 'तद्धित' जैसे—'शत्यः', 'शतिकः'। 'शतेन क्रीतः' इस अर्थ में 'शत' शब्द से "शताच्च ठन्यतावशते"[5] से 'ठन्', 'यत्' प्रत्यय होते हैं, जो तद्धित हैं। 'शत्यः', 'शतिकः' में "तेन क्रीतम्"[6] इस करण कारक के 'अभिहित' होने से "कर्तृकरणयोस्तृतीया"[7] से, तृतीया न होकर प्रथमा ही होती है। 'समास' जैसे 'प्राप्तोदको ग्रामः'। 'प्राप्तमुदकं यं स प्राप्तोदकः' यहां बहुव्रीहि समास में 'यम्' इस द्वितीयान्त अन्य पदार्थ के अभिहित' होने से द्वितीया न होकर प्रथमा ही होती है। 'तिङादि' के परिगणन में अन्यत्र तो 'अभिहित' होने पर भी द्वितीयादि हो जाती है जैसे—कटं करोति भीष्ममुदारं दर्शनीयं शोभनम् यहां कटम्' इस द्वितीयान्त सुबन्त से कर्म के 'अभिहित' होने पर भी उनके विशेषण भूत 'भीष्म' आदि शब्दों में द्वितीया हो जाती है। इस प्रकार इस सूत्र का प्रयोजन स्थिर होता है।

---

१ महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० ४४१।
२ पा० १ ३ १३।
३ पा० २ ३ २।
४ पा० ३ ४ ७०।
५ पा० ५ १ २१।
६ पा० ५ १ ३६।
७ पा० २ ३ १८।

पक्षान्तर को मानकर सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र का प्रत्याख्यान एक पक्षीय है। क्योंकि "कर्मणि द्वितीया"[1] इत्यादि सूत्रों के दो प्रकार के अर्थ सम्भव होते हैं। सङ्ख्या' और 'कारक' के विशेषण विशेष्यभाव में जब सङ्ख्या' को विशेष्य माना जाता है तो सूत्र का अर्थ होता है—कर्म की एकत्व सङ्ख्या में द्वितीया का एकवचन, द्वित्व में द्विवचन तथा बहुत्व में बहुवचन हो। इस प्रकार द्वितीया विभक्ति का अर्थ सङ्ख्या' होता है। इस पक्ष में 'सङ्ख्या' को विभक्त्यर्थ' माना जाता है। और जब कारक' को विशेष्य मानकर ऐसा अर्थ किया जाता है कि 'एकत्वविशिष्ट कर्मकारक' में द्वितीया का एकवचन द्वित्वविशिष्ट कर्म' में द्विवचन तथा 'बहुत्वविशिष्ट कर्म' में बहुवचन हो तब विभक्ति का अर्थ कारक' बन जाता है। 'कारक' को विभक्त्यर्थ' माना जाये अथवा सङ्ख्या' को, दोनों पक्षों में जो दोष आते हैं उनका पूर्णतया समाधान हो जाता है और ये दोनों ही पक्ष शास्त्र में स्वीकृत हैं। भाष्य में कहा गया है—

"सुपां कर्मादयोऽप्यर्था सङ्ख्या चैव तथा तिङाम्"।[2]

उक्त दोनों पक्षों के व्यवस्थित होने पर भी 'सङ्ख्या' को विभक्त्यर्थ मानने पर इस सूत्र की आवश्यकता रहती है।[3] इसका प्रत्याख्यान नहीं हो सकता। किन्तु जब 'कारकों' को विभक्त्यर्थ' माना जाता है, तब यह सूत्र अनावश्यक हो जाता है। इसका प्रत्याख्यान सम्भव है। क्योंकि कारकों' को द्वितीयादि विभक्तियों का अर्थ मानने पर यह व्यर्थ है। 'तिङ्', 'कृत्' 'तद्धित', 'समासों' से कर्मादि कारकों का 'अभिधान' हो ही जाता है। फिर द्वितीयादि विभक्तियाँ लग कर क्या करेंगी। जो चीज कही जा चुकी है उसी को फिर कहना—पिष्टपेषण करना सर्वथा अनुचित है। 'क्रियते कट', 'कृत कट' इत्यादि में तिङ्' आदि से कर्म का 'अभिधान' हो जाने पर फिर उसी कर्म का 'अभिधान' करने के लिए द्वितीया का प्रयोग नहीं होता।

"उक्तार्थानामप्रयोग" यह न्याय प्रसिद्ध है। वस्तुत यदि देखा जाय तो प्रकृत सूत्र उक्त न्याय का ही परिष्कृत रूप है। वहाँ तो 'प्रातिपदिकार्थ में

---

१ पा० २ ३ २।

२. महा० भा० १, सू० १४२१, पृ० ३२२।

३ द्र० महा० प्र० प्रकृत सूत्र—"तदेव सङ्ख्या विभक्त्यर्थ इति दर्शनाश्रयेण सूत्र स्थापितम्"।

अन्तर्भूत कर्म को प्रकट करने के लिए प्रथमा ही आयेगी, अन्य द्वितीयादि विभक्ति नहीं आ सकती। हाँ, 'संख्या' को 'विभक्त्यर्थ' मानने में यह सूत्र आवश्यक है जिससे 'कृत: कट:' इत्यादि में 'क्त' आदि से अभिहित कर्म की 'एकत्वादि संख्या' को अभिहित' करने के लिए प्राप्त द्वितीया को रोका जा सके। क्योंकि इस सूत्र के होने पर 'अनभिहित' कर्मादि की संख्या को व्यक्त करने के लिए ही द्वितीयादि होगी। अभिहित कर्म' आदि की 'संख्या' को व्यक्त करने के लिए द्वितीयादि प्रतिसिद्ध हो जायेगी। वहाँ केवल प्रथमा ही होगी। कर्तव्य: कट:' यहाँ कृत्प्रयोग में "प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाण"[1] सूत्र से प्राप्त प्रथमाविभक्ति को परे होने से बाधकर 'कर्तृकर्मणो: कृति",[2] यह षष्ठी प्राप्त है। उसको रोकने के लिए भी यह सूत्र आवश्यक है। भाष्यकार लिखते हैं—

"कृत्प्रयोगे तु परत्वात् षष्ठी प्राप्नोति। तत्प्रतिषेधार्थमनभिहिताधिकार: कर्तव्य:। स: कथं कर्तव्य:। यद्येकत्वादयो विभक्त्यर्था:। अथ हि कर्मादयो विभक्त्यर्था नार्थोऽनभिहिताधिकारेण"।[3]

इस प्रकार इस सूत्र का प्रत्याख्यान एकपक्षीय अथवा पक्षान्तर से संभव है, यह सिद्ध हो जाता है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यह सूत्र प्रत्याख्यान के योग्य नहीं है। भाष्यकार ने जो व्युत्पन्नमति लोगों के लिए केवल एक दृष्टि या दिशा दिखाई है। वस्तुत: तो वे भी सूत्र का प्रत्याख्यान नहीं चाहते। क्योंकि 'संख्या और कारक' दोनों को 'विभक्त्यर्थ' मानने में व्याकरण शास्त्र में दोनों ही पक्ष हैं। इन्हें क्रमश: गुण प्रधान भाव से 'विभक्त्यर्थ' माना जाता है। अत: एक पक्ष को लेकर सूत्र का खण्डन युक्ति संगत नहीं जचता। इसके अतिरिक्त इसके अभाव में षष्ठी विभक्ति प्रथमा की बाधक प्राप्त होगी। स्पष्ट प्रतिपत्ति में भी रुकावट होगी। अत: इन सब कारणों से सूत्र रहना ही चाहिए। इसीलिए सूत्र की आवश्यकता को अनुभव करने के कारण ही जैनेन्द्र व्याकरणकार ने भी प्रकृत सूत्र का प्रतिरूप "अनुक्ते"[4] सूत्र बनाया।

---

१ पा० २ ३ ४६।
२ पा० २ ३ ६५।
३ महा० भा० १, सूत्र २ ३ १, पृ० ४४३।
४ जै० सू० १ ४ १—चान्द्रादि अन्य व्याकरणों में यह सूत्र नहीं मिलता। वैसे शाकटायन व्याकरण की अमोघवृत्ति (१ ३ १०५) में इस पर विचार अवश्य किया गया है।

प्रस्तुत प्रसग मे यह अवश्य ध्यातव्य है कि प्रकृत सूत्रस्थ "अनभिहितवचन मनर्थक प्रथमाविधानस्यानवकाशत्वात्"[1] इत्यादि भाष्य वार्तिक जो कि सूत्र के प्रयोजनो पर पुन विचार करने वाले है, उनका यहाँ स्थापन चिन्तन का विषय है। क्योंकि सूत्र के प्रयोजनो पर तो भाष्यवार्तिककार आरम्भ मे ही विचार कर चुके हैं। फिर दोबारा उन पर विचार करना सभवत वैयाकरणो के विकसित विचारो का परिणाम है। लेकिन डा० जोशी के अनुसार यहाँ प्रश्न पैदा होता है कि यदि यह स्थल बाद मे जोडा गया है तो इसका जोडने वाला कौन हो सकता है—स्वय भाष्यकार या कोई अन्य। दूसरा प्रश्न भी इसी के साथ ही उठता है कि फिर किस के वार्तिक यहाँ उद्धृत किये गए।[2] यह बात विद्वानो के विचार का विषय है अस्तु, जो भी हो, वर्तमान स्थिति म भी सूत्र प्रत्याख्येय नही ठहरता।।

धातो ॥३ १ ९१॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह अधिकार सूत्र है। यहाँ से 'धातु' का अधिकार तृतीयाध्याय की समाप्ति तक जाता है। 'तव्यत्' आदि सब प्रत्यय 'धातु' से होते हैं, 'प्रातिपदिक' से नही। 'प्राग्लादेशात् धात्वधिकार'[3] यह पक्ष भी भाष्यकार ने उपस्थित किया है और उसमे आने वाले दोषो का समाधान भी कर दिया

---

१ महा० भा० १, सूत्र २ ३ १, पृ० ४४३।

२ भाष्य (जोशी) अनभिहिताह्निक, इण्ट्रोडक्शन, पृ० xxxviii, 'the discussion rather surprisingly returns to the very first topic, that of the purpose of the rule It consists of four. Vts and eight Bhāṣyas and it looks like, a reconsideration of the same problem in the light of more developed grammatical, technical thought If this section has been added later on, the question is who did it, Patañjali himself in a latter stage of the composition of the Mbh or some body else, the second question is whose Vts are quoted here ?

महाभाष्य में प्रक्षेप हैं या नही, इस बारे मे विषय प्रवेश मे विशेष रूप से देखें, पृ० ३९-४४।

३ महा० भा० २, प्रकृत सूत्र पर भाष्यवार्तिक, पृ० ७२।

है। किन्तु सिद्धान्तरूप से तृतीयाध्याय के चतुर्थपाद के 'लस्य'[1] इस सूत्र से लेकर "छन्दस्युभयथा"[2] इस अन्तिम सूत्र तक 'लादेश' कहलाते हैं। वे कोई 'तिप्', 'तस्', 'झि' इत्यादि ५२-५३ के लगभग हैं। उनसे पूर्व धात्वधिकार मानने पर "तिङशित् सार्वधातुकम्"[3], 'आर्धधातुकं शेषः'[4] ये 'सार्वधातुक', 'आर्धधातुक संज्ञा विधान करने वाले सूत्र 'लादेशप्रकरण के होने में इनमें 'धातु' का अधिकार न जा सकेगा। उससे प्रत्यय मात्र की 'सार्वधातुक' या 'आर्धधातुक संज्ञा' प्राप्त हो जायेगी तो "अम् औट् शस्०"[5] से विहित शस्' प्रत्यय की भी 'सार्वधातुक संज्ञा' होने से "सार्वधातुकमपित्"[6] से वह 'ङित्' हो जायेगा। उसके 'ङित्' होने पर 'हरीन्' इत्यादि में "क्ङिति"[7] से गुण प्राप्त होगा। 'जुगुप्सते', 'मीमांसते' में जो "गुप्तिज्किद्भ्यः सन्"[8], "मानबधदान शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य"[9] इन सूत्रों से 'सन्' प्रत्यय का विधान है, वह "धातु" के अधिकार से बाहर है अतः उसकी 'आर्धधातुक संज्ञा' नहीं होती है। इसलिए 'जुगुप्सते' में "आर्धधातुकस्येड्वलादेः"[10] से विहित 'इडागम' तथा "पुगन्तलघूपधस्य च"[11] से विहित 'लघूपधगुण' भी नहीं होता।

'जिस प्रकार अङ्गाधिकार में दो पक्ष हैं—"प्रागभ्यासविकारेभ्योऽङ्गाधिकार" अर्थात् "अत्र लोपोऽभ्यासस्य"[12] इस अभ्यासविकारविधायक सूत्र से पूर्व तक "अङ्गस्य"[13] सूत्र का अधिकार है। अभ्यासविकारों में अङ्ग का अधिकार नहीं है, यह एक पक्ष है। दूसरा पक्ष है—सप्तमाध्याय की समाप्ति तक अङ्ग

---

१ पा० ३ ४ ७७।
२ पा० ३ ४ ११७।
३ पा० ३ ४ ११३।
४ पा० ३ ४ ११४।
५ पा० ४ १ २।
६ पा० १ २ ४।
७ पा० ७ ३ १११।
८ पा० ३ १ ५।
९ पा० ३ १ ६।
१० पा० ७ २ ३५।
११ पा० ७ ३ ८६।
१२ पा० ७ ४ ५८।
१३ पा० ६ ४ १।

का अधिकार है। इस पक्ष में "उरत्"[1] इत्यादि अभ्यासविकार विधायक सूत्र भी अंग के अधिकार में आ जाते हैं। दोनो पक्षों मे 'सप्तमाध्याय की समाप्ति तक अंगाधिकार है, इस पक्ष को सिद्धान्त रूप से स्वीकार किया गया है। उसी प्रकार 'धातु' के अधिकार में भी 'प्राग्लादेशात् धात्वधिकार' इस पक्ष को छोड़कर तृतीयाध्याय की समाप्ति तक धातु का अधिकार है' इस पक्ष को माना गया है। इस धात्वधिकार के 'धातुसंज्ञा', कृत् संज्ञा', 'उपपद संज्ञा आदि अनेक प्रयोजन हैं। 'लूभ्याम् पूभ्याम्' यहां विबन्त लू', पू' धातुओ से विहित भ्याम्' प्रत्यय की 'आर्धधातुकसंज्ञा का न होना भी प्रयोजन है क्योंकि यह भ्याम' प्रत्यय धात्वधिकार" में नही है। 'धातो ' इस प्रथम अधिकार सूत्र द्वारा विहित नहीं है। इसीलिए 'धातो कर्मण समानकर्तृकादिच्छाया वा"[2] धातोरेकाचो हलादे"[3] क्रिया समभिहारे यङ्"[3] इन पूर्वगत दो धातु' ग्रहणो के होने पर भी यह तीसरा 'धातु' ग्रहण किया है, जो अधिकार सूत्र है। इस तीसरे 'धातु' के अधिकार में विहित प्रत्ययो की 'कृत्' 'उपपद', सार्वधातुक' 'आर्धधातुक' आदि संज्ञायें होती हैं। इस अधिकार से बहिर्भूतों की कृत' आदि संज्ञायें नही होती। अतएव स्य', 'तासि' आदि विकरणो की 'कृत्' संज्ञा नहीं होती हैं।

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए भाष्यवार्तिककार कहते हैं -"धातुग्रहणमनर्थकं यङ्विधौ धात्वधिकारात्"[4] अर्थात् "धातो" इस अधिकारसूत्र की आवश्यकता नही है। क्योंकि 'धातोरेकाचो हलादे क्रियासमभिहारे यङ्" इस यङ्विधायक' सूत्र मे ही 'धातु' का अधिकार चला आ रहा है। यदि उसका अधिकार नही माना जायेगा तो 'करिष्यति' हरिष्यति' मे "स्यतासी लृलुटो"[5] से विहित 'स्य' प्रत्यय किससे विहित हुआ स्वीकार किया जायेगा। उस सूत्र मे तो किसी प्रकृति का निर्देश है नहीं। बिना प्रकृति के 'य' मानने पर 'कृ', 'हृ' की अंगसंज्ञा' न हो सकेगी। 'यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्"[6]

---

१ पा० ७४६६।
२ पा० ३१७।
३ पा० ३१२२।
४ महा० भा० २, सू० ३१६१, पृ० ७४।
५ पा० ३१३३।
६ पा० १४१३।

से 'अगसज्ञा' होती है। जिससे प्रत्यय किया जाये वह प्रत्यय परे होने पर 'अ गमज्ञक' होना है। 'करिष्यति', 'हरिष्यति' मे 'स्य' प्रत्यय के विधान मे किसी प्रकृति का निर्देश नही है। "धातोरेकाचा हलादे" से धातु' का अधिकार मानने पर 'स्य' की प्रकृति धातु' बन जायेगी। उसस 'कृ' 'हृ' की 'अ ग मज्ञा' होकर 'इगन्त अ ग' को गुण हो जाता है।

यदि यह कहा जाये कि 'धातोरेकाचो हलादे", सूत्र के 'धातु' ग्रहण को अधिकार मानने पर "सत्यापपाशरूप वीणा०" यहाँ 'वण', 'चूर्ण' आदि से जिस प्रकार 'णिच्' होना है वैसे 'धातु' का अधिकार होने से किसी भी अन्य धातु मे "णिच्" प्रत्यय प्राप्त होता है तो इसका उत्तर यह है कि 'धातु मात्र' से 'णिच्' न हो सकेगा। आगे 'हेतुमति च'[१] यह सूत्र इस बात का ज्ञापक हो जायेगा कि 'धातुमात्र' से 'णिच्' नही होता है। क्योकि "सत्याप-पाश०" सूत्र से 'करण' अर्थात् 'करने' अर्थ मे 'णिच्' प्रत्यय का विधान किया है। इसी 'करण विशेष मे, 'प्रयोजन व्यापार' मे, "हेतुमति च" से 'णिच्' होता है। यदि 'धातु मात्र' मे 'करण' अर्थ मे 'णिच्' होता तो 'प्रयोजन व्यापार' मे भी हो जाता। फिर "हेतुमति च" सूत्र से 'णिच्' विधान की क्या आवश्यकता थी।[३] पुन यदि यह कहा जाये कि "कण्डवादिभ्यो यक्"[२] स विहित "यक्' प्रत्यय जैसे 'कण्डू' आदि से होता है वैसे 'धातु' का अधिकार मानने पर अन्य धातुओ से भी यक्' प्राप्त होगा तो इसका भी उत्तर यह है कि कण्डू' आदि को 'धातु' का व्यपदेश करके अर्थात् उन्हे ही 'धातु' मानकर उन्ही से 'यक्' प्रत्यय होगा अन्य धातुओं से नही होगा।[५] इस प्रकार "धातोरेकाचो हलादे" सूत्र मे पठित 'धातु' शब्द को ही धातु का अधिकार मानने मे कोई दोष नही आता। इसलिये इस तीसरे या दूसरे 'धात्वधिकार' की क्या आवश्यकता है। 'कृत सज्ञा', 'उपपदसज्ञा' जो उक्त अधिकार मे आ ही जाती हैं। क्योकि ये तो इसी तीसरे अध्याय मे "धातोरेकाच" के

---

१ पा० ३ १ २५।

२ पा० ३ १ १६।

३ द्र० महा० भा० २, सू० ३ १ ६१ पर वार्तिक, पृ० ७५—"हेतुमद्वचन ज्ञापकम यत्राभावस्य'।

४ पा० ३ १ २७।

५ द्र० महा० भा० २, सू० ३ १ ६१ पर वार्तिक पृ० ७५—'कण्ड्वादिषु च व्यपदेशिवद्वचनात्'।

बाद पढी हैं। रही 'अगसज्ञा' वह भी 'प्रत्यय' से आक्षिप्त होकर स्वत सिद्ध हो जायेगी। 'प्रत्यय' परे होने पर ही 'अग' सज्ञा होनी है। "तव्यत्" आदि प्रत्ययो का विधान स्वयमेव 'अग' सज्ञा का आक्षेप कर लेगा। इस आधार पर भाष्यकार की दृष्टि से इस सूत्र का खण्डन हो जाता है।

समीक्षा एव निष्कर्ष

भाष्यवार्तिककार ने इस सूत्र का अन्यथासिद्ध होने से खण्डन कर दिया है। किन्तु विचारणीय है कि बिना इस सूत्र के बनाये 'कृत् सज्ञा' तथा 'उपपदसज्ञा' कैसे सिद्ध हो सकती हैं। उन सज्ञाओ मे इस तीसरे धात्वधिकार की अपेक्षा है। यदि "धातोरेकाचोहलादे०"[1] वाले "धातु" ग्रहण से इस सूत्र का काम चलाया जायेगा तो "स्यतासी लृलुटो"[2] इत्यादि सूत्र विहित 'स्य' 'तासि' आदि विकरणो की भी 'कृत्सज्ञा' होने लगेगी। 'कृत्सज्ञा' होकर "कृत्तद्धितसमासाश्च"[3] सूत्र से प्रातिपदिक सज्ञा द्वारा औत्सर्गिक एक वचन 'सु' प्रसक्त होगा जो कि महान् दोष है।

इस 'धात्वधिकार' के विना सर्वत्र सप्तमी निर्दिष्टमात्र की 'उपपद' सज्ञा होने लगेगी। उससे 'च्लिलुडि'[4] मे "लुडि" के सप्तमी से निर्दिष्ट होने से 'उपपद सज्ञा' होकर 'लुडन्त उपपद' होने पर 'च्लि' होता है, ऐसा अनिष्ट अर्थ होने लगेगा।[5] 'लूभ्याम्', लूभि मे 'भ्याम्', 'भिम्' की 'आर्धधातुक सज्ञा' को रोकने के लिए भी इस तीसरे 'धात्वधिकार' की आवश्यकता है। अन्यथा क्विबन्त 'लू' शब्द के 'धातु' होने के कारण उससे विहित 'भ्याम्', 'भिस्' की 'आर्धधातुकसज्ञा' प्राप्त हो जाती। 'वासरूपोऽस्त्रियाम्'[6] सूत्र से विहित वासरूप विधि भी इसी धात्वधिकार मे अभीष्ट है। अन्यथा 'क्स' और 'सिच्' के असरूप होने से 'क्स' के साथ 'सिच्' का भी समावेश प्राप्त

१ पा० ३ १ २२।

२ पा० ३ २ ४६।

३ द० शा० वी, सू० ३ १ ६१, पृ० ३६६—'ततश्च करिष्यति इत्यत्र स्यप्रत्ययस्य कृत्सज्ञाया कृदन्तस्य प्रातिपदिकत्वे सोरुत्पत्ति स्यात्, एक-वचनस्यौत्सर्गिकत्वात्"।

४ पा० ३ १ ४३।

५ द० श० कौ०, प्रकृत सूत्र, पृ० ३६६—'तथा च्लि लुडि इत्यस्य लुडन्ते उपपदे च्लिरित्यर्थ स्यात्"।

६ पा० ३ १ ६४।

होगा। 'मिच' आदि विकरणों के इस धात्वधिकार से बहिर्भूत होने के कारण वासरूपविधि नहीं होती, यह इष्ट सिद्ध हो जाता है।'

यहां यह कहना कि 'लूभ्याम्' 'लूभि' मे आर्धधातुक सज्ञा' निवृत्ति तो "शमिधातो सज्ञायाम्"[1] इस सूत्र में किये गये 'धातु' ग्रहण से ही हो जायेगी। उस 'धातु' ग्रहण की 'आर्धधातुक सज्ञा' में अनुवृत्ति करके धातु शब्दोच्चरित से विहित प्रत्ययों की 'आर्धधातुकसज्ञा' होगी। 'लूभ्याम्' में 'प्रातिपदिक' शब्द से उच्चरित होकर उससे परे 'भ्याम्' का विधान है। अत 'भ्याम्' की 'आर्धधातुक सज्ञा' नही होगी"[3] तब तो बात दूसरी है। तथापि स्पष्ट प्रतिपत्त्यर्थ कृत्' आदि सज्ञाओं की सिद्धि के लिये यह सूत्र आवश्यक ही है।[4] 'धातोरेकाचो हलादेः ०' सूत्र का 'धातु' ग्रहण अधिकारार्थ है, इसका परिज्ञान भी तो दुष्कर है। भाष्यवार्तिककार ने व्युत्पन्नबुद्धियो के लिए उसका अधिकार स्वीकार करके इस सूत्र का प्रत्याख्यान किया है जो कि अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धिगम्य होने से विचारणीय ही है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे अर्वाचीन वैयाकरणो ने भी भाष्यकार का अनुकरण करके धात्वधिकार विषयक कोई सूत्र अपने तन्त्रो में नही रखा है।[5] अत भाष्यकार के साथ-साथ स्फुट-बोध की दृष्टि से ये भी चिन्त्य ही हैं। सूत्र अवश्य रहना चाहिये।

---

१ द्र० श० कौ० प्रकृत सूत्र, पृ० ३६६—'वासरूपविधेरच पूर्वत्र प्रवृत्तौ वमादिभि सिच समावेश स्यादिति। तस्मात् धातोरिति कर्तव्यमिति स्थितम्'।

२ पा० ३ २ १४।

३ द्र० श० कौ० प्रकृत सूत्र, पृ० ३६६—"एतच्च शक्य प्रत्याख्यातुम्। तथाहि, शमि धातो इति यद्धातुग्रहण तदेव द्वितीय सार्वधातुकार्धधातुकसज्ञयोरनुवर्तिष्यते। कृदुपपदसज्ञे वासरूपविधिश्च अधिकारेणैव व्याख्यास्यन्ते"।

४ द्र० बृ० श० शे० भा० ३, प्रकृत सूत्र, पृ० २००५ "स्पष्ट प्रतिपत्त्यर्थमेतत्"।

५ जैं० सू०, शा० सू० की क्रमश महावृत्ति (२ २ ७६ ८०) तथा अमोघ वृत्ति (४ २ १७) में अवश्य 'धात्वधिकार' की चर्चा मिलती है।

अनुपसर्जनात्[1] ।।४ १ १४।।

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह अधिकार सूत्र है। यहाँ से आगे आने वाले "टिड्ढाणञ्०"[2] इत्यादि स्त्रीप्रत्यय विधायक सूत्रों में इसका अधिकार जाता है। सूत्रार्थ इस प्रकार है कि 'टित्' आद्यन्त से विहित 'ङीप्' आदि स्त्री प्रत्यय 'अनुपसर्जन' प्रातिपदिक से हो 'उपसर्जन' से न हो। 'उपसर्जन' का अर्थ 'गौण' या 'अप्रधान' है। उससे भिन्न 'अनुपसर्जन' का अर्थ 'प्रधान' है। जहां प्रातिपदिक का अपना अर्थ 'प्रधान' है 'अनुपसर्जन' है उसी से 'ङीप्' आदि स्त्री प्रत्यय होवे 'उपसर्जन' या अन्य के प्रति 'गुणीभूत' अर्थ वाले प्रातिपदिक से 'ङीप्' आदि प्रत्यय नहीं होवे। जैसे—'कुरुचरी'। 'मद्रचरी'। कुरुषु चरतीति 'कुरुचरी' यहाँ अधिकरण कारक 'कुरु' शब्द उपपद होने पर 'चर' धातु से "चरेष्टः"[3] से 'ट' प्रत्यय होता है। उसके 'टित' होने से 'चर' यह 'टिदन्त', शब्द बनता है। "प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणं भवति"[4] इस परिभाषा के वचन से जिस 'चर्' धातु से 'ट' प्रत्यय का विधान किया है, वह तदादि तदन्त समुदाय 'चर' शब्द ही 'टिदन्त' माना जाता है, 'कुरुचर' नहीं। क्योंकि 'कुरु' शब्द से 'ट' प्रत्यय का विधान नहीं किया है। इस सूत्र के विधान

---

१ भाष्यकार ने प्रकृत सूत्र पर कहा है कि यह सूत्र प्राक्पाणिनीय आचार्यों के अनुसार है (पूर्वसूत्रनिर्देशो वा)। क्योंकि पारिभाषिक एवं अपारिभाषिक अर्थ में एक ही शब्द का व्यवहार पाणिनीय तन्त्र में प्रायः प्राक्पाणिनीय कृतियों के समावेश का फल है। यह ज्ञातव्य है कि 'उपसर्जन' पद को पाणिनि ने पारिभाषिक रूप में भी व्यवहृत किया है। (द्र० सू० १ २ ४३)। इस सूत्र में पारिभाषिक अर्थ का प्रयोग उत्पन्न नहीं हो सकता, यही कारण है कि यद्यपि "कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमस्यैव ग्रहणम्" (महा० भा० १, सू० १ १ २३, पृ० ८०) परिभाषा से पारिभाषिक शब्द का ही ग्रहण होना चाहिए तथापि "उभयगतिरिहभवति" (परि० स० ६) के अनुसार यहाँ युक्तता के कारण पूर्वाचार्य प्रसिद्ध प्रचलित अर्थ (अप्रधान) का ही ग्रहण पाणिनि को इष्ट है।

२ पा० ४ १ १५।

३ पा० ३ २ १६।

४ परि० स० २३।

सामर्थ्य से तदन्तविधि होकर "टिदन्त है अन्त में जिसके ऐसे टिदन्तान्त अनुपसर्जन प्रातिपदिक से 'ङीप्' होगा" तो 'कुरुचर' शब्द से 'ङीप्' प्रत्यय होकर 'कुरुचरी' बन जाता है। टिदन्त 'चर' शब्द 'कुरु के अन्त में है ही। इसलिए कुरुचर' शब्द टिदन्तान्त प्रातिपदिक है और वह 'अनुपसर्जन' है। उसका अर्थ, जो कुरुदेशों में चरने वाली है, वह किसी के प्रति गुणीभूत नहीं है। अतः 'कुरुचर' के 'अनुपसर्जन' प्रातिपदिक होने से टिड्ढाणञ्०" सूत्र से 'ङीप्' प्रत्यय होकर 'कुरुचरी' यह इष्ट रूप बनता है। 'उपसर्जन' एवं 'गौण' अर्थ वाले प्रातिपदिक से 'ङीप्' नहीं होता। जैसे—'बहुकुरुचरा मथुरा'। 'बहवः कुरुचरा यस्यां नगर्यां सा बहुकुरुचरा मथुरा नगरी' यहाँ अन्य पदार्थ बहुव्रीहि समास में कुरुचर का अर्थ 'प्रधान' नहीं है। क्योंकि वह समस्यमान अन्तवर्ती पद होने के कारण नगरी अर्थ के प्रति 'उपसर्जन' है, 'गुणीभूत' है। अतः "टिड्ढाणञ्"[1] सूत्र से 'ङीप्' न होकर "अजाद्यतष्टाप्"[2] इस सूत्र से सामान्य विहित 'टाप्' प्रत्यय होता है तो 'बहुकुरुचरा' यह रूप बनता है।

इस सूत्र के बनाने का यही प्रयोजन है कि 'अनुपसर्जन' एवं 'प्रधान' अर्थ वाले प्रातिपदिक से ही तदन्तविधि होकर 'ङीप्' आदि प्रत्यय हों 'उपसर्जन' से नहीं। यद्यपि "येनविधिस्तदन्तस्य"[3] सूत्र के भाष्य में 'समास-प्रत्ययविधौ प्रतिषेध' इस वार्तिक वचन द्वारा प्रातिपदिक से प्रत्यय विधान करने में तदन्तविधि का निषेध किया गया है। इसलिए कुरुचरी' यहाँ तदन्तविधि नहीं होनी चाहिए तो भी इस सूत्र के वचन-सामर्थ्य से यहाँ स्त्री प्रत्यय के विधान करने में तदन्तविधि मान ली गई है। "प्रत्ययविधौ प्रतिषेध"[4] इस वचन को ही 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधि प्रतिषिध्यते'[5] इस परिभाषा द्वारा प्रकट किया जाता है। जिसका अर्थ है—'प्रत्यय को ग्रहण करने वाले प्रातिपदिक से तदन्तविधि नहीं होती'। जैसे—"नडादिभ्य फक्"[6] सूत्र से 'नडादि' प्रातिपदिकों में 'फक्' प्रत्यय का विधान किया गया है तो वह केवल 'नडादि' शब्दों से ही होगा। 'नडाद्यन्त' शब्दों

---

१ पा० ४ १ १५।
२ पा० ४ १ ४।
३ पा० १ १ ७२।
४ पा० १ १ ७२ पर वार्तिक।
५ परि० स० ३१।
६ पा० ४ १ ९९।

से नहीं होगा। उससे 'नडस्य गोत्रापत्य नाडायन' यहाँ केवल 'नड' शब्द से 'फक्' प्रत्यय होकर 'नाडायन' यह इष्ट रूप बन जाता है। 'नडशब्दान्त सूत्रनड' शब्द से 'फक्' नहीं होगा तो 'सूत्रनडस्य अपत्य सौत्रनाडि' यहां "अत इञ्"[1] से सामान्य विहित 'इञ्' प्रत्यय ही होता है। तदन्तविधि का निषेध करने वाली उक्त परिभाषा के अपवाद स्वरूप आगे उसी सूत्र में "उगिद्वर्णग्रहणवर्जम्" यह वचन पढ़ा गया है। इसका अर्थ है कि 'उगित्' ग्रहण और वर्णग्रहण' को छोड़कर "ग्रहणवता प्रातिपदिकेन०" यह परिभाषा लगती है। अर्थात् जिन कार्यों में 'उगित्' का ग्रहण है और 'वर्ण' का ग्रहण है वहाँ तदन्तविधि का निषेध न होकर तदन्तविधि हो ही जाती है। जैसे—"उगितश्च"[2] से 'उगित' प्रातिपदिक से विहित 'ङीप्' प्रत्यय 'उगिदन्त' प्रातिपदिक से भी हो जाता है। 'भवत्' इस 'उगित्' प्रातिपदिक से जैसे ङीप् होकर 'भवती' यह रूप बनता है वैसे ही उगिदन्त अतिभवत्' से भी 'ङीप्' होकर 'अति भवती' यह रूप बन जाता है। इसी प्रकार 'महती', 'अतिमहती' इत्यादि में तदन्तविधि होकर 'ङीप्' हो जाता है। "वनोर च"[3] में 'वन्नन्त' के साथ 'वन्नन्तात' प्रातिपदिक से भी 'ङीप्' और रेफादेश हो जाता है तो 'धीवरी', 'अतिधीवरी' ये रूप बन जाते हैं। 'वर्ण ग्रहण' में जैसे 'अत इञ्'[4] सूत्र में अकार वर्ण का ग्रहण है, वहां भी तदन्तविधि का निषेध न होकर तदन्तविधि हो ही जाती है। उससे केवल अकारवर्ण से जैसे 'अस्य अपत्यम् इ' यहाँ 'इञ्' प्रत्यय होता है वैसे 'दक्षस्यापत्य दाक्षि' यहाँ अकारवर्णान्त 'दक्ष' शब्द से भी हो जाता है।

इसके अतिरिक्त 'अजाद्यतष्टाप्'[5] सूत्र के अजादिगण में पठित 'शूद्रा चामहत्पूर्वा जाति" इस अन्तर्गण सूत्र में 'अमहत्पूर्व' ग्रहण से भी यह सिद्ध होता है कि यहाँ स्त्रीप्रत्ययविधान में प्रातिपदिक से तदन्तविधि हो जाती है। अन्यथा केवल 'शूद्र' शब्द से विहित 'टाप्' प्रत्यय की 'महाशूद्र' इस शूद्रशब्दान्त में प्राप्ति ही नहीं तो 'अमहत्पूर्व' ग्रहण करके उसका निषेध करना व्यर्थ हो जाता है। 'अमहत्पूर्व' ग्रहण से ज्ञापित तदन्त विधि का

---

१ पा० ४ १ ९५।
२ पा० १ १ ७२ पर वार्तिक।
३ पा० ४ १ ६।
४ पा० ४ १ ७।
५ पा० ४ १ ९५।
६ पा० ४ १ ४।

हो यह सूत्र उपोद्वलक है। "अनुपसर्जनात्" इस सूत्र से भी यहा स्त्रीप्रत्य विधान मे तदन्तविधि का ज्ञापन होता है। यह सूत्र यहाँ तदन्तविधि होने मे ही तात्पर्यग्राहक है। तदन्तविधि के ज्ञापक इन दोनो मे इतना ही भेद है कि यह सूत्र 'अनुपसर्जन' प्रातिपदिक से तदन्तविधि का ज्ञापन करता है। इससे पूर्व कहे गये सूत्रो मे सामान्य रूप से 'उपसर्जन' और अनुपसर्जन' दोनो प्रातिपदिको से तदन्तविधि का विधान होता है।

इस सूत्र के बनाने का मुख्य मूर्धाभिषिक्त प्रयोजन यह है कि 'कौम्भकारेय' यह इष्ट रूप सिद्ध हो जाता है। अन्यथा 'कुम्भकारेय' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता। वह इस प्रकार है—'कुम्भ करोति इति कुम्भकार स्त्री कुम्भकारी। कुम्भकार्या अपत्य कौम्भकारेय' यहाँ 'कुम्भकार' शब्द मे कमकारक 'कुम्भ' शब्द उपपद होने पर 'कृ' धातु से "कर्मण्यण्"[1] से 'अण्' प्रत्यय होता है। "अचो ञ्णिति"[2] से वृद्धि होकर 'कार' यह अण्णन्त' शब्द बन जाता है। 'प्रत्ययग्रहण' परिभाषा से 'कार' शब्द ही 'अण्णन्त' है, 'कुम्भकार' नहीं। क्योकि 'कुम्भकार' शब्द से 'अण्' प्रत्यय का विधान नही हुआ है। 'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापिग्रहण भवति'[3] इस परिभाषा से भी 'कुम्भकार' शब्द को 'अण्णन्त' नही माना जा सकता। क्योकि यह परिभाषा वहाँ लगती है, जहा केवल 'कृत' प्रत्यय का ही ग्रहण हो। जहा 'कृत्' के साथ 'अकृत' का भी ग्रहण हो, वहा यह परिभाषा नही लगती। 'टिड्ढाणञ्०" सूत्र में 'अण्' प्रत्यय 'कमण्यण्'[1] से विहित कृतसज्ञक भी लिया गया है। और 'प्राग्दीव्यतोऽण्" यह तद्धित सज्ञक 'प्राग्दीव्यतीय' भी लिया गया है। इसलिये 'कृद् ग्रहण परिभाषा' की यहा प्रवृत्ति न होने से 'कुम्भकार' शब्द मे केवल 'कार ही 'अण्प्रत्ययान्त' बनता है। इस सूत्र के अभाव मे 'अण्' प्रत्ययान्त 'कार' शब्द से "टिड्ढाणञ्" सूत्र से 'ङीप्' होकर 'कारी' यह स्त्री प्रत्ययान्त शब्द होगा। 'कुम्भ' के साथ 'कारी' का एकार्थीभाव होन पर भी 'कुम्भकारी' के स्त्रीप्रत्ययान्त न होने से "स्त्रीभ्यो ढक्"[4] से अपत्य अथ में होने वाला 'ढक्' प्रत्यय केवल 'कारी' शब्द से प्राप्त होगा। 'कुम्भ' छूट

---

१. पा० ३ २ १।
२ पा० ७ २ ११५।
३ परि० स० २८।
४ पा० ४ १ ८३।
५ पा० ४ १ १२०।

जायेगा। उस अवस्था में 'किति च'[1] से होने वाली आदि वृद्धि केवल 'कारी' की होगी। 'कुम्भ' को न होगी तो कुम्भकार्या अपत्यम् कुम्भकारेय' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है। 'कौम्भकारेय' यह अभीष्ट रूप सिद्ध नहीं हो सकेगा। इस सूत्र के बनाने पर तो 'अण्प्रत्ययान्त' से तदन्तविधि होकर 'अण्न्तान्त अनुपसर्जन' प्रातिपदिक 'कुम्भकार' बन जाता है। तब केवल 'कार' से 'ङीप्' न होकर 'कुम्भकार' इस 'अण्णन्तान्त' से होगा तो स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द 'कुम्भकारी' बनेगा। उससे 'ढक्' होकर 'कुम्भ' शब्द को ही आदि वृद्धि होगी तो 'कौम्भकारेय' यह इष्ट रूप सिद्ध हो जाता है। इसलिए प्रधान प्रातिपदिक में तदन्तविधि द्वारा 'ङीप्' आदि प्रत्यय करने के लिए यह सूत्र अत्यन्त आवश्यक है।

परिभाषा के आधार पर सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार इस सूत्र के खण्डन के सम्बन्ध में चुप हैं। यद्यपि भाष्यकार ने भी इस सूत्र का प्रत्याख्यान साक्षात् शब्दों में नहीं किया। अतः यह अस्पष्ट लिंगप्रत्याख्यान है तो भी 'सर्वादीनि' 'सर्वनामानि'[2] सूत्र के भाष्य में "संज्ञोपसर्जनप्रतिषेध" इस वार्तिक का खण्डन करते हुए कहते हैं—'उपसर्जनप्रतिषेधश्च न कर्तव्य। अनुपसर्जनात् इत्येष योग प्रत्याख्यायते। तमेवमभिसम्भत्स्याम —अनुपसर्जन अ अ-अदिति। अकारान्तात् आकारात्कारौ शिष्यमाणाव नुपसर्जनस्य द्रष्टव्यौ'[3]। इस भाष्य वचन का यह आशय समझा जा सकता है कि 'अनुपसर्जनात्', इस सूत्र का प्रत्याख्यान होना सभव है। यदि इसके प्रयोजनों को अन्यथासिद्ध कर दिया जावे तो इस सूत्र का प्रत्याख्यान हो सकता है। प्रत्याख्यात हुए इस सूत्र का किसी अन्य प्रयोजन के लिए उपयोग हो जायेगा। और वह प्रयोजन यह है कि "अनुपसर्जनात्' इसको पचमी का एकवचन न मानकर 'अनुपसर्जन अ-अ-अत्' इस प्रकार अविभक्तिक सौत्र निर्देश माना जायेगा। उसका अर्थ होगा कि 'अकारान्त' से परे 'त्यदादीनाम'[4] से विहित अकार और 'अद्ड्डतरादिभ्य पचभ्य'[5] से विहित 'अद्ड' (अत्) आदेश ये दोनों 'अनुपसर्जन' से होते हैं। उससे 'तमतिक्रान्त अतितद् ब्राह्मण'। 'कतरत् अतिक्रान्त कुलम् अतिकतर कुलम्' यहाँ सर्वादिगण पठित 'तद्' और 'कतर' शब्दों के 'उपसर्जन' होने के कारण क्रम से 'त्यदादीनाम' से अकार

---

१ पा० ७ २ ११८।
२ पा० १ २ २७।
३ महा० भा० १, सू० १ १ २७, पृ० ८७।
४ पा० ७ २ १०२।
५ पा० ७ १ २५।

और "अद्ड्डतरादिभ्य पचभ्य" से 'अद्ड' आदेश नही होगे तो सर्वनामसज्ञा मे 'उपसजन' प्रतिषेध की आवश्यकता न रहेगी। "अनुपसजनात्" इस अद्भूत व्याख्या वाले सूत्र से ही 'उपसर्जन' का प्रतिषेध सिद्ध हो जायेगा। यद्यपि 'अनुपसजनात्' की इस विचित्र व्याख्या से केवल "त्यदादीनाम"[1] से विहित अकार तथा "अद्ड् उतरादिभ्य"[2] से विहित 'अद्ड्' (अत) की ही 'उपसजन' से व्यावृत्ति होगी। अन्य "सवनाम्न स्मै"[3] आदि से विहित स्मै' आदि आदेशो की 'उपसर्जन' से व्यावृत्ति न हो सकेगी। क्योकि "अनुपसजनात्" मे तो 'अ' और 'अन्' ही निर्दिष्ट किये हैं, 'स्मै' आदि नही। उससे "सवमतिक्रान्ताय, अतिसर्वाय' यहाँ 'उपसजन' बने 'सर्व' शब्द की सवनाम सज्ञा का निषेध न होकर 'स्मै' भाव प्राप्त होगा। इसलिये 'उपसजनप्रतिषेध' का खण्डन करने के लिये किया गया यह "अनुपसजनात्" का विशेष व्याख्यान एकागी है। उमस मर्वांश मे 'उपसर्जन' की सर्वनामसज्ञा का निषेध सिद्ध नही हो सकता तथापि कुछ हद तक तो 'उपसर्जन' की समस्या का हल हो ही जाता है।

भाष्यकार की यह शैली रही है कि वे किसी वस्तु की सिद्धि म उसके एक देश पक्ष का भी उपन्यास कर देते हैं। उक्त व्याख्या से यह सिद्ध होता है कि "अनुपसर्जनात्" सूत्र का अन्य कोई प्रयोजन नही है। यह प्रत्याख्यान प्राय ही है। यदि इस सूत्र का अन्य प्रयोजन होता तो भाष्यकार इसकी उक्त अनाखी व्याख्या न करते। इसीलिए प्रदीपकार यहाँ भाष्योक्त प्रत्याख्यान का समथन करने के लिए शकापूवक समाधान करते हैं– "ननुप्रधानेन तदन्तविध्यर्थो योग प्रारब्धव्य। कौम्भकारेय इति यथा स्यादिति। न चाण् इति कृद्ग्रहणम् तद्धितोऽप्यणस्तीति, नैतदस्ति, । स्त्रीप्रत्यये चानुपसजने न' इति तदादिनियमाभावात् कारशब्दादपि ङीपि कुम्भकारीशब्दात 'स्त्रीभ्यो ढक्' इति ढक् भविष्यति'"[4]

यहाँ सूत्र की प्रयोजनवत्ता सिद्ध करने के लिए शका की गई है कि 'प्रधान प्रातिपदिक से तदन्त विधि करन के लिए 'अनुपसजनात्" इस सूत्र की आवश्यकता है जिससे "कौम्भकारेय" यह इष्टरूप सिद्ध हो जाये। अन्यथा इस सूत्र के अभाव मे 'कुम्भकारी' शब्द के स्त्रीप्रत्ययान्त न होने से केवल

---

१ पा० ७ २ १०२।
२ पा० ७ १ २५।
३ पा० ७ १ १४।
४ महा० प्र० भा० १, सू० १ १ २७, पृ० २७६-८०।

'कारी' शब्द से ही 'स्त्रीभ्यो ढक्'[1] से 'ढक्' हो जायेगा तो 'किति च'[2] से 'कारी' के आकार को ही आदि वृद्धि होगी। उससे 'कुम्भकारेय' यह अनिष्ट रूप प्राप्त होगा। इस सूत्र के बनाने पर तो 'कुम्भकारी' शब्द के 'अनुपसर्जन' स्त्रीप्रत्ययान्त होने के कारण 'कुम्भकारी' से ही 'ढक्' होगा और उसी के आदि अक्षर 'कुम्भ' के 'उकार' को वृद्धि होकर 'कौम्भकारेय' यह इष्ट रूप बन जायेगा। इस सूत्र के अभाव में 'कृद्ग्रहण' परिभाषा से भी 'कुम्भकार' शब्द के 'अणन्त' न होने से 'ङीप्' की प्राप्ति नहीं होगी। क्योंकि वह परिभाषा केवल 'कृत्' प्रत्यय के ग्रहण में ही लगती है। यहां "टिड्ढाणञ्" सूत्र में जो 'अण्' ग्रहण है, वह 'कृत' और 'तद्धित' दोनों प्रकार का लिया गया है।

इस प्रकार सूत्र की सार्थकता सिद्ध करने के बाद उसका प्रत्याख्यान करते हैं कि यह बात नहीं है। 'कुम्भकार' के कृदन्त न होने पर भी उसका अवयव 'कार' शब्द तो 'प्रत्ययग्रहण परिभाषा' से कृदन्त है ही। 'कुम्भकार' के अवयव 'कार' शब्द से ही "टिड्ढाणञ्"[3] सूत्र से 'ङीप्' कर लिया जायेगा। 'कुम्भ' के साथ उसका एकार्थीभाव भी बना रहेगा। फिर 'स्त्री प्रत्यये चानुपसर्जने न'[4] इस परिभाषा से 'अनुपसर्जन' स्त्री प्रत्यय में तदादिनियम का अभाव होने से 'कुम्भकारी' को भी स्त्री प्रत्ययान्त मानकर "स्त्रीभ्यो ढक्"[5] से 'ढक्' हो जायेगा तो आदिवृद्धि 'कुम्भ' के 'उकार' को ही होगी। उससे इस सूत्र के अभाव में भी 'कौम्भकारेय' यही इष्ट रूप बन जायेगा। 'स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न' यह परिभाषा अन्य प्रयोजनों के लिए भी स्वीकर्तव्य है ही। जैसे—'कारीषगन्ध्याया पतिः कारीषगन्धीपतिः' यहां 'कारीषगन्ध्या' शब्द के 'ष्यङन्त' स्त्रीप्रत्ययान्त होने से 'ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे'[6] से 'सम्प्रसारण' होता है। और "सम्प्रसारणस्य"[7] से दीर्घ हो जाता है। वैसे ही परमकारीषगन्ध्याया पतिः परमकारीषगन्धीपतिः' यहाँ भी 'अनुपसर्जन परमकारीषगन्ध्या' शब्द से 'प्रत्ययग्रहण परिभाषा' से 'ष्यङन्त' न होने पर भी

१ पा० ४ १ १२० ।
२ पा० ७ २ ११८ ।
३ पा० ४ १ १५ ।
४ परि० सं० २६ ।
५ पा० ४ १ १२० ।
६ पा० ६ १ १३ ।
७ पा० ६ ३ १३९ ।

"स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न" इस परिभाषा से 'प्रत्ययग्रहण' परिभाषा की बाधा होकर 'ष्यङ्' को सम्प्रसारण' और दीर्घ हो जाता है। परन्तु 'कारीषगन्ध्यामतिक्रान्ता अतिकारीषगन्ध्या तस्या पति अतिकारीषगन्ध्यापति' यहा 'ष्यङन्त' स्त्री प्रत्ययान्त के 'उपसर्जन' होने के कारण यह परिभाषा नही लगता। उसमे 'ष्यङन्त' न होने से यहाँ 'सम्प्रसारण' तथा दीर्घ नही होते। इस प्रकार "स्त्रीप्रयये चानुपसर्जने न"[1] इस परिभाषा का आश्रयण करने में 'कारी' के समान 'कुम्भकारी' को भी स्त्री प्रत्यया त मानकर उसमे 'ढक्' हो जायेगा तो 'कौम्भकारेय' के सवथा शुद्ध हो जाने से यह सूत्र प्रत्याख्यान के योग्य हो जाता है। क्योकि जो इसका मुख्य प्रयोजन था वह अन्यथा सिद्ध कर दिया गया है।

समीक्षा एव निष्कर्ष

"सर्वादीनि सर्वनामानि"[2] इस सूत्र के भाष्य तथा उस पर कैयट कृत व्याख्या के आधार पर "अनुपसर्जनात्" इस सूत्र का प्रत्याख्यान करने पर भी यह प्रश्न उठता है कि "स्त्रीप्रत्यये चानुपसजने न" इस परिभाषा से 'प्रत्ययग्रहण' मे तदादिनियम का अभाव मानने पर यह कैसे समझा जायेगा कि 'कार' शब्द से ङीप् करने पर भी 'कुम्भकारी' शब्द से 'ढक्' प्रत्यय होगा, 'कारी' शब्द से नही होगा। जब अनियम ही हो गया तो जैसे 'कुम्भकारी' से 'ढक्' किया जायेगा वैसे कभी 'कारी' शब्द से भी 'ढक्' की प्राप्ति रहेगी। उस समय भी वही दोष उपस्थित होगा कि कभी कौम्भकारेय' बनेगा और कभी 'कुम्भकारेय' बनेगा। इष्ट है नियमपूर्वक 'कौम्भकारेय' ही बने। उसके लिए इस सूत्र की परम आवश्यकता है।

यदि यह कहा जाये कि स्त्री प्रत्यय मे तदादिनियम के अभाव द्वारा अधिक का ही ग्रहण होगा, न्यून का नही। 'कारी' से अधिक 'कुम्भकारी' को ही स्त्री प्रत्ययान्त माना जायेगा, केवल 'कारी' को नही तो इसमें कोई विनिगमना नही है। कहने वाला कह सकता है कि अनियम की दशा मे जैसे अधिक का ग्रहण होगा वैसे न्यून का क्यों न हो। इसलिए स्थिर व्यवस्था के लिए इस सूत्र का बनाना आवश्यक है। भाष्यकार स्वय भी कहते हैं—

"इद तर्हि प्रयोजनम्—प्रधानेन तदन्तविधिर्यथास्यात्। कुम्भकारी। नगरकारी। अत्र हि प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहण

१ परि० स० २६।
२ पा० १ १ २७।

भवतीति अवयवात् कारीशब्दादुत्पत्तिं प्राप्नोति । अवयवादुत्पत्तौ सत्यां को दोष । गौम्भकारेयो न सिध्यति । अवपदस्य वृद्धिस्वरौ स्याताम् । तस्मादनुपसर्जनाधिकार "[1] ।

अर्वाचीन वैयाकरण चन्द्रगोमी तथा पूज्यपाद देवनन्दी भी भाष्यकार के साथ सहमत हैं[2] । उनकी दृष्टि में भी सूत्र की सार्थकता बनी रहती है ।

समर्थानां प्रथमाद्वा ॥४ १ ८२॥

सूत्र का प्रतिपाद्य

यह अधिकारसूत्र है । यहाँ से लेकर 'प्राग् दिशो विभक्ति "[3] सूत्र से पहले २ 'अपत्यादि' अर्थों में विहित अण्' आदि तद्धितप्रत्ययों में इसका अधिकार है । सूत्र का अर्थ इस प्रकार है—समर्थ सुबन्तों के मध्य में जो प्रथम समर्थ सुबन्त है उससे परे 'अण्' आदि प्रत्यय विकल्प से होते हैं । जैसे—उपगोरपत्यम् औपगव' । यहाँ 'उपगो' यह षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त है । अपत्यम्' यह प्रथमान्त समर्थ सुबन्त है । "तस्यापत्यम्"[4] से अपत्य अर्थ में होने वाला 'अण्' प्रत्यय 'तस्य' शब्द द्वारा प्रथमानिर्दिष्ट षष्ठ्यन्त सुबन्त 'उपगु' से होता है । अण्' प्रत्यय के 'णित्' होने से ' तद्धितेष्वचामादे "[5] से 'उपगु' शब्द को आदिवृद्धि और "ओर्गुणः"[6] से गुण एवं अवादेश होकर 'औपगव' बनता है । 'उपगु का अपत्य' इस अर्थ में दोनों का परस्पर सम्बन्ध होने से दोनों समर्थ हैं । दोनों में प्रथम समर्थसुबन्त 'उपगु है इस लिए इस सूत्र के वचन से 'उपगु' शब्द से 'अण्' प्रत्यय होता है, अपत्यवाची 'देवदत्तादि' शब्द से नहीं ।

यदि सूत्र में 'समर्थ' ग्रहण न किया जाये तो 'कम्बल उपगोरपत्य देवदत्तस्य' (कम्बल उपगु का है, अपत्य देवदत्त का है) यहा भी 'उपगोरपत्यम्'

---

१ महा० भा० २, सू० ४ १ १४, पृ० २०६ ।

२ चा० सू० २ ३ १६—'स्वार्थे' ।

जै० सू० ३ १ १७—'अनीच' ।

शाकटायनादि अन्य व्याकरणों में इस सूत्र का अभाव ही दीखता है ।

३ पा० ५ ३ १ ।

४ पा० ४ १ ९२ ।

५ पा० ७ २ ११७ ।

६ पा० ६ ४ १४६ ।

के अव्यवहित प्रयुक्त होने से 'अण्' प्रत्यय प्राप्त हो जायेगा। उसकी व्यावृत्ति 'समर्थ ग्रहण से होती है। क्योंकि उक्त वाक्य में 'उपगु' का सम्बन्ध 'अपत्य' से न होकर 'कम्बल' में है और 'अपत्य' का सम्बन्ध 'देवदत्त' में है। इसलिए 'उपगोरपत्यम्' इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध न होने से सामर्थ्य नहीं है। जो अर्थ 'कम्बल उपगोरपत्य देवदत्तस्य' से निकलता है वह कम्बल औपगवो देवदत्तस्य' से नहीं निकलता। दोनों का परस्पर सामर्थ्य न होने से उक्त वाक्य में अण्' प्रत्यय नहीं होना यह इष्ट सिद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार 'ऋद्धस्य उपगोरपत्यम्' यहाँ भी 'उपगु' शब्द 'ऋद्ध' शब्द की अपेक्षा रखने से सापेक्ष है। सापेक्षतसमर्थ भवति" इस वचन से वह 'असमर्थ' है। इसलिए वहाँ भी 'अण्' प्रत्यय न होकर वाक्य ही रह जायेगा।

'प्रथम' ग्रहण का प्रयोजन यही है कि 'प्रथम' पाठ्यन्त सुबन्त 'उपगु' से ही 'अण्' प्रत्यय हो, दूसरे समर्थ सुबन्त अपत्य वाचक शब्द से न हो। 'वा' ग्रहण करने से पक्ष में 'उपगोरपत्यम्' यह वाक्य भी रह जायेगा। अथवा 'उपग्वपत्यम्' यही षष्ठी समास भी हो जायेगा। अन्यथा 'औपगव' इस तद्धित 'अण्' प्रत्यय से समास की बाधा हो जाती। 'वा' ग्रहण करने से नहीं होती।

स्वभाव सिद्ध होने से सूत्र का प्रत्याख्यान

सूत्र की प्रयोजनवत्ता स्पष्ट होने पर भी भाष्यवार्तिककार इसका प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—"समर्थवचनमनर्थकं न ह्यसमर्थेनार्थाभिधानम्"[1] अर्थात् "समर्थानां प्रथमाद्वा" सूत्र में 'समर्थ' ग्रहण व्यर्थ है। 'असमर्थ' से अर्थ का अभिधान नहीं होता। सर्वत्र 'समर्थ' से ही अर्थ का अभिधान होता है। 'कम्बल उपगोरपत्य देवदत्तस्य' यहाँ 'उपगोरपत्यम्' इन दोनों के परस्पर 'असमर्थ' होने से अभीष्ट अर्थ का बोध नहीं होता। इसलिए स्वतः एव 'समर्थ' से अण्' प्रत्यय होगा, असमर्थ से होगा ही नहीं तो 'समर्थ' ग्रहण करना व्यर्थ है।

"प्रथमवचनमनर्थकं न ह्यप्रथमेनार्थाभिधानम्"[2] अर्थात् सूत्र में 'प्रथमात्' यह 'प्रथम' शब्द का ग्रहण भी व्यर्थ है। क्योंकि 'प्रथम समर्थ सुबन्त' से ही

१ महा० भा० १, सू० २११, पृ० ३६९
२ वही भा० २, सू० ४१८२, पृ० २३४
३ वही।

'अण्' प्रत्यय होकर अभीष्ट अर्थ का बोध होता है। दूसरे 'समर्थ' सुबन्त अपत्यवाचक शब्द से अर्थ का अभिधान नहीं हो सकता। इसलिए स्वतः प्राप्त प्रथम 'समर्थ' सुबन्त ही लिया जायेगा तो 'प्रथम' ग्रहण व्यर्थ सिद्ध हो जाता है।

रहा 'वा' शब्द का ग्रहण। उसका भी प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—"वा वचने चोक्तम् किमुक्तम्। वावचनार्थक्य च तत्र नित्यत्वात्सन इति"[१]। अर्थात् 'वा' शब्द के ग्रहण के विषय में भी पहले "समर्थः पदविधि"[२] सूत्र के भाष्य में कहा जा चुका है। यही कि 'वा' वचन व्यर्थ है, स्वभाव सिद्ध होने से। यहां दो पक्ष हैं—एक 'वृत्तिपक्ष' तथा दूसरा 'अवृत्तिपक्ष'। 'वृत्तिपक्ष' में समास तद्धित आदि वृत्तियां आती हैं[३] एवं 'अवृत्तिपक्ष' में वाक्य आता है। 'वृत्ति' और 'वाक्य' ये दोनों अपने-अपने विषय में व्यवस्थित हैं। जहां 'वृत्ति' होती है वहां 'वाक्य' नहीं होता और जहां 'वाक्य' होता है वहां 'वृत्ति' नहीं होती। जब 'औपगव' इस 'वृत्ति' का प्रयोग होगा तब 'उपगोरपत्यम्' इस 'वाक्य' का प्रयोग नहीं होगा और जब 'उपगोरपत्यम्' इस 'वाक्य' का प्रयोग होगा तब 'औपगव' इस वृत्ति का प्रयोग नहीं होगा। इस प्रकार 'वृत्ति' और 'वाक्य' दोनों के व्यवस्थितविषय होने से अपनी-अपनी विवक्षा से दोनों हो जायेंगे तो 'वा' कहने की आवश्यकता नहीं।

सूत्र के तीनों पदों का खण्डन करने के बाद भाष्यकार कहते हैं—"अथैतत् समर्थग्रहणं नैव कर्तव्यम्। कर्तव्यं च। समर्थाद् उत्पत्तिर्यथा स्यात्। किं च समर्थम्, कृतवर्णानुपूर्वीकं पदम्। सु+उत्थितस्यापत्यम् सौत्थितिरित्येव यथा स्यात्। मादुत्थितिरिति मा भूत्"[४] अर्थात् उक्त युक्तियों के आधार पर "समर्थानां प्रथमाद्वा" यह सूत्र क्या नहीं बनाना चाहिए? उत्तर देते हैं कि बनाना भी चाहिए। 'समर्थ' सुबन्त से ही तद्धित प्रत्ययों की उत्पत्ति जिसमें हो, असमर्थ सुबन्त से न हो। समर्थ क्या है? जिस पद में सन्धिकार्य हो चुका है, जो अर्थाभिधान में शक्त है, वही 'समर्थ' है। जैसे 'सु+उत्थित' इन दोनों पदों में जब सवर्ण दीर्घ होकर 'सूत्थित' पद बन जाता है तब वह

१ महा० भा० २, सू० ४।१।८२, पृ० २३४।
२ पा० २।१।१।
३ द्र० वै०सि०कौ० भा० २, सर्वसमास शेष प्रकरण—'कृत्तद्धितसमासैकशेष सनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः'।
४ महा० भा० २, प्रकृत सू०, पृ० २३४।

अर्थाभिधान में शक्त होने से 'समर्थ' है। अपत्य अर्थ में 'सुस्थित' शब्द से ही "अत् इञ्"[1] से 'इञ् प्रत्यय होकर 'सौस्थिति' यह इष्टरूप बने। 'सु उत्थित' इस सन्धिकार्य रहित 'असमर्थ' शब्द से 'इञ्' होकर 'सावुत्थिति' ऐसा अनिष्ट रूप न बने। इसलिए यह सूत्र बनाना अत्यन्त आवश्यक है।

सूत्र में 'वा' शब्द के प्रयोजन पर भी प्रकाश डालते हुए भाष्यवार्तिककार कहते हैं—"वा वचन च कर्त्तव्यम्। नित्येषु शब्देषु वाक्यस्यानेन साधुत्व-मन्वाख्यायते"[2]।

अर्थात शब्द नित्य हैं। तद्धितवृत्ति से कहीं वाक्य की व्यावृत्ति न हो जाये, इसलिए 'वा' शब्द का ग्रहण भी करना चाहिए। इससे वृत्ति' के समान 'वाक्य' का साधुत्व भी शास्त्रबोधित हो जाता है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

समस्त सूत्र का पर्यालोचन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वार्तिककार ने इस सूत्र का प्रत्याख्यान कर दिया है। अन्वाख्यान विषयक एक भी वार्तिक या वचन उन्होंने नहीं कहा है। इसके मूल में सभवत दो कारण रहे हैं। एक तो इस सूत्र का प्रयोजन जो 'अकृत व्यूह परिभाषा का ज्ञापन करना है वह अन्यथासिद्ध हो सकता है। अर्थात् 'अकृत व्यूह परिभाषा' तो 'यज याच यत'[3] सूत्र से विहित 'नङ्' प्रत्यय के 'ङित्व' से ही ज्ञापित हो सकती है। इसके अतिरिक्त उक्त परिभाषा भाष्य में पठित न होने से उतनी महत्वपूर्ण भी नहीं है[4]। दूसरा प्रयोजन जो परिनिष्ठित अर्थात् 'कृत सन्धि' शब्द से ही तद्धित प्रत्ययों का विधान करना है वह भी पामादिगण, में पठित "विष्वगिन्युत्तरपदलोपश्चाकृतसन्धे"[5] यहाँ 'अकृत सन्धि' ग्रहण से

---

१ पा० ४ १ ९५।

२ महा० भा० २, प्रकृत सूत्र, पृ० २३४।

३ पा० ३ ३ ९०।

४ द्र० बाल मनोरमा, भा० २, सू० ४ १ ९२, पृ० २९०—'वस्तुतस्तु अकृत व्यूहपरिभाषा नास्त्येव भाष्ये क्वाप्यव्यवहृतत्वात् प्रत्युत भाष्य विरुद्धत्वाच्च'।

५ पा० ५ २ १०० पर पामादिगण सूत्र। द्र० बालमनोरमा 'इदमपि पामादिगणसूत्रमिति केचित्। भाष्ये तु न प्रकरणे इद वार्तिक पठितम्।'

गतार्थ हो जायेगा अर्थात 'विष्वग्' यहाँ पर ही सन्धि कार्य किये बिना उत्तरपदलोप हो, अन्यत्र तो सन्धि कार्य कर लेने पर ही तद्धितोत्पत्ति हो, इस विषय में यह 'अकृतसन्धि ग्रहण नियमार्थ बन जायेगा'। इस प्रकार वार्तिककार की दृष्टि में प्रकृतसूत्र प्रत्याख्यात हो जाता है। सम्भवत इसी लिए आचार्य चन्द्रगोमी ने भी अपने व्याकरण में इस सूत्र को स्थान नहीं दिया है। उद्योतकार नागेश तो इनसे भी एक कदम और आगे जाकर इसी सूत्र के समानयोगक्षेम वाला होने से 'समर्थ पदविधि' सूत्र को भी प्रत्याख्यान योग्य मानते हैं[1]।

किन्तु भाष्यकार आपातत इस सूत्र के खण्डन का समर्थन करके भी वस्तुत इसका प्रत्याख्यान नहीं चाहते है अपितु जैसा कि उनकी शैली है, उसके अनुसार उन्होंने इस सूत्र का आरम्भ ही समुचित माना है। भाष्यकार की यह शैली प्राय अन्यत्र भी दृष्टिगोचर होती है कि वे पहले आपातत किसी सूत्र का खण्डन करने के बाद में 'एवं तर्हि सूत्र न कर्तव्यम्। कर्तव्य च। आरभ्यमाणेऽप्येतस्मिन् योगे" इत्यादि कहकर फिर उसकी सत्ता को मूक स्वीकृति दे देते हैं। तात्पर्य यह है कि 'स्थानिवत्'' सूत्र' तथा "असिद्धवद-त्राभात्'' सूत्र के समान प्रत्याख्यात हुआ भी प्रकृत सूत्र आरम्भ करने के योग्य ही है।

भाष्यकार के समर्थन में एक यह युक्ति भी उपोद्बलक है कि 'विष्वगि-त्युत्तरपदलोपश्चाकृतसन्धे" यहाँ पर पठित 'अकृतसन्धे' ग्रहण 'परिनिष्ठित में ही तद्धितोत्पत्ति हो' इस विषय में पूरी तरह से साधक नहीं हो सकता। क्योंकि यदि उसका यह अर्थ किया जाता है कि 'विष्वग्' में ही सन्धिकार्य से रहित को कार्य हो, अन्यत्र अनियम हो अर्थात अन्यत्र कृतसन्धि अकृतसन्धि दोनों से ही तद्धितोत्पत्ति हो, जबकि इष्ट है अन्यत्र भी नियम से 'कृत सन्धि' में ही तद्धित प्रत्यय हो, तो उस अवस्था में नियम से 'गौरिपति' इत्यादि अभीष्ट

---

१ द्र० प्रकृत सूत्रस्य प्रौ० म० 'यदि तु तद्धो ऽिरकरणेनाप्तत्र्यह परिभाषा भाप्यते। पामादिगणे विष्वगित्युत्तरपदलोपश्चाकृतसन्धेरित्यत्र अकृत-सन्धिग्रहणेन परिनिष्ठितात् तद्धितोत्पत्तिस्तर्हि समर्थग्रहण शक्यम-कर्तुम।

२ प्रकृत सूत्रस्य महा० प्र० उ० भा० ३ पृ० ५४१—"असमर्थशब्देनेति तुल्यन्यायात् समर्थं इत्यपि प्रत्याख्यातमिति बोध्यम्"।

३ पा० १ १ ५६।

४ पा० ६ ४ २२।

रूप न बन सकेंगे। अनियम होने से कभी-कभी 'सावुत्थिति' भी बनने लगेगा' अत ऐसी स्थिति मे सूत्र रहना ही चाहिए[1]। प्रस्तुत सन्दर्भ मे प्रदीपकार इस सूत्र को 'अकृतव्यूहपरिभाषा' के होने मे तात्पर्यग्राहक मानते हैं[2]। इसकी प्रयोजनवत्ता होने के कारण ही अर्वाचीन वैयाकरणो ने भी इस कही अविकल रूप मे तथा कही परिवर्तित रूप मे ग्रहण किया है[3]।

इस प्रकार कुल मिलाकर समन्तात् समीक्षा करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि इस सूत्र का प्रत्याख्यान न मानकर अन्वाख्यान मानना ही

---

१ शब्दरत्न पा० ४ १ ६०—'यदि तु तत्राकृतसन्धेरियुक्त्या तत्राकृतसन्धेरेव अयन तु अनियम इत्यर्थस्तदा परिनिष्ठितादेवेत्यर्थमावश्यक तदिति बोध्यम्'।

२ प्रकृतसूत्रस्थ महा० प्र० उ० भा० ३, पृ० ५४३—'विपुण इत्यादावकृतसन्धे प्रत्ययदर्शनेन सर्वत्र तद्धिते तथेति भ्रमवारणाय सूत्रे न्यायसिद्धार्थानुवाद एव समयग्रहणमिति भाष्याशय'।

३ प्रकृत सूत्र महा० प्र०, पृ० ५४३—'एव तर्हि एतदनेन समर्थवचनेन ज्ञाप्यते—अस्तीय परिभाषाअकृतव्यूहा पाणिनीया इति'। उक्त परिभाषा का अर्थ यह है कि न कृत व्यूह विशिष्ट ऊह शास्त्रप्रवृत्तिरूपो ये तादृशा पाणिनीया भवन्ति' अर्थात् पाणिनीय लोग आगे होने वाले निमित्तविनाश को देखकर पूर्व प्राप्त शास्त्र की प्रवृत्ति को रोक लेते हैं। अथवा 'कृतमपि कार्यं (शास्त्र) निवर्तयन्ति' अर्थात् पहले किए हुए *शास्त्र के कार्य को भी निमित्त विनाश होने पर हटा लेते है।* यहाँ 'सु+उत्थित' इस अवस्था मे अन्तरग होने से प्राप्त सवर्णदीर्घ 'वाणादाग बलीय' (परि, ५५) इस परिभाषा के वचन से आगे होने वाले अगशास्त्र आदि वृद्धि द्वारा निमित्तविनाश की सम्भावना से रोक लिया जाता या पहले किया हुआ भी हटा लिया जाना उससे 'सावुत्थिति' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता। उसकी निवृत्ति के लिए यह सूत्र है। इस सूत्र से 'सु उत्थित' को सवर्णदीर्घ द्वारा 'समर्थ' बनाकर फिर इससे इञ् प्रत्यय होगा तो 'सोत्थिति' यह इष्ट रूप बन जाता है।

४ जै० सू० ३ १ ६७—समयात् प्रथमाद्वा'।
शा० सू० २ ४ १—'वाऽपात्।
है० सू० ६ १ ११—वाऽपात्'।

अधिक युक्तिसंगत है। हाँ "समर्थानां प्रथमाद्वा" के स्थान पर 'समर्थात् प्रथमाद्वा" ऐसा एकवचनान्त प्रयोग अधिक सुवच है[1] ॥

शेषे ॥ ४ २ ९२ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह 'अधिकारसूत्र' है। साथ में 'लक्षणसूत्र' एवं 'विधिसूत्र' भी है। चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषम्' इत्यादि प्रयोगों में 'ग्रहणादि' अर्थों में 'प्राग्दीव्यतीय अण्'[2] प्रत्यय का विधान भी करता है। इसके अधिकार में आने वाले 'राष्ट्रावारपाराद्घखौ'[3] इत्यादि सूत्रों से विहित 'घ' आदि प्रत्यय 'शैषिक' कहलाते हैं। इस सूत्र से पूर्व 'तस्यापत्यम्'[4] से प्रोक्त 'अपत्य' अर्थ "तेन रक्तं रागात्"[5] इत्यादि से प्रोक्त 'रक्ताद्यर्थक' तद्धित प्रत्यय तथा "तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि"[6] "तेन निर्वृत्तम्"[7], "तस्य निवासः"[8], "अदूरभवश्च"[9] इन चार सूत्रों से प्रोक्त 'चातुरर्थिक प्रत्यय' आ चुके हैं। उनसे बाकी बचे जो "तत्र जातः"[10] 'तत्र भवः"[11] 'तस्येदम्'[12], इत्यादि अर्थों में विहित प्रत्यय हैं वे शेष होने से 'शैषिक' कहलाते हैं। इन 'शैषिक' प्रत्ययों का अधिकार "तस्य

---

१ प्रकृत सूत्रस्य बालमनोरमा भा २ पृ० २७४—"समर्थात् प्रथमाद्वा इति सुवचम्। केचित्तु बहुवचनबलादनेकसमर्थसमवाय स्वास्य प्रवृत्तिः। एवं च प्राग्दिश इत्यादिषु स्वार्थिकप्रत्ययविधिषु नास्य प्रवृत्तिरिति लभ्यते इत्याहुः"।

२ पा० ४ १ ८३।

३ पा० ४ २ ९३।

४ पा० ४ १ ९२।

५ पा० ४ २ १।

६ पा० ४ २ ६७।

७ पा० ४ २ ६८।

८ पा० ४ २ ६९।

९ पा० ४ २ ७०।

१० पा० ४ ३ २५।

११ पा० ४ ३ ५३।

१२. पा० ४ ३ १२०।

विकार"[1], "अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्य"[2] इन दो सूत्रों मे प्रोक्त 'विकार' और 'अवयव' अर्थों से पूर्व तक है। 'विकार' और 'अवयव' अर्थ 'शैषिक' नही है। क्योंकि "तस्येदम्" सूत्र मे 'तस्य' ग्रहण करने पर फिर जो "तस्य विकार" मे 'तस्य' ग्रहण किया है वह इस बात का ज्ञापक है कि 'विकार' 'अवयव' अर्थ 'शैषिकों' में नही आते। अन्यथा "तस्येदम्" (उसका सम्बन्धी यह) इस अर्थ मे ही 'विकार' 'अवयव' अर्थ भी आ जाते। "तस्येद विशेषाह्येते—अपत्यम्, समूह विकार, निवास"[3] यह भाष्यकार का वचन है। जिसका उसके साथ सम्बन्ध है वह सब "तस्येदम्"[4] से गृहीत हो सकता है। फिर भी "तस्यविकार"[5] मे जो 'तस्य' यह षष्ठी 'समर्थ विभक्ति' का निर्देश किया है वह "तस्येदम्" इस 'शैषिक' अर्थ से पृथक् रखने के लिए ही किया है। भाष्यवार्तिक भी है—"तस्येति प्रकरणे तस्येति पुनर्वचन शैषिकनिवृत्त्यर्थम्"[6]। जिस प्रकार "तस्यापत्यम्"[7] से प्रोक्त 'अपत्य' अर्थ "तस्येदम्" का विषय होने पर भी पृथक् निर्देश से शैषिक' नही माना जाता। वैसे ही 'विकार', 'अवयव' अर्थ भी 'शैषिक' नही हैं।

इस सूत्र का प्रयोजन यह है कि इस 'शेषाधिकार' मे आने वाले 'छ' आदि प्रत्यय 'शेषाधिकार' से बहिर्भूत' 'अपत्यादि' अर्थों मे न होवे। जैसे—'वृद्धाच्छ"[8] यह 'वृद्धसज्ञक' प्रातिपदिक से विहित 'छ' प्रत्यय 'शैषिक' है। 'तत्र जात', "तत्र भव" इत्यादि अर्थों में इसका विधान है। जैसे—'शालाया भव शालीय', 'शालाया जात शालीय' यहाँ 'शाला' शब्द के 'वृद्धसज्ञक' होने से 'शैषिक' 'छ' प्रत्यय होकर 'छ' को 'ईयादेश' हो जाता है और 'शालीय' बन जाता है। किन्तु 'शैषिक' के अधिकार मे होने से यह 'छ' प्रत्यय उससे बाहर 'अपत्यादि अर्थ मे नही हो सकता। उससे 'भानो-

---

१ पा० ४ ३ १३४।
२ पा० ४ ३ १३५।
३ महा० भा० २, प्रकृत सूत्र पृ० २६०।
४ पा० ४ ३ १२०।
५ पा० ४ ३ १३४।
६ महा० भा० २ सू० ४ ३ १३४ पृ० ३२१।
७ पा० ४ १ ६२।
८ पा० ४ २ ११४।
९ पा० ४ ३ २५, ५३।

रपत्य भानव' यहाँ भानु' शब्द के वृद्धसंज्ञक' होने पर भी 'अपत्य' अर्थ में "वृद्धाच्छ" से 'छ' प्रत्यय नहीं हुआ अपितु सामान्य 'प्राग्दीव्यतीय अण्'[१] प्रत्यय होकर "ओर्गुण" से गुण हो जाता है तो 'भानव' बन जाता है। इसी प्रकार 'द्रौपद्या अपत्य द्रौपदेय' यहाँ द्रौपदी' शब्द के वृद्धसंज्ञक' होने पर भी "वृद्धाच्छ"[२] से 'छ' प्रत्यय न होकर अपत्याधिकार का स्त्रीभ्यो ढक्"[३] से विहित 'ढक' प्रत्यय हो जाता है। 'विकार' अवयवों का भी यही हाल है। 'हलसीराट्ठक्'[४] यह तस्येदम्' अर्थ में विहित ठक् प्रत्यय है। हलस्यदम् हालिकम्। सीरिकम्'। यहाँ शैषिक अर्थ होने से 'ठक्' हो गया किन्तु हलस्य विकार अवयवो वा हाल' ह सैर' यहाँ 'ठक्' न होकर सामान्य प्राग्दी व्यतीय अण' प्रत्यय होता है।

'शेषाधिकार' के भी दो विभाग हैं—एक सामान्य 'शैषिक' दूसरा विशिष्ट अर्थों में विहित 'शैषिक'। शेषाधिकार' के प्रथम सूत्र राष्ट्रावार पाराद् घखौ"[५] से लेकर "तत्र जात"[६] से पूर्व विभाषा पूर्वाह्णापराह्णाभ्याम्"[७] तक सामान्य 'शैषिक' प्रत्यय हैं जिनमें किसी विशिष्ट अर्थ का निर्देश नहीं किया गया। वे तत्रजात", "तत्र भव" "तस्येदम्" इत्यादि सभी शैषिक अर्थों में हो सकते हैं। 'राष्ट्रे भव' राष्ट्रेजात' 'राष्ट्रस्येदम्' सभी अर्थों में 'राष्ट्रावारपाराद्०" सूत्र से 'घ' प्रत्यय होकर 'राष्ट्रिय' रूप बनेगा। इसी तरह ग्राम्य' 'ग्रामीण' इत्यादि में सभी 'शैषिक' अर्थों का बोध होता है। "तत्र जात" से लेकर अपने अपने अर्थ विशेष को लक्ष्य करके विहित "तस्येदम्" सूत्र तक विशिष्ट 'शैषिक' हैं। आचार्य पाणिनि ने 'शेषाधिकार' की बहुत सुन्दर व्याख्या की है - पाणिनिना प्रोक्तम् पाणिनीयम्। पाणिनेश्छात्रा पाणिनीया' यहाँ 'प्रोक्त' और 'तस्येदम्' से बोधित 'छात्र' ये दोनों अर्थ 'शैषिक' हैं। 'वृद्धसंज्ञक' पाणिनि शब्द से 'छ' प्रत्यय हो जाता है जो कि सामान्य विहित 'प्राग्दीव्यतीय अण्' का बाधक है। इस प्रकार की व्यवस्था उन्होंने 'अपत्याधिकार' से पूर्व भी की है। पहले सामान्य 'प्राग्दीव्यतीय' अर्थ वाले प्रत्यय हैं जो न केवल 'अपत्य' अर्थ में ही बल्कि अपत्य' के साथ 'शेष प्राग्दी व्यतीय' 'तत्र भव' इत्यादि अर्थों

---

१ पा० ६ ४ १४६।
२ पा० ४ २ ११४।
३ पा० ४ १ १२०।
४ पा० ४ ३ १२४।
५ पा० ४ २ ६३।
६ पा० ४ ३ २५।
७ पा० ४ ३ २४।

में भी प्रयुक्त होते है। फिर 'अपत्य' आदि विशिष्ट अर्थों मे विहित प्रत्ययो का निर्देश है।

जहाँ यह सूत्र अधिकार है और अपने अधिकार क्षेत्र की सीमा मे रहता है वहाँ यह लक्ष्यसाधक भी है। जो अर्थ अन्यत्र सूत्रो मे नही कह गये हैं उनमे 'अण' प्रत्यय का विधान भी करता है। जैसे—'चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषम्' 'श्रवणेन गृह्यते श्रावण शब्द'। 'उपनिषदि दृष्ट कथितो वा औपनिषद पुरुष'। 'दृषदि पिष्टा दाषदा सक्तव। 'उलूखल' क्षुण्ण आलूखल। औश्वैरुह्यते आश्व' चतुर्भिरूह्यते चातुर शकटम्' 'चतुर्दशा दृश्यते चातुदश रक्ष' इत्यादि प्रयोगो मे चतुरादि शब्दो से ग्रहणादि अर्थ मे 'प्राग्दीव्यतीय अण्' प्रत्यय का विधान यह सूत्र करता है। क्योकि उक्त अर्थ अन्यत्र कथित नही किये गये है। इस प्रकार यह सूत्र 'लक्षण' और 'अधिकार' दोनो बन जाता है

ज्ञापक द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार कात्यायन इस सूत्र के खण्डन के विषय मे मौन है। केवल भाष्यकार पतंजलि ही वार्तिककार के साथ मिलकर पहले इस सूत्र का *प्रयोजन बताते हैं। फिर प्रत्याख्यान करते हैं*—

"शेषवचन कादीनामपत्यादिष्वप्रसङ्गार्थम्। शेषवचन क्रियते। शेषे घादयो यथा स्यु। अपत्यादिषु मा भूवन् इति। तस्येद वचनात्प्रसङ्ग। तस्येद विशेषा ह्येते—अपत्यम्, समूह, निवास विकार इति"[1]।

अर्थात् सामान्य विहित 'प्राग्दीव्यतीय अण्' प्रत्यय की अवश्य प्राप्ति मे "राष्ट्रावारपारात्०" इत्यादि सूत्रो से 'घ' आदि प्रत्ययो का विधान किया गया है वह जैसे 'जात' आदि अर्थों मे 'अण्' प्रत्यय को बाधता है वैसे 'अपत्यादि' अर्थों मे भी बाधक प्राप्त होता है। उसको रोकने के लिये यह 'शेषे" सूत्र द्वारा 'शेषाधिकार' किया जाता है जिससे 'अपत्यादि' अर्थों से शेष बचे 'जात' आदि अर्थों मे ही 'घ' आदि प्रत्यय 'अण्' के बाधक हो, अन्यत्र न हो। इस प्रकार सूत्र के प्रयोजन का अन्वाख्यान करके भाष्यकार आगे कहते हैं—'नैष दोष। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—नाण्विषये घादयो भवन्तीति। यदय फेश्छ च इति फिञन्ताच्छ शास्ति"[2]।

अर्थात् 'शेषाधिकार' के बिना भी 'अपत्यादि' अर्थों मे 'घ' आदि प्रत्यय नही होते इस बात को आचार्य का व्यवहार बता रहा है। उन्होंने "फेश्छ च"[3] सूत्र द्वारा 'फिञन्त' से 'युवापत्य' मे 'ठक्' प्रत्यय के साथ जो 'छ'

१ महा० भा० २, सू० ४ २ ९२, पृ० २६०।
२ वही, पृ० २६१।
३ पा० ४ १ १४९।

प्रत्यय का भी विधान किया है। उससे मालूम होता है कि "वृद्धाच्छ"[1] इस सूत्र से विहित शैषिक छ' प्रत्यय की 'अपत्य' अर्थ में प्रवृत्ति नहीं होती है। यदि 'शैषिक' प्रत्यय भी अपत्य' अर्थ में प्रवृत होते तो 'यमुन्दस्यापत्य यामुन्दायनि'। 'तस्य युवापत्य यामुन्दायनीय' यहां "वृद्धाच्छ" से ही 'छ' प्रत्यय सिद्ध था। उसके लिये फेश्छ च' सूत्र में 'छ' ग्रहण करना व्यर्थ है। "फेश्छ च" के स्थान में 'फेर्वा' ऐसा सूत्र आचार्य पढ सकते थे। उससे 'ठक्' के विकल्प में शैषिक छ' हो ही जाता। यदि यह कहा जाये कि यह तो केवल 'अपत्य' अर्थ में ही शैषिक घ' आदि प्रत्ययों की प्रवृत्त्यभाव का ज्ञापक है। अपत्य से भिन्न "तस्य समूह"[2] से विहित 'समूह' अर्थ में 'शैषिकों' की प्रवृत्ति कैसे रुकेगी तो उसके लिये भी "गोत्र चरणाद वुञ्"[3] से 'तस्येद बोधित समूह' अर्थ में गोत्र से विहित 'वुञ्' प्रत्यय के सिद्ध होने पर भी जो 'गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराज०'[4] से 'वुञ्' विधान किया है, वह ज्ञापक है कि 'समूह' अर्थ में भी 'शैषिक' नहीं होते।

इसी प्रकार यहा यह शका करना कि "विषयो देशे"[5] के अर्थ में 'शैषिकों की प्रवृत्ति कैसे रुकेगी तो उसके लिये भी "राजन्यादिभ्यो वुञ्"[6] सूत्र के गणपाठ में 'दैवयातव' शब्द का ग्रहण ज्ञापक है कि 'देवयातू नामपत्यानि दैवयातवा' यहाँ गोत्रप्रत्ययान्त 'दैवयातव' शब्द से 'तस्येदम्' बोधित "विषयो देशे" नामक अर्थ में "गोत्रचरणाद्वुञ्" से 'वुञ्' सिद्ध होने पर भी जो 'वुञ्' के लिये राजन्यादिगण में उसका पाठ है वह सिद्ध करता है कि विषयो देशे' अर्थ में भी 'शैषिक' नहीं होते। यदि पुन यह कहा जाये कि "तस्यनिवास"[7] इस 'चातुरर्थिक' अर्थ में शैषिकों की प्रवृत्ति कैसे रुकेगी तो उसके लिये भी 'अरीहणादि'[8] गण में 'भास्त्रायण' शब्द का ग्रहण ज्ञापक है। 'भास्त्रायण' शब्द गोत्र प्रत्ययान्त है। उससे

---

१ पा० ४ २ ११४।
२ पा० ४ २ ७।
३ पा० ४ ३ १२६।
४ पा० ४ २ ३९।
५ पा० ४ २ ५२।
६ पा० ४ २ ५३।
७ पा० ४ २ ६९।
८ पा० ४ २ ८० सूत्र में पठित।

'तस्येदम् बोधित निवास' अर्थ मे "गोत्रचरणाद्वुञ्"[1] से ही 'वुञ्' सिद्ध होने पर जो "वुञ् छण्०"[2] से 'वुञ्' विधान किया है वह सिद्ध करता है कि 'चातुरर्थिको' मे भी 'शैषिको' की प्रवृति नही हो सकती। क्योकि "तस्येदम्" मे 'इदम्' यह 'सामान्य' शब्द है। 'अपत्यम्', 'समूह', 'निवास' इत्यादि उसके 'विशेष' हैं। 'विशेष' के साथ बोला गया 'सामान्य' शब्द उच्चरितविशेष से भिन्न 'विशेष' का बोध कराता है। जैसे—"दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयताम्, तक्र कौण्डिन्याय"[3] यहाँ 'विशेष कौण्डिन्य' के साथ बोला गया 'सामान्य ब्राह्मण' शब्द कौण्डिन्यातिरिक्त 'विशेष ब्राह्मणो' को सूचित करता है। 'तस्यदम्', 'अपत्यम्', समूह' यहाँ अपत्यादिविशेषो' के साथ उच्चरित 'सामान्य इदम्' शब्द 'अपत्यादि' से अतिरिक्त अन्य विशेषो का बोध करायेगा तो 'अपत्यादि' मे इसकी प्रवृत्ति ही नही होगी। इस प्रकार "शेषे" सूत्र के बिना भी अभीष्टसिद्धि हो जाने से यह सूत्र व्यर्थ है अथवा अनावश्यक है, यह सिद्ध हो जाता है।

समीक्षा एव निष्कर्ष

'शेषाधिकार' मे कहे गये 'घ' आदि प्रत्यय उसी अधिकार मे कथित 'जात' आदि अर्थों मे होवे, उस अधिकार से बहिर्भूत 'अपत्यादि' अर्थों मे न होवे, यह जो इस सूत्र का प्रयोजन था, वह भाष्यकार ने ज्ञापको द्वारा निरस्त कर दिया है। 'शेषाधिकार' के बिना भी 'घ' आदि प्रत्यय 'अपत्यादि' अर्थ मे नही होंगे किन्तु अभीष्ट 'जात' आदि अर्थों मे ही होंगे, यह तो सिद्ध हो गया। परन्तु यह सूत्र 'अधिकार' के साथ 'लक्षण' भी तो है। यह 'चाक्षुषम्' इत्यादि बहुत से लक्ष्यो का सस्कारक होने से 'विधिसूत्र' भी है। इसके अभाव मे उक्त प्रयोग किस प्रकार सिद्ध होगे। इसी लिये "तत्र जात"[4] सूत्र के भाष्य मे "तत्र जातादिषु वचन नियमार्थम्" इस वार्तिक की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं—"नियमार्थोऽयमारम्भ। जातादिष्वेव छादयो यथा स्यु। इह मा भूवन्—तत्रास्ते, तत्र शेते इति"। इस प्रकार "तत्र जात" सूत्र को नियमार्थ मानकर फिर उसका खण्डन करते हुए कहते हैं—"यदि नियम क्रियम, दार्षदा सक्तव, औलूखलो यावक इति

---

१ पा० ४ ३ ९९।
२ पा० ४ २ ८०।
३ महा० भा० १, सू० १ १ ४६, पृ० ११५ पर पठित न्याय।
४ पा० ४ ३ २५।

न सिध्यति" ऐसा कहते हुए भाष्यकार का यह स्पष्ट आशय है कि न केवल "तत्रजात" इत्यादि अर्थों में ही 'घ' आदि प्रत्यय करने के लिये इस सूत्र की आवश्यकता है अपितु 'दृषदि पिष्टा सस्कृता, वा दार्षदा सक्तव'। 'उलखले सस्कृता औलूखला यावका' इत्यादि प्रयोगो मे 'पिष्ट' 'सस्कृत' आदि अर्थों के बोध के लिये भी सूत्र से 'अण्—विधान' की आवश्यकता है जो अन्य सूत्रो मे सिद्ध नही हो सकती। यदि यह कहा जाये कि 'चाक्षुषम्' इत्यादि प्रयोग ता अन्यथासिद्ध भी हो सकते है। 'चाक्षुषम्' मे 'चक्षुषा गृह्यते' यह विग्रह न करके 'चक्षुष इदम्' (चक्षु सम्बन्धी) ऐसा अर्थ किया जायेगा तो "तस्येदम्" से ही 'अण्' प्रत्यय हो सकता है। 'दार्षदा', औलूखला' म भी 'सस्कृत भक्षा'[1] स अण् निर्बाध है। इस प्रकार लक्ष्यसस्कारता या विषयता तो खण्डित हो जाती है।

रहा 'शेषाधिकार', वह भी कुछ तो भाष्यकार न स्पष्ट ज्ञापको द्वारा निरस्त कर दिया है। कुछ "उत्करादिभ्यश्छ"[2] सूत्र के गणपाठ मे आर्द्री[4] शब्द का पाठ इस बात का ज्ञापक है कि "शेषे" सूत्र से पूर्व अर्थों मे 'घ' आदि प्रत्यय नही होते। यदि 'चातुरर्थिक' प्रत्ययो के अर्थ मे भी 'शैषिक घ' आदि प्रत्यय होवे तो 'आर्द्री' शब्द के वृद्धसज्ञक' होने से "वृद्धाच्छ"[5] इस 'शैषिक सूत्र मे ही 'छ' प्रत्यय सिद्ध हो जायेगा। उसके लिये उत्करादिगण मे पाठ करके 'छ' प्रत्यय करना व्यर्थ है।

---

१ पा० ४ ३ १२०।

२ पा० ४ २ १६।

३ पा० ४ २ ६०।

४ उत्करादि के गणपाठ मे 'आर्द्री के स्थान मे 'आर्द्रवृक्ष' शब्द मिलता है जो विचारणीय है। पदमजरीकार तथा शब्दकौस्तुभकार की सम्मति मे 'आर्द्रकशाला' ऐसा पाठ मिलता है।

प० म०—'कश्चिद् वृद्धान् शब्दान् पठति—आर्द्रका शालेति, अन्यथा वृद्धाच्छ"। श० कौ०—'नयाहि—आर्द्रकशालेत्यादयो वृद्धा तेषा वृद्धाच्छ—'। तत्त्वबोधिनी मे भी 'आर्द्रक शाला' ही पाठ मिलता है। किन्तु यह 'आर्द्रक' या आर्द्रकशाला' वाला पाठ कहाँ से लिया गया है, यह विचारणीय है। का० तथा वै० सि० कौ० के गणपाठ मे तो 'आर्द्रवृक्ष' छपा है।

५ पा० ४ २ ११४।

इस प्रकार यह सूत्र न 'लक्षण' बनता है और न अधिकार' ही। किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी इस सूत्र की परम आवश्यकता है। क्योंकि इस शेषाधिकार के बिना—

"शैषिकान्मतुबर्थीयाच्छैषिको मतुबर्थिक ।
सरूप प्रत्ययो नेष्ट सनन्तान्न सनिष्यते'[१] ।।

यह भाष्यकारिका कैसे सगत होगी। प्रत्ययविशेषो की 'शेषाधिकार मे पठित होने से ही 'शैषिकसज्ञा' है। वह इस सूत्र के बिना असभव है, इसीलिये इस सूत्र को अधिकारार्थ आवश्यक मानते हुए भट्टोजीदीक्षित कहते हैं—"तस्माद व्यर्थमिद सूत्रमिति चेत्, अत्रोच्यते, अधिकारस्तावदावश्यक शैषिकात् सरूप शैषिको नेति वक्ष्यमाणस्याथस्य विषयलाभो यथा स्यात्। शैषित्व प्रयुक्त कार्यविशेष ध्वनयितु क्रियमाण शेषाधिकार एव ज्ञापयति—शैषिकान् मतुबर्थीयादित्यादि " (प्रौ० म० प्रकृतसूत्र)। किन्तु कैयट इसे विधि सूत्र भी मानते हुए कहते हैं—

"तत्रजात इत्यत्र तु सूत्रेऽस्य लक्षणत्वमाश्रित्य चाक्षुषादीना सिद्धिमभिधास्यति नागनाथ इति"[२]।

'तस्येदम्'[३] इत्यादि से चाक्षुषादि की सिद्धि को अपूर्ण मानते हुए उद्द्योनकार नागेश भी लिखते है—

"आख्यातवाच्यायस्येदमापरामर्शायोगादनेनैव साधन युक्तमिति भगवतो नागनाथस्याभिप्राय इति। ज्ञापकेन वार्तिकोक्तार्थप्रत्याख्यान त्वेकदेशिन इत्युक्तमेव। शैषिकान्मतुबर्थीयात० इत्यस्य विषयलाभायाप्यधिकारसूत्रमिदमावश्यकमिति बोध्यम्"[४]।

काशिकाकार तो मूल मे ही इस सूत्र का प्रयोजन दिखाते हैं—"सर्वत्र जातादिषु घादयो यथास्यु। अनन्तरेणैवार्थादेशेन सम्बन्धित्वेन कृतार्थता मा ज्ञायीति मावत्यार्थं शेषवचनम्"[५]।

इसी को स्पष्ट करते हुए पदमञ्जरीकार कहते हैं—

"असति हि शेषग्रहणे प्रथमेनैवार्थेन सम्बन्धमनुभवता कृतार्थता विज्ञायेत, द्वितीयादिषु त्वर्थेषु 'प्राग्दीव्यत' इति विशिष्टावधिपरिच्छिन्नेष्वर्थेषु विधीयमाना

---

१ महा० भा० २, सू० ३ १ ७, पृ० १५।
२ महा० प्र० भा० ३, सू० ४ २ ७२, पृ० ६७०।
३ पा० ४ ३ १२०।
४ महा० प्र० उ० सू० ४ २ ९२, पृ० ६३०।
५ का० भा० ३, सू० ४ २ ९२, पृ० ५८२।

अणादय एव स्युः। शेषशब्दस्तूपयुक्तादन्यतमान् जातादीनर्थान् वशीकृत्य शक्नोत्यभिधातुमिति सर्वत्र घादयः सिध्यन्ति"[1]।

न्यासकार आदि भी सूत्र के इस विशिष्ट प्रयोजन से सर्वथा सहमत हैं। अतः यह सूत्र अवश्यमेव रहना भी चाहिए। बृहच्छब्देन्दुशेखरकार के ये शब्द भी महत्त्वपूर्ण हैं—

'ज्ञापकसिद्धवचनकल्पनापेक्षया शेषाधिकारस्यैव लघुत्वात्'[2]।

यही कारण है कि भाष्यवार्तिककार द्वारा सुझाये गये पाणिनिसूत्रस्थ परिवर्तनों, परिवर्धनों प्रत्याख्यानों एवं न्यासान्तरों को अपने तन्त्र में सम्मानजनीय स्थान देने वाले आचार्य चन्द्रगोमी आदि ने भी प्रकृत सूत्र की उपयोगिता को अनुभव करते हुए शेषाधिकार सूत्र को अपने व्याकरण में रखा है[3]॥

संहितायाम् ॥ ६ १ ७२ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह अधिकार सूत्र है। यहाँ से लेकर "अनुदात्तं पदमेकवर्जम्"[4] इस शेषनिघात विधायक स्वर सूत्र से पूर्व तक 'संहिता' का अधिकार है। "इको यणचि"[5] इत्यादि सूत्र 'संहिता' के विषय में ही प्रवृत्त होंगे। इस अधिकार में सारी 'अच्सन्धि' और कुछ 'स्वादि' सन्धि के सूत्र समाविष्ट हैं। 'हल्सन्धि' और 'विसर्गसन्धि' के विधान के लिये 'तयोर्य्वावचि संहितायाम्'[6] यह दूसरा 'संहिताधिकार' है। 'संहितायाम्' यह विषय सप्तमी है। 'संहिता' के विषय में अर्थात् जब 'संहिता' या 'सन्धि' करनी अभीष्ट होगी तब 'यणादि' कार्य होंगे। जैसे—'दधि अत्र वर्तते' (यहाँ दही है) इस वाक्य में जब 'दधि' और 'अत्र' शब्दों का परस्पर अत्यन्त सन्निकर्ष विवक्षित होगा तो "इको यणचि"

---

१ प्रकृतसूत्रस्थ प० म०।

२ बृ० श० शे० भा० २, शैषिक प्रकरण, पृ० १३१५।

३ चा० सू० ३ २ १—शेषे।
जै० सू० ३ २ ७१ शेषे।
स० सू० ४ ३ १ शेषे।
है० सू० ६ ३ १ शेषे।

४ पा० ६ १ १५४।

५ पा० ६ १ ७३।

६ पा० ८ २ १०८।

से 'यण्' होकर 'दध्यत्र वर्तते' ऐसा बन जायेगा। 'सहिता' के विषय में यह स्मरण रखना चाहिये—

"सहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयो।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते" ॥

यह अभियुक्तो का वचन है। एक पद मे 'सहिता' नित्य होती है। जैसे—'गौर्यौ'। यहाँ 'गौरी-औ' इस प्रकार 'सन्ध्यभाव' नही कर सकते। 'गौर्यौ' के एक पद होने से नित्य 'यण् सन्धि' करनी होगी। धातु और उपसर्ग में भी 'सन्धि' नित्य होती है। जैसे—'अनु—अभवत्—अन्वभवत्' यहाँ 'अनु अभवत्' यहाँ इस प्रकार 'सन्धि रहित' शब्द का प्रयोग नही कर सकते। समास मे भी 'सन्धि' नित्य होती है। जैसे—'सज्जन'। यहाँ 'सत् जन' ऐसा सन्धि रहित प्रयोग नही किया जा सकता। वाक्य मे तो 'सन्धि' की विवक्षा है। यदि करना चाहे तो करे, अच्छा है। यदि न करना चाहे तो न भी करें। जैसे—'देवदत्त, गच्छति' इस 'सन्धि विरहित' वाक्य मे 'देवदत्तो गच्छति' इस प्रकार 'सन्धि' करके प्रयोग करना चाहिये। यदि 'सन्धि करने' की इच्छा नही है, स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए 'सन्ध्यभाव' ही अभीष्ट है, तो देवदत्त गच्छति' ऐसा सन्धि रहित प्रयोग भी हो सकता है।

औपश्लेषिक सप्तमी मानकर सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार इस सूत्र के खण्डन-मण्डन में सर्वदा मौन है। केवल भाष्यकार ही इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—

"अयं योगः शक्योऽवक्तुम्। कथम्। अधिकरणं नाम त्रिप्रकारकम्। व्यापकम् औपश्लेषिकं, वैषयिकम् इति। शब्दस्य च शब्देन कोऽन्योऽभिसम्बन्धो भवितुमर्हति, अन्यदतः उपश्लेषात्। इको यणचि—अचि उपश्लिष्टस्येति। तत्रान्तरेण सहिताग्रहणं सहितायामेव भविष्यति"[२]।

यहाँ भाष्यकार का तात्पर्य यह है कि 'सहितायाम्' यह अधिकरण सप्तमी है और अधिकरण तीन प्रकार का है—'व्यापक', 'औपश्लेषिक' और 'वैषयिक'। 'व्यापक' जैसे—'दध्नि सर्पि' 'तिलेषु तैलम'। यहाँ 'दही' में 'घी' और 'तिलो' मे 'तेल' पूरी तरह व्याप्त है। इसलिये यह 'व्यापक' सप्तमी है। 'औपश्लेषिक' जैसे—'कटे आस्ते'। 'मथुराया वसति'। यहाँ 'कट' और 'मथुरा' मे बैठने और रहने का 'उपश्लेष' है, सम्बन्ध है। 'आसन' एवं 'वसन' क्रिया

१ वै० सि० कौ०, भा० ३, सू० ८४१८, पृ० ५३।
२ महा० भा० ३, सू० ६१७२, पृ० ५१।

'कट' और 'मथुरा' से सम्बद्ध है। इसलिए यह 'उपश्लेष' अर्थात् सम्बन्ध से होने वाली 'औपश्लेषिक' सप्तमी है। आसनादि क्रिया से कट और मथुरा को पूर्णरूप से व्याप्त न करने से यह 'व्यापक' सप्तमी नहीं है। 'कूपे गर्गकुलम्' यहाँ कूप शब्द 'कूप के किनारे' अर्थ में लाक्षणिक है। अतः यहाँ गौण उपश्लेष है। 'विषयसप्तमी' जैसे – 'मोक्षे इच्छाऽस्ति' (मोक्ष के विषय में इच्छा है। इत्यादि 'विषय सप्तमी' प्रसिद्ध है।

"इको यणचि"[1] इत्यादि 'संहिताधिकारस्थ' सूत्र में 'अचि' इत्यादि सप्तमी को 'औपश्लेषिक सप्तमी' मानकर 'अच्' से उपश्लिष्ट, अत्यन्त सम्बद्ध 'इक्' के स्थान में 'यण्' विधान कर लिया जायेगा तो इस 'संहिताधिकार' के बिना भी परस्पर अत्यन्त सन्निकृष्ट वर्णों में ही 'यणादि' कार्य हो जायेंगे। ऐसी अवस्था में यह सूत्र व्यर्थ है। जब 'संहितासंज्ञा' विधायक "परः सन्निकर्षः संहिता"[2] यह सूत्र ही खण्डित हो चुका है तो 'संहिताधिकार' तो स्वतः ही खण्डित हो जाता है। "आर्धधातुके"[3] इत्यादि तो विषयसप्तमी मानी जाती है। क्योंकि वहाँ आर्धधातुक' शब्द से 'सामान्य आर्धधातुक' का निर्देश है। 'सामान्य' के साथ पौर्वापर्य संभव नहीं है। 'इको यणचि'[4] इत्यादि में तो 'अचि' यह 'विशेष' सप्तमी का निर्देश है। 'विशेष' के साथ पौर्वापर्यसम्बन्ध संभव है। अतः 'अच्' परे रहते उससे अत्यन्त सम्बद्ध व्यवधान रहित 'इक्' को 'यण्' हो, ऐसा अर्थ होने से यहाँ 'औपश्लेषिक' सप्तमी सर्वथा घट जाती है। इसमें "तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य"[5] इस परिभाषा का व्यापार भी सहायक है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यद्यपि "तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य" इस परिभाषा के बचन से "इको यणचि" इत्यादि में 'अच्' परे रहते निर्दिष्ट वर्णान्तर के व्यवधान से रहित पूर्व को कार्य होगा। उससे 'दध्यत्र' इत्यादि में 'अत्र' का अकार परे रहते वर्णान्तर के व्यवधान से रहित पूर्ववर्ती दधि का इकार होने से 'यण्' होकर इस सूत्र के बिना भी इष्ट सिद्ध हो जाता है। 'दध्युदकम्' इत्यादि में इकार

---

[1] पा० ६ । १ । ७७ ।
[2] पा० ७ । ४ । १०९ ।
[3] पा० २ । ४ । ३५ ।
[4] पा० ६ । १ । ७७ ।
[5] पा० १ । १ । ६६ ।

उकार दोनो के परस्पर उपश्लेष मे व्यवधान रहित पूर्व को ही कार्य होगा तो 'उदकम्' के उकार को 'यण्' न होकर 'दधि' के इकार को यण्' होता है। इस प्रकार इस सूत्र की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती तथापि आधी मात्रा के काल मे अतिरिक्त काल के व्यवधान में सन्धिकार्य रोकने के लिए यह सूत्र आवश्यक है। अन्यथा 'दधि' उच्चारण करके उसके एक घण्टे बाद अत्र' उच्चारण करने पर कालव्यवाय मे भी 'यण्' की प्रसक्ति हो जायेगी जो कि अनिष्ट है। वर्णों के परस्पर अत्यन्त सन्निकर्ष या सश्लेष को 'सहिता' कहते हैं। वह काल का व्यवधान होने पर सभव नहीं। अत सधित्स्यमान वर्णों का परस्पर सश्लेष एव एक साथ उच्चारण अत्यन्त आवश्यक है। 'सहिता' का अधिकार इसी बात को सूचित करता है कि एक साथ उच्चरित वर्णों मे ही सन्धिकार्य हो, उनके मध्य काल के व्यवधान होने पर न हो। यदि "तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य" इस परिभाषा से वर्ण के व्यवधान के साथ काल का व्यवधान भी प्रतिषिद्ध मान लिया जाये तब तो इस सूत्र की आवश्यकता नहीं है। इस विषय मे पदमञ्जरीकार कहते है—

'अचि उपश्लिष्टस्य इको विधीयमानो यण् वर्णान्तरव्यवाये कालव्यवाये च न भविष्यतीति नार्थ सहिताधिकारेण। ज्ञापनार्थं तु—एतज्ज्ञापयति काल-व्यवायो निर्दिष्टपरिभाषाया नाश्रीयते इति। तेनोत्तरपदाधिकारेऽपि विधीयमान कार्यमलुगादि कालव्यवधानेऽपि भवत्येव। आखरेष्ठ इति आखरे स्थ। अग्ना विष्णू इति अग्ना विष्णू[2] इत्यादि।

इसका तात्पर्य यह है कि अर्धमात्रा काल का व्यवधान वाले अवग्रह मे तो काल व्यवधान होने पर भी सन्धिकार्य हो जाते हैं। 'आखरेष्ठ[3]' यहाँ उपपद समास मे "तत्पुरुषे कृति बहुलम्[4]" से सप्तमी का 'अलुक्' होता है। समास मे सन्धि के नित्य होने से वह 'अलुक्' अवग्रह बना रहता है। केवल अवग्रह मे ही पदपाठकारो के वचन सामर्थ्य से अर्धमात्रा काल का व्यवधान द्रष्टव्य है। उतने काल के व्यवधान मे तो सन्धिकार्य हो सकता है। तदतिरिक्त काल के व्यवधान मे सन्धिकार्य को रोकने के लिए इस सूत्र का बनाना अत्यन्त आवश्यक है। इसी बात को नागेश आक्षेप-समाधानपूर्वक इस प्रकार उपन्यस्त करते हैं—

---

१ पा० १ १ ६६।
२ पा० म० मू० ६ १ ७२।
३ मा० यजु ३ १।
४ पा० ६ ३ १४।

'यद्यपि वर्णव्यवाये तस्मिन्निति परिभाषया सिद्धम् । वर्णशून्यकालव्यवाये तु काल-व्यवहिततयोच्चारितवर्णाना शब्दाना प्रमापादकानामसाधुशब्दत्वाच्छास्त्राप्रवृत्तौ सहिताधिकारो व्यर्थ , तथापि कालव्यवेतस्यापि साधुत्वबोधनद्वारा तद्व्यावृत्त्या सार्थक्य बोध्यम् । अत एवावग्रहादौ सहिताधिकारबहिर्भूतानडसिद्धि अत एव निर्दिष्टपरिभाषया वर्णशून्यकालव्यवायो न व्यावत्यते । केचित्तु निर्दिष्ट ग्रहणेन वर्णशून्यकालोऽपि व्यावत्यते । अवग्रहे तु सम्प्रदाय एव शरणमिति तत्र असाधुशब्दप्रयोगेऽपि न दोष इतीद सूत्र व्यर्थमेव' ।[1]

यहाँ शेखरकार ने भाष्यकारोक्त इस सूत्र के प्रत्याख्यान के आधार पर 'केचित्तु' कह कर सूत्र का प्रत्याख्यान पक्ष भी उपस्थित कर दिया है । वस्तुत वे इस सूत्र को 'सहिताधिकार' के लिये आवश्यक मानते हैं । इसी प्रकार जैनेन्द्र व्याकरण मे भी सूत्र की उपयोगिता को अनुभव किया गया है । वहाँ पाणिनि प्रयुक्त 'सहिता' शब्द के स्थान पर लोक प्रसिद्ध 'सन्धि' शब्द रखा गया है[2] । किन्तु चान्द्र आदि व्याकरणो मे इस अधिकार सूत्र का समर्थन नही मिलता जो कि विचारणीय ही है ।।

अङ्गस्य ।। ६ ४ १ ।।

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह अङ्गाधिकार का पहला सूत्र है । यहाँ से 'अङ्गाधिकार' का आरम्भ होता है । आगे आने वाले सूत्रो मे 'अङ्गसज्ञक' शब्द को कार्य विधान होगा । 'अङ्गसज्ञाविधायक' सूत्र "यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्"[3] है । जिसका अर्थ है कि जिससे परे जो प्रत्यय किया जाये उस प्रत्यय के परे रहते वह प्रकृति है आदि मे जिसके ऐसे शब्द समुदाय की अङ्गसज्ञा' होती है । जैसे— 'भवति' यहाँ 'भू' धातु के 'तिप्' और 'शप्' दो प्रत्यय किये है । उनमे 'शप्' परे रहते 'भू' की और 'तिप्' परे रहते 'भू अ' की 'अगसज्ञा' होती है । यहाँ 'तदादि' ग्रहण का प्रयोजन ही यह है कि 'तिप्' परे रहते 'भू' की 'अङ्गसज्ञा' न होकर 'भू अ' की हो । इसी प्रकार 'पाठयति' यहाँ 'पठ' धातु से 'णिच्' 'तिप्' 'शप्' ये तीन प्रत्यय किये है । उनमे 'णिच्' परे रहते 'पठ' की, 'शप्' परे रहते 'पाठि' इस णिजन्त की और 'तिप्' परे रहते 'पाठि अ' इस शब्द समुदाय की 'अङ्गसज्ञा' होती है । इसी लिए 'करिष्यामि' मे मिप् परे रहते

---

१ बृ० श० शे० भा० १, सू० ६ १ ७२, पृ० २८४-८५ ।
२ जै० सू० ४ ३ ६० 'सन्धौ' ।
३ पा० १ ४ १३ ।

'करिष्य' की 'अङ्गसंज्ञा' होकर "अतो दीर्घो यञि"[1] से अदन्त 'अङ्ग' को दीर्घ होता है। 'कुण्डानि' में 'शि' परे रहते 'कुण्डन्' की 'अङ्गसंज्ञा' होकर "सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ"[2] से नान्त की उपधा को दीर्घ होता है। यहाँ 'अङ्गसंज्ञा' के सिद्धान्त को भली प्रकार समझ लेना चाहिए। यह 'अङ्गाधिकार' सप्तम अध्याय की समाप्ति तक जाता है। सारा सप्तमाध्याय और छठे अध्याय का यह चौथा पाद मिलकर सवा अध्याय 'अङ्गाधिकार' के अन्तर्गत आता है। 'अभ्यासविकारों' से पहले-पहले 'अङ्गाधिकार' है, यह भी एक पक्षान्तर है। अभ्यासविकार "सनि मीमा घु रभ लभ शक पत पदामच इस", आप्ज्ञप्यृधामीत", "दम्भ इच्च", "मुचोऽकर्मकस्य गुणो वा", "अत्र लोपोऽभ्यासस्य"[3] इत्यादि सूत्रों से लेकर "ई च गण"[4] इस सप्तमाध्याय के अन्तिम सूत्र तक विधान किये गये हैं। "उन अभ्यासविकारों से पूर्व ही 'अङ्गाधिकार' की अवधि समाप्त हो जाती है", यह भी एक पक्ष है। इन दोनों पक्षों में पहला पक्ष ही न्याय्य होने से आचार्यसंमत है। सप्तमाध्याय की पूर्ण समाप्ति तक 'अङ्गाधिकार' है अर्थात् "अङ्गस्य" इस सूत्र का व्यापार अधिकृत रूप में चलता है। सप्तमाध्याय तक जो कार्य कहे जायेंगे वे 'अङ्ग' के सम्बन्ध में ही होंगे। सप्तमाध्याय की समाप्ति तक 'अङ्गाधिकार के होने में "गुणो यङ्लुकोः"[5] इस सूत्र में 'यङ्लुक्' का ग्रहण ही ज्ञापक है वहाँ 'यङ्लुक्' का ग्रहण इसलिये किया गया है कि जैसे 'बोभूयते' यहाँ 'भू' धातु से परे 'यङ्' परे रहते 'भू' धातु के अभ्यास को "गुणो यङ्लुकोः" सूत्र से गुण होता है वैसे 'बोभवीति' यहाँ 'भू' धातु से परे "यङोऽचि च"[6] से 'यङ्' का लुक् होने पर भी उक्त सूत्र से अभ्यास को गुण हो जाये। यदि सप्तमाध्याय की समाप्ति तक 'अङ्गाधिकार' माना जाये तब तो 'यङ्लुक्' का ग्रहण करना सफल हो जाता है, अन्यथा व्यर्थ है। 'बोभवीति' में 'यङ्' के 'लुक्' को "प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्"[7] से प्रत्ययलक्षण मानकर "गुणो यङि" इतने सूत्र से ही 'बोभवीति' के अभ्यास को गुण हो जायेगा तो 'यङ्लुक्' ग्रहण की क्या आवश्यकता है किन्तु आचार्य देखते

---

१ पा० ७ ३ १०१।
२ पा० ६ ४ ८।
३ पा० ७ ४ ५४-५८।
४ पा० ७ ४ ९७।
५ पा० ७ ४ ८२।
६ पा० २ ४ ७४।
७ पा० १ १ ६२।

है कि 'अङ्गाधिकार' सप्तमाध्याय की पूर्ण समाप्ति तक जाता है। उसमें "गुणो यङ्लुको"[1] के भी अन्तर्गत होने से वह भी 'अङ्गाधिकार' का बन जाता है तो 'बोभवीति' में हुए यङ्लुक् में प्रत्ययलक्षण का "न लुमताङ्गस्य"[2] से निषेध हो जाने से 'यङ्' न होगा तो केवल 'यङ्' ग्रहण करने से 'बोभवीति' में अभ्यास को गुण न हो सकेगा। इसके लिये सूत्र में यङ् के साथ 'यङ्लुक्' ग्रहण करते हैं। "न लुमताङ्गस्य" सूत्रस्थ 'अङ्ग' शब्द का जब 'अङ्गाधिकार' अर्थ लेकर "अङ्गाधिकार के कार्य में जो 'लुमान्' शब्द से लुप्त हुआ है, उसमें प्रत्ययलक्षण नहीं होता," ऐसा अर्थ करते हैं, तब यह प्रयोजन बनता है। यदि 'अङ्ग' शब्द का 'अङ्गाधिकार' अर्थ न लेकर केवल 'अङ्ग' का कार्य चाहे वह 'अङ्गाधिकार' का हो या उससे बाहर का सब जगह प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जाता है, ऐसा माना जाये तब 'यङ्लुक्' ग्रहण ज्ञापक नहीं बनता। अस्तु, 'यङ्लुक्' ग्रहण ज्ञापक बने या न बने, सूत्र में उसका ग्रहण किया हुआ ही है, अतः सप्तमाध्याय की समाप्ति पर्यन्त 'अङ्गाधिकार' चलता है इस सिद्धान्त में कोई बाधा नहीं पड़ती।

इसके विपरीत अभ्यास विकारों में पूर्व पूर्व अङ्गाधिकार मानने में बड़ा दोष यह आता है कि 'वव्रश्च' में 'व्रश्च्' धातु के अभ्यास में स्थित वकार को "लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्"[3] से 'सम्प्रसारण' प्राप्त होता है। वकार को उकार 'सम्प्रसारण' होकर 'उव्रश्च' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है। 'व्रश्च' धातु से 'लिट्', 'तिप्', 'णल्' होकर "लिटि धातोरनभ्यासस्य"[4] से 'व्रश्च' को द्वित्व होता है। 'व्रश्च' 'व्रश्च' इस अवस्था में अभ्यास संज्ञक पूर्व 'व्रश्च' में "लिट्यभ्यासस्य०" से रेफ को ऋकार 'सम्प्रसारण' होकर 'वृश्च' 'व्रश्च' बनता है। 'उरत्'[5] से ऋकार को अकार, "उरण् रपरः"[6] से रपरत्व और "हलादि शेषः"[7] से आदि 'हल्' शेष रहकर 'वव्रश्च' बन जाता है। रेफ को ऋकार 'सम्प्रसारण' होकर बने 'ववृश्च' में वकार को प्राप्त

---

१ पा० ७।४।८२।
२ पा० १।१।६३।
३ पा० ६।१।१७।
४ पा० ६।१।८।
५ पा० ७।४।६६।
६ पा० १।१।५१।
७ पा० ७।४।६०।

'सम्प्रसारण'[१] न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्"[१] से रुक सकता है किन्तु "उरत्" से ऋकार को अकार हो जाने से ऋकार 'सम्प्रसारण' परे नहीं है। अत, निषेध की प्राप्ति न हो सकने से वकार को 'सम्प्रसारण' अनिवार्यत प्राप्त है। यदि किसी प्रकार 'उरत्' से ऋकार को हुआ अकार "अच परस्मिन् पूर्वविधौ"[२] से स्थानिवत् हो जाये तो ऋकार 'सम्प्रसारण' परे मिल जाने से 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्"[३] से वकार को 'सम्प्रसारण' का निषेध सिद्ध हो सकता है। वह तभी हो सकता है जब 'अङ्गाधिकार' को अभ्यासविकारो से पूर्व तक ही न मानकर सप्ताध्याय की समाप्ति तक माना जाये। वैसा मानने पर 'उरत्' सूत्र 'अङ्गाधिकार' मे आ जायेगा। 'अङ्गाधिकार' मे आ जाने से 'अगसज्ञा' द्वारा प्रत्यय का आक्षेप स्वत हो जायेगा। क्योकि प्रत्यय परे होने पर ही 'अगसज्ञा' होती है। उस अवस्था मे "उरत्"[४] का अर्थ होगा—'अभ्यास के ऋवर्ण को अकार होता है प्रत्यय परे होने पर'। प्रत्यय को निमित्त मानकर होने वाला उरदत्व परनिमित्तक हो जायेगा। उससे "अच परस्मिन्"[५] सूत्र मे उरदत्व का स्थानिवद्भाव से ऋकार मान लिया जायेगा। ऋकार 'सम्प्रसारण' परे होने पर "न सम्प्रसारणे०" से वकार को 'सम्प्रसारण' का निषेध हो जायेगा तो 'वव्रश्च' यह इष्ट रूप सिद्ध हो जाता है। सप्तमाध्याय की समाप्ति तक 'अगाधिकार' मानने मे ही यह इष्टसिद्धि हो सकती है। अभ्यास विकारो म पूर्व 'अगाधिकार' मानने मे "उरत्" के तदन्तगत न होने में परनिमित्तकता न आयेगी तो "अच परस्मिन्०" मे अकारादेश को स्थानिवत् न हो सकेगा। उसमे 'सम्प्रसारण' परे न मिलने से वकार को 'सम्प्रसारण' का निषेध किसी प्रकार भी न होगा, यह महान् दोष प्राप्त होता है। इस लिये सप्तमाध्याय समाप्ति तक ही 'अगाधिकार' मानना चाहिए, यह सिद्ध हो जाता है।

इस सूत्र के प्रयोजन भाष्यवार्तिककार कहते हैं—

'अङ्गाधिकारस्य प्रयोजनम्-सम्प्रसारणदीर्घत्वे। नाम्सनोदीर्घत्वे। लिङ्यत्वे अतो भिस ऐस्त्वे। लुङादिष्वडाटौ। इयङ्वङ् युष्मदस्मत् तातङ् आमिनुड् आने मुक् के ह्रस्व यि मितत्वानि"[६]

१ पा० ६ १ ३७।
२ पा० १ १ ५७।
३ पा० ६ १ ३७।
४ पा० ७ ४ ६६।
५ पा० १ १ ५७।
६ महा० भा० ३, सु० ६ ४ १, पृ० १७८-८०।

इन छ वार्तिकों के क्रम से उदाहरण इस प्रकार है। 'सम्प्रसारणदीर्घत्व' जैसे— हूत', 'जीन' संवीत'। यहां 'ह्वेञ्' 'ज्या', 'वेञ्' धातुओं से निष्ठा-प्रत्यय 'क्त' परे होने पर 'वचि स्वपि०', "ग्रहिज्यावयि"[१] से 'सम्प्रसारण' होता है। "सम्प्रसारणाच्च"[२] से पूर्वरूप होकर 'हु', 'जि', 'वि' इन अङ्गों को 'हल'' से दीर्घ हो जाता है तो उक्त रूप बन जाते हैं। यहाँ 'हल्' से परे 'सम्प्रसारणान्त अङ्ग' हु', 'जि', 'वि' हैं। क्योंकि इन्हीं से निष्ठा प्रत्यय 'क्त' हुआ है। इसलिये 'अङ्ग' को कहा हुआ दीर्घ यहाँ सिद्ध हो जाता है। यदि "अङ्गस्य" इस सूत्र के द्वारा 'अगाधिकार' न रखा जाये तो 'निरुतम्' 'दुरुतम्' यहाँ 'अग' रहित को भी दीर्घ होने लगेगा। निर' पूर्वक या 'दुर्' पूर्वक 'वेञ्' धातु से 'क्त' प्रत्यय हुआ है। "वचि स्वपि०" से 'सम्प्रसारण' हो जाता है। यहाँ 'निर्' और 'दुर्' ये जो हलन्त हैं वे 'अगसञ्ज्ञक' नहीं हैं। क्योंकि उनसे प्रत्यय नहीं किया गया है और 'वेञ्' जो 'अग' है, जिससे निष्ठा प्रत्यय 'क्त' हुआ है, वह अ गावयव 'हल्' से परे नहीं है। अत पूर्ण 'अ ग' न होने से 'हल'' से दीर्घ नहीं होता।

'नाम्यनोर्दीर्घत्व' जैसे— अग्नीनाम्' 'वायूनाम्' यहाँ 'नाम्' प्रत्यय परे रहते 'अग्नि' 'वायु' अ ग हैं। इसलिए "नामि"[३] से विहित 'अ ग' को दीर्घ हो जाता है। 'अ गाधिकार' न होने से 'क्रिमिणाम्', 'पामनाम्' यहाँ भी 'नाम' का सादृश्य होने पर "नामि" से दीर्घ प्राप्त होता है। 'क्रिमिणा', 'पामना ये मत्वर्थीय 'न' प्रत्ययान्त स्त्रीलिंग द्वितीया के एकवचनान्त शब्द हैं। यहाँ जो अजन्त है उससे परे 'नाम्' प्रत्यय नहीं है। अत अजन्त 'अ ग' तथा 'नाम्' प्रत्यय परे न होने से "नामि" से दीर्घ नहीं होता। 'चिचीषति' में 'चि' 'अग' से परे 'सन्' प्रत्यय है इसलिये "अज्झनगमा सनि"[४] से दीर्घ हो जाता है। किन्तु 'दधि सनोति', 'मधु सनोति' यहाँ जो अजन्त है वह 'अ ग' नहीं है। उससे परे 'सन्' धातु है, 'सन्' प्रत्यय नहीं है। इसलिये दीर्घ नहीं होता।

'लिड्येत्वे' जैसे— 'ग्लेयात्', 'म्लेयात् यहाँ 'ग्ले', 'म्ले' ये सयोगान्त 'अग' हैं। उनसे आर्धधातुक 'लिङ्' परे होने पर "वान्यस्य सयोगादे"[५] से 'एत्व' हो

१ पा० ६ १ १५, १६।
२ पा० ६ १ १०८।
३ पा० ६ ४ ३।
४ वही।
५ पा० ६ ४ ३।
६ पा० ६ ४ १६।
७ पा० ६ ४ ६८।

जाता है किन्तु 'निर्यायात्', 'निर्वायात' यहाँ जो 'या', 'वा' अग हैं, वे सयोगादि नही है और जो 'निर्' का रेफ मिलाकर सयोगादि बनते हैं, वे 'अग' नहीं है। इसलिये 'एत्व' नही होता।

'अतो भिस ऐस्त्व' जैसे—'वृक्षै', 'प्लक्षै' यहाँ 'वृक्ष', 'प्लक्ष' शब्दो के 'अगसज्ञक' होने से "अतो भिस ऐस्"[1] से भिस्' को 'एस' आदेश हो जाता है किन्तु 'ब्राह्मण भिस्सा', 'ओदनभिस्सटा' यहाँ 'भिस्सा' का अवयव 'भिस्' शब्द प्रत्यय नही है। उसके परे रहते ब्राह्मण' यह अदन्त 'अग' नहीं है। इसलिए 'ऐसादेश' नही होता। 'लुडादिष्वडाटौ' जैसे—'अकार्षीत्', 'ऐहिष्ट' यहाँ 'कृ' और 'ईह' धातुओ के 'अग-सज्ञक' होने से 'लुङ्', मे "लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्त", "आडजादीनाम्"[2] से क्रमश 'अट', 'आट्' हो जाते हैं। किन्तु 'प्राकरोत्,' 'उपेहिष्ट' यहाँ 'प्र', 'उप' सहित 'कृ' और 'ईह' धातुओ के 'अग' न होने से 'लुङ्', 'लङ्' मे उनसे पव 'अट','आट्' नहीं होते।

'इयङ्', उवङ्' आदि जैसे—'श्रियौ', 'भ्रुवौ' यहा 'श्री', 'भ्रू' शब्दों के 'अग सज्ञक' होने मे "अचि श्नु धातु भ्रुवाम्"[3] से 'इयङ्', 'उवङ्' हो जाते है। किन्तु 'श्र्यर्थम्' 'भ्रवर्थम्' यहा 'अर्थ' शब्द परे होने पर 'श्री', 'भ्रू' के 'अग सज्ञक' न होने से 'इयङ्', 'उवङ्' नहीं होते। किन्तु 'अगाधिकार' से बहिर्भूत "इको यणचि"[4] से सामान्य 'यणादेश' ही होता है। 'युष्मद् अस्मद्' जैसे—'युष्माकम्', 'अस्माकम्'। यहा 'युष्मद्', 'अस्मद्' शब्दो के अगसज्ञक' होने से "साम आकम्"[5] से सुट्सहित 'आम्' को 'आकम्' आदेश होता है किन्तु 'युष्मत्साम्', 'अस्मत्साम' यहा 'साम' शब्द परे रहते 'युष्मद्', अस्मद्' के 'अगसज्ञक' न होने से "आकम्' आदेश नही होता।

'तातङ्' आदेश जैसे—'जीवतु', 'जीवतात्' यहा 'अगसज्ञक' 'जीव्' धातु से परे 'तु' को 'तुह्योस्तातङाशिष्यन्तरस्याम्"[6] से 'तातङ्' होता है किन्तु 'पचतु तावत्' यहा 'तु' शब्द निपात है, प्रत्यय नही है। उसके परे रहते 'पच्' यह 'अग' भी नही है, अत 'तातङ्' नही होता।

---

१ पा० ७ १ ९।
२ पा० ६ ४ ७१,७२।
३ पा० ६ ४ ७७।
४ पा० ६ १ ७७।
५ पा० ७ १ ३३।
६ पा० ७ १ ३५।

'आमिनुट्' जैसे—'कुमारीणाम्' यहा 'कुमारी' शब्द के 'अगसज्ञक' होने से 'आम्' प्रत्यय को "ह्रस्वनद्यापो नुट्"[1] से 'नुडागम' होता है। किन्तु 'कुमारी आमित्याह' यहाँ आम्' शब्द प्रत्यय नहीं है। उसके परे होने पर 'कुमारी' के 'अगसज्ञक' न होने से आम्' को 'नुट्' नही होता।

'आने मुक्' यथा—'पचमान', 'यजमान' यहा 'पच्', 'यज्' धातुओं के 'आन' प्रत्यय परे रहते अगसज्ञक होने से 'आने मुक्'[2] से अदन्त 'अग' को मुक्' का आगम होता है। किन्तु 'प्राण' (प्र+आन) यहाँ 'आन' के प्रत्यय न होने से 'प्र' शब्द अगसज्ञक नही है। अत उसको 'मुक्' का आगम नही होता।

के ह्रस्व' जैसे कुमारिका' यहाँ 'क' प्रत्यय परे रहते 'कुमारी' शब्द के अगसज्ञक होने से "केऽण"[3] से कुमारी' शब्द को ह्रस्व होता है। किन्तु 'कुमारी कायति कुमारीक' यहाँ 'क' शब्द के प्रत्यय न होने से उसके परे होने पर 'कुमारी' शब्द 'अगसज्ञक' नही है अत 'कुमारी को ह्रस्व नहीं होता।

यि दीर्घ' जैसे—'चीयते', स्तूयते' यहाँ 'यक्' प्रत्यय परे रहते 'चि', 'स्तु' धातुओं के 'अगसज्ञक' होने से "अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घ"[4] से दीर्घ होता है। किन्तु 'दधियानम्', 'मधुयानम्', मे 'दधि', मधु' के 'अगसज्ञक' न होने से दीर्घ नही होता।

'भितत्व' जैसे—'अद्भि', 'अद्भ्य' यहा 'भिस्' 'भ्यस्' प्रत्यय परे रहते 'अप्' शब्द के अगसज्ञक होने से "अपोभि"[5] से 'अप्' के पकार को तकार होता है किन्तु 'अब्भार', 'अब्भक्ष' यहाँ 'अप्' शब्द के 'अगसज्ञक' न होने से पकार को तकार नही होता। वार्तिकानुसार ये सब प्रयोजन 'अगाधिकार' के बनते हैं।

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

अब भाष्यवार्तिककार स्वय ही उक्त प्रयोजनो का निराकरण एव प्रत्याख्यान करते हुये इस सूत्र को व्यर्थ सिद्ध करते हैं—

---

१ पा० ७ १ ५४।
२ पा० ७ २ ८२।
३ पा० ७ ४ १३।
४ पा० ७ ४ २५।
५ पा० ७ ४ ४८।

"नैतानि सन्ति प्रयोजनानि कथम् । अर्थवद्ग्रहण प्रत्ययग्रहणाभ्या सिद्धम् । अर्थवद्ग्रहणप्रत्ययग्रहणाभ्यामेवैतानि सिद्धानि । क्वचित् अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य इत्येव न भविष्यति इति । अथवा प्रत्यय इति प्रकृत्य अगकार्य मध्येष्ये" ।[1]

सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए भाष्यवार्तिककार का यहा यह आशय है कि इस सूत्र के ऊपर कहे प्रयोजन अन्यथासिद्ध हैं। कहीं तो "अर्थवदग्रहणे नानार्थकस्य"[2] इस परिभाषा मे गतार्थता है और कही 'प्रत्ययाप्रत्यययोग्रहणे प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्"[3] इस परिभाषा से ये प्रयोजन गतार्थ हो जाते हैं। इसलिये निष्प्रयोजन होने से यह सूत्र व्यर्थ है। इसके व्यर्थ होने पर सारा 'अङ्गाधिकार' ही व्यर्थ हो जाता है। उक्त परिभाषाओं का अर्थ है कि अर्थवान् शब्द के ग्रहण में अनर्थक शब्द का ग्रहण नहीं होता। प्रत्यय और अप्रत्यय दोनो के ग्रहण की सम्भावना में प्रत्यय का ही ग्रहण होता है, अप्रत्यय एव प्रत्यय से भिन्न का नही। उपरिकथित उदाहरणो मे ये दोनो परिभाषायें यथासम्भव घट जाती हैं। यदि यह कहा जाये कि 'निरुतम्', 'दुरुतम्' यहाँ उक्त दोनो परिभाषाओ मे से किसी की प्रवृत्ति न होने से 'अङ्गाधिकार' के बिना 'हल"[4] से दीर्घ प्राप्त होगा ही। इसी प्रकार 'प्राकरोत्' 'उपैहिष्ट' यहाँ भी दोनो परिभाषाओ मे मे किसी की भी प्रवृत्ति सम्भव न होने मे 'अट्', 'आट्' का आगम उपसर्ग से पूर्व प्राप्त होगा ही। उसके लिये 'अङ्गाधिकार करने की आवश्यकता है तो इसका उत्तर है कि "अङ्गस्य" न बनाकर उसके स्थान मे "प्रत्यय" ऐसा सूत्र बना दिया जायेगा। 'प्रत्यय' शब्द 'अङ्ग' का आक्षेप स्वय कर लेगा। क्योकि "यस्मात् प्रत्ययविधि"[5] सूत्र से 'प्रत्यय' परे होने पर ही 'अङ्ग सज्ञा' होती है। "प्रत्यये" सूत्र का अर्थ होगा कि 'प्रत्यय' परे होने पर जो 'अङ्ग' है उसको कार्य होता है। इस तरह बिना "अङ्गस्य" इस सूत्र के ही सब कार्य 'अङ्ग' को हो जायेंगे। "प्रत्यये" कहने से एक लाभ यह भी होगा कि 'प्राकरोत्', 'उपैहिष्ट' यहाँ उपसर्ग मे पूर्व 'अट्', 'आट्' नही होगे। क्योकि "प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहण भवति"[6] इस परिभाषा के वचन से

---

१ महा० भा० ३, सू० ६ ४ १, पृ० १८० ।
२ परि० स० १४ ।
३ परि० स० १०२ ।
४ पा० ६ ४ २ ।
५ पा० १ ४ १३ ।
६ परि० स० २३ ।

जिससे प्रत्यय किया है तदादि का ही ग्रहण होगा तो धातु से पूर्व ही 'अट्', 'आट्' होंगे, उपसर्ग से पूर्व नहीं। 'प्रत्यये' कहने में एक और लाभ है कि अलग से "प्रत्यये" यह सूत्र भी न बनाना पड़ेगा। "यस्मात् प्रत्ययविधि" इस अङ्ग संज्ञा' सूत्र में पठित 'प्रत्ययेऽङ्गम्' इस शब्द से ही 'प्रत्यय' और 'अङ्ग' का बोध हो जायेगा। प्रत्यय' परे होने पर 'अङ्ग संज्ञा' होगी और अङ्ग को ही 'प्रत्यय निमित्त' कार्य होगा। ऐसी अवस्था में कहीं दोष न आने से यह सूत्र प्रत्याख्येय है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

'अर्थवद्ग्रहण' परिभाषा और 'प्रत्ययग्रहण' परिभाषा दोनों को यथासम्भव स्वीकार करने पर भी सब प्रयोजनों की अभीष्ट सिद्धि हो जायेगी तथा अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोष नहीं आयेंगे, यह बात पूरी तरह बुद्धि में नहीं बैठती। 'अङ्गाधिकार' के अतिविस्तृत क्षेत्र को ये दोनों परिभाषायें व्याप्त कर लेंगी, ऐसा निःशङ्क होकर नहीं कहा जा सकता। 'अङ्गाधिकार' के केवल इतने ही प्रयोजन नहीं है जो पीछे वार्तिककार ने कहे हैं। यह तो "प्रयोजनानामुदाहरणमात्रम्" वाली बात है। इसलिये उक्त परिभाषाओं द्वारा समाधान से असन्तुष्ट होकर भाष्यकार ने "अथवा प्रत्यये इति प्रकृत्यागकार्यमध्येष्ये"[1] ऐसा उद्घोष किया है। उससे उनका हार्दिक भाव 'अङ्गाधिकार' को रखने में ही प्रतीत होता है। उद्द्योतकार नागेश लिखते भी हैं—

"तस्मात् अङ्गाधिकार कर्तव्य इति भगवतो गूढोऽभिसन्धिरिति"।[2]

प्रदीपकार भी "अङ्गस्य" की जगह "प्रत्यये" सूत्र बनाने में अरुचि दिखाते हुए कहते हैं—

"अङ्गाधिकार प्रत्याख्यानाय प्रत्ययाधिकारे क्रियमाणे न किंचित प्रयोजनं दृश्यते। अतो भिस ऐस् ईत्यादिषु विभिन्नविभक्तिकत्वात् भिसादीनां प्रत्ययेन सम्बन्धो दुरुपपादः। हल इति सम्प्रसारणदीर्घत्वं च अङ्गाधिकारं बिना निरुतम्, दुरुतम् इत्यादौ न परिहृतं भवति"।[3]

इसलिए भाष्यकार का गूढ आशय समझने वाले प्राचीन व्याकरणकारों की दृष्टि में इस सूत्र का रखना ही आवश्यक है। इसका प्रत्याख्यान नहीं हो सकता। "अङ्गस्य" हटाकर 'प्रत्यये' रखने में क्या विशेष प्रयोजन या लाभ है,

---

१ पा० १४।१३।

२ महा० भा० ३, प्रकृत सूत्र, पृ० १८०।

३ प्रकृत सूत्रस्य महा० प्र० उ० भा० ४, पृ० ६६६।

४ वही।

कुछ नहीं। जैसे—'भ संज्ञा' का अधिकार "भस्य"[1] से तथा 'पदसंज्ञा' का अधिकार "पदस्य"[2] से विहित है, उसी प्रकार 'अङ्गसंज्ञा' का अधिकार भी "अङ्गस्य" इस सूत्र से विहित ही होना चाहिए। इसीलिए भाष्यकार द्वारा आपाततः खण्डन कर दिया जाने पर भी उनकी आन्तरिक इच्छा आदृत करते हुए अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी प्रायः इस सूत्र को स्वीकार किया है अथवा दूसरे शब्दों में सूत्र की सार्थकता को माना है।[3]

असिद्धवदत्राभात् ॥६ ४ २२॥

सूत्र का प्रतिपाद्य

यह अधिकार सूत्र है। यहाँ से लेकर "भस्य"[4] सूत्र के द्वारा विहित 'भाधिकार' तक इसका अधिकार है। इसका अर्थ है कि इस 'आभीय' प्रकरण में जो जात 'आभीय' कार्य है वह भावी 'आभीय' कार्य के प्रति 'असिद्धवत्' होता है, सिद्ध नहीं माना जाता। यथा—'एधि'। 'शाधि'। यहाँ 'अस्' धातु के लोट लकार के मध्यम पुरुष एकवचन में 'एधि' रूप बनता है। 'सिप्' को 'हि' होकर "घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च"[5] सूत्र से 'अस्' के सकार को 'एकार' हो जाता है। "श्नसोरल्लोपः"[6] से 'अस्' के अकार का लोप भी हो जाता है। सकार को 'एकार' होकर झलन्त 'अङ्ग' न रहने से "हुझल्भ्यो हेर्धिः"[7] से 'हि' को 'धि' आदेश नहीं प्राप्त होता। इस सूत्र से जात 'आभीय' 'एकार' असिद्ध हो जाता है तो 'झलन्त अङ्ग' मिल जाने से भावी 'आभीय' कार्य 'धि' आदेश होकर 'एधि' यह इष्ट रूप बन जाता है।

'शाधि' में 'शास्' धातु से लोट् लकार मध्यमपुरुष एकवचन में 'सिप्' को 'हि' होकर "शा हौ"[8] से 'शास्' को 'शा' आदेश होता है। 'शा' आदेश के होने पर 'झलन्त अङ्ग' न रहने से 'हि' को 'धि' नहीं प्राप्त होता। इस सूत्र से

---

१ पा० ६ ४ १२९।
२ पा० ८ १ १६।
३ चा० सू० ५ ३ १—'प्रकृते'।
जै० सू० ४ ४ १—'गो'।
स० सू० ६ ३ १—'प्रकृते'॥
४ पा० ६ ४ १२९।
५ पा० ६ ४ ११९।
६ पा० ६ ४ १११।
७ पा० ६ ४ १०१।
८ पा० ६ ४ ३५।

जात आभीय शाभाव' असिद्ध हो जायेगा तो भावी 'आभीय' कार्य 'हिभाव' होकर 'शाधि' यह इष्ट रूप बन जाता है।

सूत्र मे 'अत्र' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि समान आश्रय वाले 'आभीय' कार्यों में ही 'असिद्धवत्' होता है, विभिन्न आश्रय वाले 'आभीय' कार्यों में नहीं। इसमे 'पपुष पश्य' यहाँ 'पपिवम्' शब्द के लिट्स्थानिक 'क्वसु' प्रत्यय से परे द्वितीया बहुवचन 'शस्' होने पर 'भ संज्ञा' द्वारा "वसो सम्प्रसारणम्"[1] से क्वसु के वकार को उकार' सम्प्रसारण होता है। सम्प्रसारण होकर 'क्वसु' प्रत्यय 'अजादि' हो जाता है तो 'आतो लोप इटि च'[2] से 'पा' धातु के आकार का लोप होकर 'पपुष' बन जाता है। यहां सम्प्रसारण का आश्रय या निमित्त तो शस्' है और आकार का लोप का आश्रय या निमित्त सम्प्रसारण है। दोनों का समान आश्रय न होने से जात आभीय' कार्य प्रसारण असिद्धवत्' नहीं होगा तो आकार का लोप हो जाता है।

'आभात्' शब्द मे 'आङ्' शब्द 'अभिविधि' अर्थ में है। 'भाधिकार' को व्याप्त करके अर्थात् जहाँ तक "भस्य"[3] का अधिकार जाता है, षष्ठाध्याय के चतुर्थ पाद पर्यन्त, वहां तक 'असिद्धवत्' का अधिकार है।

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

भाष्यकार पहले तो 'कानि पुनरस्य योगस्य प्रयोजनानि' गिनाते हैं जो कि वार्तिककार को भी अभिमत हैं। तद्यथा—

"(१) प्रयोजन 'शेरव घित्वे। एधि, शाधि। (२) हिलोप उत्वे। कुरु। (३) तास्ति लोपेण्यणादेशा अडाड्विधौ। आसरि, एहि, आयन्, आसन। (४) अनुनासिकलोपो हिलोपाल्लोपयोजभावश्च। आगहि, जहि, गत, गतवान्। (५) सम्प्रसारणमवर्णलोपे। मघोन, मघोना। (६) रेभाव आल्लोपे, दद्म"।[4]

बाद मे इन छ वार्तिको द्वारा 'एधि', 'शाधि' आदि प्रयोजन, जो वार्तिककार ने निर्दिष्ट किये हैं भाष्यकार इन सबका 'एतदपि नास्ति प्रयोजनम्', "एतदपिनास्ति प्रयोजनम्" कहकर निराकरण कर देते हैं। उक्त प्रयोजनों में एक भी प्रयोजन ऐसा नहीं है जो भाष्यकार ने अन्यथा सिद्ध या प्रत्याख्यात न किया हो। सभी प्रयोजनों का खण्डन करने के बाद यह सूत्र स्वतः खण्डित हो जाता है।

१ पा० ६ ४ १३१।
२ पा० ६ ४ ६४।
३ पा० ६ ४ १२६।
४ महा० भा० ३, प्रकृत सूत्र, पृ० १८७-८६।

इस प्रकार वार्तिककार की दृष्टि में सूत्र का प्रयोजन होने पर भी भाष्यकार की दृष्टि में प्रयोजनों की अन्यथासिद्धि हो जाने से इस सूत्र का प्रत्याख्यान सम्भव हो जाता है। श्लोकवार्तिक के रूप में भाष्यकार कहते हैं—

"न भगवान् कृतवास्तु तदर्थं णेरपि चेटि भवेद् विनिवृत्तिः। य्वोरपि ये च तथाप्यनुवृत्तौ चिण्णकि च विड्त एव हि लुक् स्यात्"।[1]

इसका भाव यही है कि इस सूत्र के बिना भी इष्ट सिद्ध हो जाने से यह सूत्र व्यर्थ है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यद्यपि भाष्यकार ने सूत्र के सब प्रयोजनों को अन्यथासिद्ध करके इसका प्रत्याख्यान कर दिया है, तो भी आगे कहे गये भाष्यकार के ये वचन "आरभ्यमाणेऽप्येतस्मिन्" इत्यादि, यह सिद्ध करते हैं कि प्रयोजनों की अन्यथासिद्धि होने पर भी यह सूत्र आरम्भ करना ही चाहिए। इधर-उधर की क्लिष्ट कल्पनाओं में भटकने की बजाय इस सूत्र का बनाना ही उचित है।[2] इसीलिए पदमंजरीकार कहते हैं—

"प्रतिपत्तिगौरव परिहारार्थं सूत्रमिदमारब्धव्यम् इति"[3] अर्थात् स्पष्ट प्रतिपत्ति एवं ज्ञान के गौरव से बचने के लिए यह सूत्र बनाया गया है। सम्भवतः इसी दृष्टिकोण को लेकर अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी प्रकृत सूत्र को अपने-अपने तन्त्रों में स्थान दिया है। हाँ, यह बात अलग है कि इन्होंने वार्तिककार द्वारा प्रस्तावित संशोधनों को लेकर इसे एक परिष्कृत सूत्र का रूप दिया है।[4]

अस्तु, भाष्यकार की यह शैली प्रायः अन्यत्र भी दृष्टिगोचर होती है कि वे पहले आपाततः किसी सूत्र का प्रत्याख्यान करके फिर उसकी सत्ता को मूक

---

१ महा० भा० ३, प्रकृत सूत्र, पृ० १८६-१९०।

२ द्र० महा० प्र० भा० ४, पृ० ६९५ –'अनेकपरिहाराश्रयणे प्रतिपत्तिगौरव मा भूदित्येवमर्थमारभ्यमाणे इत्यर्थः।

३ प० म० सूत्र० ६४२२। तुलना करो बृ० श० शे०, भा० ३, पृ० १६०४— स्पष्टार्थत्वात्। ध्वनित चेदमारभ्यमाणेऽप्येतस्मिन इत्यादिना भाष्येण'।

४ (क) चा० सू० ५ ३ २१—'प्राग्युवोरवुग् युगसिद्ध समानाश्रये'।
(ख) जै० सू० ४ ४ २१—'असिद्धवदत्राभात्'।
(ग) स० सू० ६ ३ १९—'प्राग्युवोरवुग् युगसिद्ध समानाश्रये'।

स्वीकृति दे देते हैं। जैसे "समर्थाना प्रथमाद्वा"[1] यह सूत्र पहले प्रत्येक पद कृत्य के साथ खण्डित करके बाद में भाष्यकार पुन पूछते हैं—"अथैतत् समर्थग्रहण न कर्त्तव्यम्। कर्त्तव्य च" अर्थात् तो फिर क्या यह समर्थ सूत्र नही बनाना चाहिए। उत्तर देते हैं—बनाना ही चाहिये। भाव यह है कि सूत्र के प्रत्याख्यान की अपेक्षा अन्वाख्यान ही उत्तम है। उससे प्रयोजनान्तर की सिद्धि सम्भव है। इसलिए यह सूत्र भी भाष्यकार की दृष्टि में प्रत्याख्येय न मानकर अन्वाख्येय ही माना जाना चाहिये। "श्नसोरल्लोप"[2] सूत्र मे अकार के तपर करने से आभीयासिद्धत्व प्रतिपादक इस सूत्र की अनित्यता तो स्पष्ट होती है किन्तु सर्वथा सत्ता का अभाव प्रकट नही होता।

१ पा० ४ १ ८२।
२ वही, ६ ४ १११।

वैदिक सूत्रों का प्रत्याख्यान

दीधीवेवीटाम् ॥१ १ ६॥

सूत्र की आवश्यकता पर विचार

'दीधीङ्' तथा 'वेवीङ्' ये दोनों धातु अदादिगण में पठित 'जक्षिति' आदि सात धातुओं के साथ पढ़ी गई हैं।[1] दोनों ही आत्मनेपदी[2] तथा अभ्यस्तसंज्ञक[3] हैं। उक्त सूत्र दोनों धातुओं को प्राप्त होने वाले इग्लक्षण गुणवृद्धि का निषेध करता है। तथा साथ ही "आर्धधातुकस्येड् वलादे"[4] सूत्र से विहित इडागम को भी प्राप्त गुण का निषेध करता है। इडागम को वृद्धि तो स्वत प्राप्त नहीं अत उसका निषेध स्वत सिद्ध है।[5] इनमें 'दीधीङ्' 'वेवीङ्' के उदाहरण यथा—

'दीध्याचक्रे'। 'वेव्याञ्चक्रे'।

यहाँ लिट् में 'आम्' परे रहते प्राप्त सार्वधातुक गुण का इस सूत्र से निषेध होकर "एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य"[6] सूत्र से 'यण्' हो जाता है।

इसी प्रकार 'आदीध्यनम' 'आवेव्यनम्' यहाँ भी आङ् पूर्वक दीधी' 'वेवी' धातुओं से 'ल्युट्' प्रत्यय परे होने पर प्राप्त सार्वधातुक गुण का इस सूत्र से निषेध होकर 'एरनेकाचोऽसयोगपूर्वस्य" से 'यण्' होता है। "युवोरनाकौ"[7] से 'ल्युट्' के 'यु' को 'अनादेश' हो जाता है।

इसी प्रकार 'आदीध्यक'। 'आवेव्यक' यहाँ पर भी 'ण्वुल्' प्रत्यय परे रहते प्राप्त "अचोञ्णितिवृद्धि"[8] का इस सूत्र से निषेध होकर "एरनेकाचोऽ-

---

१ पा० ६ १ ६—'जक्षित्यादय षट्'।

२ पा० १ ३ १२—'अनुदात्तङित आत्मनेपदम'।

३ पा० ६ १ ६—'जक्षित्यादय षट्'।

४ पा० ७ २ ३५।

५ द्र० का० भा० १, सू० १ १ ६, पृ० ८९—'वृद्धिरिटो न सम्भवतीति लघूपधगुण स्यात्प्रतिषेध'।

६ पा० ६ ४ ८२।

७ पा० ७ १ १।

८ पा० ७ २ ११५।

सयोगपूर्वस्य" से 'यण्' होता है। 'युवोरनाको' से 'ण्वुल्' के 'वु' को 'अकादेश' होता है।

'दीधिता', 'दीधिष्यते', 'दीधिषीष्ट' इत्यादि मे इणादि प्रत्यय परे रहते तो "यीवर्णयोर्दीधीवेव्यो"[1] सूत्र से 'दीधी, वेवी' के 'ईकार' का लोप होने से गुण की स्वत ही प्राप्ति नही, अत वहाँ इसकी आवश्यकता नही।

"य आदीध्ये न दविषाण्येभि"[2] यहाँ 'आदीध्ये' इस प्रयोग मे भी 'दीधी' धातु से लट् लकार के उत्तम पुरुष का एकवचन 'इट्' प्रत्यय है। वह 'सार्वधातुकमपित्'[3] से 'ङित्' है, अत 'क्ङिति च'[4] से ही गुण निषेध सिद्ध है। यहाँ भी इसकी आवश्यकता नही। ये दोनो धातु वैदिक हैं। वेद मे ही प्राय इनका प्रयोग होता है। इनके वैदिक प्रयोग अन्वेष्टव्य हैं।[5]

'इट्' तथा—'भविता', 'पठिता' इत्यादि। यहाँ 'भू', 'पठ्' धातुओ से लुट् लकार में 'तिप्' प्रत्यय को 'डादेश'[6] हुआ। मध्य मे 'तास्' विकरण है। इसे "आर्धधातुकस्येड्वलादे" से 'इट्' का आगम होता है। 'तास्' के परे रहते 'भू' की अङ्गसज्ञा है,[7] इसलिए उसे सार्वधातक गुण और अवादेश होकर 'भवितास्+डा' यह स्थिति बनती है। "चुटू"[8] से 'डा' की इत्सज्ञा और लोप होकर डित्वसामर्थ्य से 'तास्' के टिसज्ञक 'आस्' शब्द का "टे"[9] सूत्र से लोप हो जाता है। 'भवित्+आ' इस अवस्था मे 'आ' के परे रहते 'भवित्' इसकी दूसरी अङ्ग सज्ञा है।[10] वह लघूपध है, अर्थात 'भवित्' इस 'अङ्ग'

१ पा० ७ ४ ५३।
२ ऋक्०, १० ३४ ५।
३ पा० १ २ ४।
४ पा० १ १ ५।
५ (क) तुलना करो—माधवीयाधातुवृत्ति, स० द्वारिकादास शास्त्री, पृ० ३८१—नैटावात्मनेभाषाविमौ छान्दसौ इति भाष्यवार्तिकयो स्थितम। दृष्टानुविधिश्छन्दसिभवति। अस्माभिस्तुकालापमतानुसारेणोदाहरणप्रदर्शन कृतम्।
(ख) वै० सि० कौ०, भा० ३, पृ० ३०४—"दीधीङ दीप्तिदेवनयो एतदादय पञ्चधातवश्छान्दसा"।
६ पा० २ ४ ८५—"लुट प्रथमस्यडारौरस"।
७ पा० १ ४ १३—'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादिप्रत्ययेऽङ्गम्'। यहाँ 'तास्' परे रहते 'भू' की 'अङ्ग सज्ञा' व्यपदेशिवद्भाव से होती है—'व्यपदेशिवदेकस्मिन्' परि० म० ३०।
८ पा० १ ३ ७।
९ पा० ६ ४ १४३।
१० यहाँ तो 'व्यपदेशिवद्भाव' के बिना ही 'तदादि' यह अर्थ घटने से 'अङ्ग सज्ञा' सिद्ध है।

की उपधा में लघु 'इकार' है जो 'इट्' आगम का है। 'पुगन्त लघूपधस्य च'[1] से प्राप्त गुण का इस सूत्र से निषेध हो जाता है तो 'भविता' यह इष्ट रूप सिद्ध हो जाता है। अन्यथा 'भवेता' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है। सभी इडागमों में जहाँ भी लघूपध अङ्ग सम्भव है, वहाँ इस सूत्र से ही इट को गुण का निषेध होता है।

यहाँ यह कहना उचित नहीं कि इस सूत्र में 'दीधी, 'वेवी' ये दो धातु ही क्यों ली गई। 'दीङ्', 'धीङ्', 'वेञ्', तथा 'वी' ये चार धातु पृथक्-पृथक् क्यों न मानी जायें।

क्योंकि 'अवयवप्रसिद्धे समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी'[2] इस परिभाषा के बल से जहाँ समुदाय में कार्य प्रसिद्ध हो वहाँ अवयव में कार्य नहीं माना जाता। 'दीधी' तथा 'वेवी' ये दो समुदाय हैं। इनके अवयव 'दीङ्', 'धीङ्', 'वेञ्' तथा 'वी' ये यहाँ नहीं लिए जायेंगे, दीधी' तथा वेवी' यह समुदाय ही लिया जाएगा। इसलिये 'दीधीङ्' तथा 'वेवीङ्' इन दो धातुओं को ही प्राप्त गुणवृद्धि का यह सूत्र निषेध करता है।[3]

इसके साथ ही यह शंका भी नहीं करनी चाहिये कि 'दीधी' तथा 'वेवी' धातुओं के साहचर्य से 'इट्' भी भ्वादिगण में पठित 'इट किट् कटी गतौ' यह धातु ही क्यों न लिया जाये। 'इट्' आगम ही क्यों लिया जाये।

क्योंकि "सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्"[4] यह न्याय अनित्य है। सर्वत्र लागू नहीं होता। अतः साहचर्य नियम के अनित्य होने से 'इट्' धातु का ग्रहण नहीं होगा। साहचर्य नियम के अनित्य होने में "द्वित्रिश्चतुरिति कृत्वोर्थे"[5] इस सूत्र में 'कृत्वोर्थ' ग्रहण ही ज्ञापक है। यदि साहचर्य नियम नित्य होतो तो 'द्वि' 'त्रि' इन दोनों कृत्वोर्थीय 'सुच्' प्रत्यया तो के साहचर्य से 'चतु' भी 'सुच्' प्रत्ययान्त ही गृहीत होता। रेफान्त 'चतुर्' (चतु) शब्द की स्वतः व्यावृत्ति हो जाती जिसकी व्यावृत्ति के लिये सूत्र में 'कृत्वोर्थ' ग्रहण किया है। यह 'कृत्वोर्थ' ग्रहण करना ही साहचर्य नियम की अनित्यता का सूचक है। इसीलिए जिस प्रकार "गन्ताशसमिक्ष उ"[6] सूत्र में

---

१ पा० ७ ३ ८६।
२ परि० स० १०७।
३ द्र० श० कौ० भा० १, पृ० १०६—'अय दीङ्क्षये, धीङ अनादरे, वेञ तन्तुसन्ताने, वीगत्यादिषु तेषामिह ग्रहण कुतो नेति चेत् ? न अवयवप्रसिद्ध्यपेक्षया समुदायप्रसिद्धेर्बलिवत्त्वात्।
४ परि० स० ११२।
५ पा० ८ ३ ४३।
६ पा० ३ २ १६८।

'आङ्' पूर्वक 'शस्' धातु तथा 'भिक्ष्' धातु के साहचर्य में भी 'सन्' शब्द से 'वनुषण् सम्भक्तौ' धातु न लिया जाकर 'सन्' प्रत्यय ही लिया जाता है। उसी प्रकार 'दीधी' तथा 'वेवी' धातुओं के साहचर्य में भी 'इट्' धातु न लिया जाकर 'इट्' आगम ही लिया जाता है[1]।

यहां यह कहना भी उचित नहीं है कि 'दीधीङ्' तथा 'वेवीङ' दोनों धातु ङित् है। अतः ङित् होने के कारण "क्ङिति च" सूत्र से ही गुणवृद्धि का निषेध सिद्ध हो जाने पर इस सूत्र की क्या आवश्यकता है।

क्योंकि क्ङितिच' सूत्र में "क्ङिति" यह निमित्त सप्तमी है। कित्, ङित तथा गित् को निमित्त मानकर होने वाले गुण वृद्धि का यह निषेध करता है। 'दीधीङ्', तथा 'वेवीङ्' धातुओं का ङित् निमित्त नहीं है। अपितु कार्य को अनुभव करने वाला खुद कार्यभाक है। "कार्यमनुभवन् हि कार्यी निमित्तत्वेन नाश्रीयते"[2] इस परिभाषा के बल से कार्य को अनुभव करने वाला कार्यी का निमित्त नहीं बना करता।[3]

उक्त परिभाषा में "स्थण्डिलाच्छयितरि व्रते" यहां 'शयितरि' यह निर्देश ही ज्ञापक है।[4] अन्यथा 'शीङ्' धातु के ङित् होने पर 'शयितरि' में गुण कैसे हो गया। यदि कार्य को अनुभव करने वाले 'शीङ्' धातु का ङित् निमित्त माना जाता तो "क्ङिति च" सूत्र से ङित् को निमित्त मानकर 'शयितरि' इस प्रयोग में गुण का निषेध हो जाता। किन्तु यहां गुण हो रहा है, इससे सिद्ध होता है कि कार्यभाक् कभी निमित्त नहीं बना करता।

इसी सन्दर्भ में तुदादिगणान्तर्गत कुटादिगण में पठित 'कुङ् शब्दे' धातु का ङित् भी इस बात का ज्ञापक है कि जो कार्य को अनुभव करने वाला कार्यी है वह निमित्त नहीं माना जाता। अन्यथा 'कुङ शब्दे' के ङित्व से ही

---

१ द्र० श० कौ०, भा० १, पृ० १०६—इट् चात्रागम एव गृह्यते न इट गतौ इति धातु। ननु धातुसाहचर्याद्धातुर्गृह्यताम्। मैवम्, साहचर्य नियमस्य सर्वत्रानियामकत्वात्। अन्यथा द्विस्त्रिश्चतुरिति कृत्वोर्थे इति सूत्रे कृत्वोच ग्रहण न कुर्यात्'।

२ परि० म० १०।

३ द्र० श० कौ०, भा० १, पृ० १०७—'दीधीवेव्योर्ङित्वात्, क्ङिति च इति सूत्रेणैव निषेधोऽस्तु। किमिह दीधीवेवीग्रहणेन। मैवम्, इग्लक्षणयोर्हि स निषेध इत्युक्तम्। न च कार्यी निमित्ततया आश्रीयते च्यवते, प्लवते इत्यादावपि गुणनिषेधापत्ते'।

४ पा० ४२१५।

५ द्र० श० कौ०, भा० १, पृ० १०७—'अत्र च लिङ्ग कुटादिमध्ये कुङ्शब्दे इत्यस्यपाठ, स्थण्डिलाच्छयितरि इति निर्देशश्च।

गुण निषेध सिद्ध हो जाने पर भी जो उसे कुटादिगण में पढ़कर 'गाङ्कुटादि-भ्योऽञ्णिन्ङित्'[1] सूत्र से 'कुङ्' से परे प्रत्यय का ङित्व विधान किया है, वह व्यर्थ हो जाता है।

"कार्यमनुभवन् हि कार्यी निमित्ततया नाश्रीयते" इस परिभाषा के होने से ही 'अरिरिषति' यहां "सन्यङो"[2] से विहित अजादि धातु के द्वितीय एकाच् को होने वाला द्वित्व 'रिस्' शब्द को सिद्ध हो जाता है। 'अरिरिषति' में 'ऋ' धातु से 'सन्' परे रहते "स्मिपूङरञ्ज्वशामनि"[3] से 'इट्' का आगम होकर सार्वधातुक गुण होता है। 'अ+रिस्' इस अवस्था में रिस्' शब्द को द्वित्व होकर अरिरिषति' यह स्पष्ट रूप बन जाता है। यहां 'रिस्' शब्द स्वयं द्वित्व रूप कार्य का अनुभव करने वाला कार्यभाक् है अतः "सन्यङो" के सप्तमी पक्ष में 'सन्' परे रहते द्वित्व होने में निमित्त नहीं बन सकता। कार्यी 'रिस्' में अजादि 'सन्' को द्वित्व का निमित्त न मानने के कारण ही "द्विवचनेऽचि"[4] सूत्र से 'ऋ' के स्थान में हुए 'अर्' इस सार्वधातुक गुण को 'स्थानिवत्' नहीं होता। 'ऊर्णुनविषति' में तो 'इस्' शब्द स्वयं द्वित्व रूप कार्य को अनुभव करने वाला कार्यभाक नहीं है अतः वहां 'सन्' को निमित्त मानकर "द्विर्वचनेऽचि" से 'ऊर्णु' को हुए सार्वधातुक गुण तथा अवादेश को 'स्थानिवद्भाव' करके 'नु' शब्द को द्वित्व सिद्ध हो जाता है।[5] इस प्रकार *सूत्र का प्रयोजन तथा उसकी स्थापना स्थिर हो जाती है।*

छान्दस होने से सूत्र का प्रत्याख्यान

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि उक्त सूत्र में तीन अंश हैं—'दीधी' और 'वेवी' ये दो धातु तथा 'इट्' का आगम। इन में भाष्यकार के साथ वार्तिककार ने तो केवल 'दीधी', 'वेवी' धातुओं का ही प्रत्याख्यान किया है। 'इट्' का नहीं। 'इट् ग्रहण' के प्रत्याख्यान के विषय में वे मौन हैं। 'इट् ग्रहण' के खण्डन की बात तो पतञ्जलि ने उठाई है तथा उन्होंने इसका प्रत्याख्यान भी किया है। यह बात अलग है कि पश्चाद्वर्ती वैयाकरणों को भाष्यकार द्वारा किया गया 'इट्' का खण्डन एकदेशी युक्ति-प्रयुक्त होने से मान्य नहीं है। यहाँ 'दीधी', 'वेवी' के प्रत्याख्यान के लिए वार्तिककार कहते हैं।

---

१ पा० १ २ १।
२ पा० ६ १ ९।
३ पा० ७ २ ७४।
४ पा० १ १ ५९।
५ द्र० श० कौ०, भा० १, पृ० १०८—'अरिरिषति इत्यत्र हि अजादे-द्वितीयस्य इति रिस् शब्दे द्वित्वप्रवृत्तिः। तदन्तर्गतश्चेस् शब्द इति नासौ द्वित्व प्रतिनिमित्त कार्य भाक्त्वात्। ऊर्णुनविषति इत्यत्र तु नव् शब्दस्य द्वित्व प्राप्त तदनन्तर्गतश्चेस्शब्द इतिभवत्येव निमित्त तद्भावभाविता-मात्रेणेहनिमित्तता—तथा च द्विवचनेऽचि इति स्थानिवद्भावान्नु शब्दस्य द्वित्वमुचितमेव'।

"दीधीवेव्योश्छन्दोविषयत्वाद् दृष्टानुविधित्वाच्च छन्दस छन्दसि अदीधेत् अदीधयुरिति गुणदर्शनादप्रतिषेध ।[1] अर्थात् दीधी, वेवी ये दोनो धातु छान्दस है, वैदिक हैं और वेद में दृष्टानुविधि होती है, यानि जैसा प्रयोग देखते हैं वैसा कर लेते हैं बल्कि इस निषेध सूत्र के रहते हुए भी 'अदीधेत्' 'अदीधयु' इत्यादि वैदिक प्रयोगो मे गुण दिखाई पडता है—ऐसी अवस्था मे यह सूत्र व्यर्थ प्रतीत होता है। जिस प्रयोजन के लिए यह सूत्र बनाया गया था, जब वह प्रयोजन भी सिद्ध नही हुआ तो सूत्र अनावश्यक है।

गुण निषेध वाले वैदिक प्रयोग तो शायद ही कोई हो, परन्तु गुण वाले प्रयोग तो प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे है। यथा—'अदीधेत्'[2] यहा लङ् लकार मे 'तिप' प्रत्यय परे रहते इस सूत्र से सार्वधातुक गुण का निषेध होना चाहिये। परन्तु हुआ नही।

इसी प्रकार अदीधयु"[3] यहा भी लङ् मैं 'झि' को 'जुस्' होने पर "जुसि च"[4] तो 'क्ङिति च' इस सामान्य विहित गुण निषेध को ही रोक सकता है। "दीधीवेवीटाम्" यह गुण निषेध तो विशेष है। उसको "जुसि च' नहीं रोक सकता फिर भी 'अदीधयु' गुण का निषेध दिखाई न देकर गुण का विधान ही दिखाई देता है। इससे स्पष्ट है कि उक्त सूत्र निष्प्रयोजन हैं।

यदि वेद मे कहीं पर 'दीध्यत्'[5] यह प्रयोग दिखाई पडता है तो उसके लिए भी इस सूत्र की कोई आवश्यकता नही। क्योकि 'दीध्यत्' मे 'दीधी' धातु मे लेट् लकार म 'तिप्' प्रत्यय परे रहते "व्यत्ययो बहुलम्"[6] मे श्यन् विकरण कर लिया जाएगा। "यीवर्णयोर्दीधीवेव्यो"[7] सूत्र स 'यकार' परे रहते 'दीधी' की ईकार' का लोप हो जाएगा तो 'दीध्यत्' यह प्रयोग बन जाएगा। "इतश्च लोप परस्मैपदेषु"[8] मे तिप् के 'इकार' का लोप लट् लकार मे हो जाता है। लेटोऽडाटौ"[9] से 'तिप्' का 'अट' का आगम भी हो जाता है। इसके अतिरिक्त दीध्यत्' यदि यह शतृ रूप माना जाये तो वहा भी शतृ' प्रत्यय के 'ङित' होने से[10] स्वत ही गुण का निषेध होकर "एरनेकाचोऽसंयोग-

१ महा० प्रकृतसूत्र, पृ० ५५।
२ ऋ० ऋक् १०.९८.७—'होत्राय वृत कृपयन्नदीधेत्'।
३ ऋ० ऋक् ७.३३.५—'अदीधयुर्दाशराज्ञे वृतास'।
४ पा० ७.३.८३।
५ ऋ० मा० यजु० ६.२०—'इन्द्र, प्राणो अङ्गे निदीध्यत्' यहाँ 'निदीध्यत्' यह क्रियापद के रूप में प्रयोग मिलता है। कठकपिष्ठलसंहिता २.१४।
६ पा० ३.१.८५।
७ पा० ७.४.५३।
८ पा० ३.४.९७।
९ पा० ३.४.९४।
१० पा० १.२.४—'सार्वधातुकमपित्'।

पूर्वस्य"[1] से यण् हो जाएगा। इस प्रकार 'दीधी' 'वेवी' धातुओं के लिए तो इस सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं।

प्रकृत सन्दर्भ में भाष्यकार ने वार्तिककार का आन्तरिक अभिप्राय समझते हुए पूरे सूत्र का ही प्रत्याख्यान करना उचित समझा है। इनके कहने का आशय यह है कि 'दीधी', 'वेवी' धातुओं के खण्डन के साथ 'इट्' के आगम को भी गुणवृद्धि रोकने के लिए उक्त सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि 'भविता' इत्यादि में 'इडागम' को गुण रोकने के लिए ऐसा किया जाएगा कि सातवें अध्याय के द्वितीय पाद के 'नेड्वशिकृति"[2] इस सूत्र से 'इट्' की अनुवृत्ति चलती है। वह "आर्धधातुकस्येड्वलादे"[3] इस सूत्र में भी आती है। 'इट्' की अनुवृत्ति आने पर जो उस सूत्र में पुनः 'इड् ग्रहण किया है वह इस बात का ज्ञापक एवं बोधक माना जाएगा कि 'इट्', 'इट्' ही रहे। उसे कोई गुणादि विकार न हो।[4] ऐसी अवस्था में 'भविता' आदि में 'इट्' को निर्विकार रखने के लिए गुण का अभाव स्वतः सिद्ध हो जाएगा।

'ग्रहिता', ग्रहीष्यति' इत्यादि में तो 'ग्रहोऽलिटिदीर्घ'"[5] इस वचन सामर्थ्य से 'इट् को दीर्घ कर लिया जाएगा।

किंच—'इट्' को कोई विकार नहीं होता, 'इट्' ही रहता है। यह *नियम केवल अङ्गाधिकार सम्बन्धी कार्यों के लिए ही माना जायगा तो* 'पिपठी' यहां पदान्त में "र्वोरुपधायादीर्घ इकः"[6] से होने वाला 'इट्' को दीर्घ हो जायेगा।[7] अथवा दीर्घ के असिद्ध होने से 'पिपठी' में 'इट्' अविकृत ही रहेगा।[8] 'अलावीत' इत्यादि में 'सवर्णदीर्घ' के अङ्ग कार्य से भिन्न होने के कारण वहां यह नियम लागू नहीं होगा तो इट्' का दीर्घ होता रहेगा। तथा 'पिपठिष्' शब्द के नपुंसक बहुवचन में 'इमानि कुलानिपिपठिषि' यही रूप बनता है, 'पिपठीषि' रूप अशुद्ध है। इसलिए वहां भी 'इट्' के अविकृत

---

१ पा० ६ ४ ८२।

२ पा० ७ २ ८।

३ पा० ७ २ ३५।

४ द्र० महा०, भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० ५६—'आर्धधातुकस्येड्वलादे इत्यत्र इडित्यनुवर्तमानेपुनरिड ग्रहणस्येदं प्रयोजनम्—इड् इडेव यथा स्यात् यदन्यत्प्राप्नोति तन्माभूदिति।

५ पा० ७ २ ३७।

६ पा० ८ २ ७६।

७ द्र० महा०, भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० ५६—*'आङ्ग यत्तत्रायतन्नियम्यते न चैतदाङ्गम्'*।

८ पा० पृ० ५६—'अथवा असिद्ध दीर्घत्व तस्यासिद्धत्वात् नियमो न भविष्यति'।

रूप में रहने से कहीं दोष नहीं आएगा। इस प्रकार 'इट्' के आगम के साथ-साथ यह सूत्र ही अनावश्यक सिद्ध हो जाता है।

प्रस्तुत प्रसंग में उद्योतकार नागेश के मत में भाष्यकार द्वारा 'इट्' के आगम का खण्डन तथा उसका प्रकार दोनों ही एकदेशयुक्ति प्रतीत होती हैं, क्योंकि "इडिति वर्तमाने पुनरिड् ग्रहणस्येद प्रयोजनम् इड् इडेव यथा स्यात्। यदन्यत् प्राप्नोति तन्माभूदिति"[1] भाष्यकार के इस कथन की प्रतिक्रिया में नागेश का विचार है कि "नेड्वशिकृति"[2] इस सूत्र से 'न' और 'इट्' ये दोनों आवृत्त चले आ रहे थे। "आर्धधातुकस्येड्वलादे"[3] इस सूत्र में पुनः 'इट' का ग्रहण 'नेट्' के एकदेश 'न' की निवृत्ति के लिए हो सकता है, क्योंकि उक्त सूत्र में 'इड्' ग्रहण ही अभीष्ट है, 'न' ग्रहण नहीं। अन्यथा 'न' भी अनुवृत्तिरूपेण उक्त सूत्र में उपस्थित होता था। इस प्रकार "आर्धधातुकस्येड्वलादे" सूत्र में पुनः 'इट्' का ग्रहण "इड् इडेव यथा स्यात् यदन्यत्प्राप्नोतितन्माभूत्" इसका ज्ञापक नहीं बन सकता। ऐसी स्थिति में 'इट्' को जो गुण-वृद्धि प्राप्त होते हैं उनको रोकने के लिए प्रयुक्त सूत्र में 'इड्' ग्रहण की आवश्यकता होने से वह प्रत्याख्येय नहीं है।[4] इस प्रकार नागेश के मत में भाष्यकार द्वारा किया 'इड्' ग्रहण का प्रत्याख्यान सिद्धान्तरूपेण किया गया नहीं लगता है, अपितु मनोविनोदार्थ या बुद्धिवैभव के प्रदर्शनार्थ ही 'इड्' ग्रहण का खण्डन किया गया है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यहाँ पर यह विचारणीय है कि वार्तिककार ने केवल 'दीधी', 'वेवी' का ही प्रत्याख्यान किया है और उसमें हेतु दिया है—दोनों धातुओं का वैदिक या छान्दस् होना। 'इट्' के विषय में इन्होंने स्पष्ट कुछ नहीं कहा। भाष्यकार ने ही सर्वप्रथम 'दीधी' 'वेवी' के साथ 'इट्' के आगम का भी खण्डन कर

१ महा० भा० १, सू० १ १.६, पृ० ५६।
२ पा० ७ २ ८।
३ पा० ७ २ ३५।
४ द्र०, महा० भा० १, प्र० उ० १ १ ६, पृ० १५३-१५४—'भाष्ये पुनरिड्ग्रहणस्येति न च नत्यस्य निवृत्त्यर्थं तत्, स्पष्टं चेद नेड्वशिकृतीत्यत्र भाष्ये इति वाच्यम। क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते इति न्यायेन नेड्वशीत्यत्र नञोनिवृत्तिसिद्धेरिति भाव। वस्तुतस्त्वत्रयमिद भाष्यमेकदेशयुक्ति। आर्धधातुकस्येति—सूत्रस्येड्ग्रहणस्य नेड्वशीति सूत्रे भाष्ये प्रत्याख्यानात्। तत्करणेन नियमरूपगुरुतरयत्नमाश्रित्यैतत प्रत्याख्यानस्यायुक्तत्वात्'।

दिया। किन्तु प्रस्तुत प्रसग में नागेश ने जो यह कहा कि "आर्धधातुकस्येड्वलादे" सूत्र मे स्थित 'इड्' ग्रहण 'न' की निवृत्ति के लिए चरितार्थ होकर "इड् इडेव यथा स्यात् यदन्यत् प्राप्नोति तन्मा भूत" का ज्ञापक न होने से प्रकृत सूत्रस्थ 'इट' के प्रत्याख्यान का निमित्त नही बन सकता—यह ठीक नही, क्योकि "क्वचिद् एकदेशोऽप्यनुवर्तते"[१] इस न्याय के अनुसार "आर्धधातुकस्येड्वलादे" सूत्र मे 'नेट्' के एकदेश 'इट्' की अनुवृत्ति स्वत सिद्ध हो जाएगी। सम्भवत इसी आधार पर भाष्यकार ने "आर्धधातुकस्येड्०" सूत्र के 'इड्' ग्रहण का 'नेड्वशिकृति' सूत्र में प्रत्याख्यान कर दिया है। ऐसी स्थिति मे इड्' ग्रहण व्यर्थ प्रतीत होता है, किन्तु व्यर्थ कोई काम आचार्य करते नही। इसलिए व्यर्थ पडकर "आर्धधातुकस्येड्वलादे" सूत्रस्थ इड्' ग्रहण, 'इड् इडेव यथास्यात्' का ज्ञापक होने से प्रकृत सूत्र के 'इड्' ग्रहण के प्रत्याख्यान का निमित्त बन सकता है। इसमें कोई विप्रतिपत्ति नही है।

सम्भवत यहाँ नागेश के द्वारा भाष्यकारोक्त 'इड्' ग्रहण के प्रत्याख्यान को 'एकदेशयुक्ति' कहने के पीछे उनका यह आशय प्रतीत होता है कि जब भाष्यकार "आर्धधातुकस्येड् वलादे" सूत्रस्थ 'इड्' ग्रहण को "नेड् वशि कृति" सूत्रभाष्य मे प्रत्याख्यात कर चुके हैं तो फिर आर्धधातुक सूत्रस्थ 'इड्' ग्रहण प्रस्तुत सूत्र के 'इड्' ग्रहणप्रत्याख्यान का आधार या निमित्त कैसे बन सकता है। इस प्रकार इनके मत में भाष्यकारोक्त प्रत्याख्यान एकांगी या एक तरफा ही माना जाना चाहिए। क्योकि एक तरफ स्वय उसीका प्रत्याख्यान तथा दूसरी तरफ उसी प्रत्याख्यात सूत्र के आधार[२] पर किसी अन्य का प्रत्याख्यान 'वदतोव्याघात' सा ही प्रतीत होता है। लेकिन यहाँ नागेश का मत इसलिए स्वीकार नही किया गया है कि ये भाष्यकार की प्रसिद्ध प्रत्याख्यान शैली "पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति"[३] को उचित महत्व नही दे रहे हैं।

---

१ परि० स० १२।

२ द्र० महा० भा० ३, सू० ७२८, पृ० २८२ "इदमस्ति—नेड्वशि कृतीति। ततो वक्ष्यामि—आर्धधातुकस्य वलादेरिति। इडित्यवर्तते, नेति निवृत्तम। इस भाष्यकथन पर नागेश टिप्पणी करते हैं—"अत्रत्य भाष्याविरोधाद् दीधीवेवीटामिति सूत्रस्थ भाष्यमेकदेश्युक्ति अत्रेड् ग्रहण कृत्वा गुरुतरयत्नमाश्रित्य तत्तेड्ग्रहणप्रत्याख्यानस्या नौचित्यादित्याहु।

३ महा० भा० १, प्रत्याहाराह्निक ऋलक् सूत्र प्र० २०।

भाष्यकार की यह शैली रही है कि वे शिष्यबुद्धि के परीक्षार्थ या व्युत्पादनार्थ सूत्र को उसके प्रत्येक कोने से झाककर देखते हैं। उस समय वह सूत्र जिसके योग्य होता है, उसका वैसा ही खण्डन या मण्डन कर देते हैं और अन्त में निर्णय पुन पाठकों पर छोड देते हैं। भाष्यकारीय वैज्ञानिक व्याख्यान शैली की यही पराकाष्ठा है कि वे पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष दोनो के समर्थन मे जोरदार युक्ति प्रस्तुत करके भी निर्णय के समय मौन धारण कर लेते हैं। उस पर, इनकी दृष्टि मे, पाठकों का ही अक्षुण्ण अधिकार है कि वे जो चाहें पक्ष ग्रहण करें। भाष्यकार की इस वैज्ञानिक जिज्ञासाशीलता को न समझने के कारण ही टीकाकार उन स्थलों को एकदेश्युक्ति कह देते हैं। इस प्रसग में कुछ आधुनिक विद्वान तो इन टीकाकारों से भी आगे चले गए हैं। इनके मत में तो ऐसे स्थल भाष्य में प्रक्षिप्त अश जानने चाहिए जो सर्वथा अयुक्त है[1]। यह सब भाष्यकारीय प्रत्याख्यान शैली से परिचित न होने का परिणाम ही कहा जा सकता है। अस्तु, प्रस्तुत सन्दर्भ मे भी नागेश से ऐसा ही कुछ हुआ है। अत उसे अधिक महत्व न देकर भाष्यकारीय प्रत्याख्यान शैली के आधार पर 'इट्' ग्रहण का प्रत्याख्यान मान्य ही है।

इस प्रकार इस सूत्र के प्रत्याख्यान के साथ ही "योवर्णयोर्दीधीवेव्यो" यह सूत्र भी स्वयमेव प्रत्याख्यात समझना चाहिए। क्योकि 'दीधी', 'वेवी' के छान्दस् होने से तन्निष्ठ प्रयोगो मे दृष्टानुविधान कर लिया जाएगा। अन्यत्र कही पर भी समग्र अष्टाध्यायी मे 'दीधी', 'वेवी' के दर्शन नही होते। अत 'दीधी', 'वेवी' सम्बन्धी ये दोनो ही सूत्र प्रत्याख्येय हैं। प्रस्तुत प्रसग में उत्तरवर्ती वैयाकरणो मे से केवल आचार्य चन्द्र, पूज्यपाद देवनन्दी तथा भोजराज ने ही प्रकृत सूत्र पर विचार किया है। इनमे चान्द्र तथा सरस्वतीकण्ठाभरण में तो सूत्र का रूप बदलकर इसका विधेय विषय ही बदल दिया गया है। यहाँ गुण के निषेध का विधान न करके सीधे 'यण्' का ही विधान कर दिया गया है।[2] जैनेन्द्र में दीधी, 'वेवी' इन दोनो धातुओ को छान्दस् होने से छोडकर केवल 'इट्' को गुणवृद्धि का निषेध माना गया है।[3] दोनो ही स्थितियो में उपर्युक्त विवेचन के आधार पर सूत्र प्रत्याख्येय ही ठहरता है।

---

१ इस विषय में विशेष विचार के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ का भूमिका भाग द्रष्टव्य है।

२ चा० सू० ६ २ १५—यणचि।
स० सू० ७ २ १०८—योऽचि।

३ जै० सू० ५ २ ८४—नेट।

इन्धिभवतिभ्यां च ॥१२६॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र 'क्विद्वत्' अतिदेश करता है। इसका अर्थ है कि 'इन्ध्' और 'भू' धातुओं से परे लिट् प्रत्यय 'क्विवत्' होता है। उसमें 'कित्' प्रत्यय के समान कार्य होते हैं। जिस प्रकार 'कित्' परे रहते "क्ङिति च"[1] से गुणवृद्धि निषेध तथा "अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति"[2] से उपधानकार का लोप होता है उसी प्रकार 'इन्ध्' और 'भू' धातुओं से परे भी 'लिट्' को 'कित्' मानकर उसमें 'कित्' के कार्य हो जाते हैं। इससे पूर्व "असंयोगाल्लिट् कित्"[3] सामान्य रूप में 'अपित्' अर्थात् 'पित् भिन्न' लिट् को 'कित्'—कहा गया है। 'इन्ध्' धातु के संयोगान्त होने से वहां पूर्व सूत्र द्वारा 'कित्व' प्राप्त नहीं होता, इसलिये इस सूत्र से 'कित्व' का विधान किया गया है। 'भू' धातु से परे 'पित् लिट्' को 'कित्व' अभीष्ट है, अत 'भू' धातु का भी ग्रहण किया है। 'इन्धि' के धकार में इकार उच्चारणार्थ है। जैसे "सुट् तिथोः"[4] यहां तकार में इकार उच्चारणार्थ है। यहां "इक्श्तिपौ धातु निर्देशे"[5] से 'इक्' प्रत्यय का निर्देश नहीं है। 'इक्' प्रत्यय के 'कित्' होने से 'इन्ध्' के उपधाभूत नकार का लोप "अनिदिताम्" सूत्र से प्राप्त होता है, अतः 'इक्' प्रत्यय नहीं मानना चाहिये।[6] 'भवति' में तो 'श्तिप्' प्रत्यय है ही। इस प्रकार 'इन्ध्' का ग्रहण संयोगान्त होने से तथा 'भू' का ग्रहण 'पित् लिट्' में 'कित्वविधानार्थं' किया गया है। जैसे—'ईधे'।[7] 'समीधे'।[8] ये 'इन्ध्' धातु के वैदिक उदाहरण हैं। 'त्वं बभूविथ।' 'अहं बभूव।' ये 'भू' धातु के

---

१ पा० १ १ ५।
२ पा० ६ ४ २४।
३ पा० १ २ ५।
४ पा० ३ ४ १०७।
५ पा० ३ ३ १०८ पर वार्तिक।
६ द्र० प्रकृत सूत्रस्थ, प० म०—'इन्धेरागन्तुक इकारो न तु 'इक्श्तिपौ धातु निर्देशे' इतीक् प्रत्यय, तेन 'अनिदिताम्' इति न लोपो न भवति।'
७ द्र० मा० यजु० ११ ३३—"पुत्र ईधे अथवण"।
८ द्र० वही—११ ३४—'समीधे दस्यु हन्तमम्।'

उदाहरण है। 'ईधे' में 'इन्ध्' धातु के वैदिक होने से 'लिट्' लकार में "इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छ"[1] से प्राप्त 'आम्' प्रत्यय "कास्प्रत्ययादाममन्त्रेलिटि"[2] से अनुवृत्त 'अमन्त्र' ग्रहण द्वारा मन्त्र में निषिद्ध हो जाता है तो 'इन्धाचक्रे' न बनकर 'ईधि' बनता है। वहां उक्त सूत्र से 'लिट' स्थानिक 'एश्' आदेश को 'कित्' मानकर "अनिदिता हल उपधाया०"[3] सूत्र से नकार का लोप हो जाता है। तब 'इध्' शब्द को द्वित्व तथा सवर्णदीर्घ होकर 'ईधे' यह रूप बन जाता है। यह इस सूत्र का ही माहात्म्य है जो 'इन्ध्' धातु से परे 'लिट्' को 'कित्' मानकर न लोप हो जाने से 'ईधे' यह वैदिक रूप बन जाता। इसी प्रकार 'भू' में भी 'त्व बभूविथ' यहां 'लिट्' में 'सिप्' को 'थल्' हुआ है। वह 'पित्' है। उसको 'कित्' मानकर 'भू' धातु को सार्वधातुगुण नहीं होता, किन्तु 'वुक्'[4] का आगम होकर 'बभूविथ' यह इष्ट रूप बन जाता है। 'अहं बभूव' यहां उत्तम पुरुष के एक वचन में 'मिप्' के स्थान में 'णल्' हुआ है। उसे "णलुत्तमो वा"[5] से पक्ष में 'अणित्' माना जाता है। उस 'अणित्' अर्थात् 'णित् भिन्न णल्' को प्रकृत सूत्र से 'कित्' मानकर सार्वधातुक गुण का निषेध सिद्ध हो जाता है। गुण का निषेध हो जाने पर 'वुक्' का आगम होने से 'बभूव' यह इष्ट रूप बन जाता है। 'णल्' के 'णित्' पक्ष में तो गुण को बाधकर "अचो ञ्णिति"[6] से वृद्धि प्राप्त होती है। वह अज्लक्षण है इग्लक्षण नहीं है। इग्लक्षण न होने से "क्ङिति च"[7] से उसका निषेध प्राप्त नहीं होता। अतः वहां 'वुक्' का आगम वृद्धि का बाधक माना जाता है। क्योंकि 'वुक्' नित्य है। गुण और वृद्धि अनित्य हैं। इस प्रकार केवल 'थल्' और 'णल्' के 'अणित्' पक्ष में प्राप्त गुण को रोकने के लिये इस सूत्र द्वारा 'भू' से परे लिट् को 'कित्व' विधान किया गया है। यदि 'वुक्' का आगम नित्य होने से वृद्धि की तरह गुण को

---

१ पा० ३ १ ३६।
२ पा० ३ १ ३५।
३ पा० ६ ४ २४।
४ पा० ६ ४ ८८—'भुवो वुग्लुङ्लिटोः'।
५ पा० ७ १ ९१।
६ पा० ७ २ ११५।
७ पा० १ १ ५।

भी बाध ले तब तो 'भू' के लिये 'कित्व' विधान की आवश्यकता नही, यह बात प्रत्याख्यान के समय कही जायेगी।

छान्दस अथवा अन्यथासिद्ध होने से सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार तथा भाष्यकार दोनो ही इस सूत्र के खण्डन मे सहमत हैं। उक्त सूत्र की सप्रयोजन स्थापना के बाद भाष्यवार्तिककार इसका प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—'अय योग शक्योऽवक्तुम्। कथम्। इन्धेश्छन्दोविषयत्वाद् भुवो वुको नित्यत्वात् ताभ्या लिट किद्वचनानर्थक्यम्'[1] अर्थात् इस सूत्र के बनाने की कोई आवश्यकता नही। क्योकि 'इन्ध्' धातु तो छन्दोविषयक है। उसके प्रयोग 'छन्द' अर्थात् वेद मे ही देखे जाते हैं। लोक मे तो 'इन्ध्' धातु से लिट् मे 'आम्' प्रत्यय होकर 'इन्धाञ्चक्रे' यही रूप बनता है। वेद में 'अमन्त्रे' इस निषेध से 'आम' न होगा तो 'ईधे' यह रूप बनेगा। उसके लिये अन्य वैदिक अभ्युपायान्तर है। "छन्दस्युभयथा"[2] मे 'छन्द' मे 'लिट्' की सार्वधातुक आर्धधातुक ये दोनो सज्ञायें एक साथ हो जाती हैं। 'ईधे' मे'लिट्' स्थानिक 'एश्' की सार्वधातुक सज्ञा मानकर "सार्वधातुकमपित्"[3] से वह 'ङित्' हो जायेगा तो "अनिदिता हल उपधाया क्ङिति"[4] से 'इन्ध्' के नकार का लोप होकर 'ईधे' बन जायेगा। आर्धधातुक सज्ञा के होने से "रुधादिभ्य श्नम्"[5] से प्राप्त 'श्नम्' भी न होगा। इस प्रकार इस सूत्र के बिना ही 'ईधे' यह रूप सिद्ध हो जायेगा। छन्द मे वैसे भी "सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते"[6] अथवा "व्यत्ययो बहुलम्"[7] से सब प्रयोगो की व्यवस्था होती है। इसलिये 'इन्ध्' धातु के लिये तो यह सूत्र बनाना व्यर्थ है।

'भू' धातु मे भी 'बभूव' यहा तिप्स्थानिक 'णल्' के इस सूत्र द्वारा 'कित्' मानने पर भी "अचो ञ्णिति"[8] से प्राप्त वृद्धि का "क्ङिति च" से निषेध न

१ महा० भा० १, सू० १२६, पृ० १६४।
२ पा० ३४।११७।
३ पा० १२४।
४ पा० ६४२४।
५ पा० ३१७८।
६ महा० भा० २, सू० १४६, पृ० ३१५। परि० स० ३५।
७ पा० ३१८५।
८ पा० ७२११५।

हो सकेगा। क्योंकि वह इग्लक्षण वृद्धि का निषेध करता है। 'अचो ञ्णिति' तो अज् लक्षण है। इस तरह सूत्र बनाने पर भी इष्ट सिद्ध नहीं होता। हा, 'त्व बभूविथ', 'अह बभूव' यहा 'सिप्'—स्थानिक 'थल्' परे रहते तथा 'मिप्स्थानिक उत्तम णल्' के पक्ष मे 'अणित्' होने से प्राप्त सार्वधातुक गुण को रोकने के लिये यदि इस सूत्र द्वारा 'कित्' विधान की आवश्यकता मानी जाये तो वह भी व्यर्थ है। क्योंकि "भुवो वुग्लुङ्लिटो"[1] से होने वाला 'वुगागम' नित्य होने के कारण गुण को बाध लेगा तो पहले 'वुक्' हो जायेगा। फिर इगन्त न होने से गुण की प्राप्ति स्वत ही रुक जायेगी। इसलिये 'भू' धातु के लिये भी यह सूत्र बनाना व्यर्थ है।

यदि यह कहा जाये कि "शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति"[2] इस परिभाषा के बल से 'भू' और 'भो' इस प्रकार शब्दान्तर को प्राप्त होने वाला 'वुक्' अनित्य है, तो यह अयुक्त है। क्योंकि "कृताकृतप्रसङ्गि नित्यम्। यस्य कृतेऽपि प्रवृत्ति, अकृतेऽपि, स नित्यो भवति"[3] इस नियम से 'वुक्' नित्य ही रहता है। वह गुण करने पर भी प्राप्त है और गुण से पूर्व तो प्राप्त है ही। गुण करने पर "एकदेश विकृतमनन्यवद्भवति"[4] इस परिभाषा से 'भू' ही रहता है, अत 'वुक्' होने में कोई बाधा नही। "भुवो वुग् लुङ्लिटो"[5] सूत्र में "ओ सुपि"[6] से 'ओ' अर्थात् उवर्णान्त की अनुवृत्ति मानने में कोई प्रमाण नही है जिससे 'भू' के गुण होने पर उवर्णान्त न रहने से 'वुक्' होने में कोई बाधा पहुचे।

समीक्षा एव निष्कर्ष

भाष्यकार ने जो 'इन्ध्' धातु के छान्दस होने से तथा 'भू' धातु के लिट् मे 'वुक्' आगम के नित्य होने से गुण वृद्धि की निवृत्ति हो जायेगी, इसलिये इस सूत्र को अनावश्यक समझकर इसका प्रत्याख्यान कर दिया है, सामान्यत ठीक ही है। 'इन्ध्' तो छान्दस है और 'छन्द' मे जैसा देखते हैं, वैसा कर

---

१ पा० ६ ४ ८८।
२ परि० स० ४३।
३ द्र० परि० स० ४६—'क्वचित् कृताकृतप्रसङ्गमात्रेणापि नित्यता'।
४ परि० स० ३६।
५ पा० ६ ४ ८८।
६ पा० ६ ४ ८३।

लेते हैं[1] यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। 'भू' धातु के 'लिट्' की बात विचारणीय है। 'बभूव' यहां 'तिप्स्थानिक णल्' में इस सूत्र द्वारा 'क्ति्' मानने पर भी इष्ट सिद्ध नहीं होता। "अचो ञ्णिति"[2] इस वृद्धि के इग्लक्षण न होने से "क्ङिति च" से वृद्धिनिषेध सिद्ध नहीं होना। उस वृद्धि का बाधक 'वुक्' को मानना ही पड़ेगा। 'नित्यो वुक् वृद्धिं बाधते' यही न्याय्य मार्ग है।[3] वृद्धि अपने विषय में गुण को बाधती है। गुण को 'त्व बभूविथ', 'अह बभूव' यहां नित्य होने से 'वुक्' भी बाध लेता है। इस प्रकार सब इष्ट प्रयोगों की सिद्धि हो जाने से प्रकृत सूत्र की निरर्थकता स्पष्ट है। 'भू' धातु के 'लिट्' के विषय में यह बात निश्चितरूप से जान लेनी चाहिये कि नित्य 'वुक्' वृद्धि और गुण दोनों को बाध लेता है। पहले 'वुक्' हो जाने पर वृद्धि और गुण दोनों ही निरस्त हो जाते हैं। उनकी प्रवृत्ति को रोकने के लिये यह सूत्र अकिंचित्कर है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में न्यासकार तथा पदमञ्जरीकार दोनों अपना भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण उपस्थित करते हैं। उनका कहना है कि इस सूत्र द्वारा 'इन्ध्' धातु से परे 'लिट्' को 'कित्व' विधान करना इस बात का ज्ञापक है कि 'आम्' प्रत्यय विकल्प से होता है अथवा अनित्य होता है। यदि 'आम्' प्रत्यय नित्य होता तो 'इन्ध्' से परे 'आम्' का व्यवधान हो जाने से 'लिट्' परे नहीं मिलता तो उसको 'कित्व' विधान करना व्यर्थ हो जाता। 'कित्व' विधान करने से आम्' की अनित्यता बोधित होती है। उससे न केवल वेद में, अपितु लोक में 'समीधे', 'ईधे' इस प्रकार 'आम्' प्रत्यय के अभावयुक्त प्रयोग बन सकते हैं। यह भी कोई नियम नहीं और न ही कोई प्रमाण है कि 'इन्ध्' धातु केवल वेदैकगम्य है। 'इन्धनम्', 'एध' इत्यादि लोक में भी 'इन्ध्' धातु के प्रयोग उपलब्ध होते हैं। इसलिये लोक में प्रयुक्त होने वाले 'समीधे' इस प्रयोग में लिट्' को 'कित्व' करने के लिये इस सूत्र की

---

१ द्र० महा० भा० १, सू० ११६, पृ० ५५—'दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति'।

२ पा० ७२११५।

३ द्र० प्रकृत सूत्रस्थ प० म०—'अवश्य चैतद्विज्ञेयम्—वुका गुणवृद्धी बाध्येते इति'।

आवश्यकता रहती है ।[1]

'भू' धातु के विषय में भी जो 'वुक्' को नित्य माना गया है, यह ठीक नहीं। क्योंकि वुगागम विधायक सूत्र में "औ गुणि"[1] से उवर्णान्त की अनुवृत्ति मानी गई है। उवर्णान्त 'भू' को ही वुगागम इष्ट है, उवर्णान्त-भिन्न को नहीं। गुणवृद्धि करने पर उवर्णान्त 'भू' रहता नहीं अत 'वुक्' की प्राप्ति न रहने से वह अनित्य हो जाता है। यदि उवर्णान्त की अनुवृत्ति न मानी जाये तो 'यङ्लुक्' के 'बाभाव', 'अह किल बोभव' इन प्रयोगों में

---

१ (क) द्र० प्रकृत सूत्रस्थ न्यास—'ज्ञापनार्थम् । एतदनेन ज्ञाप्यते—अनित्योऽयमामिति । नित्ये ह्यामि तेन व्यवधानादेवेन्धे परो लिण् न सम्भवतीति कित्त्वविधानं नोपपद्यते । तस्मादनित्योऽयमामिति । तेन भाषायामपि समीधे इति प्रयोग उपपन्नो भवति'।

(ख) द्र० प्रकृत सूत्रस्थ प० म०—'एवं तर्हि ज्ञापनार्थमिन्धिग्रहणम्, एतज्ज्ञापयति—इन्धेर्भाषायामप्यनित्य आम् इति, समीधे समीन्धाञ्चक्रे इति भाषायामपि भवति'। लौकिक संस्कृत के व्याकरण का तन्त्र में भी "परोक्षायामिन्धिश्रन्थि ग्रन्थि दम्भीनामगुणे" (कातन्त्र, ३ ६ ३) कह कर 'इन्ध्' धातु को लौकिक माना गया है। आचार्य चन्द्रगोमी ने भी अपने व्याकरण में "लिटीन्धिश्रन्थग्रन्थाम्" (चा० सू० ५ ३ २५) यह 'इन्धी' धातु का निर्देश किया है और स्वोपज्ञवृत्ति में 'समीधे' आदि प्रयोग दर्शाये हैं। अत इनके मत में 'इन्धी' का प्रयोग भाषा में अवश्य होता है। लौकिक व्याकरणमात्र शाकटायन तथा हैम व्याकरणों में भी 'इन्धी' से विकल्प से 'आम्' विधान किया गया है (शा० सू० १ ८८८ 'जागुषसमिन्धे वा'—है० सू० ३ ४ ४६ 'जागु उषसमिन्धेर्न वा) ऐसी स्थिति म उक्त विवेचन के आधार पर यह मानना होगा कि पाणिनि जिन प्रयोगों को केवल वेदैकगम्य या छान्दस मानता है उनके लिए सूत्र में 'छन्दसि', 'निगमे' आदि शब्दों का व्यवहार करता है और जिन सूत्रों म पाणिनि ने विशेष निर्देश नहीं किया उनसे निष्पन्न शब्द अवश्य लोक भाषा में प्रयुक्त थे।

२ पा० ६ ४ ८३ ।

'वुक्' की प्राप्ति होती है। क्योंकि 'वुक्' नित्य होने से वहां गुणवृद्धि को बाध लेगा जोकि अनिष्ट है। "इन्धिभवतिभ्यां च" इस सूत्र में 'भवति' इस श्तिपूनिर्देश' से "श्तिपा शपानुबन्धेन"[1] इस वचन द्वारा 'यङ्लुक्' में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिये 'बोभाव', 'बोभव' यहां 'कित्व' न होने से गुणवृद्धि का निषेध नहीं होता है और 'वुक' का आगम उवर्णान्त 'भू' के न होने से नहीं होता है। "इन्धिभवतिभ्यां च" इस 'श्तिप्' निर्देश की तरह "भुवो वुग् लुङ्लिटो" इस वुगागमविधायक सूत्र में 'भुव' के स्थान में 'भवते' ऐसा 'श्तिप्निर्देश' तो नहीं किया जा सकता। वैसा करने पर 'बोभूवतु', 'बोभूवु' इन 'यङ्लुगन्त' प्रयोगों में 'श्तिप्' निर्देश के कारण 'वुगागम' नहीं प्राप्त होगा। इसलिये इस 'कित्वविधायक' सूत्र में ही 'श्तिप्' निर्देश न्याय्य है। 'यङ्लुक्' के 'पित्' लिट् में इससे कित्व' नहीं होगा तो 'बोभाव', 'बोभव' यहां गुणवृद्धि हो जाते हैं और उवर्णान्त न होने से 'वुगागम' नहीं होगा तो 'बोभूवतु', 'बोभूवु' इन 'अपित् लिट्' के 'यङ्लुगन्त' प्रयोगों में "असंयोगाल्लिट् कित्"[2] इस पूर्वसूत्र से 'कित्व' हो जायेगा तो गुणवृद्धि का प्रतिषेध होकर उवर्णान्त रह जाने से 'वुक्' सिद्ध हो जाता है।[3] इसके अतिरिक्त जो यह कहा कि 'बभूव' इस तिप् स्थानिक 'णल्' को इस सूत्र

---

१ परि० सं० १३१—'प्रकृत सूत्रस्य न्यास से उद्धृत अथवा 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' (पा० ७ २ १०) पर वै० सि० कौ० में उद्धृत।

२ पा० १ २ ६।

३ द्र० प्रकृत सूत्रस्य न्यास—'भवतेरपि वुगनित्य, किं कारणम्, उरिति वर्तते, न च गुण वृद्ध्यो कृतयो उवर्णान्तो भवतिर्भवति, उरिति निवर्तिष्यते ? यदि निवर्तते, बोभाव, अहं किल बोभव यङ्लुक्यपि नित्यत्वाद् वुक् प्राप्नोति। अनुवर्तमाने पुनरुरित्यस्मिन् उभयोरनित्ययो परत्वाद् गुणवृद्ध्यो कृतयोरनुवर्णान्तत्वाद् वुङ् न भवति। अथेदानीं यङ्लुक्यप्यनेनैव लिट किन्न कस्मान्न भवति ? श्तिपा निर्देशात्। यदि पुनर्वुग्विधावेव श्तिपानिर्देश क्रियते ? नैव शक्यम्, इहि हि दोष स्यात्—बोभूवतु, बोभूवु। यदा पुन कित्वविधौ श्तिपा निर्देश क्रियते, न वुग्विधौ, तदा यङ्लुकि पित्सु वचनेषु लिट कित्वाभावाद् गुणवृद्ध्यो कृतयोरुरित्यधिकाराद् वुक्न भवति। अपित्सु वचनेषु 'असंयोगाल्लिट् कित्' इति कित्वे सति गुणाभावादुवर्णान्तित्वाद्वुक् भवति'।

द्वारा 'कित्' मानने पर भी "अचो ञ्णिति०" से प्राप्त वृद्धि का निषेध नहीं होता। क्योंकि वह वृद्धि अग्लक्षणा है। इग्लक्षण नहीं है, तो इसका भी यह समाधान है कि "सार्वधातुकमपित्" इस पूर्व सूत्र से 'ङित्' की भी अनुवृत्ति करेंगे। उसके साथ-साथ इस सूत्र द्वारा 'कित्विधान' के सामर्थ्य से अनिग्लक्षण "अचो ञ्णिति वृद्धि" का भी निषेध सिद्ध हो जायेगा।[2] इस प्रकार न्यास तथा पदमंजरीकार हरदत्त दोनों ही इस सूत्र की सत्ता का समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं। पदमंजरीकार कहते हैं—"सत्यम्, अस्त्यय शुष्कस्तक। वार्तिककारस्तु न क्षमते। यदाह—इन्धेश्छ दोविषयत्वात्०"[3] इत्यादि।

शब्दकौस्तुभकार तो 'वुक्' को अनित्य नहीं मानते है। उनके मत में शब्दान्तर को प्राप्त विधि की अनित्यता गौण है प्रत्युत 'कृताकृतप्रसङ्गि' विधि की नित्यता ही मुख्य है।[4] इसके साथ इस सूत्र से विहित 'कित्व' का सामर्थ्य भी नहीं बनता जिससे 'बभूव' यहा अनिग्लक्षण "अचो ञ्णिति वृद्धि" का निषेध हो सके। 'बभूविथ', 'अह बभूव' यहा 'थल्' तथा पाक्षिक 'णित्वाभाव' वाले 'णल्' मे गुण को रोकने के लिये 'कित्व' की आवश्यकता होने से उसका सामर्थ्य उपक्षीण हो जाता है। इसलिये सूत्र के रहते हुए जब इष्ट सिद्ध नहीं होता और उसके अभाव में इष्ट सिद्ध हो जाता है तो सूत्र का प्रत्याख्यान ही युक्तियुक्त है। किन्तु जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि 'भू' धातु के लिए तो प्रकृत सूत्र अनावश्यक है क्योंकि 'वुक्' नित्य होने से गुणवृद्धि को बाध लेगा। परन्तु 'इन्ध्' धातु के लौकिक 'समीधे'

---

१ पा० १२४।

२ द्र०—प्रकृत सूत्रस्य, प० म०—'ननुचोक्तम्—आरभ्यमाणेऽपि कित्वे वृद्धेः प्रतिषेधो न सिध्यति, अनिग्लक्षणत्वाद् इति, नैष दोष, ङिद्ग्रहण-मप्यनुवर्तते, तत्सामर्थ्यादनिग्लक्षणाया अपि वृद्धेः प्रतिषेधो भविष्यति'।

३ प्रकृत सूत्रस्य प० म०।

४ द्र० श० कौ० भा० २, पृ० ३—'न च शब्दान्तरप्राप्त्या वुगनित्य इति वाच्यम्, कृताकृतप्रसङ्गित्वमात्रेणापि लक्ष्यानुरोधात् नित्यत्वस्या-श्रयणात् शब्दान्तरप्राप्त्या स्वरभिन्नस्य प्राप्त्या चानित्यताया सिद्धान्ते बहुधा त्यक्तत्वात्'।

तथा 'समिन्धाञ्चक्रे' इन दोनो वैकल्पिक प्रयोगो मे 'समीधे' यहा 'नलोप' करने के लिए सूत्र की आवश्यकता बनी रहती है। क्योकि 'समीधे' को लौकिक प्रयोग भी मानने पर वहा वेद की तरह एक साथ ही 'सार्वधातुक', 'आर्धधातुक' आदि सज्ञा प्रयुक्त कार्य कैसे उत्पन्न हो सकेंगे अर्थात् "छन्दस्युभयथा" सूत्र 'समीधे' को लौकिक प्रयोग मानने पर वहा प्रवृत्त नही हो सकता। इसलिये 'समीधे' इस लौकिक प्रयोग की सिद्धि के लिए सूत्र की आवश्यकता बनी रहती है। इसीलिए अर्वाचीन वैयाकरणो ने सूत्र रचना करते समय 'भू' धातु को छोडकर केवल 'इन्ध्' धातु विषयक ही सूत्र निर्माण *किया है।*[1] इस प्रकार 'इन्ध्' धातु के लिए तो सूत्र आवश्यक ही ठहरता है।

छन्दसि पुनर्वस्वोरेकवचनम् ॥ १ २ ६१॥

विशाखयोश्च ॥१ २ ६२॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

'पुनर्वसु' नामक नक्षत्र दो हैं तथा 'विशाखा' नामक नक्षत्र भी दो हैं। उनके द्वित्व अर्थ मे द्विवचन ही प्राप्त था। दोनो जगह पक्ष मे एकवचन करने के लिये उक्त दोनो सूत्र बनाये हैं। इनका अर्थ है कि वेद मे 'पुनर्वसु' नामक नक्षत्रो के द्वित्व मे भी विकल्प से एकवचन होता है। जैसे—'पुनवसु नक्षत्रम्'[2]। "पुनर्वसू वा"। "विशाखा नक्षत्रम्"।[3] "विशाखे वा"।

छान्दस होने से अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार तथा भाष्यकार दोनो ही इन दोनो सूत्रो को अनावश्यक समझकर प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—

'पुनर्वसुविशाखयो सुपा सुलुक् पूर्वसवर्णेति सिद्धम्"[4]।

---

१ चा० सू० ५ ३ २५—'लिटीन्धिश्रन्थग्रन्थाम्'।
शा० सू० ४ १ १४८—'क्विद्धलिटि इन्धेश्चासयोगात्'।
स० मृ० ६ ३ २३—'श्रन्थिग्रन्थिश्च्व्ञ्जीन्धीना लिटि'।
है० सू० ४ ३ २१—इन्ध्यसयोगात् परोक्षा किद्वत्।

२ कृष्णयजुर्वेदीय मैत्रायणी सहिता, २,१३ २०।

३ द्र० वही 'विशाख नक्षत्रम्'।

४ महा० भा० १, सू० १ २ ६२, पृ० २३१।

इसका भाव यह है कि 'पुनर्वसु नक्षत्रम्' यहां एकवचन इष्ट है। इसी प्रकार 'विशाखा नक्षत्रम्' यहां भी एकवचन इष्ट है। 'पुनर्वसू', 'विशाखे' में द्विवचन के रूप तो बनते ही है। एकवचन के रूप बनाने के लिए यह बहुत सुन्दर अभ्युपाय है कि पक्ष में द्विवचन 'औ' विभक्ति का "सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः"[1] इस वैदिक सूत्र से 'लुक्' मान लिया जाये तो 'पुनर्वसु', 'विशाखा' ये एक वचनान्त रूप स्वतः सिद्ध हो जायेंगे। उनकी सिद्धि के लिये इन दोनों सूत्रों की आवश्यकता नहीं है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

उक्त नक्षत्रवाची शब्दों में एकवचन की सिद्धि के लिये भाष्यवार्तिककार ने जो समाधान दिया है वह सर्वथा न्याय्य ही है। ये दोनों छान्दस अथवा वेद में प्रयुक्त होने वाले शब्द है। छान्दस प्रयोगों की सिद्धि के लिये तो अनेक समाधान हो जाते है। यथा—"बहुलं छन्दसि",[2] 'दृष्टानुविधिश् छन्दसि भवति"[3] "सर्वेविधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते",[4] "व्यत्ययो बहुलम्",[5] "सुपांसुलुक्"[6] इत्यादि। वस्तुतः द्वित्व में एकत्व की तथा एकत्व में द्वित्व की विवक्षा करना वक्ता के अधीन है। वेद में तो विशेष रूप से शब्द का प्रयोग स्वतः प्रमाण है। इस दृष्टि से विचार करने पर छन्द सम्बन्धी इन दोनों सूत्रों का प्रत्याख्यान अनिवार्य हो जाता है। यहां अर्थ का बोध कराना मुख्य है। जिस प्रकार से भी बोध हो वह प्रकार स्वीकार कर लेना चाहिये। न केवल इन दोनों वैदिक सूत्रों का ही अपितु "जात्याख्यायाम्०"[7] से लेकर "फल्गुनी प्रोष्ठपदाना च न क्षेत्रे"[8] इन सभी लौकिक वैदिक सूत्रों का प्रत्याख्यान युक्तिसंगत समझकर भाष्यकार ने

---

१ पा० ७।१।३९।
२ पा० ३।२।८८।
३ पा० २।१।६ पर भाष्य वचन।
४ पा० १।४।६ पर भाष्यवचन तथा परि० सं० ३५।
५ पा० ३।१।८५।
६ पा० ७।१।३९।
७ पा० १।२।५८।
८. पा० १।२।६३।

सबका खण्डन कर दिया है। "तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे०"[1] इसका प्रत्याख्यान साक्षात् शब्दोपात नही है, वचन प्रकरण वाले शेष सूत्रो का प्रत्याख्यान इस सूत्र का भी उपलक्षण समझना चाहिये। जब एक वचन में बहुवचन का, द्विवचन मे एकवचन का, किसी न किसी हेतु से खण्डन कर दिया है तो बहुवचन मे द्विवचन का खण्डन करने मे क्या रुकावट है। अत वचन प्रकरण वाले ये सभी सूत्र भाष्यवार्तिक की दृष्टि से प्रत्याख्येय सिद्ध हो जाते हैं।

तृतीया च होश्छन्दसि ॥२ ३ ३॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र वैदिक प्रयोग विषय का है। इसका अर्थ है कि जुहोत्यादिगण-पठित 'हु'दानादानयो' इस धातु के कर्म मे द्वितीया विभक्ति के साथ तृतीया भी हो जाती है, वेद में। जैसे—"यवाग्वाग्निहोत्र जुहोति"[2]। "यवागू-मग्निहोत्र जुहोति"[3]। यहा 'हु' धातु के प्रयोग में 'यवागू' शब्द से कर्मकारक मे तृतीया और द्वितीया विभक्ति हो गई। वैसे पयसा जुहोति', 'आज्येन जुहोति' 'दध्ना जुहोति', इत्यादि मे तृतीया विभक्ति प्राय दृष्टिगोचर होती है किन्तु वह करण कारक में है। यहा तो कर्म मे तृतीया की गई है। "यवाग्वाग्निहोत्र जुहोति" यहा 'अग्निहोत्र' शब्द का अर्थ 'अग्नौ हूयते इति अग्निहोत्रम्' (जो अग्नि में हवन किया जाये, डाला जाये) इस व्युत्पत्ति से जब लिया जाता है तब उक्त वाक्य का अर्थ होता है कि 'यवागू' रूप हवि को देवता के उद्देश्य से अग्नि मे डालता है। यहा यह विचित्रता है कि 'यवाग्वा' मे तृतीया है और 'अग्निहोत्रम्' मे द्वितीया है। दोनो कर्म हैं। समानार्थक होने से दोनों का ही अभेदान्वय होता है। विभक्ति भिन्न होने हुए भी अर्थ अभिन्न है। जो "यवागूमग्निहोत्र जुहोति" का अर्थ है वही 'यवाग्वाग्निहोत्र जहोति" का अर्थ है। 'अग्निहोत्र' शब्द की जब "अनाद्यम्' की तरह

---

१ पा० १'२ ६३।

२ शतपथ ब्राह्मण, १ १ १ १०। कपिष्ठलकठसहिता, ४२, पृ० ४५।

३ यह उद्धरण अनुपलब्ध है। अत अन्वेष्टव्य है। अन्य स्थानापन्न सत्यापित उपलब्ध उदाहरण के लिए देखे, ऋक्, २,१४,६—"इन्द्राय सोम मदिरा जुहोति"। काठकसहिता, ६ ३ "हविषा जुहोमि"। कपिष्ठलकठसहिता, ४२ "आज्येन जुहोति"।

'हूयतेस्मिन् इति होत्रम्, अग्निश्च तद् होत्र चेति अग्निहोत्रम्' (जिसमें हवन किया जाये वह अग्नि) इस व्युत्पत्ति से *'अग्नि' अथ होता है तब 'हु' धातु* का अर्थ 'प्रक्षेप' न होकर 'प्रीणन' या 'तर्पण' हो जाता है। 'यवागू' से अग्निदेव को तृप्त करता है। इस प्रकार 'हु' धातु के तथा 'अग्निहोत्र' शब्द के अर्थभेद से तृतीया-द्वितीया विभक्तियों का प्रयोग होता है। कर्म में द्वितीया की प्राप्ति में इस सूत्र से पक्ष में तृतीया का विधान किया गया है। मीमांसक तो तृतीया की प्राप्ति में द्वितीया का विधान किया है, ऐसा कहते हैं,[1] जाकि सूत्र भाष्यविरुद्ध है।

अर्थभेद द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र पर वार्तिककार सर्वथा मौन हैं। केवल भाष्यकार ही इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—"किमर्थमिदमुच्यते। तृतीया यथा स्यात्। *अथ द्वितीयासिद्धा। सिद्धा। कथम्। कर्मणीत्येव। तृतीयापि सिद्धा।* कथम्। सुपा सुपो भवतीत्येव। अस्त्येतस्मिन् सुपा सुपो भवतीति तृतीयार्थोऽयमारम्भः। यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोति। एव तर्हि तृतीयापि सिद्धा। कथम्—कर्तृकरणयो इत्येव। अयमग्निहोत्रशब्दोऽस्त्येव ज्योतिषि वर्तते। तद्यथा—अग्निहोत्रं प्रज्वलितम् इति। अस्ति हविषि वर्तते। तद्यथा अग्निहोत्रं जुहोतीति। जुहोतिश्चास्त्येव प्रक्षेपणे वर्तते। अस्ति प्रीणनार्थे वर्तते। तद्यदा तावद् यवागू शब्दात् तृतीया, तदाग्निहोत्रशब्दो ज्योतिषि वर्तते। जुहोतिश्च प्रीणनार्थे। तद्यथा - यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोतीति। अग्निं प्रीणाति। यदा यवागू शब्दात् द्वितीया तदाग्निहोत्रशब्दो हविषि वर्तते जुहोतिश्च प्रक्षेपणे। तद्यथा—*यवागूमग्निहोत्रं जुहोति। यवागू हविरग्नौ प्रक्षिपति*"।[2]

---

[1] द्र०—शा० दी० भा० २, सू० २ ३ ३ पृ० २२४—'मीमांसकास्त्वाहु-अग्निहोत्रशब्द कर्मनामधेयम्। तत्प्रख्य चान्यशास्त्रमिति न्यायात्। दृश्यते च एष यज्ञ पञ्चविधोऽग्निहोत्रदशपूर्णमासावित्यादि। एव स्थिते भावार्थाधिकरणन्यायेन करणकोटिनिक्षिप्ते होमे समानाधिकरण्यान्नस्याग्निहोत्रस्य करणत्वात् तृतीयायां प्राप्तायां पक्षे द्वितीयार्थमिदं वचनमिति, तत् तु सूत्रसन्दर्भविरुद्धम्। कर्मणीति ह्यनुवर्तते।

[2] *महा० भा० १, सू० २ ३ ३, पृ० ४४४।*

इस भाष्यसन्दर्भ का संक्षिप्त अर्थ यह है कि 'हु' धातु के प्रयोग मे तृतीया और द्वितीया दोनो विभक्तिया इस सूत्र के बिना सिद्ध हो जाती हैं। जब कर्म की विवक्षा होगी तब "कर्मणि द्वितीया"[1] से द्वितीया हो जायेगी और जब करण की विवक्षा होगी तब "कर्तृकरणयोस्तृतीया"[2] से तृतीया विभक्ति हो जायेगी। 'अग्निहोत्र' शब्द के दो अर्थ हैं एक 'अग्नि' और दूसरा 'हवि', हव्य द्रव्य। 'हु' धातु के भी दो अथ है एक 'प्रक्षेपण' और दूसरा 'प्रीणन', तपण। जब 'यवाग्वाग्निहोत्र जुहोति' यहा 'यवागू' शब्द से तृतीया विभक्ति होगी तब 'अग्निहोत्र' शब्द का अर्थ 'अग्नि' होगा और 'हु' धातु का अथ 'प्रीणन' होगा। 'यवागू' से 'अग्निदेव' का तृप्त करता है। यहा करणकारक में तृतीया हो गई क्योंकि 'यवागू' अग्निदेव की तृप्ति का साधन है। और जब 'यवागूमग्निहोत्र जुहोति' यहा 'यवागू' शब्द स द्वितीया होगी तब 'अग्निहोत्र' का अर्थ 'हवि' होगा और 'हु' धातु का अथ 'प्रक्षेपण' होगा। 'यवागू' रूप हवि को देवता के उद्देश्य से आग मे डालता है। यहा 'प्रक्षेपण' क्रिया का कर्म होने से 'यवागू' मे "कर्मणि द्वितीया"[3] से द्वितीया हो जायेगी। इस प्रकार अथभेद से दोनो विभक्तिया बिना इस सूत्र के बनाये ही सिद्ध हो जाती हैं तो यह सूत्र बनाना व्यर्थ है।

समीक्षा एव निष्कर्ष

वास्तव में यह सूत्र प्रत्याख्यान के योग्य ही है। प्रथम तो यह छान्दस है। छन्द मे सर्वत्र दृष्टानुविधि होती है।[4] वहा जैसा देखते है वैसा कर लेते हैं। यदि जुहोति के प्रयोग में वेद में या वैदिक मन्त्र ब्राह्मणादि ग्रन्थो मे तृतीया विभक्ति दीखती है तो वह वेद वचन से मान ली जायेगी। दूसरी बात यह है कि "यवाग्वाग्निहोत्रम्" यहा दोनो के कर्म होने पर भी 'यवाग्वा' मे तृतीया और 'अग्निहोत्रम्' मे "द्वितीया सर्वथा असगत लगती है। भाष्यकार ने 'हु' धातु तथा 'अग्निहोत्र' शब्द का अथभेद दिखाकर बहुत सुन्दर ढग से दोनो विभक्तिया सिद्ध कर दी हैं, उसमे कोई विसगति नही है।

---

१ पा० २ ३ २।
२ पा० २ ३ १८।
३ पा० २ ३ २।
४ महा० भा० १, सू० ११६, पृ० ५५—'दृष्टानुविधिश्च छन्दसि भवति'।

वस्तुतः पाणिनि व्याकरण के व्याख्याकारों का यह विचार है कि 'हु' धातु के कर्म में द्वितीया और तृतीया दोनों विभक्तियों का प्रयोग मिलता है। यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि 'यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोति' और 'यवागूमग्निहोत्रं जुहोति' इन दोनों प्रयोगों को समानार्थक मानते हुए अर्थात् दोनों में 'यवागू' को कर्म मानते हुए ही द्वितीया और तृतीया विभक्ति वाले प्रयोगों की बात स्वीकार की गई है और कर्म मानने पर 'यवागू' शब्द में तृतीया की सिद्धि पाणिनि-व्याकरण से संभव नहीं है। अतः उस दृष्टि से पाणिनि को यह सूत्र बनाना पड़ा।[1]

भाष्यकार पतञ्जलि 'दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति' इस न्याय का सहारा लेते हुए 'यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोति' यहां 'यवाग्वा' में करणत्व की विवक्षा स्वीकार करते हुए तृतीया विभक्ति की सिद्धि "कर्तृकरणयोस्तृतीया" से कर लेते हैं। इसलिए इनकी दृष्टि में तृतीया करने के लिए प्रकृत सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं है।[2] मीमांसकों के मत में 'अग्निहोत्र' यह कर्म का

---

१ द्र० भाष्य (जोशी) अनभिहिताह्निक, व्याख्या भाग, सू० २३३, पृ० ६०-६६

'This difficulty with the grammarians who have assigned यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोति as an example to p 2 3 3 is that they equate the word यवाग्वा in this phrase with यवाग्वा in यवाग्वा जुहोति which is synonymous with यवागू जुहोति In other words the confusion is due to contamination of i and iii of the following, sentences, namely—

i अग्निहोत्रं जुहोति where हु is used in the general meaning or pertaining

ii यवागू जुहोति and

iii यवाग्वा जुहोति

in 2 & 3 the verb हु retains its proper meaning The question for Pānini must have been phrased how to sanction the usage यवाग्वा जुहोति that is why, he phrased p. 2 3"

२ वही, इण्ट्रोडक्शन, गर्व आफ हापिक्स, पृ० xli

"Still, Patanjali s conclusion, that p 2 3.3 is not required may be correct We can treat यवागू as an usual कर्मन् or करण by adopting the following interpretations.

नाम है। यज्ञविशेष का नाम 'अग्निहोत्र' है।' उस अर्थ में भी तृतीया और द्वितीया की उपपत्ति हो सकती है। 'यवागू' से 'अग्निहोत्र नामक यज्ञ करता है और 'यवागू' को 'अग्निहोत्र' में डालता है। 'अग्निहोत्र' शब्द हवन या होम में भी उपचार से प्रयुक्त होता है। तुमने 'अग्निहोत्र' या हवन या होम कर लिया इत्यादि व्यवहार से दोनों ही इष्ट प्रयोग बन जाते है। इसलिये इस सूत्र का प्रत्याख्यान ही उपयुक्त है। केवल हु' धातु के लिये इतना बडा अलग सूत्र बनाना ऐसे ही निरर्थक है जैसे 'दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे'[1] यह सूत्र केवल 'दाण्' धातु के लिये और वह भी अशिष्ट व्यवहार के प्रदर्शन के लिये ही बनाना निरर्थक है।

उपसवादाशङ्कयोश्च ॥३ ४ ८॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र छन्दोविषयक है। 'उपसवाद' और 'आशङ्का' गम्यमान होने पर धातुमात्र से वेद में लेट्' लकार होता है। 'उपसवाद' का अर्थ शर्त है। 'यदि आप मेरा यह काम कर देंगे तो मैं आपको यह चीज दे दूगा—' इस प्रकार की शर्त का नाम 'उपसवाद' है। 'आशका' का अर्थ सभावना या ख्याल है। दोनों अर्थों में यह सूत्र 'लेट्' लकार का विधान करता है। जैसे—"अहमेव पशूनामीशै"[3] (मैं ही पशुरूप ससारी मनुष्यों का शासक हू)। त्रिपुर विजय में देवों से प्रार्थित महादेव का यह वचन है। यहा 'ईशै' यह 'उपसवाद'

---

i यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोति he performs the अग्निहोत्र sacrifice with the help of barley grual
ii यवागू जुहोति he offers barley grual
iii And यवागूमग्निहोत्रं जुहोति he offers an अग्निहोत्र हवि in the form of barley grual".

१ इस विषय में 'तत्प्रख्य चान्यशास्त्रम्' (जैमिनीय मीमासादर्शन १ ४) यह सूत्र द्रष्टव्य है। 'स एष यज्ञ पञ्चविधोऽग्निहोत्र दर्शपूर्णमासाविति' प्रकृतसूत्रस्थ न्यास से उद्धृत)।

२ पा० १ ३ ५५।

३ कपिष्ठल कठसहिता, ३८ ४ पृ० २४३। काठक सहिता, २५ १, पृ० २६४।

अर्थ में 'ईश्' धातु से 'लेट्' हुआ है। 'ईश्' धातु से उत्तम पुरुष का एक वचन 'इट्' प्रत्यय होकर 'टेरेत्व' हो जाता है। उसे "वैतोन्यत्र"[1] सूत्र से 'ऐकार' आदेश होकर 'ईशै' यह रूप बन जाता है। पक्ष में 'ईशे' रूप भी बनता है। 'अहमेव पशूनाम्०' इस वाक्य में महादेव और देवताओं के सनापण में कोई शर्त है जो प्रकरणगम्य है।

आशङ्का का उदाहरण जैसे—"नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम"[2] (कहीं ऐसा न हो कि हम कुटिलता करते हुए पापाचरण के कारण नरक में गिर जायें) यहा सभावना अर्थ स्पष्ट है। नरक में गिरने की सभावना से ऐसा कहा जा रहा है। पताम' में 'पत्' धातु से 'लेट्' लकार होकर उत्तम पुरुष का बहुवचन मस' प्रत्यय होता है। "लेटोऽडाटौ"[3] से 'आट्' का आगम 'मस्' प्रत्यय को हो जाता है 'लिङर्थे लेट्'[4] इस पूर्व सूत्र से विकल्प से 'लेट्' प्राप्त था। प्रकृत सूत्र से नित्य हो जाता है। यह सूत्र वेद में नित्य 'लेट्' लकार विधान करने के लिये बनाया गया है। यदि वेद में उक्त दोनो अर्थों मे नित्य 'लेट्' का प्रयोग उपलब्ध नही होता तो उसे ढूढने का यत्न करना चाहिये।

अन्यथासिद्धि या छान्दसत्वात् सूत्र का प्रत्याख्यान

इस वैदिक सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए भाष्यवार्तिककार कहते हैं—"उपसवादाशङ्कयोर्वचनानर्थक्य लिङर्थत्वात्। उपसवादाशङ्कयोर्वचमनर्थकम्। किं कारणम्। लिङर्थत्वात्। लिङर्थे लेट् इत्येव सिद्धम्। क पुनर्लिङर्थ। केचित् तावदाहु—हेतुहेतुमतोर्लिङ् इति। अपरे आहु—वक्तव्य एवैतस्मिन् विशेषे लिङ्। प्रयुज्यते हिलोके—यदि मे भवान् इद कुर्यात् अहमपि ते इद दद्याम्।[5]

तात्पर्य यह है कि 'उपसवाद' और 'आशका' इन दोनो अर्थों मे इस सूत्र मे 'लेट्' लकार विधान करना व्यर्थ है। "लिङर्थे लेट्" इस पूर्व सूत्र से भी 'लेट्' सिद्ध हो जायेगा। वह 'लिङ्' के अर्थ मे 'लेट्' करता है।

---

१ पा० ३४।९६।
२ ऋक्० खिल० १०।१०६।१।
३ पा० ३।४।९४।
४ पा० ३।४।७।
५ महा० भा० २, सू० ३।४।८, पृ० १७१।

हेतुहेतुमद्भाव या कारणकार्यभाव ही 'लिङ्' का अर्थ है। "हेतुहेतुमतोर्लिङ्"[1] यह सूत्र हेतुहेतुमद्भाव अर्थ में 'लिङ्' करता है। 'उपसंवाद' और 'आशङ्का' में भी कार्यकारणभाव है। 'यदि आप ऐसा करेंगे तो मैं भी यह करूंगा या दूंगा' यहां कार्यकारणभाव स्पष्ट है। जैसे 'विद्यां चेत् पठेत् सुखं यायात्' यहां विद्या और सुख का कार्यकारणभाव है वैसे ही शत में भी स्पष्ट है। 'आशङ्का' में तो कार्यकारणभाव और स्पष्ट है। "डर है कि यदि कुटिलता रूप पापाचरण करेंगे तो नरक में पडेंगे। इस प्रकार हेतुहेतुमद्भाव गम्यमान होने पर "हेतुहेतुमतोर्लिङ्"[2] से प्रतिपादित लिङ्' लकार के अर्थ में पूर्वसूत्र से ही 'लेट्' लकार सिद्ध हो जायेगा तो यह सूत्र व्यर्थ है। यदि 'उपसंवाद' और 'आशङ्का' में हेतुहेतुमद्भाव से कुछ विशिष्ट प्रतीति मानी जाये तो उस विषय में 'लिङ्' का विधान विशेष रूप से कर देना चाहिये। उस लिङर्थ में पूर्व सूत्र से 'लेट्' सिद्ध हो जाने पर यह सूत्र व्यर्थ हो जाता है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यहां यह विचारणीय है कि 'उपसंवाद' में यदि करने के बदले कुछ देने की ही शर्त है, अन्य वस्तु की शर्त नहीं है, तब तो यह लिङर्थ अन्य लिङर्थों से विलक्षण है, विशिष्ट है। उस अवस्था में "लिङर्थे लेट्" से 'लेट्' लकार सिद्ध नहीं हो सकता। उक्त अर्थ विशेष में 'लेट्' लकार करने के लिये इस सूत्र की आवश्यकता है। भाष्यकार ने इस सूत्र से 'उपसंवाद रूप' अर्थविशेष में 'लेट्' करने के लिये सामान्य 'लिङर्थ से इसको पृथक् माना है। यदि 'लिङ्' विधान करने वाले लकारार्थ प्रक्रिया के अन्तर्गत सूत्रों में किसी प्रकार यह 'उपसंवाद' अर्थ भी 'लिङर्थ' बन जाये तब पूर्वसूत्र से 'लेट्' लकार सिद्ध हो जाने पर यह सूत्र अनर्थक अथवा अन्यथासिद्ध हो जायेगा तो यह सूत्र प्रत्याख्यान के योग्य बन जाता है। वस्तुतः "अहमेव पशूनामीशै",[3] "मदग्रा एव वो ग्रहा गृह्यान्तै",[4] "मद्देवतान्येव वः पात्राण्युच्यान्तै",[5]

---

१ पा० ३.३.१५६।

२ वही।

३ कपिष्ठलकठ संहिता, ३८.४, पृ० २४३। काठक संहिता, ३५.१, पृ० २६४।

४ कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता, ६.४.७१।

५ वही ६.४.७२।

"पताम"[1] इत्यादि सब छान्दस प्रयोग हैं। छन्द मे 'दृष्टानुविधि' होती है। वहा जैसा देखते हैं, वैसा कर लेते हैं।[2] इस सूत्र के बिना भी 'लेट्' लकार सिद्ध हो सकता है। अत यह सूत्र अप्रयोजक है, अनावश्यक है।

अनुब्राह्मणादिनि ॥४२६२॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र 'प्राग्दीव्यतीय' प्रकरण में "तदधीते तद्वेद"[3] इस अर्थ के अन्तगत आता है। इसका अर्थ है कि 'अनुब्राह्मण' शब्द से 'तदधीते तद्वेद' (उसको पढता है और उसको जानता है) इन दोनो अर्थों मे 'इनि' प्रत्यय होता है। ब्राह्मण सदृश ग्रन्थ का नाम 'अनुब्राह्मण'[4] है। वैदिक साहित्य में जहा ब्राह्मण ग्रन्थ हैं वहा 'अनुब्राह्मण' भी हैं। 'अनुब्राह्मणमधीते वेद वा अनुब्राह्मणी।' 'अनुब्राह्मणिनौ।' 'अनुब्राह्मणिन।' 'अनुब्राह्मण' शब्द से 'इनि' प्रत्यय होकर 'भसज्ञा' द्वारा "यस्येति च"[5] से अकार लोप हो जाता है तो "सौ च"[6] से उपधा दीर्घ होकर 'अनुब्राह्मणी' यह इष्ट रूप बन जाता है। "तदधीते तद्वेद" से सामान्य प्राप्त 'प्राग्दीव्यतीय अण्' प्रत्यय को बाधने के लिये यह सूत्र बनाया गया है। यही इसका मुख्य प्रयोजन है कि 'अनुब्राह्मण' शब्द से 'अण्' न होकर 'इनि' प्रत्यय हो जाये।

अन्यथासिद्धि तथा अभिधान द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र पर भी वार्तिककार सर्वथा मौन हैं। केवल भाष्यकार ही लाघव की दृष्टि से इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—"अय योग शक्योऽवक्तुम्। कथम्—अनुब्राह्मणी, अनुब्राह्मणिनौ, अनुब्राह्मणिन इति। इनिनैतन्मत्वर्थीयेन सिद्धम्"।[7]

---

१ ऋक्० खिल० १०१०६१।

२ द्र० महा० भा० १, सू० ११६, पृ० ४५—'दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति।

३ पा० ४२५९।

४ द्र० वै० सि० कौ० भा० २, सू० ४२६२, पृ० ३६६—'ब्राह्मणसदृशो ग्रन्थोऽनुब्राह्मणम्'।

५ पा० ६४१४८।

६ पा० ६४१३।

७ महा० भा० २, सू० ४२६२, पृ० २८४।

भाव यह है कि 'इनि' प्रत्यय विधान के लिये यह सूत्र भी अनावश्यक है। "तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्"[1] प्रत्ययविधायक मत्वर्थीय प्रकरण मे आने वाले "अत इनिठनौ"[2] इस सूत्र से यहा 'इनि' प्रत्यय सिद्ध हो जायेगा तो यह सूत्र व्यर्थ है। 'इनि' के साथ 'ठन्' तो अनभिधान से नही होगा। साथ "तदधीते तद्वेद"[3] से सामान्य प्राप्त 'प्राग्दीव्यतीय अण्' प्रत्यय भी अनभिधान से नही होगा। यह बात भाष्यकार द्वारा इस सूत्र के प्रत्याख्यान से विदित होती है। 'निन्दा', 'प्रशसा', 'बहुत्व' 'ससर्ग' आदि अर्थों मे मत्वर्थीय 'इनि' प्रत्यय होता है। इसमे 'ससर्ग' अर्थ की विवक्षा में 'अनुब्राह्मण' शब्द से 'इनि' हो जायेगा तो इस सूत्र की आवश्यकता नही रहती। जो 'अनुब्राह्मण' ग्रन्थ का अध्ययन या वेदन करता है वह 'अनुब्राह्मण' ग्रन्थ से सम्बन्ध तो रखता ही है। अत अवान्तर विशेष को छोडकर सामान्य सम्बन्ध मात्र को मान लेने से मत्वर्थीय 'इनि' प्रत्यय होने मे कोई बाधा नही है।

समीक्षा एव निष्कर्ष

यहा भी भाष्यकार ने शब्द साधन मे लाघव से काम लिया है। मत्वर्थीय 'इनि' प्रत्यय से ही 'अनुब्राह्मणी' शब्द की सिद्धि मानकर इस सूत्र का प्रत्याख्यान कर दिया गया है जो समुचित ही है। सामान्य प्राप्त 'अण्' की निवृत्ति अनभिधान से मान ली जायेगी। 'अध्येतृ', 'वेदितृ' अर्थों में 'अनुब्राह्मण' शब्द से 'अण्' का अभिधान नही होता, किन्तु 'इनि' प्रत्यय का ही अभिधान होता है। यह भाष्यकार के वचन से समझा जायेगा। यदि भाष्यकार की दृष्टि में 'अनुब्राह्मण' शब्द से 'अण्' प्रत्यय भी अभीष्ट है तो उसका अनभिधान न मानकर 'अण्' प्रत्यय भी हो जायेगा। शब्द प्रयोग की व्यवस्था आप्त एव शिष्ट जनो के वचनाधीन है। साधु शब्दो के अन्वाख्यान मे वही सर्वाधिक प्रमाण हैं। प्रस्तुत प्रसग में भाष्यकार स्वय एक प्रामाणिकतम आचार्य हैं।[4] अत उनके वचन से ही अभिधान-अनभिधान की व्यवस्था सुसगत हो जायेगी। ऐसी स्थिति मे सूत्र प्रत्याख्येय हो जाता है। इस विषय में हैम

---

१ पा० ५ २ ९४।
२ पा० ५ २ ११५।
३ पा० ४ २ ५९।
४ द्र० वै० सि० कौ० भा० १, सू० ११२९, पृ० २२३—'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्'।

व्याकरण मे विद्यमान यह सूत्र विचारणीय ही है।[1] क्योकि एक तो उनके यहां प्राय वैदिक सूत्र नही मिलते हैं। अत केवल यह सूत्र ही यहा कैसे आ गया। दूसरे, यह सूत्र इतना महत्त्वपूर्ण भी नही है। अत इसके न रहने से भी कोई असर नही पडता। जो भी हो, प्रकृत सूत्र इतना सकेत अवश्य देता है कि इन व्याकरणो मे भी न्यूनाधिक अश में वैदिक सूत्र रहे हैं। अथवा यह 'अनुब्राह्मण' शब्द वैदिक न होकर लौकिक भी हो सकता है।

तुजादीना दीर्घोऽभ्यासस्य ॥६ १ ७॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र षष्ठाध्याय के द्वित्व प्रकरणान्तर्गत है। इसका अर्थ है कि 'तुज्' आदि धातुओ के अभ्यास को दीर्घ होता है। यहा 'आदि' शब्द प्रकारवाची है, व्यवस्थावाची नही। प्रकार का अर्थ 'सादृश्य' है। 'तुज्' धातु के सदृश, 'तुज्' धातु जैसे अन्य धातुओ का यहा ग्रहण है। व्यवस्थित तुजादिगणपठित धातु कही नही है। जैसे 'तुज्' धातु के अभ्यास में दीर्घ दिखाई देता है, वैसे जहां-जहा भी धातुओ के अभ्यास मे दीर्घ दृष्टिगोचर होता है, वे सब 'तुजादि' शब्द से यहा ली गई है। जैसे—'तूतुजान'[2] 'मामहान'।[3] 'दाधार'।[4] 'मीमाय'।[5] तूताव'[6] इत्यादि। 'तूतुजान' मे 'तुज् हिंसायाम्' धातु से 'छन्दसि लिट्' होकर "लिट कानज्वा"[8] से 'लिट्' के स्थान में 'कानच्' आदेश हो जाता है। "लिटिधातोरनभ्यासस्य"[9] मे 'तुज्' को द्वित्व होकर अभ्यास को "हलादिशेष"[10] और इससे दीर्घ होता है तो 'तूतुजान' रूप बन

---

१ है० सू० ६ २ १२३ —'अनुब्राह्मणादिन्'।
२ ऋक्० १ ३ ६।
३ मा० यजु १७ ५५।
४ ऋक्० १० १२१ १।
५ शौनकीय अथर्व० ५ ११ ३।
६ ऋक् १ ६४.२।
७ पा० ३ २ १०५।
८ पा० ३ २ १०६।
९ पा० ६ १ ८।
१० पा० ७ ४ ६०।

जाता है। इसी तरह 'मह्' धातु से 'मामहान' बनता है। 'दधार' में 'धृञ् धारणे' धातु से 'लिट्', 'तिप', 'णल्' होकर द्वित्व होता है। अभ्यास को 'उरदत्व'[1] 'रपरत्व', 'हलादिशेष' होकर इस सूत्र से दीर्घ हो जाता है तो 'दाधार' बन जाता है। 'दाधार' में अङ्ग को "अचोञ्णिति"[2] से वृद्धि होती है। 'मीमाय' में 'डुमिञ् प्रक्षेपणे' धातु से 'लिट्', तिप्,' 'णल' आदि होकर अभ्यास को ह्रस्व होता है। फिर इस सूत्र से दीर्घ होकर 'मीमाय' बन जाता है। 'तूताव' में 'तु' धातु है। उसी प्रकार द्वित्वादि होकर अभ्यास को इस सूत्र से दीर्घ हो जाता है।

'तुजादियों' से भी सर्वत्र दीर्घ नहीं होता। विशेष प्रत्ययों में ही दीर्घ विधान है। इसीलिये 'तुतोज' यहां दीर्घ नहीं हुआ। दाधार' की तरह 'अद्या ममार'[3] यहां दीर्घ नहीं हुआ। यह सूत्र वेद में ही दीर्घ विधान करता है।

छान्दस तथा अपरिगणित होने से सूत्र का प्रत्याख्यान

भाष्यवार्तिककार इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—

"अनारम्भो वाऽपरिगणितत्वात्। अनारम्भो वा पुनश्छन्दसि दीर्घत्वस्य न्याय्य। कुत। अपरिगणितत्वात्। न हि छन्दसि दीर्घत्वस्य परिगणनं कर्तुं शक्यम्। किं कारणम् अन्येषां च दर्शनात्। येषामपि दीर्घत्वं नारभ्यते तेषामपि छन्दसि दीर्घत्वं दृश्यते। तद्यथा—पूरुष, नारक इति। अनेकान्तत्वाच्च। येषां चाप्यारभ्यते तेषामप्यनेकान्त। यस्मिन्नेव च प्रत्यये दीर्घत्वं दृश्यते तस्मिन्नेव च प्रत्यये न दृश्यते। मामहान ममहान इति'।[4]

इसका भाव यह है कि 'तुजादियों' को अभ्यास में दीर्घ करने के लिये इस सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं है। इसका अनारम्भ ही न्याय्य है। क्योंकि वेद में दीर्घ अभ्यास वाले धातुओं का परिगणन नहीं किया जा सकता। जिनको दीर्घ विधान किया है, उनमें अन्यत्र भी दीर्घ दिखाई देता है और विधान किये हुओं में भी सब जगह दिखाई नहीं देता है।

---

१ पा० ७ ४ ६६।

२ पा० ७ २ ११५।

३ ऋक्० १० ५५ ५।

४ महा० भा० ३, सू० ६ १ ७, पृ० १२।

जैसे—'पुरुष' की जगह 'पूरुष',[1] 'नरक' की जगह 'नारक'[1] यह दीर्घ दिखाई देता है, इसका यही विधान नहीं किया है। "अन्येषामपि दृश्यते"[2] से संहिता में दीर्घ विधान है, सर्वत्र नहीं। 'तुतुजान' में दीर्घ विधान करने पर भी 'तुतोज' में दीर्घ नहीं दिखाई देता। इस प्रकार दीर्घ विधान के अनैकान्तिक होने से यह सूत्र व्यर्थ है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

प्रथम तो 'तुजादि' धातुओं के अभ्यास को, जो इस सूत्र से दीर्घ विधान किया है, वे 'तुजादि' धातु वैदिक हैं। वेद के प्रयोगों में ही दीर्घ दीखता है। 'दाधार' यह वैदिक प्रयोग है। लोक में तो 'दधार' ही बनता है। 'तूताव' यह भी वैदिक प्रयोग है। वेद में दृष्टानुविधि[4] होने से जैसा दीखता है, वैसा कर लिया जाता है। जिन प्रयोगों में अभ्यास को दीर्घ दीखता है, उनमें दीर्घ समझ लिया जायेगा, अन्यत्र नहीं। इसीलिए 'तुतोज' में दीर्घ विधान करने पर भी दीर्घ का अभाव देखने से यह सूत्र अनावश्यक हो जाता है। दूसरे कुछ निश्चित धातु न होने के कारण अपितु अव्यवस्थित होने के कारण भी इसका प्रत्याख्यान सर्वथा समुचित ही है।

शेश्छन्दसि बहुलम् ॥६ १ ७२॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र वैदिक प्रयोग विषयक है। इसका अर्थ है कि "जश्शसोः शिः"[5] से 'जस्', 'शस्' के स्थान में होने वाले 'शि' आदेश का वेद में बहुलतया लोप होता है। कहीं होता है और कहीं नहीं भी। जैसे—'विश्वानि', 'विश्वा'।[6]

1. ऋक् १० ६० ३।
2. मा० यजु० ३० ५।
3. पा० ६ ३ १३७।
4. द्र० महा० भा० १, सू० १ १ ६, पृ० ५५—'दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति'।
5. पा० ७ १ २०।
6. मा० यजु० २३ ६५।

'दुरितानि', 'दुरिता'।[1] 'त्रीणि', 'त्री'।[2] 'तानि', 'ता'[3] इत्यादि। 'विश्वानि' में 'विश्व' शब्द से नपुंसक लिङ्ग में 'जस्', 'शस्' के स्थान में "जश्शसो शि" से 'शि' आदेश होता है। "शि सर्वनामस्थानम्"[4] से उसकी 'सर्वनाम स्थान संज्ञा' होकर "नपुंसकस्य झलच"[5] से 'नुम्' होता है "सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ" से नान्त की उपधा को दीर्घ हो जाता है तो 'विश्वानि' बन जाता है। इसी प्रकार 'दुरित' शब्द से 'दुरितानि', 'त्रि' शब्द से 'त्रीणि', 'तद्' शब्द से 'तानि' ये प्रयोग तो लोक वेद में तुल्य हैं। वेद में इतना विशेष है कि इस सूत्र से बहुल करके पक्ष में 'शि' का लोप हो जाता है तो 'विश्वानि' की जगह 'विश्वा' इत्यादि बन जाते हैं। विश्वानि' के 'शि' का लोप हो जाने पर पदान्त नकार का "न लोप प्रातिपदिकान्तस्य"[6] से लोप हो जाता है तो 'विश्वा' बन जाता है। इसी प्रकार 'दुरिता', 'त्री', 'ता' ये रूप भी 'शि' का लोप होने पर बनते हैं। 'ता' में 'तद्' शब्द के दकार को "त्यदादीनाम"[8] से अकार होता है।

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र पर वार्तिककार कात्यायन सर्वथा मौन हैं। केवल भाष्यकार ही इस सूत्र को अन्यथासिद्ध समझते हुए इसका प्रत्याख्यान करते हैं—

"अथ योग शक्योऽवक्तुम्। कथमग्ने त्री ते वाजिना त्री षधस्था। ता ता पिण्डानाम् प्रजुहोम्यग्नौ इति। पूर्वसवर्णेनाप्येतत सिद्धम्। न सिद्ध्यति। नुमा व्यवहितत्वात् पूर्वसवर्णो न प्राप्नोति। छन्दसि नपुंसकस्य पुंवद्भावो वक्तव्य। मधोर्गृह्णाति, मधोस्तृप्ता इवासते इत्येवमर्थम्। तत्र पुंवद्भावेन नुमो निवृत्ति। नुमि निवृत्ते पूर्वसवर्णेन सिद्धम्। भवेत् सिद्धम्—अग्ने त्री ते वाजिना त्री षधस्था इति। इदं तु न सिध्यति—ताना पिण्डानाम् इति।

---

१ ऋक्० ६ २ ११।
२ ऋक्० ३ २० २।
३ ऋक्० १ १६२ १६।
४ पा० १ १ ४२।
५ पा० ७ १ ७२।
६ पा० ६ ४ ८।
७ पा० ८ २ ७।
८ पा० ७ २ १०२।

इदमपि सिद्धम् । कथम्-साप्तमिके पूर्वसवर्णे कृते पुन षाष्ठिको भविष्यति । एवमपि जसि गुण प्राप्नोति । वक्ष्यत्येतत् जसादिषु छन्दसि वा वचनं प्राङणौ चङ्युपधाया इति" ।[1]

तात्पर्य यह है कि 'त्री', 'ता' इत्यादि रूप सिद्ध करने के लिये यह सूत्र अनावश्यक है । 'त्री', 'ता' इत्यादि में 'शि' का लोप न करके "सुपा सुलुक् पूर्वसवर्णा०"[2] से पूर्वसवर्ण कर लिया जायेगा तो उससे 'त्री', 'ता' इत्यादि रूप बन जायेंगे । 'त्रि+इ' इस अवस्था मे 'प्रथमयो पूर्वसवर्ण'[3] से पूर्वसवर्ण दीर्घ ईकार एकादेश हो जायेगा तो 'त्री' यह इष्ट रूप बन जायेगा। "व्यत्ययो बहुलम्"[4] से लिङ्ग व्यत्यय मानकर 'नुम्' की निवृत्ति हो जायेगी । "जसि च"[5] से प्राप्त गुण 'जसादिषु छन्दसि वा वचन प्राङणौ चङ्युपधाया'[6] से वैकल्पिक होने से रुक जायेगा तो 'त्री' के बनने मे कोई बाधा नही है । रहा 'ता', उसमें भी 'त+इ' इस अवस्था में 'इ' के स्थान मे 'सुपा सुलुक्०'[7] से पूर्वसवर्ण अकार होकर षष्ठाध्याय पठित "प्रथमयो पूर्वसवर्ण"[8] से पूर्व-सवर्णदीर्घ हो जायेगा तो 'ता' बन जायेगा ।[9] इस प्रकार इष्ट रूप सिद्ध हो जाने पर 'शिलोप विधान' करना व्यर्थ है ।

समीक्षा एव निष्कर्ष

इस सूत्र का प्रत्याख्यान भी अन्यथासिद्ध होने से ठीक ही है । वैदिक प्रयोगो के साधन के लिये अनेक उपाय हैं । यहा भाष्यकार ने 'सुपां सुलुक्०' से पूर्वसवर्ण करके 'शिलोप' विधान को अनावश्यक सिद्ध कर दिया है।

---

१ महा० भा० ३, सू० ६ १ ७०, पृ० ४६ ।
२ पा० ७ १ ३९ ।
३ पा० ६ १ १०२ ।
४ पा० ३ १ ८५ ।
५ पा० ७ ३ १०९ ।
६ पा० ७ ३ १०९ पर वार्तिक ।
७ पा० ७ १ ३९ ।
८ पा० ६ १ १०२ ।
९ पदमजरीकार हरदत्त ने तो 'ता' की सिद्धि के लिये 'सुपा सुलुक्०' से विहित 'डादेश' माना है 'डादेशेन सिद्धत्वात्' ।

केवल 'सि' के लोप का विधान करने के लिये अलग एक सूत्र बनाना गौरवग्रस्त भी तो है। अतः इसका न होना ही न्याय्य है।

अर्वणस्त्रसावनञः ॥६ ४ १२७॥

मघवा बहुलम् ॥६ ४ १२८॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

ये दोनों सूत्र अङ्गाधिकार प्रकरण के हैं। इनमें पहले सूत्र का अर्थ यह है कि 'नञ् भिन्न अर्वन्' शब्द को 'तृ' आदेश होता है, 'सु' परे न होने पर। 'अर्वन्तौ', 'अर्वन्त', 'अर्वद्भ्याम्' इत्यादि उदाहरण हैं। 'अर्वन्तौ' इत्यादि में 'अर्वन्' शब्द से 'औ' विभक्ति परे होने पर 'तृ' आदेश हो गया। 'तृ' के ऋकार की 'इत्संज्ञा' होकर 'त्' शब्द शेष रह जाता है। उसके 'एकाल्' होने से "अलोऽन्त्यस्य"[1] के नियम से 'अर्वन्' के अंतिम अक्षर नकार के स्थान में तकार हो जाता है। ऋकार की 'इत्संज्ञा' होने से 'अर्वत्' शब्द 'उगित्' है। "उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः"[2] से 'नुम्' होकर 'अर्वन्तौ' बन जाता है। *सर्वनामस्थान में 'नुम्' होगा अन्यत्र नहीं।*

'असौ' कहने का प्रयोजन यह है कि 'सु' परे होने पर 'तृ' आदेश न हो। 'सु' परे रहते 'अर्वा' यही रूप बनेगा। 'अनञ्' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'नञ्' समास में 'तृ' आदेश न हो। 'अनर्वाणम्'।[3] 'न अर्वा अनर्वा'। यहां 'नञ् तत्पुरुष समास' में 'तृ' आदेश न हुआ तो 'अनर्वन' शब्द में द्वितीया के एकवचन 'अम्' प्रत्यय परे होने पर "सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ"[4] से नान्त की उपधा को दीर्घ हो गया। "नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्"[5] इस परिभाषा के वचन से ऋकार अनुबन्ध को लेकर 'तृ' यह 'अनेकाल्' नहीं होगा। इसलिये "अनेकाल् शित् सर्वस्य"[6] से सर्वादेश न होकर अन्त्यादेश ही होता है।

दूसरे सूत्र का अर्थ यह है कि 'मघवन्' शब्द को बहुलतया 'तृ' आदेश होता है। अर्थात् 'मघवन्' शब्द 'मघवत्' बन जाता है, कहीं मघवन्' ही रहता

---

१ पा० १ १ ५२।
२ पा० ७ १ ७०।
३ ऋक्० १ १० ६ १।
४ पा० ६ ४ ८।
५ परि० म० ६।
६ पा० १ १ ५५।

है। 'मघवन्', 'मघवन्तौ', 'मघवन्त' ये 'तृ' आदेश पक्ष के उदाहरण हैं। और 'मघवा', 'मघवानौ', मघवान' ये 'तृ' आदेशाभाव पक्ष के उदाहरण हैं। 'त' आदेश पक्ष में मघवत्' शब्द के उगित् होने से 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातो'[1] से 'नुम्' हो जाता है। मघवन त्+सु' इस अवस्था में 'हल्ङ्याब्भ्यो०'[2] से 'सुलोप' और "संयोगान्तस्य लोपः"[3] से तकार का लोप हो जाता है। बहुल' ग्रहण करने से संयोगान्तलोप की असिद्धता नहीं होगी तो नकारान्त हो जाने से उसकी उपधा को दीर्घ होकर 'मघवान्' बन जाता है। यह 'अतु प्रत्ययान्त' नहीं है अतः 'अत्वसन्तस्य चाधातोः'[4] से दीर्घ प्राप्त नहीं है। संयोगान्तलोप को असिद्ध न मानकर "सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ"[5] से उपधादीर्घ होता है, उसमें 'बहुल' ग्रहण ही कारण है। 'तृ' आदेश के अभाव पक्ष में तो 'मघवा मघवानौ' इस प्रकार 'राजन्' शब्द की तरह रूप चलेंगे। यहां तो 'मघवन्' शब्द के स्वतः नकारान्त होने से उपधा दीर्घ स्पष्ट ही है।

छान्दस होने से सूत्र का प्रत्याख्यान

उक्त दोनों सूत्रों का प्रत्याख्यान करते हुए भाष्यश्लोकवार्तिककार कहते हैं—

"अवर्णस्तृ मघोनश्च न शिष्यं छान्दसं हि तत्"[6] अर्थात् "अर्वणस्त्रसावनञः" और 'मघवा बहुलम्" ये दोनों ही सूत्र छान्दस होने से प्रत्याख्येय हैं। इनमें 'तृ' आदेश का विधान व्यर्थ है। 'अर्वन्' और 'मघवन्' इन दोनों शब्दों का प्रयोग छन्द एवं वेद में ही प्रायः होता है। और वेद में दृष्टानुविधि' होती है।'[7] वहां जैसा प्रयोग देखते हैं, वैसा ही अनुविधान हो जाता है। "मतुब्वसोर्विधानाच्च छन्दस्युभयदर्शनात्"[7] अर्थात् वेद में "छन्दसीवनिपौ

१ पा० ७ १ ७०।
२ पा० ६ १ ६८।
३ पा० ८ २ २३।
४ पा० ६ ४ १४।
५ पा० ६ ४ ८।
६ महा० भा० ३, प्रकृत सूत्र, पृ० २२०।
७ वही।
८ पा० ५ २ १०९ पर वार्तिक।

से 'वनिप्' प्रत्यय का विधान किया गया है। वह प्रातिपदिकमात्र से होता है। 'मघ' शब्द से 'वनिप्' होकर 'मघवन्' शब्द बन जायेगा। और सामान्य विहित "तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्"[1] से 'मतुप्' होकर 'मघवत्' शब्द बन जायेगा। 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्य'[2] से 'मतुप्' के मकार को वकार हो जाता है। इस प्रकार 'मघवन्' और 'मघवत्' ये दोनों शब्द क्रमश 'वनिप्' और 'मतुप्' प्रत्यय के योग से 'तृ' आदेश बिना किये भी बन जायेंगे तो यह "मघवा बहुलम्" सूत्र व्यर्थ है। इसके बनाने की आवश्यकता नहीं। वैसे भाष्यवार्तिककार का इन दोनों सूत्रों को छान्दस मानना विचारणीय है। क्योंकि कातन्त्र व्याकरण में उपर्युक्त प्रयोगों के साधक "अर्वन्नर्वन्तिरसावनञ्, सौ च मघवान् मघवा वा" (कातन्त्र, २ ३ २२, २३) सूत्र उपलब्ध होते हैं। कातन्त्र व्याकरण केवल लौकिक संस्कृत का व्याकरण है और वह भी अत्यन्त संक्षिप्त। अतः उसमें इन सूत्रों के विद्यमान होने और पाणिनीय सूत्रों में 'छन्दसि' पद का प्रयोग न होने से स्पष्ट है कि 'अर्वन्तौ' आदि प्रयोग कभी लौकिक संस्कृत में विद्यमान थे। अतएव कातन्त्र की वृत्ति टीका में दुर्गसिंह लिखते हैं—

"छन्दस्येतौ योगाविति भाष्यकारो भाषते। शर्ववर्मणो वचनाद् भाषायामप्यवसीयते। तथा च—मघवद् वज्र लज्जानिदाने, प्रलयीकृतप्रग्रहमर्वता व्रजम् इति दृश्यते"।[3] अर्वन् शब्द में 'ऋ' धातु से "अन्येभ्योऽपि दृश्यते"[4] से 'विच्' प्रत्यय करके सार्वधातुक गुण द्वारा 'अर्' यह रूप होता है। 'विच्' प्रत्यय का सर्वापहारी लोप हो जाता है। कृदन्त 'अर्' शब्द में मत्वर्थ में 'मतुप्' प्रत्यय होकर 'अर्वत्' बन जाता है। उससे 'अर्वन्तौ', 'अर्वन्त' ये रूप बनते हैं। 'अर्' शब्द में 'वनिप्' प्रत्यय होने पर 'अर्वन्' भी बन जाता है। उससे 'अर्वा', 'अर्वण' इत्यादि अभीष्ट रूप बनते हैं। वेद में "छन्दसीवनिपौ"[5] से 'वनिप्' प्रत्यय विहित है और 'मतुप्' प्रत्यय लोकवेद उभयसाधारण है। वह जैसे लोक में होता है, वैसे वेद में भी हो जाता है। इस प्रकार

---

१ पा० ५ २ ९४।

२ पा० ८ २ ९।

३ म० व्या० शा० ३, भा० १ पृ० ३६ से उद्धृत।

४ पा० ३ २ ७५।

५ पा० ५ २ १०९।

'मतुप्' और 'वनिप्' इन दोनो प्रत्ययो का वेद में विधान होने से तथा दोनो प्रकार के प्रयोग वेद में दृष्टिगोचर होने से 'तृ' आदेश करने वाला यह सूत्र व्यर्थ ही है। 'मघवन्' के लिये तो आचार्य ने स्वय 'बहुलम्' कहकर दोनो प्रकार के प्रयोग की खुली छूट दे दी है। 'अर्वन्' के लिये भी दोनो प्रकार के प्रयोग मिलने के कारण 'बहुलम' की कल्पना सहज है। अथवा 'बहुलम्' यह दोनो का शेष समझ लिया जायेगा।

समीक्षा एव निष्कर्ष

'अर्वन' और 'मघवन्' शब्दो के केवल वेदैकगम्य होने के कारण "दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति"[1] के आधार पर प्रत्याख्यान करना समुचित ही है। वैदिक प्रयोगो के साधन मे कोई निश्चित एक प्रकार नही है। वहा स्वर को देखकर भी व्युत्पत्ति का निर्णय करना होता है। इसीलिये 'मघवन्' शब्द से द्वितीया विभक्ति का बहुवचन 'शस्' परे रहते भ सज्ञा होकर "श्वयुवमघोनामतद्धिते"[2] से वकार को उकार सम्प्रसारण होता है। यहा पर "यस्येति च"[3] से प्राप्त 'मघ' शब्द के अकार का लोप छान्दस मानकर ही प्रतिषिद्ध होता है। तभी 'मघोन' बनता है। 'मघवन्' शब्द को अव्युत्पन्न मानने पर तो बात दूसरी है।[4] "श्वनुक्षन्०"[5] इत्यादि उणादि सूत्र मे तो 'कनिन्' प्रत्ययान्त 'मघवन्' शब्द निपातित है। 'मह पूजायाम' धातु मे 'कनिन' प्रत्यय होकर 'ह' को 'घ' और 'अवुक्' का आगम हो जाता है तो 'मघवन्' बन जाता है। 'वनिप् प्रत्ययान्त मघवन्' मध्योदात्त[6] है। 'कनिन् प्रत्ययान्त' आद्युदात्त है।[7] 'कनि' प्रत्यय के पक्ष मे तो अन्तोदात्त है। और

---

१ महा० भा० ३, प्रकृत सूत्र, पृ० २२०।

२ पा० ६ ४ १३३।

३ पा० ६ ४ १४८।

४ 'असिद्धवदत्राभात्' (पा० ६ ४ २२) सूत्र के प्रयोजनो में परिगणित 'सम्प्रसारणमवणलोपे प्रयोजनम्' इस वार्तिक का खण्डन करते हुए भाष्यकार ने कहा है—
'मघवन्शब्दोऽव्युत्पन्न प्रातिपदिकम् इति'।

५ उणादि १ १६५।

६ द्र० पा० ३ १ ४—'अनुदात्तौ सुप्पितौ'।

७ द्र० पा० ६ १ १९७—'ञ्नित्यादिर्नित्यम्'।

वह लोक में भी प्रयुक्त होता है। "हविर्जक्षिति नि शङ्को मरवेषु मघवानसौ०"[1] यह भट्टिकाव्य का प्रयोग है। उणादिसूत्र निष्पन्न 'मघवन्' शब्द के विषय में तत्त्वबोधिनीकार लिखते हैं –

"यद्यपि श्वन्नुक्षन् इत्यत्र कनिन्नता एते इत्युज्ज्वलदत्तादिग्रन्थपर्यालोचनया आद्युदात्तत्व लभ्यते तथापि उक्षा समुद्रो अरुण सुपर्ण, पूषावेतो नयतु, अग्निर्मूर्धा दिव इत्यादौ तत्सूत्रोपात्तानामुक्षादीनामन्तोदात्तत्वस्य निर्विवादतया कनिप्रत्यय एवोचित इति भाव"।

मघवन् की तरह अर्वन् का प्रयोग भी लोक में होता है, इस विषय में यह कोष का वचन ही प्रमाण है—"वाजि वाहाव गन्धर्व हय सैन्धवसप्तम इति"।[2] ऐसी स्थिति में भाष्यकार तथा वार्तिककार ने जो इन दोनों को वैदिक कहा है, वह प्रायिक ही समझना चाहिये। जो भी हो, चाहे इन्हें लौकिक माना जाये या वैदिक, दोनों ही हालत में ये सूत्र अन्यथासिद्ध होने से प्रत्याख्येय ही हैं।

बहुल छन्दसि ।७ १ ८॥

बहुल छन्दसि ॥७ १ १०॥

सूत्रों की सप्रयोजन स्थापना

ये दोनों सूत्र अङ्गाधिकार प्रकरण के हैं। इनमें पहले सूत्र का अर्थ है कि वेद में बहुलतया 'रुट्' का आगम होता है। 'वेत्तेर्विभाषा'[3] इस पूर्वसूत्र से विद्ज्ञाने' धातु से परे 'झ' के स्थान में आदेश हुए 'अत्' को विकल्प से 'रुट्' का आगम कहा है। इस सूत्र से 'विभाषा' की अनुवृत्ति आने पर भी जो 'बहुल' ग्रहण किया गया है वह सर्वोपाधिव्यभिचारार्थ है।[4] 'विद्' से भिन्न अन्य धातुओं से परे भी 'रुट्' करने के लिये तथा 'झादेश अत्' से भिन्न 'अन्त' आदेश को भी 'रुट्' करने के लिये और 'विद्' से भिन्न अन्य धातुओं से परे कहीं न भी करने के लिये 'बहुल' ग्रहण किया गया है। जैसे—

---

१ भट्टिकाव्य, सर्ग १८, श्लोक १६।

२ अमरकोष, २ ८ ४४।

३ पा० ७ १ ७।

४ तुलना करो—'क्वचित्प्रवृत्ति क्वचिदप्रवृत्ति क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्य देव। विधेर्विधान बहुधा समीक्ष्य चतुर्विध बाहुलक वदन्ति'॥

'देवा अदुह्र'।[1] यहां 'दुह्' धातु से आत्मनेपद में 'लङ्' लकार के बहुवचन में 'झ' प्रत्यय होता है। "अदिप्रभृतिभ्यः शपः"[2] से 'शप्' का 'लुक्' होकर 'आत्मनेपदेष्वनतः'[3] से 'झ' को 'अत्' आदेश हो जाता है। 'अदादेश' को इस सूत्र से 'रुट्' का आगम होकर 'लोपस्त आत्मनेपदेषु'[4] से 'अत्' के तकार का लोप हो जाता है तो शेष अकार का 'अतो गुणे'[5] से पररूप होकर 'अदुह्र' बन जाता है। लोक में 'अदुहत' रूप होता है तथा वेद में 'अदुह्र'। वेद में भी बहुल' कहने से 'रुट्' न होकर तथा तकारलोप का अभाव होने से अदुहत' बनता है।

इसी प्रकार अदृश्रन्'[6] अथवा 'अदृश्रम्'[7] यहां भी 'दृश्' धातु से परे 'झि' के स्थान में हुए 'अन्त' आदेश को 'रुट्' हो जाता है। 'अदृश्रन्' में 'दृश्' धातु से 'लुङ्' में 'झि' प्रत्यय हुआ है। 'अदृश्रम्' में 'दृश्' धातु से 'लुङ्' में 'मिप्' हुआ है। उसको 'अमादेश' होकर 'रुट्' हो जाता है। लोक में 'अदर्शन्' और 'अदर्शम्' ये रूप बनते हैं। वहां "ऋदृशोऽङि गुण"[8] से गुण हो जाता है। 'दृश' धातु के 'इरित्' होने से पक्ष मे "इरितो वा"[9] से 'च्लि' को 'अङ्' होता है। 'अतो गुणे'[10] से दोनों अकारों को पररूप होकर 'अदर्शन्' 'अदर्शम्' ये बन जाते हैं। वेद में 'बहुल' वचन से ही "ऋदृशोऽङि गुण" से विशेष विहित गुण भी नहीं हुआ।[11] इस प्रकार 'बहुल' वचन से वेद में 'विद्' से

---

१ कृष्णयजुर्वेदीय मैत्रायणी संहिता ४ २ १।

२ पा० २ ४ ७२।

३ पा० ७ १ ५।

४ पा० ७ १ ४१।

५ पा० ६ १ ९७।

६ मा० यजु १६ ७।

७ ऋक्० १ ५० ३। मा० यजु ८ ४०।

८ पा० ७ ४ १६।

९ पा० ३ १ ५७।

१० पा० ६ १ ९७।

११ द्र० (क) अदृश्रम्—दृशिर् प्रेक्षणे अस्य कर्मणि प्रथमपुरुषबहुवचनस्थाने छान्दस रूपमिति उव्वट'।

भिन्न 'दुह्', 'दृश्' आदि धातुओं से परे भी 'झादेश अत्' या 'अन्त' को 'रुडागम' होता है और 'झादेश' से भिन्न 'मिप्' के आदेश 'अम्' को भी 'रुट्' होता है। वह भी सब जगह नहीं होता, यह बहुल' ग्रहण का ही प्रभाव है।

दूसरे "बहुलं छन्दसि" (पा० ७ १ १०) सूत्र का अर्थ है कि वेद में 'भिस्' को 'ऐस्' आदेश बहुलतया होता है। 'बहुल ग्रहण से जहां होना चाहिये, वहां नहीं होता और जहां नहीं होना चाहिये वहां हो जाता है। यही 'बहुल' ग्रहण का माहात्म्य है। उदाहरण—'नद्यैः'। यहां 'नदी' शब्द से तृतीया का बहुवचन 'भिस्' प्रत्यय हुआ है। "अतो भिस् ऐस्"[1] इस पूर्वसूत्र से विहित 'ऐस्' आदेश अकारान्त शब्द से परे होता है किन्तु यहां 'बहुल' ग्रहण से 'नदी' इस ईकारान्त शब्द से परे भी हो गया। फिर 'यणादेश' होकर 'नद्यैः' बन जाता है। 'देवेभिः', 'तेभिः', 'कर्णेभिः'[2] यहां 'देव' आदि अकारान्त शब्दों से परे 'भिस्' को 'ऐस्' होना चाहिये किन्तु 'बहुल' ग्रहण से वेद में नहीं होता। न्यासकार के मत में यहां 'बहुल' ग्रहण विस्पष्टार्थ है। वे कहते हैं—"शक्यते हि मण्डूकप्लुतिन्यायेन बहुलग्रहणमनुवर्तयितुम् इति"। जैसे मेंढक उछल उछल कर चलते हैं, क्रम प्राप्त स्थान को भी छोड़कर आगे कूद जाते हैं वैसे यहां भी पूर्वसूत्रस्थ 'बहुल' ग्रहण "अतो भिस ऐस्" को छोड़कर यहां आ कूदेगा तो दुबारा 'बहुल' ग्रहण करने की आवश्यकता न होगी।

लाघवार्थ अनुवृत्ति द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इन दोनों के खण्डन मण्डन में वार्तिककार सर्वथा मौन हैं। केवल भाष्यकार ही उक्त दोनों वेदविषयक सूत्रों में से एक का प्रत्याख्यान आवश्यक समझते हुए कहते हैं—

"इदं बहुलं छन्दसीति द्विः क्रियते। एकं शक्यमकर्तुम्। कथम्। यदि तावत् पूर्वं क्रियते परं न करिष्यते। अतो भिस ऐस् इत्यत्र बहुलं छन्दसि

(ख) 'उत्तमैकवचने अदशमितिप्राप्ते शीङो रुट्, वेत्तेर् विभाषा, बहुलं छन्दसि इति दृशेरुत्तरस्य मिबादेशस्य अमो रुडागमो धातो गुणाभावश्छान्दस' (मा० यजु० उव्वट महीधर भाष्य)।

१ पा० ७ १ ९।

२ साम०, १ २, मा० यजु ३४ २७, मा० यजु० २५ २१।

इत्येतदनुवर्तिष्यते । अत परं क्रियते पूर्वं न करिष्यते । बहुल छन्दसि इत्यत्र रुडत्यनुवर्तिष्यते । अपर आह--उभे बहुल ग्रहणे एवं छन्दोग्रहणं शक्यमकर्तुम् । कथम्—इदमस्ति, वेत्तेर् विभाषा । ततश्च छन्दसि । छन्दसि च विभाषा । ततोऽतो भिस ऐस् भवति । छन्दसि विभाषेति" ।[1]

अर्थात् ये जो दो "बहुल छन्दसि" सूत्र बनाये गये हैं, इनमें से एक हट सकता है। कैसे? यदि 'वेत्तेर्विभाषा'[2] के बाद आने वाला पहला "बहुल छन्दसि" सूत्र रखा जाता है तो "अतो भिस ऐस्"[3] के बाद आने वाले 'बहुल छन्दसि" की आवश्यकता नहीं होगी। "अतो भिस ऐस्" में पहले पढ़े हुए "बहुल छन्दसि" की अनुवृत्ति हो जायेगी तो उससे वेद में 'रुडागम' और 'ऐस्' आदेश दोनों की बहुलतया प्रवृत्ति सिद्ध हो जायेगी। क्योंकि "बहुल छन्दसि" के 'रुडागम' और 'ऐस्' आदेश के मध्य में पठित होने से उसका पूर्वोत्तर सूत्र विहित कार्यों से सम्बन्ध हो जायेगा जोकि सर्वथा उपपन्न है। इसके विपरीत यदि 'अतो भिस ऐस्' के बाद आने वाला "बहुल छन्दसि" सूत्र रखा जाता है तो पहले पढ़े हुए 'बहुल छन्दसि" की आवश्यकता न रहेगी। क्योंकि "अतो भिस ऐस्" के बाद आने वाले "बहुल छन्दसि" में जहां पूर्वसूत्र से 'ऐस्' की अनुवृत्ति होगी वहां उससे अव्यवहित पूर्व गये 'रुट्' की भी अनुवृत्ति हो जायेगी तो उस सूत्र से भी वेद में 'रुट्' तथा 'ऐस्' आदेश दोनों बहुलतया सिद्ध हो जायेंगे।

पक्षान्तर में भाष्यकार कहते हैं कि यदि दोनों सूत्र नहीं हटाये जा सकते तो कम से कम दोनों 'बहुल' ग्रहण और एक 'छन्दसि' शब्द का ग्रहण तो अवश्य हटाया जा सकता है। सो कैसे? "वेत्तेर्विभाषा' के बाद केवल "छन्दसि" इतना सूत्र रखना चाहिये। उसका अर्थ होगा कि वेद में 'रुडागम' का विकल्प होता है। वह विकल्प 'व्यवस्थित विकल्प' माना जायेगा जो 'बहुल' ग्रहण का काम करेगा। उसके बाद "अतो भिस ऐस्" सूत्र में ऊपर से 'विभाषा छन्दसि' की अनुवृत्ति की जायेगी तो उससे लोक में 'भिस्' को 'ऐस्' नित्य होकर वेद में 'ऐस्' का विकल्प हो जायेगा। वह विकल्प भी व्यवस्थित होने से 'बहुल' का ही काम करेगा। इस पक्ष में केवल "छन्दसि' इतना एक सूत्र ही पर्याप्त रह जाता है जिससे सभी वैदिक प्रयोगों में 'रुडागम' और 'ऐस्' आदेश की यथोचित व्यवस्था बन जाती है।

१ महा० भा० ३, सू० ७।१।१०, पृ० २४४।
२ पा० ७।१।७।
३ पा० ७।१।९।

समीक्षा एव निष्कर्ष

इस विषय में तो किसी को कोई सन्देह ही नहीं कि ये दोनों सूत्र केवल वेद विषयक हैं। एक 'रुडागम' की और दूसरे 'ऐसादेश' की वेद में बहुलतया प्रवृत्ति होती है, इसके सूचक हैं। आचार्य पाणिनि ने पहले 'रुडागम' का विकल्प वेद में देखा तो उसके लिये पहला "बहुल छन्दसि" सूत्र पढ दिया। उसके बाद उन्होंने वेद में 'ऐसादेश' का विकल्प देखा तो उसके लिये दूसरा "बहुल छन्दसि" सूत्र पढ दिया। उनसे अर्थ की स्पष्ट प्रतिपत्ति हो गई, सूत्र तो जरूर दो बनाने पडे। भाष्यकार ने लाघव की दृष्टि से[1] (शब्दकृत-लाघव की दृष्टि से न कि अर्थकृत लाघव की दृष्टि से, जबकि उभयकृत लाघवों में अर्थकृत लाघव ही मुख्य माना गया है) जो एक सूत्र ही रखकर अभीष्ट अर्थ को सिद्ध कर दिया है, यह न्यायोचित है। किन्तु यहाँ भाष्यकार का तात्पर्य यदि यह लिया जाये कि "पुरस्तादिदमाचार्येण दृष्टं तत्पठितम्—तत उत्तरकाले इदं दृष्टं तदपि पठितम्। न चेदानीमाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति"[2] तो भी कोई अनौचित्य या आपत्ति नहीं है। तथापि सूत्र का प्रत्याख्यान ही ठीक मानना चाहिए।[3] क्योंकि एक तो वेद में दृष्टानुविधि होती ही है। साथ ही प्रस्तुत प्रसंग में कोई अस्पष्ट प्रतिपत्ति भी नहीं होती।

श्रीग्रामण्योश्छन्दसि ॥७ १ ५६॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र अङ्गाधिकार प्रकरण का है। इसका अर्थ है कि 'श्री' और 'ग्रामणी' शब्द से परे आम् को 'नुट्' का आगम होता है वेद में। जैसे—'श्रीणाम्'।[4] 'सूतग्रामणीनाम्'।[5] 'श्रीणाम्' में 'श्री' शब्द से षष्ठी विभक्ति का बहुवचन 'आम्' प्रत्यय हुआ है। 'श्री' शब्द के ह्रस्वान्त, नद्यन्त या

---

१ द्र० महा० पस्पशा, पृ० १—'लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम्'।

२ महा० भा० १, पस्पशा, पृ० १२।

३ वै० सि० कौ० भा० १, पृ० २२३—'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्'।

४ ऋक्० १० ४५ ५।

५ कठकपिष्ठलसंहिता, ४४ ३, पृ० ३०१।

आबन्त न होने से "ह्रस्वनद्यापो नुट्"[1] से 'नुट्' प्राप्त नहीं था। इस सूत्र से उसका विधान होकर 'अट्कुप्वाङ्नुम् व्यवायेऽपि'[2] से 'न' को 'ण' हो जाता है तो 'श्रीणाम्' बन जाता है। 'सूत ग्रामणी' शब्द में सूताश्च ग्रामण्यश्च इति सूतग्रामण्य' इस प्रकार 'इतरेतरयोग द्वन्द्वसमास' है। उसमें 'आम्' परे रहते 'ग्रामणी' शब्द के ह्रस्व न होने से और न ही नद्यन्त या आबन्त होने से 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' से 'नुट्' नहीं प्राप्त होता था। प्रकृत सूत्र से 'नुट्' होकर सूतग्रामणीनाम्' यह इष्ट रूप वेद में बन जाता है। लोक में तो 'श्री' शब्द की "वामि"[3] से नदीसंज्ञा' विकल्प से होती है। 'नदी संज्ञा' पक्ष में 'ह्रस्वनद्याप' से ही नुट्' सिद्ध है। 'नदीसंज्ञा' के अभाव में 'नुट्' न होने से "अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ"[4] से 'इयङ्' हो जायेगा तो 'श्रियाम्' बनता है। 'ग्रामणी' शब्द में भी "एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य"[5] से 'यण्' होकर 'ग्रामण्याम्' बनता है। 'नदी संज्ञा' के अभाव में भी वेद में 'श्री' शब्द से 'आम्' परे होने पर 'नुट्' होकर 'श्रीणाम्' ही बने, इसलिये यह सूत्र बनाया गया है। 'ग्रामणी' में तो 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' से विहित यण्' को बाधकर वेद में 'नुट्' होता है, उससे 'ग्रामणीनाम्' बनता है।

छान्दस होने से अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार कात्यायन इस सूत्र के खण्डन-मण्डन में सर्वथा मौन हैं। केवल भाष्यकार ही इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—

"अय योग शक्योऽवक्तुम्। कथं श्रीणामुदारो धरुणो रयीणाम्। अपि तत्र सूतग्रामणीनाम् इति। इह तावत् श्रीणामुदारो धरुणो रयीणाम्, विभाषा आमि नदी संज्ञा। सा छन्दसि व्यवस्थितविभाषा भविष्यति। अपि तत्र सूतग्रामणीनाम् इति, सूताश्च ग्रामण्यश्च सूतग्रामणि, तत्र ह्रस्वनद्यापो नुडित्येव सिद्धम्"।[6]

तात्पर्य यह है कि 'श्रीणाम्' और 'ग्रामणीनाम्' में 'नुट्' अन्यथासिद्ध है।

---

१ पा० ७।१।५४।
२ पा० ८।४।२।
३ पा० १।४।५।
४ पा० ६।४।७७।
५ पा० ६।४।८२।
६ महा० भा० ३, सू० ७।१।५६, पृ० २६०।

"ह्रस्वनद्यापो नुट्"[1] से ही 'नुट्' हो सकता है तो यह सूत्र व्यर्थ है। इसकी कोई आवश्यकता नही। क्योंकि 'श्रीणाम्' मे 'इयङुवङ्' स्थान वाले 'श्री' शब्द की 'आम्' परे रहते"वामि"[2] से विकल्प से 'नदी' सज्ञा होती है। वह विकल्प वेद मे 'व्यवस्थित विकल्प' मानने पर 'श्री' शब्द से 'आम्' परे होने पर "ह्रस्व नद्याप०" से ही 'नुट्' हो जायेगा। "व्यवस्थित विभाषयापि कार्याणि क्रियन्ते"[3] इस परिभाषा के वचन से वेद मे 'श्रीणाम्' ही बनेगा। वहा नित्य 'नुट्' ही इष्ट है। 'ग्रामणीनाम्' मे 'इतरेतरयोग द्वन्द्व' न मानकर 'सूताश्च ग्रामण्यश्च तेषा समाहार सूतग्रामणि' इस प्रकार 'समाहार द्वन्द्व' माना जायेगा। 'समाहार' मे एकत्व होने से 'सनपुसकम्'[4] से नपुसकलिङ्ग होकर "ह्रस्वो नपुसके प्रातिपदिकस्य"[5] से 'ग्रामणी' को ह्रस्व हो जायेगा। उससे षष्ठी के बहुवचन 'आम्' परे रहते "ह्रस्व नद्याप०" से ही 'नुट्' सिद्ध हो जाने से यह सूत्र व्यर्थ है। 'सूतग्रामणीनाम्' मे 'समाहार द्वन्द्व' करके 'एकशेष' किया जायेगा। 'एकशेष' करके 'समाहार द्वन्द्व' नही होगा। अन्यथा 'समाहार' के एक होने से 'ग्रामणीनाम्' मे बहुवचन नही हो सकेगा।

समीक्षा एव निष्कर्ष

'श्रीणाम्' मे तो स्पष्ट ही नित्य 'नदी सज्ञा' मानकर "ह्रस्वनद्याप०" सूत्र से 'नुडागम' सिद्ध है। 'व्यवस्थित विकल्प' मानने से वहा 'श्रियाम्' यह रूप नहीं बनेगा। 'सूतग्रामणी' शब्द में भी 'समाहार द्वन्द्व' करके 'सूत-ग्रामणि' शब्द बन जाता है। इसके ह्रस्व होने से षष्ठी बहुवचन में "ह्रस्व नद्याप०" से ही 'नुट्' सिद्ध है। ऐसी अवस्था मे इस सूत्र का प्रत्याख्यान होना ही चाहिये। वैसे भी छान्दस प्रयोगो मे 'दृष्टानुविधि' होती है। इसलिए इस सूत्र के बिना भी उक्त दोनो प्रयोग बन सकते हैं तो इस सूत्र की क्या आवश्यकता है। 'श्री' शब्द के विषय मे काशिकाकार लिखते हैं— "श्रीशब्दस्य वामि इति विकल्पेन नदी सज्ञा, तत्र नित्यार्थं वचनम्, अन्यथा

---

1 पा० ७,१ ५४।
2 पा० १४ ५।
3 परि० स० ६६।
4 पा० ११ १७।
5 पा० १ २ ४७।

भाषायामिव विकल्प स्यात्" ।[1] इस पर पदमञ्जरीकार लिखते हैं—"छन्दसि नुडेव चेद् दृश्यते, तस्य च लक्षणमस्ति, कोऽयं विकल्प प्रसङ्ग इति चिन्त्य-मेतत्" ।

बात साफ है । काशिकाकार ने तो वृत्तिकार होने के नाते सूत्र को सार्थक सिद्ध करना था किन्तु पदमञ्जरीकार ने भाष्य के आधार पर सूत्र का खण्डन ही कर दिया । अत काशिकाकार स्वत चिन्त्य हो गये । इस तरह सूत्र का प्रत्याख्यान पक्ष ही प्रबल है ।

ये यज्ञकर्मणि ॥८ २ ८८॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र 'ये' शब्द को प्लुतविधान करता है । इसका अर्थ है कि यज्ञ कर्म मे प्रयुक्त होने वाले 'ये' शब्द को प्लुत होता है । प्रत्येक 'ये' शब्द को यह सूत्र प्लुत नही करता अपितु 'ये यजामहे' इस वाक्य में आने वाले 'ये' शब्द को ही यह प्लुत करता है । जैसे—ये ३ यजामहे' ।[2] इस सूत्र में 'यज्ञकर्मणि' ग्रहण का प्रयोजन यही है कि यज्ञक्रिया मे बोले जाने वाले 'ये' शब्द को प्लुत हो, सर्वत्र न हो । जहा यज्ञ न करते हुए केवल स्वाध्यायकाल में 'ये यजामहे इति पञ्चाक्षरम्"[3] इस प्रकार पाठ कर रहे हैं वहां 'ये' शब्द को प्लुत नही होता ।

अतिव्याप्तिदोषग्रस्त होने से लाघवार्थ अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र का प्रत्याख्यान भाष्यवार्तिककार ने स्पष्ट रूप से तो नही किया है किन्तु प्रकारान्तर से इसका प्रत्याख्यान हो जाता है । वार्तिककार शका करते हैं —

"ये यज्ञकर्मणीत्यतिप्रसङ्ग" । ये यज्ञकर्मणि इत्यतिप्रसङ्गो भवति । इहापि प्राप्नोति ये देवासो दिव्येकादश स्थ इति" ।[4]

---

१ का० भा० ५, प्रकृत सूत्र, पृ० ४६२ ।

२ तैत्तिरीय सहिता, ३ ३ ७ ।
शतपथब्राह्मण, १ ५ २ १६ ।

३ कृष्ण यजुर्वेदीय मैत्रायणी सहिता, काण्ड १, प्रपाठक ४ अनुवाक ११ ।

४ महा० भा० ३, सू० ८ २ ८८, पृ० ४१६ ।

यहा शका की गई है कि "ये यज्ञकर्मणि" इतना कहने से तो यज्ञकर्म मे प्रयुक्त होने वाले सभी 'ये' शब्दो को प्लुत प्राप्त होता है। 'ये देवासो दिव्येकादश स्थ'[1] यहा मन्त्र मे पढे गये 'ये' शब्द को भी प्लुत होना चाहिये। क्योकि यह मन्त्र भी यज्ञकर्म में बोला जाता है, तो इस शका का उत्तर देते हुए आगे कहते हैं—

"सिद्ध तु ये यजामहे इति ब्रूह्यादिषूपसख्यानम्। सिद्धमेतत्। कथम्। ये यजामहे इति शब्दो ब्रूह्यादिषूपसख्येय"।[2]

इसका तात्पर्य यह है कि 'यजामहे' के साथ पढा जाने वाला 'ये' शब्द ही यहा लिया गया है। उसको ही प्लुत करना है और वह 'ये यजामहे' शब्द भी "ब्रूहि प्रेष्य-श्रौषड् वौषडावहानामादे"[3] इस सूत्र में उपसख्यान करने योग्य है। वहा जहा 'ब्रूहि', 'प्रेष्य' आदि शब्द पढ़े गये हैं और उनके आदि अक्षर को प्लुत होता है, ये यजामहे' का भी उनके साथ पढ देने से आदि का 'ये' अक्षर प्लुत हो जायेगा। उससे यह सूत्र व्यर्थ होकर प्रत्याख्यान के योग्य हो जाता है।

समीक्षा एव निष्कर्ष

वार्तिककार ने यह ठीक ही कहा है कि इस 'ये यजामहे' शब्द को 'ब्रूहि', 'प्रेष्य' आदि विशिष्ट शब्दो के साथ ही पढ देना चाहिये। उससे एक सूत्र की बचत हो जायेगी और दोष भी कही न आयेगा। क्योकि 'ये यजामहे' यह भी एक विशिष्ट शब्द है। पदमजरीकार कहते हैं—'ये यजामहे' के समान 'पित्र्याया ये स्वधा यहा भी ये शब्द को प्लुत होता है। क्योकि ये स्वधा' का स्थानापन्न 'ये यजामहे' शब्द है। जब 'ये यजामहे' मे प्लुत होता है तो 'ये स्वधा' में भी प्लुत आवश्यक है।[4] इस प्रकार प्राचीन यज्ञप्रक्रिया में 'ये यजामहे' के 'ये' शब्द को प्लुत करने वाला यह सूत्र "ब्रूहिप्रेष्य०"

---

१ मा० यजु ७।१६, ऋ० १।१३६।११।

२ महा० भा० ३, सू० ८।२।८८, पृ० ४१६।

३ पा० ८।२।९१।

४ द्र० प० म० प्रकृत सूत्र—'पित्र्याया ये स्वधा इत्यत्रापि भवति, एतत् स्थानापन्नत्वात् तस्य'। 'पित्र्याया ये स्वधा' यह वचन कहा का है और इसका क्या अर्थ है इसका क्या अर्थ है, यह अन्वेष्टव्य है।

सूत्र में समावेश के कारण अनावश्यक हो जाता है।

स्तुतस्तोमयोश्छन्दसि ॥पा० ८ ३ १०५॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र वैदिक षत्वप्रक्रिया का है। इसका अर्थ है कि 'स्तुत' और 'स्तोम' शब्द के सकार को षकार होता है वेद मे, कुछ आचार्यों के मत मे। यहा "युजुष्येकेषाम्"[1] इस पूर्वसूत्र से 'एकेषाम्' की अनुवृत्ति आती है। उससे यह षत्वविधान कुछ एक आचार्यों के मत मे होता है, सबके नही। इस प्रकार षत्व का विकल्प हो जाता है। जैसे 'त्रिभिष्टुतस्य'। 'त्रिभिस्तुतस्य'। 'गोष्टोमम्'।[2] 'गोस्तोमम्' यहा जिस पक्ष में षत्व हो गया वहां "ष्टुना ष्टु"[3] से 'ष्टुत्व' भी हो गया। 'स्तुत' और 'स्तोम' का सकार पाद के आदि में होने से यहा "सात्पदाद्यो"[4] से षत्व का निषेध प्राप्त था। उसका पुन प्रतिप्रसव करने के लिये यह सूत्र बनाया गया है। यदि "सात्पदाद्यो" न होता तो "आदेशप्रत्यययो"[5] से ही षत्व सिद्ध था किन्तु उसे "सात्पदाद्यो" रोक देता है। उसको भी रोक कर षत्व करने के लिये यह सूत्र है। 'अभिष्टुत' इत्यादि में तो "उपसर्गात् सुनोति सुवति स्यति स्तौति०"[6] से भी षत्व सिद्ध हो सकता है।

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए भाष्यवार्तिककार कहते हैं—

"स्तुतस्तोमयोश्छन्दस्यनर्थक वचन पूर्वपदादिति सिद्धत्वात्। पूर्वपदादित्येव सिद्धम्"।[7]

तात्पर्य यह है कि 'पूर्वपदात्'[8] से ही षत्व सिद्ध हो जाने पर यह अर्थ

---

१ पा० ८ ३ १०४।
२ जैमिनीय ब्राह्मण, ३ १०।
३ पा० ८ ४ ४१।
४ पा० ८ ३ १११।
५ पा० ८ ३ ५९।
६ पा० ८ ३ ६५।
७ महा० भा० ३, प्रकृत सूत्र, पृ० ४४८।
८, पा० ८ ३ १०६।

है। "पूर्वपदात्" का अर्थ है कि पूर्वपद से परे विद्यमान सकार को वेद मे षकार हो जाता है। यहा 'त्रिभि' और 'गो' ये पूर्वपद हैं। उनसे परे 'स्तुत' और 'स्तोम' के सकार को षत्व हो सकता है। यह सूत्र तो उसी का प्रपञ्च होने से अनर्थक है। "पूवपदात्" सूत्र मे 'पूवपद' शब्द से समास का अवयव पूर्वपद नही लिया गया है अपितु सामान्य रूप से जो किसी से पूव विद्यमान पद है, वही पूर्वपद मान लिया है। समास के अभाव मे भी वह सूत्र पूव विद्यमान पद से परे षत्व करता है। इसलिये अ यथासिद्ध होने से यह सूत्र अनावश्यक है।

समीक्षा एव निष्कर्ष

वार्तिककार के साथ भाष्यकार भी इस सूत्र के प्रत्याख्यान में सहमत हैं। "पूर्वपदात्" यह षत्व करने वाला सूत्र व्यापक है किसी भी पूवपद से परे किसी भी सकार को षत्व कर सकता है। यह सूत्र तो केवल 'स्तुत', 'स्तोम' शब्दो के सकार को षत्व करने के लिए बनाया गया है इसलिये इसका क्षेत्र व्यापक नही है। व्यापक सूत्र मे यह गतार्थ हो सकता है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे कैयट लिखते हैं—

"तदत्र स्तुत स्तोम ग्रहण प्रत्याख्यायते। छन्दोग्रहण तु उत्तरार्थं वक्तव्यमेव"।[1]

इस प्रकार इनकी सम्मति मे समस्त सूत्र का प्रत्याख्यान नही हुआ। किन्तु वार्तिककार ने ऐसा नही माना। वे 'छन्दो' ग्रहण के बिना भी इसमे तथा इससे आगे आने वाले सूत्रो मे छन्द विषयक प्रयोगो मे ही षत्वविधान मानते हैं। वस्तुत इसके आगे पीछे आने वाले सभी सूत्र वैदिक षत्व प्रक्रिया से ही सम्बद्ध हैं। यह बात इस सूत्र के प्रत्याख्यान से प्रकट हो जाती है।

इस प्रकार भाष्यवार्तिककार ने विभिन्न दृष्टियो से उपर्युक्त वैदिक सूत्रो का खण्डन कर दिया है। इनमे इनकी मुख्य प्रत्याख्यान दृष्टि उक्त सूत्रो को 'छान्दस' मानकर आगे बढी है। क्योकि 'छन्द' मे जैसे दिखाई देता है, वैसा ही अनुविधान कर लिया जाता है। वेद में तो विशेष रूप से शब्द का प्रयोग स्वत प्रमाण है। इसके अतिरिक्त वैदिक प्रयोगो के साधन के लिए अनेक उपाय होते हैं। वहा कोई एक निश्चित प्रकार नही है। वहा तो स्वर को देखकर भी व्युत्पत्ति का निर्णय करना होता है। लक्ष्यानुरोध से प्रयोगो

---

१ प्रकृतसूत्रस्य महा० प्र० भा० ५, पृ० ४०५।

की व्यवस्था और विवक्षा करके भी इष्ट सिद्ध हो सकता है। संक्षेप में, भाष्यवार्तिककार के द्वारा प्रत्याख्यात वैदिक सूत्रों के निम्न तथ्य तथा युक्तियाँ आधार रही प्रतीत होती हैं—

१—"सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते"।
२—"दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति"।
३—'बहुल छन्दसि'।
४—'व्यत्ययो बहुलम्'।
५—"सुपां सुलुक् पूर्वसवर्ण०"। इत्यादि॥

---

१ परि० ३५।
२ महा० भा० १, सू० ११६,
३ पा० ३ २ ८८।
४ पा० ३ १ ८५।
५ पा० ७ २ ३९।

अष्टम अध्याय

निपातन सूत्रों का प्रत्याख्यान

गोचर सचर वह व्रज व्यजापण निगमाश्च ।।३ ३ ११९।।

सूत्र की सप्रयोजना स्थापना

'गोचर' आदि शब्द 'घ' प्रत्ययान्त निपातित हैं करण या अधिकरण अर्थ में। "हलश्च"[1] सूत्र से प्राप्त 'घञ्' प्रत्यय का यह अपवाद है। 'गावश्चरन्ति अस्मिन् इति गोचर'। यहा 'गो' पूर्वक 'चर्' धातु से अधिकरण मे 'घ' प्रत्यय हुआ है। 'सचरन्तेऽनेन इति सचर'। यहा 'सम्' पूर्वक 'चर्' धातु से करण में 'घ' हुआ है। 'वहन्ति तेन इति वह'। यहा 'वह्' धातु से करण में 'घ' हुआ है। 'व्रजन्ति तेन इति व्रज'। यहा 'व्रज्' धातु से करण मे 'घ' हुआ है। व्यजन्ति तेन इति व्यज'। यहा 'व्यज्' (विपूर्वक अज्) धातु से करण में 'घ' प्रत्यय हुआ है। 'व्यज्' इस निपातनसामर्थ्य से 'अज्' को 'वी' आदेश नहीं होता। 'आ समन्तात् पणन्ति अस्मिन् इति आपण'। यहा 'आङ्' पूर्वक 'पण्' धातु से अधिकरण मे 'घ' हुआ है। 'निगच्छन्ति तस्मिन् इति निगम' यहा नि पूर्वक 'गम्' धातु से अधिकरण मे 'घ' हुआ है।

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

प्रकृत सूत्र के प्रत्याख्यान में भाष्यकार तथा वार्तिककार दोनो सहमत हैं। वे कहते हैं—"घोचरादीनामग्रहण प्राय वचनाद्यथा कषो निकष इति गोचरादीना ग्रहण शक्यमकर्तुम्। घञ् कस्मान्न भवति। प्रायवचनात्। यथा कषो निकष इति प्रायवचनाद् घञ् न भवति"।[2] इसका तात्पर्य यह है कि 'गोचर' आदि शब्दो के निपातन की आवश्यकता नही है। "हलश्च" से

१ पा० ३,३ १२१।

२ महा० भा० २, सू० ३ ३ ११९, पृ० १५५।

से प्राप्त 'घञ्' का "पुंसि संज्ञायां घ प्रायेण"[1] सूत्र में प्रोक्त 'प्राय' ग्रहण से बाध हो जायेगा तो 'घञ्' न होकर 'घ' ही होगा। इसलिये उक्त रूप 'घ' प्रत्ययान्त ही निष्पन्न हो जायेंगे। जैसे 'कष', 'निकष' यहां अधिकरण में 'कष्' धातु से 'घ' प्रत्यय होता है। 'प्राय' ग्रहण से 'घञ्' का अभाव रहता है। उसी प्रकार 'हलश्च" सूत्र में 'प्राय' ग्रहण की अनुवृत्ति करके 'घञ्' प्रत्यय प्राय करके होगा, सर्वत्र नहीं होगा। उससे गोचर आदि में 'घञ्' न होकर 'घ' ही हो जायेगा तो 'घ' प्रत्ययान्त निपातन करने की आवश्यकता नहीं है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

भाष्यवार्तिककार द्वारा उक्त सूत्र का प्रत्याख्यान ही न्याय्य है। क्योंकि जब 'कष', 'निकष' में 'घ' प्रत्यय विधान करने वाला कोई सूत्र नहीं बनाया फिर भी वहां 'घ' होता है। "पुंसि संज्ञायां घ प्रायेण" सूत्र में 'प्राय' ग्रहण किया ही है इसलिये कि उसकी अनुवृत्ति "हलश्च" सूत्र में भी चली जाये। उससे 'घ' के साथ 'घञ्' भी 'प्राय' करके होगा तो लक्ष्यानुरोध से 'गोचर' आदि में 'घञ्' न होकर 'घ' हो जायेगा। इस प्रकार 'घ' और 'घञ्' ये दोनों प्रत्यय 'प्राय' करके होते हैं। यदि यह कहा जाये कि उक्त सूत्र के बनाये बिना कैसे जाना जायेगा कि 'गोचर' आदि में 'घ' ही होता है, 'घञ्' नहीं तो इसका उत्तर है कि 'कष', 'निकष' में भी तो सूत्र में कहे बिना ही 'घ' प्रत्ययान्त समझे जाते हैं इसलिये अन्यथासिद्ध होने से यह सूत्र व्यर्थ है। वैसे भी ये सब संज्ञायें हैं। 'गोचर' का अर्थ गोचर भूमि है।[2] 'संचर' का अर्थ मार्ग है। 'वह' का अर्थ कन्धा है। 'व्रज' का अर्थ 'व्रजभूमि' है। 'व्यज' का अर्थ 'पंखा' है। 'आपण' का अर्थ 'दुकान' है। 'निगम' का अर्थ 'वेदशास्त्र' या 'शहर' है। संज्ञा होने से सर्वत्र "पुंसि संज्ञायां घ प्रायेण" से 'घ' स्वतः सिद्ध है। घञ् की निवृत्ति 'प्राय' ग्रहण से हो जायेगी। इसीलिये पूज्यपाद देवनन्दी ने इस सूत्र का भाष्यकार के समान सर्वथा प्रत्याख्यान कर दिया है। चान्द्र व्याकरण में तो 'व्रज' और 'व्यज' को निपातन सिद्ध करके

---

१ पा० ३.३.११८।

२ लोक में भी यह देखा जाता है कि जहां गाय चरती हैं उस स्थान को 'गोचरान' या 'गोचरान्द' कहते हैं।

शेषों का ही खण्डन माना गया है।[1] इसी प्रकार शाकटायन आदि वैयाकरणों ने न केवल पाणिनि प्रोक्त 'गोचर' आदि का ही प्रत्युत अन्य अनेक शब्दों का भी अन्वाख्यान किया है।[2] अत उनकी दृष्टि में यह सूत्र प्रत्याख्येय नहीं लगता। किन्तु यह शास्त्र में अनावश्यक गौरव ही है। क्योंकि जब बिना कोई क्लिष्ट कल्पना किये ही प्रयोग निष्पन्न हो सकते हैं तो उनके लिये अलग से सूत्र का निमाण करना युक्ति सगत नहीं है। ऐसी स्थिति में सूत्र स्वत प्रत्याख्येय हो जाता है।

उदङ्कोऽनुदके ॥३ ३ १२३॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह निपातन सूत्र है। 'उद्' पूर्वक 'अञ्च्' धातु से घञ् प्रत्ययात 'उदङ्क' शब्द निपातित है, 'उदकभिन्न' उपपद परे होने पर। 'उदच्यते उद्ध्रियतेऽस्मिन् इति उदङ्क'। जिसमें तैलादि चीज डाली जाये वह तेल या घृत का पात्र 'उदङ्क' होता है। 'घञ्' प्रत्यय होकर "चजो कु घिण्यतो "[3] से 'अञ्च्' के चकार को 'कुत्व' हो जाता है। 'उदक' या जल के खींचने का पात्र तो 'उदकोदञ्चन' कहलाता है (पानी का डोल)।

'अनुदके' ग्रहण का प्रयोजन यही है कि 'उदक' उपपद होने पर घञ् न हो। 'घञ्' का निषेध होकर 'पुसि सज्ञाया घ प्रायेण'[4] से 'घ' प्राप्त होता है। परन्तु 'घञ्' और 'घ' के होने में 'उदङ्क' में कोई अन्तर नहीं पडता। 'अञ्च्' के चकार को 'कुत्व' तो 'घ' परे होने पर भी हो सकता है। 'घञ्' में 'ञित्' होने पर भी वृद्धि का सभव नहीं है। 'अञ्च्' धातु न तो अजन्त है और न ही इसकी उपधा में अकार है। इसलिये अज्लक्षण या उपधालक्षण दोनों

---

१ चा० सू० १ ४ १०१—'व्रजव्यजौ'।

२ (क) शा० सू० ४ ४ ६२—'गोचर सचर वपनिकष खल भग वह व्रज व्यजापण निगमम्'।

(ख) स० सू० २ ४ १७४—'गोचरसचर वहव्रज व्यज क्रमापण निगम-बकभगाकर्ष निकपाश्च'।

(ग) है० सू० ५ ३ १३१—'गोचर सचर वह व्रज व्यज खलापण निगम वक भग कषाकष निकषम्'।

३ पा० ७ ३ ५२।

४, पा० ३ ३ ११८।

ही वृद्धियों में यहाँ कोई प्राप्त नहीं है। 'घञ्' और 'घ' के होने में स्वर में भी भेद नहीं होता। घञ् पक्ष में "याथघञ् क्ताजवित्रकाणाम्"[1] से अन्तोदात्त होगा। 'घ' पक्ष में भी "गतिकारकोपपदात् कृत्"[2] से कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर अन्तोदात्त ही होगा इसलिये 'उदक' उपपद होने पर "करणाधिकरणयोश्च"[3] से करण कारक में 'ल्युट्' प्रत्यय होता है। 'ल्युट्' के 'यु' को "युवोरनाकौ"[4] से 'अनादेश' होकर 'उदकोदञ्चन' यह रूप बन जाता है। 'उदच्यते अनेन स उदञ्चनः'। 'उदकस्य उदञ्चनः उदकोदञ्चनः' (पानी खींचने का डोल या पीपा) 'उदङ्क' में अधिकरण में 'घञ्' हुआ है और 'उदञ्चन' में करण में 'ल्युट्' हुआ है। तेल की कुप्पी या घी के कनस्तर को 'उदङ्क' कहते हैं।

यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

भाष्यवार्तिककार 'अनुदक' ग्रहण के प्रत्याख्यान के साथ इस सूत्र का ही प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—"किमर्थमिदमुच्यते। न हलश्चेत्येव सिद्धम्। अनुदके इति वक्ष्यामि इति। इह मा भूत्—उदकोदञ्चन। उदङ्कोऽनुदक-ग्रहणानर्थक्य च प्राय वचनाद् यथा गोदोहन प्रमाधन इति"[5] अर्थात् "हलश्च"[6] से 'घञ्' सिद्ध होने पर भी यह सूत्र क्यों बनाया। यदि यह कहा जाये कि 'अनुदके' ग्रहण करके 'उदक' उपपद होने पर घञ् न हो किन्तु 'ल्युट्' हो जाये, इसलिये यह सूत्र बनाया है तो इसका उत्तर है कि न तो 'उदङ्क' निपातन की जरूरत है और न 'अनुदक' ग्रहण द्वारा 'उदक' उपपद होने पर 'घञ्' निषेध की। "हलश्च" सूत्र में 'प्राय' ग्रहण की अनुवृत्ति होने से प्राय करके 'घञ्' होता है तो वह कहीं पर नहीं भी होगा। उससे 'उदक' उपपद होने पर 'घञ्' का अभाव रहेगा। उसी 'प्राय' वचन के कारण 'घ' प्रत्यय भी न होगा तो 'ल्युट्' होकर 'उदकोदञ्चन' बन जायेगा। जैसे 'गोदोहन', 'प्रसाधन' यहाँ 'ल्युट्' हो जाता है। 'गावो दुह्यते अनेन स गोदोहन'। 'प्रसाध्यते अनेन स प्रसाधन' (गायें दुहने का साधन, सजावट का सामान)।

---

१ पा० ६ २ १४४।
२ पा० ६ २ १३९।
३ पा० ३ ३ ११७।
४ पा० ७ १ १।
५ महा० भा० २, प्रकृत सूत्र, पृ० १५६।
६ पा० ३ ३ १२१।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

दोनों मुनियों द्वारा उक्त सूत्र का प्रत्याख्यान ठीक ही है। "हलश्च"[1] सूत्र इतना व्यापक है कि करण, अधिकरण में सभी हलन्त धातुओं से 'घञ्' सिद्ध हो जाता है। 'उदङ्क' तो उससे बन ही गया। रहा 'अनुदके' यह निषेध, वह भी 'प्राय' ग्रहण से सिद्ध हो जायेगा। 'उदक' में भी 'घ' न होकर ल्युट् ही हो जायेगा तो दृष्ट रूप बन जायेगा। इसीलिए आचार्य चन्द्रगोमी तथा पूज्यपाद देवनन्दी ने इस सूत्र को अपने व्याकरणों में नहीं रखा है। शाकटायन आदि तो इस सूत्र को रखने के पक्ष में ही हैं।[2] किन्तु यह विचारक्षम न होने से स्वीकार्य नहीं है। अतः सूत्र प्रत्याख्येय ही ठहरता है।

पङ्क्ति विंशति त्रिंशच्चत्वारिंशत् पञ्चाशत् षष्टि
सप्तत्यशीति नवतिशतम् ॥५ १ ५९॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र आर्हीय प्रकरणान्तर्गत "तदस्य परिमाणम्"[3] के अधिकार में आता है। इसका अर्थ है कि 'पङ्क्ति' 'विंशति' आदि शब्द "तदस्य परिमाणम्" इस अर्थ में निपातित हैं। इनमें प्रकृति-प्रत्यय और उनके अर्थ का साक्षात् निर्देश न करके केवल बना बनाया समुदाय ही 'निपातन' से प्रकट कर दिया गया है। 'विधि' और 'निपातन' में यही अन्तर है कि "यदिह लक्षणेनानुपपन्नं तत्सर्वं निपातनात् सिद्धम्"[4] अर्थात् जो बात सामान्यलक्षण से नहीं सिद्ध होती वह 'निपातन' से सिद्ध हो जाती है। 'विधि' में प्रकृति प्रत्यय आदि अवयव श्रूयमाण होते हैं, प्रत्यक्ष होते हैं। उनका बना हुआ समुदाय अनुमेय होता है। 'निपातन' में इससे विपरीत प्रकृति प्रत्यय आदि अनुमेय होते हैं,

---

१ पा० ३ ३ १२१।

२ (क) शा० सू० ४ ४ ९७—'उदङ्कोजले'।
 (ख) स० सू० २ ४ १७७—'उदङ्कोऽनुदके'।
 (ग) है० सू० ५ ३ १३५—'उदङ्कोऽतोये'।

३ पा० ५ १ ५७।

४ का० भा० २, सू० ३ १ १२३, पृ० ५१६।

उनका बना हुआ समुदाय प्रत्यक्ष होता है।[1] 'निपातन' का प्रयोजन भर्तृहरि ने इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—

"धातुसाधनकालाना प्राप्त्यर्थं नियमस्य च।
अनुबन्धविकाराणा रूढ्यर्थं च निपातनम्॥"[2]

वस्तुत 'पङ्क्ति' आदि शब्द अव्युत्पन्न एव रूढि हैं। फिर भी उनकी व्युत्पत्ति की जाती है। 'पङ्क्ति' शब्द के अनेक अर्थ हैं। यहाँ पङ्क्ति' का अर्थ दस सख्या है। पक्ति' नाम का एक छन्द भी है जिसमे ४० अक्षर होते हैं। कतार या लाइन को भी 'पक्ति' कहते हैं। 'यह ब्राह्मणो की 'पक्ति' है' ऐसा प्रयोग होता है। दस सख्या के अर्थ मे पक्ति' शब्द का प्रयोग महाकवि कालिदास ने किया है—

'नृपते प्रतिपिद्धमेव तत् कृतवान् पक्तिरथो लिङ्घ्य यत्"[3]

यहाँ दशरथ के लिये 'पक्तिरथ' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'विंशति' से लेकर 'शतम्' तक सब २०, ४०, ४०, ५०, ६०, ७०, ८०, ६०, १०० इस क्रम से सख्या और सख्येय के वाचक लोक मे प्रसिद्ध हैं। जब 'विंशति' शब्द सख्या वाचक होगा तो सख्येय द्रव्य के साथ सामानाधिकरण्य न होने से व्यतिरेक मे षष्ठी होकर 'गवा विंशति' (गायो की बीस सख्या) 'शत ब्राह्मणाम्' (ब्राह्मणो की सौ सख्या) ऐसा प्रयोग होगा और जब 'विंशति' शब्द सख्येयवाची होगा तो सख्येय द्रव्य के साथ सामानाधिकरण्य होकर व्यतिरेक मे न होने से षष्ठी नही होगी। 'विंशति गाव', 'शत ब्राह्मणा'

---

१ महा० प्र० भा० ४, सू० ५ १ ५६, पृ० ४७ 'विधिनिपातनयोश्चाय भेद यत्रावयवा निर्दिश्यन्ते समुदायोऽनुमीयते स विधि यत्र तु समुदाय श्रूयतेऽवयवाश्च अनुमीयन्ते तन्निपातनम्'।

२ प्रदीपकार कैयट द्वारा सूत्र ५ १ ११४ तथा शब्दकौस्तुभकार द्वारा शब्दकौस्तुभ में सूत्र ३ १ १०१ पर भर्तृहरि के नाम से उद्धृत। किन्तु वाक्यपदीय में सम्प्रति यह कारिका नही मिलती। यह विद्वानो की खोज का विषय है। तुलना करो—
'अप्राप्ते प्रापण चापि प्राप्तेर्वारणमेव च।
अधिकार्थविवक्षा च त्रयमेतन्निपातनम्॥'

३ रघुवश, ६ ७४।

इस प्रकार समान विभक्त्यन्त प्रयोग होगा। 'विंशति गाव' (बीस गाये), 'विंशतिगवम्' (विंशते गवा समाहार) (बीस गायो का समूह) इन प्रयोगो में 'विंशति' शब्द सख्येयवाची है। 'गवा विंशति', 'गो विंशति', 'ब्राह्मणाना शतम्', 'ब्राह्मणशतम्' ये प्रयोग 'विंशति' को और 'शत' शब्द को सख्यावाची सूचित करते हैं। स्वभाव से ही 'विंशनि' आदि शब्द एकत्व अथ मे सख्या और सख्येय के वाचक है। 'विंशति' से 'नवति' तक सब स्त्रीलिंग हैं। 'शतम', 'सहस्रम्', 'लक्षम्' इत्यादि नपुसकलिङ्ग है। यह सब शक्ति का स्वभाव है। 'विंशति' आदि अव्युत्पन्न शब्दो की यदि व्युत्पत्ति करनी अभीष्ट हो तो काशिका आदि वृत्तिकार इस प्रकार करते हैं—"द्वौ दशतौ परिमाण मस्य सघस्य इति विंशति"। 'द्विदशत्' शब्द के स्थान मे निपातनात् 'विन्' या 'विं' आदेश होकर 'शति' प्रत्यय हो जाता है तो 'विंशति' बन जाता है। इसी प्रकार "त्रय दशत परिमाणमस्य सघस्य त्रिंशत्" यहाँ 'त्रिदशत्' शब्द के स्थान मे निपातनात् त्रिन्' या 'त्रिं' आदेश होकर 'शत्' प्रत्यय हो जाता है तो 'त्रिंशत्' बन जाता है। 'चतुदशत्' को 'चत्वारिन्' अथवा 'चत्वारिं' आदेश होकर 'शत्' प्रत्यय हो जाता है तो 'चत्वारिंशत्' बन जाता है। 'पञ्चदशत्' को 'पञ्चा' आदेश होकर 'शत्' प्रत्यय होता है तो 'पञ्चाशत्' बन जाता है। 'षड्दशत्' को 'षष्' आदेश होकर 'ति' प्रत्यय हो जाता है तो 'षष्टि' बन जाता है। 'ति' को षकार के योग मे "ष्टुना ष्टु"[1] से ष्टुत्व हो जाता है। 'सप्तदशत्' को 'सप्त' आदेश होकर 'ति' प्रत्यय हो जाता है तो 'सप्तति' बन जाता है। 'अष्टदशत्' को 'अशी' आदेश होकर 'ति' प्रत्यय होता है तो 'अशीति' बन जाता है। 'नवदशत्' को 'नव' आदेश होकर 'ति' प्रत्यय हो जाता है तो 'नवति' बन जाता है। 'दशदशत्' को 'श' आदेश होकर 'त' प्रत्यय हो जाता है तो 'शतम्' बन जाता है। 'दस' से लेकर 'सौ' तक इन सख्यावाचक शब्दों का सूत्र में निर्देश 'सहस्र' आदि सख्याओ का भी उपलक्षण समझना चाहिये। काशिकाकार लिखते हैं—"विंशत्यादयो गुणशब्दा ते यथाकथञ्चिद् व्युत्पाद्या। नात्रावयवार्थेऽभिनिवेष्टव्यम् इति। तद्यथा—पक्तिरिति क्रमसन्निवेशेऽपि वर्तते ब्राह्मणपक्ति। पिपीलिकापक्ति। न चात्रावयवार्थ कश्चिदस्ति"।[2]

---

१ पा० ८४४१।

२ का० भा० ४, सू० ५ १ ५९, पृ० ६५।

लोकनिरूढ या लोक प्रसिद्ध होने से सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र के विषय में एक विशेष बात यह है कि यहाँ वार्तिककार सूत्र का खण्डन करते हैं और भाष्यकार उनका पूर्ववत् समर्थन न करके उल्टे सूत्रकार के सूत्र को ही समर्थित करते हैं। इस प्रसङ्ग में भाष्यकार की निष्पक्ष आलोचना बड़ी सटीक बन पड़ी है। अस्तु, वार्तिककार इस सूत्र में कहे गये 'पक्ति', 'विंशति' आदि शब्दों को अव्युत्पन्न प्रातिपदिक तथा लोक प्रसिद्ध समझते हुए इसका प्रत्याख्यान करते हैं—

"अनारम्भो वा प्रातिपदिकविज्ञानाद् यथा सहस्रादिषु"।[1]

भाष्यकार इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—"अनारम्भो वा पुनर्विंशत्यादीनां न्याय्य। कथ सिध्यति। प्रातिपदिकविज्ञानात्। कथ प्रातिपदिकविज्ञानम्। विंशत्यादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि। यथा सहस्रादिषु। तद्यथा—सहस्रम्, अयुतम्, अर्बुदमिति। न चानुगम क्रियते, भवति चाभिधानमिति।"[2] यहाँ वार्तिककार का यही भाव है कि विंशति' आदि शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक हैं। जैसे 'सहस्र', 'अयुत' आदि हैं। जैसे उनका अन्वाख्यान शास्त्र द्वारा नहीं किया जा रहा है वैसे इनका भी अन्वाख्यान करना व्यर्थ है। जब बिना शास्त्रीय अन्वाख्यान के 'सहस्र' आदि शब्दों से अर्थ की स्पष्ट प्रतीति हो रही है तो 'विंशति' आदि से भी शास्त्रीय अन्वाख्यान के बिना ही अर्थ की प्रतीति हो जायेगी, जैसा कि होती भी है। ऐसी अवस्था में केवल 'विंशति' आदि का ही शास्त्रीय अन्वाख्यान विशेष महत्व नहीं रखता। इसलिए सूत्र का अनारम्भ ही अच्छा है। इस प्रकार वार्तिककार द्वारा इस सूत्र के अनारम्भ पक्ष को प्रकट करके भाष्यकार इसका समर्थन करते हुए कहते हैं—"यथा सहस्रादिषु इत्युच्यते। अथ सहस्रादिष्वपि कथ भवितव्यम्। सहस्र गवाम्। सहस्र गाव। सहस्रगवम्। गोसहस्रम् इति। यावताऽपि सन्देह, तासूया कर्तव्या यत्रानुगम आचार्येण क्रियते इति।"[3] यहाँ भाष्यकार के कहने का भाव यह है कि 'सहस्र' आदि ग्रहण करने पर भी बात नहीं बनती। क्योंकि सहस्र' आदि में भी कहाँ स्पष्ट अर्थ की प्रतीति होती है। वहाँ भी सन्देह ही है—'सहस्र गाव'। यहा 'सहस्र' शब्द गायों

---

१ महा० भा० २, सू० ५ १ ५९ पर वार्तिक, पृ० ३५५।

२ वही।

३ महा० भा० २, सू० ५ १ ५९, पृ० ३५५-५६।

का विशेषण है। उसका समानविभक्तिक है, सख्येयवाची है। किन्तु 'गवा सहस्रम्' यहा 'सहस्र' शब्द सख्यावाची है। सख्यावाची न होने से गायो का समानाधिकरण नही है अत व्यतिरेक मे षष्ठी हो रही है। ऐसी अवस्था मे यदि आचार्य पाणिनि ने 'विंशति' आदि कुछ शब्द अन्वाख्यान के लिये गिना दिये है और 'सहस्रादि' नही गिनाये तो इसमे बुरा क्या लग रहा है। आचार्य से असूया क्यो कर रहे हो। यह सूत्र तो 'सहस्र' आदि का उपलक्षण है। उन्होंने अन्वाख्यान ही तो किया है, प्रत्याख्यान तो नही किया। किसी वस्तु का अन्वाख्यान या अनुगमन एव अनुविधान करना समुचित ही है। वह सब का न होकर यदि कुछ का भी हो जाता है तो भी ठीक ही है। व्याकरण तो विशेषरूप से उदाहरणो या प्रयोगो का निदर्शन-मात्र होता है। उसमें अपवाद या एकाध प्रयोग अछूता छूटा रह सकता है।[1] अत इस दृष्टि से पाणिनि ने जितने 'पक्ति' आदि शब्दो का अन्वाख्यान किया है, वह अनुमोदनीय ही है।

समीक्षा एव निष्कर्ष

भाष्यकार के स्पष्टीकरण से बात साफ हो जाती है कि यह सूत्र प्रत्याख्यान के योग्य नही है। यह लोक प्रसिद्ध शब्दो का भी अन्वाख्यान करता है, यह इस सूत्र के रखने से सिद्ध हो जाता है। अर्वाचीन वैयाकरण भी प्राय भाष्यकार के साथ सूत्र के रखने मे सहमत हैं।[2] केवल चन्द्राचार्य तथा शाकटायन ही वार्तिककारकृत प्रत्याख्यान मे रुचि रखते हैं।[3] लेकिन ये

---

१ द्र० महा० प्र० भा० ४ सू० ५ १ ५९, पृ० ५०—'अशक्यो वानन्त्यात् सर्वशब्दानुगम'। शब्दो की इस अपरिमेयता तथा व्याकरण सामर्थ्य की ससीमता को देखकर ही पाणिनि ने अनेक सूत्रो मे 'बहुलम्', 'दृश्यते' जैसे शब्दो का व्यवहार किया है।

२ (क) जै० सू० ३ ४ ५८—'पक्ति विंशत् त्रिंशच्चत्वारिंशत् पचाशत् षष्टिसप्तत्यशीति नवतिशतम्।'

(ख) स० सू० ५ १ ६३-६४—'पक्ति'। 'विंशति त्रिंशच्चत्वारिंशत् पचाशत्षष्टि सप्तत्यशीति नवति शतम्।'

(ग) है० सू० ६ ४ १७३—'विंशत्यादय।'

३ तुलना करो—शा० सू० ३ २ १६४ की अमोघवृत्ति, पृ० २७२ 'विंशत्यादयो गुणशब्दा गुणे गुणिनि चायत्वालिङ्ग सख्या एव वर्तन्ते। विंशतिविंशतिर्गव इति साधुत्वमेषा पृषोदरादय उणादयो बहुलमिति वा तन्निर्देशाद्वा विज्ञायते।'

दोनो विचारणीय ही है। क्योंकि 'सहसादि' अव्युत्पन्न शब्दो के उपलक्षणार्थ यह सूत्र आवश्यक ठहरता है।

ऐकागारिकट् चौरे ॥५ १ ११३॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र 'प्राग्वतीय' प्रकरणान्तर्गत "प्रयोजनम्" के अधिकार मे आता है। इसका अर्थ है कि 'चोर' अर्थ के कहने मे 'ऐकागारिक' शब्द निपातित होता है, 'उसका प्रयोजन' इस अर्थ की विवक्षा म। निपातन होने पर भी इसकी व्युत्पत्ति एव विग्रह इस प्रकार किया जाता है—'एकमगार प्रयोजनमस्य स ऐकागारिक चौर'। एक अगार अर्थात् खाली घर है प्रयोजन जिसका उसको 'ऐकागारिक' कहते है। वह चोर ही होता है क्योकि खाली घर को देखकर ही चोर चोरी करता है। जो घर खाली न हो, जहा आदमी विद्यमान हो, वहा चोर चोरी नही कर सकता। उसे भय रहता है। चोर का यही प्रयोजन है कि उसे खाली घर मिले तो वह चोरी करे। 'एकागार' शब्द से प्रयोजन अर्थ म "प्रयोजनम्" सूत्र से 'ठञ्' सिद्ध ही है। केवल 'चोर' अर्थ मे नियम कर देने के लिये यह सूत्र बनाया गया है। उससे 'एकागार प्रयोजनमस्य भिक्षो' इस वाक्य मे 'ऐकागारिक' रूप नही बनेगा।[1] वहा 'ठञ्' नही होगा। क्योकि वहा 'भिक्षु' अर्थ है, 'चोर' नही है। 'भिक्षु' का भी एक ही घर भिक्षार्थ अभीष्ट होता है। कुछ भिक्षु ऐसे होते है जो केवल एक ही घर से भिक्षा ग्रहण करते है अर्थात् वे एक बार ही भिक्षा लेते है, दूसरी तीसरी बार नही। इसलिए उनकी भिक्षा का प्रयोजन भी एक ही अगार है। 'चोर' म नियम कर देने से 'भिक्षु' को 'ऐकागारिक' नही कहा जायेगा।

सूत्र में 'ऐकागारिक' निपातन म 'टकार' इसीलिये लगाया है कि 'टिड्ढाणञ्०'[2] सूत्र से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' हो जाये। उससे 'ऐकागारिकी' यह रूप भी बन जाता है। काशिकाकार लिखते है कि "टकार कार्यवि-

---

१ द्र० प्रकृत सूत्रस्य प० म० 'एकागार चरेद् भैक्ष्य तत्पुराणमुनेर्व्रतम्।' यह वचन मूलत कहा से है, अन्वेष्टव्य है।

२ पा० ४ १ १५।

धारणार्थ ङीबेव भवति न तु ञित्स्वर इति" ।[1] उनका मतलब यह है कि 'ङीप्' तो 'ठञ्' से भी हो सकता है। "टिड्ढाणञ्०" सूत्र में 'ठञ्' प्रत्यय भी गिनाया है फिर 'टकार' लगाने का यही प्रयोजन है कि 'ङीप्' ही हो। 'ठञ्' के ञित् होने के कारण "ञ्नित्यादिर् नित्यम्"[2] से प्राप्त आद्युदात्त स्वर न हो। कुछ लोग 'ऐकागारिक' में 'इकट्' प्रत्यय और वृद्धि का निपातन मानते हैं।[3]

अन्यथासिद्धि या अनभिधान द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

भाष्यवार्तिककार इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते है— *"एकागारान्निपातनानर्थक्यं ठञ् प्रकरणात्। एकागारान्निपातनमनर्थकम्।* किं कारणम्। ठञ् प्रकरणात्। ठञ् प्रकृत सोऽनुवर्तिष्यते। इदं तर्हि प्रयोजनम्—चौरे इति वक्ष्यामीति। इह माभूत्—एकागार प्रयोजनमस्य भिक्षो इति। यद्येतावत् प्रयोजन स्यात् एकागाराच्चौरे इत्येव ब्रूयात्।"[4] यहां वार्तिककार के साथ भाष्यकार का भी यह तात्पर्य है कि 'एकागार' शब्द से *'प्रयोजन' अर्थ में 'ठञ्' हो ही जायेगा। इससे 'ऐकागारिक' रूप बन जायेगा* तो यह सूत्र व्यर्थ है। यदि यह कहा जाये कि 'चोर' अर्थ में निपातन करने के लिए यह सूत्र बनाया गया है 'चोर' मे ही 'ऐकागारिक' बने, भिक्षु में न बने, तो यह भी ठीक नही। क्योंकि उस अवस्था मे "एकागाराच्चौरे" ऐसा सूत्र बनाया जा सकता था जिससे 'चोर' अर्थ मे ही 'एकागार' शब्द से 'ठञ्' हो, *अन्य अर्थ में न हो। जैसा कि आचार्य चन्द्रगोमी आदि ने अपने* व्याकरणों मे 'एकागाराच्चौरे" यह बनाया ही हुआ है। किन्तु आचार्य ने वैसा सूत्र न बनाकर निपातन किया है, उससे भिक्षु अर्थ मे अनभिधान से 'ठञ्' न होगा। 'चोर' अर्थ में इस सूत्र के बिना भी हो जायेगा तो यह व्यर्थ है। 'ञित्स्वर' निवृत्ति के लिये भी इस निपातन की आवश्यकता नही है *'ऐकागारिक' में 'ठञ्' प्रत्यय का 'ञित्स्वर' अभीष्ट ही माना जायेगा।* जब निपातन ही नहीं रहा तब उसमें 'टकार' लगाना भी सर्वथा उच्छिन्न

---

१ का० भा० ४, प्रकृत सूत्र, पृ० ९६।

२ पा० ६ १ ४९७।

३ द्र० का० भा० ४ प्रकृत सूत्र, पृ० ९६—'अपरे पुनरिकट्प्रत्ययं वृद्धिं च निपातयन्ति'।

४ महा० भा० २, सू० ५ १ ११३, पृ० ३९२-९३।

हो जाता है ।[1]

समीक्षा एवं निष्कर्ष

जब अभिधान या अनभिधान ही शब्द प्रयोग मे नियामक है तो 'चोर' मे 'ऐकागारिक' स्वत बन जायेगा । 'एकागार प्रयोजनमस्य ऐकागारिक' 'चोर' ही समझा जायेगा, भिक्षु नही । क्योकि 'ऐकागारिक' शब्द से उसका अभिधान नही है । ऐसी अवस्था मे सूत्र का प्रत्याख्यान ठीक ही है । निपातन से 'ञित् स्वर' की निवृत्ति मानना भी सर्वथा अनुचित है । 'एकागार' शब्द से जब 'ठञ्' करेगे तो उसका स्वर भी मानना आवश्यक है । भाष्यवार्तिककार के प्रत्याख्यान से यह ज्ञापित हो जाता है कि 'ऐकागारिक' मे 'ञित्स्वर' होगा । अभिधान स्वाभाव्य से उसका 'चोर' अर्थ मे प्रयोग भी होगा ।

किन्तु जिस प्रकार 'ऐकागारिक' रूप की सिद्धि भाष्यवार्तिककार दोनो के मत मे इस निपातन सूत्र के बिना भी हो सकती है और भिक्षु को छोडकर केवल 'चोर' अर्थ मे ही इस शब्द का प्रयोग व्यवस्थित हो जाता है वैसे इससे अगले निपातन सूत्र "आकालिकडाद्यन्तवचने"[2] मे भी शब्द प्रयोग की व्यवस्था हो सकती है । उससे 'आद्यन्तवचन' अर्थात् क्षणप्रध्वंसि अचिरद्युति विद्युत् आदि अर्थ में ही शब्दशक्ति स्वभाव से 'आकालिक' शब्द का प्रयोग माना जायेगा तो वह निपातनसूत्र भी प्रत्याख्येय संभव हो जाता है । वार्तिककार ने तो उसका प्रत्याख्यान किया भी है—"आकालान्निपातानर्थक्य ठञ्प्रकरणात्" ।[3] यह वार्तिक उस निपातन सूत्र का खण्डन करता है । किन्तु भाष्यकार ने वार्तिककार के समान उस सूत्र का खण्डन नहीं किया है । इस सूत्र के खण्डन में दोनो एकमत है । यदि 'ऐकागारिक' बिना निपातन के बन सकता है तो 'आकालिक' क्यो नही बन सकता, यह विचारणीय है । यदि यह कहा जाये कि 'आकालिक' निपातन मे जो आसानी है, वह 'ऐकागारिक' में नही है । क्योकि 'ऐकागारिक' तो 'एकागार' शब्द

---

१ तुलना करो—वा० प० २, १७३
"वैरवासिष्ठगिरिशा तथैकागारिकादय ।
कैश्चित्कथंचिदाख्याता निमित्तावधिसंकरे ॥"

२ पा० ५ १ ११४ ।

३ महा० भा० २, सू० ५ १ ११४ पर वार्तिक, पृ० ३६३ ।

से बनता है। वह बिना निपातन के भी बन सकता है किन्तु 'आकालिक' में यह बात नही है। वहा तो 'समानकाल' शब्द को 'आकाल' आदेश होकर वह रूप बनाना है। उसके लिये इतना टटा कौन करे। सीधा 'आकालिक' निपातन ही कर दिया जाये। उस निपातन में सब बाते आ जायेंगी। 'समानकाल' के स्थान में 'आकाल' आदेश भी निपातन के बल से समझा जायेगा इसलिए उसका तो निपातन सूत्र ही ठीक है। तो इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि 'आकाल' शब्द से ही 'ठञ्' करके 'आद्यन्तवचन' अर्थ में 'आकालिक' बना लिया जायेगा। 'समानकाल' शब्द को 'आकाल' आदेश नही माना जायेगा। वार्तिककार ने 'आकाल' शब्द से ही 'ठञ्' प्रत्यय स्वीकार किया है। वहा 'समानकाल' शब्द का प्रयोग ही नही है। "आवृत्त काल आकाल। न च कालस्यावृत्ति सभवति इति सामर्थ्यादयमर्थो भवति—उत्पत्तिकालेन समानो यस्य विनाशकाल"[1] यह कहकर प्रदीपकार ने 'आकाल' शब्द से ही 'समानकाल' शब्द का अर्थ प्रकट कर दिया है।

"आकालाट्ठश्च"[2] यह अगला वार्तिक भी 'आकाल' शब्द से ही प्रत्यय का विधान करता है। स्वय आचार्य पाणिनि ने 'समानकाल' शब्द से 'ठञ्' प्रत्यय का निपातन नही किया है। यह तो वृत्तिकारो की महिमा है जो 'समानकाल' के स्थान में 'आकाल' आदेश मानकर उससे प्रत्यय विधान करते हैं। सीधा 'आकाल' शब्द ही जब 'ठञ्' प्रत्यय विधान मे समर्थ है तो उससे 'ठञ्' प्रत्यय करके 'आकालिक' रूप बन जायेगा तो "आकालिकडाद्यन्तवचने" यह निपातन सूत्र भी व्यर्थ हो जाता है। उस सूत्र के प्रत्याख्यान मे बचकर भाष्यकार यह कहकर चल देते हैं—"इद तर्हि प्रयोजनम्—एतस्मिन् विशेषे निपातन करिष्यामि समानकालस्याद्यन्तविवक्षायाम् इति"।[3] यह भाष्यकार का वचन सर्वथा चिन्त्य है। विशेष विचार की अपेक्षा रखता है। 'ऐकागारिक' और 'आकालिक' में क्या अन्तर है। कुछ भी नही। एक 'चोर' में निपातित है और दूसरा 'आद्यन्तवचन' मे। यदि निपातन सूत्र रखते हैं तो दोनो ही रखने चाहिये और यदि नही रखते हैं तो दोनो का ही

१ महा० प्र० भा० ४, सू० ५ १ ११४, पृ० ६८।
२ महा० भा० २, सू० ५ १ ११४ पर वार्तिक, पृ० ३६३।
३. वही।

समानयोगक्षेम होने से प्रत्याख्यान न्याय्य है। इन दोनों के प्रत्याख्यान में भाष्यकार की अपेक्षा वार्तिककार ही अधिक प्रशस्य है। विद्वान् लोग इस पर विचार करें।

प्रस्तुत प्रसङ्ग मे अर्वाचीन वैयाकरण भी कोई विशेष युक्ति नही प्रस्तुत कर सके हैं। इन्होंने प्राय दोनों ही सूत्रों को रखा है।[1] हां, वार्तिककार के अनुसार इन्होंने 'आकाल' शब्द से प्रत्यय विधान स्वीकार किया है, 'समानकाल' से नही। इस प्रकार सब तरह से विचारकर इसी निष्कर्ष पर पहुचा जा सकता है कि इन दोनों सूत्रों के विषय मे वार्तिककार कात्यायन का प्रत्याख्यान ही ठीक है।

आकालिकडाद्यन्तवचने ॥५ १ ११४॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह निपातन सूत्र है। इसका अर्थ है कि 'आदि' और 'अन्त' के एक साथ वचन मे 'आकालिकट' शब्द निपातित होता है। यहा 'समानकाल' शब्द के स्थान में 'आकाल' शब्द आदेश माना गया है। 'आद्यन्तौ समानकालौ यस्य स आकालिक" इसमे 'टकार' का अनुबन्ध "टिड्ढाणञ्०"[2] से 'ङीप्' विधान के लिये लगाया गया है। 'आकालिकी विद्युत्' यहा विद्युत् रूप स्त्रीलिङ्ग अर्थ म 'ङीप्' हो जाता है। जिसकी उत्पत्ति के साथ ही विनाश हो जाये वह 'आकालिक' है। विद्युत् 'आकालिकी' इसलिए है कि वह उत्पत्ति के साथ ही नष्ट हो जाती है, इसलिए अचिरद्युति कहलाती है। प्राग्वतीय प्रकरण में "प्रयोजनम्"[3] इस की अनुवृत्ति होने पर भी यह सूत्र

---

१ चा० सू० ४ १ ११८-११६—'एकागाराच्चौरे। आकालाट्ठश्च।'
जै० सू० ३ ४ १०३—"वैशाखाषाढपाष्टिकैकागारिकडाकालिकट्'।
शा० सू० ३ २ ११८, १२४—'एकागाराच्चौरे। आकालिक ठश्चाद्यन्ते'।
स० सू० ५ १ ११६-१२०—'एकागाराच्चौरे। आकालाट्ठश्च'।
है० सू० ६.४ ११६, १२८—'एकागाराच्चौरे। आकालिकमिकश्चाद्यन्ते'।

२ पा० ४ १ १५।

३ पा० ५ १,१०६।

'आद्यन्तवचन' इस अर्थ विशेष मे 'आकालिक' शब्द का निपातन करता है। समानकालार्थक 'आकाल' शब्द से स्वार्थ मे 'अर्थात् 'आकाल' शब्द का अपना जो 'समानकाल' अर्थ है, उसमें 'ठञ्' प्रत्यय का निपातन है। काशिकाकार 'इकट्' प्रत्यय का निपातन मानते हैं।[1] निपातन करने का अभिप्राय यही है कि जो काम विधि से न सिद्ध हो सके, वह निपातन से सिद्ध कर लिया जाये। यही इस सूत्र का प्रयोजन है।

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

प्रस्तुत सूत्र के खण्डन मे भाष्यकार की सहमति नही है। केवल वार्तिककार ही इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—"आकालानिपातनानर्थक्य ठञ्प्रकरणात्। ठञ् प्रकृत सोऽनुवर्तिष्यते।"[2] अर्थात् 'समानकाल वाची' जो 'आकाल' शब्द है उससे इस सूत्र द्वारा 'ठञ्' प्रत्यय का निपातन करना व्यर्थ है। 'ठञ्' प्रत्यय तो "प्राग्वतेष्ठञ्"[3] इस अधिकार मे अनुवृत्त होता आ ही रहा है। 'टकार' अनुबन्ध लगाने की भी आवश्यकता नही। 'ठञ्' प्रत्यय होने पर "टिड्ढाणञ्०"[4] से ङीप् स्वत सिद्ध है। 'ठञ्' के ञित्' होने से "ञ्नित्यादिर्नित्यम्"[5] से आद्युदात्त स्वर भी सिद्ध हो जाता है। जैसे 'एकागार' शब्द मे 'ठञ्' होकर 'ऐकागारिक' यह प्रयोग पूर्वसूत्र मे बन जाता है, वैसे 'आकाल' शब्द से भी 'ठञ्' होकर 'आकालिक' बन जायेगा। इस प्रकार वार्तिककार द्वारा इस सूत्र का प्रत्याख्यान हो जाता है। उसको स्वीकार न करते हुए भाष्यकार कहते हैं—"इद तर्हि प्रयोजनम्—एतस्मिन् विशेषे निपातन करिष्यामि, समानकालस्याद्यन्त विवक्षायामिति।"[6] यहा भाष्यकार का आशय यह है कि 'समानकाल' शब्द के स्थान में 'आकाल' आदेश करने तथा 'आद्यन्तवचन' रूप अर्थ विशेष को प्रकट करने के लिये यह निपातन आवश्यक है। 'ऐकागारिक' मे तो 'एकागार प्रयोजनमस्य'

---

१ द्र० का० भा० ४, प्रकृत सूत्र, पृ० ९७—'इकट् प्रत्ययश्च निपात्यते'।

२ महा० भा० २, सू० ५ १ ११४ पर वार्तिक, पृ० ३६३।

३ पा० ५ १ १८।

४ पा० ४ १ १५।

५ पा० ६ १ १९७।

६ महा० भा० २, प्रकृत सूत्र, पृ० ३६३।

इस प्रकृत 'प्रयोजन' अर्थ में 'एकागार' शब्द से 'ठञ्' हो जायेगा किन्तु 'आकालिक' में 'प्रयोजन' अर्थ को छोडकर 'आद्यन्तवचन' यह विशेष अर्थ कहने के लिए 'समानकाल' शब्द को 'आकाल' आदेश करके 'ठञ्' करना है, इसलिए उसका निपातन किया गया है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

इसकी समीक्षा "ऐकागारिकट् चौरे" (पा० ५ १ ११३) इस पूर्वसूत्र में की जा चुकी है। यह वहीं द्रष्टव्य है।[1]

---

१ इस विषय में देखें, पृ० ५१८-२१।

उपसंहार

विषयवस्तु के विभाजन की दृष्टि से प्रस्तुत शोध ग्रन्थ को संज्ञा, परिभाषा, विधि, नियम, अतिदेश, अधिकार वैदिक तथा निपातन सूत्र नामक आठ अध्यायों में विभाजित किया गया है। इनसे पूर्व भूमिका भाग में सूत्रशैली, सूत्रों में प्रक्षेप, महाभाष्य में प्रक्षेप तथा प्रत्याख्यान प्रकाररूप प्रतिपाद्य विषय पर संक्षेप में विचार प्रस्तुत किये गए हैं।

वस्तु, सूत्रों के प्रत्याख्यान की समालोचना करते समय कुछ नूतनतथ्य प्रकट हुए हैं जो भाष्यवार्तिककार द्वारा किये गये सूत्रों के प्रत्याख्यानों का आधार रहे हैं। सर्वप्रथम तो देखा गया है कि प्रत्याख्यान करते समय भाष्यकार ने विविध पक्षों का आश्रयण किया है। जहां जो पक्ष अनुकूल लगा उसका ग्रहण कर लिया और दूसरा छोड़ दिया अर्थात् जैसा समय देखा प्रसङ्ग के अनुकूल वैसा समाधान या परिहार कर दिया। दूसरे शब्दों में—"पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति" इस न्याय का आश्रयण करते हुए वे खण्डन करते समय एक बार तो मण्डनीय वस्तु का भी खण्डन करने में नहीं चूकते। भले ही वह खण्डन सिद्धान्त रूपेण मान्य न हो। लृकारोपदेश का प्रत्याख्यान इसमें प्रमाण है। इसी प्रकार कुछ प्रत्याख्यान स्थल अन्योन्याश्रित भी हैं। इस विषय में "न धातुलोप आर्धधातुके" सूत्र का प्रत्याख्यान तात्पर्यग्राहक है। ऐसे स्थानों पर भाष्यकार का अपना अभिमत जान पाना दुर्बोध हो जाता है। इसी आधार पर कुछ विद्वान् भाष्य में न्यूनाधिक अंश प्रक्षिप्त भी मानते हैं। किन्तु यह मत भाष्यकारीय प्रत्याख्यान शैली के प्रतिकूल होने के कारण स्वीकार नहीं किया गया है।

लक्ष्यानुरोध से शब्द साधन में लक्षणों में किया गया परिवर्तन (न्यासान्तर) भी सूत्रों के प्रत्याख्यान का कारण रहा है। पाणिनीय परम्परा में रहते हुए ही पाणिनि अपेक्षा अन्य लघु एवं सुन्दर उपाय से सब लक्ष्यों का संग्रह करना

किसी तरह से अनुचित भी नही कहा जा सकता। यद्यपि यह सब स्फुटबोध की दृष्टि से मन्द बुद्धियो के लिए कठिन हो सकता है तथापि व्युत्पन्नमतियो के लिये तो यह ग्राह्य ही है। इसी प्रकार 'स्थान्यादेशभाव' के विषय मे भी भाष्यकार ने नितान्त भाषा वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया है। इस पद्धति मे 'स्थानी' और 'आदेश' दोनो को 'नष्टाश्वदग्धरथवत्' या 'पङ्ग्वन्धवत्' परस्पर सम्बद्ध न मानकर स्वतन्त्र प्रकृत्यन्तर माना जाता है। यह बात अलग है कि उक्त दोनो प्रकृतियों के रूप अपने-अपने निश्चित प्रयोग क्षेत्र वाले अर्थात् 'नियत विषय' हैं।

"इहेङ्गितेन चेष्टितेन निमिषितेन महता वा सूत्र निबन्धनेनाचार्याणामभि-प्रायो लक्ष्यते" इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए भाष्यकार विभिन्न सूत्रो से कुछ ऐसे संकेत ग्रहण किये है जिनके आधार पर भाष्यवार्तिककार द्वारा किया गया किसी सूत्र का प्रत्याख्यान स्वय पाणिनि द्वारा भी ज्ञापित हो जाता है। इस दृष्टि से "शेषे" सूत्र देखा जा सकता है। इसी प्रकार यह ठीक है कि आचार्यों द्वारा "यथा लोके तथा व्याकरणे ?" यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया है जिसकी पुष्टि स्वय आचार्य पाणिनि ने लोक को प्रमाण मानते शास्त्र को 'सज्ञाप्रमाण' मानकर की है। किन्तु "यच्चार्थो लोकत सिद्ध कि तत्र शास्त्रीयेण यत्नेन" इस सिद्धान्त के आधार पर सभी सूत्रो का प्रत्याख्यान न्याय्य नही प्रतीत होता। लोकसिद्ध होने पर भी कुछ अत्यावश्यक कार्यों का अन्वाख्यान तो शास्त्र द्वारा करना ही चाहिये जिससे वे कार्य शास्त्रानुमोदित हो सकें। सहिता तथा अवसान सज्ञासूत्र इस श्रेणी मे आते हैं।

एक तरफ तो भाष्यकार स्वय यह मानते हैं—"एते खल्वपि विषय सुपरिगृहीता भवन्ति येषु लक्षण प्रपञ्चश्च। केवल लक्षण केवल प्रपञ्चो वा न तथाकारक भवति" और दूसरी तरफ स्वय ही 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' इस सामान्य सूत्र के प्रपञ्चभूत "भीत्रार्थाना भयहेतु" इत्यादि सभी अपादान प्रकरणगत सूत्रो का गौण अपादान या बौद्धिक अपाय मान कर प्रत्याख्यान कर रहे हैं। उनकी यह स्थिति या शैली प्रशसनीय नहीं प्रतीत होती। इसी प्रकार भाष्यकार ने एक दिशा दिखाई है कि वस्तु के निर्णय मे उसके अवान्तर छोटे-छोटे भेद नही गिने जाते। सामान्य मे विशेष का अन्तर्भाव हो ही जाता है। इस दृष्टि से भाष्यवार्तिककार ने सारा एकशेष प्रकरण ही प्रत्याख्यात कर दिया है। ऐसा करने मे दोनो का यही भाव रहा है कि

किसी प्रकार इन विशेष सूत्रो से बनने वाले शब्द 'सरूप' बना लिये जाए। एक स्थान पर उपसख्यानवार्तिक के आधार पर सूत्र का खण्डन किया गया है जोकि आपातत रुचिकर नही लगता। क्योकि सूत्रकार की सूत्र रचना के समय वह वार्तिक नही था। तो भी अधिक लक्ष्यसग्रह की दृष्टि से उपसख्यानवार्तिक ही समर्थित किया गया है।

"शिष्टाना ततोऽर्थबोधस्वरूपम्" अर्थात् शिष्टो मे अर्थबोध हो जाना ही *अभिधान का स्वरूप है। इस अभिधान-अनभिधान रूपी ब्रह्मास्त्र से भी* अनेक सूत्रो का प्रत्याख्यान किया गया है। अभिधान के विषय मे जिज्ञासा होने पर यही कहा जाता है कि शब्द की ऐसी ही शक्ति है कि अमुक शब्द तो निष्पन्न (परिनिष्ठित) होता है और अमुक नही। शब्दशक्तिस्वाभाव्य से लोक मे ऐसे प्रयोग का अभिधान (प्रयोग या व्यवहार) नही है। शब्दार्थ-सम्बन्ध की लोक सिद्धता (सज्ञाप्रामाण्य) के विषय मे भाष्यकार का यह वचन अवश्य ध्यातव्य है—"अभिधानलक्षण कृत्तद्धितसमासा"। इसके स्पष्टीकरण के लिए प्रदीपकार कहते हैं—"कृत्तद्धितसमासानामभिधान नियामक लक्षण स्वनभिज्ञाना तद्भिज्ञानसूचकम् अर्थात् कृत्, तद्धित और समास सूत्रो का प्रयोग पूर्णरूपेण अभिधान के अनुसार ही होता है। दूसरे शब्दो में प्राप्ति होने पर भी सूत्र प्रवृत्त नही होगा यदि उस शब्द से उस अर्थ की प्रसिद्धि लोक में न हो। शब्द मे जिस अर्थ का अभिधान अभीष्ट है, वह अर्थ मुख्यरूप से अभिहित होने पर भाष्यवार्तिककार उसके साधन विशेष की परवाह नही करते। इनका पदे-पदे "अनभिधानात्" कहना ही साधन प्रक्रिया को गौण सूचित कर रहा है। किन्तु इतनी महत्ता होने पर भी अभिधान-अनभिधान को व्याकरण-शास्त्र मे "अगतिकगति" भी माना गया है। अभिधान के समान ही विवक्षा का भी सस्कृत व्याकरण मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्या कारक, समास, तद्धित तथा सन्धि इत्यादि सर्वत्र विवक्षा का ही व्यापार परिलक्षित होता है। "विवक्षात कारकाणि भवन्ति" यह न्याय तो प्रसिद्ध ही है। इस विवक्षा के आधार पर भी कुछ सूत्रो का प्रत्याख्यान किया गया हो तो युक्ति सगत ही है। वस्तुत अर्थ का बोध मुख्य है। वह जिस प्रकार से भी हो सके उसे स्वीकार कर लेना चाहिये। सब विवक्षा या आरोप का ही खेल है। विवक्षा के महत्त्व को समझने के कारण ही सभवत पाणिनि ने भी अनेकत्र 'बहुलम्' तथा 'दृश्यते' इत्यादि शब्दो का व्यवहार किया है।

जहा तक वैदिक सूत्रगत प्रयोगो का सम्बन्ध है, उनके साधन के लिए कोई एक निश्चित प्रकार नही है। वैदिक प्रयोगसिद्धि के लिए अनेक उपाय है। इस विषय मे "इन्धिभवतिभ्या च" सूत्र का उल्लेख किया जा सकता है। वेद मे तो विशेष रूप से शब्द का प्रयोग स्वत प्रमाण है। इसके अतिरिक्त वहा स्वर को देख करके भी व्युत्पत्ति का निर्णय करना होता है। प्राय सभी वैदिक सूत्र इसी शैली मे अर्थात् शब्द के प्रयोग को स्वत प्रमाण मानते हुए ही प्रत्याख्यात किये गए हैं। यथा—

१ "दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति"।
२ "सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते"। इत्यादि।

भाष्यकार प्राय अतिशय लाघव से काम लेते हैं। किन्तु शब्दकृतलाघव मे अर्थकृतलाघव तिरोहित नहीं होना चाहिए। प्रत्याख्यान करते समय स्पष्ट प्रतिपत्ति (असन्देह) के दृष्टिकोण पर भी ध्यान रखना चाहिए। यही कारण है कि भाष्यकार अनेकत्र आपातत किसी सूत्र का खण्डन करके भी उसकी गरिमा का अनुभव करते हैं और अन्त में पुन "आरभ्यमाणेऽप्येतस्मिन् योगे " इत्यादि कहकर सूत्र की सत्ता को मौन स्वीकृति दे देते हैं। भाष्यकार की इस स्थिति को उनका अद्भुत कल्पना कौशल या बौद्धिक व्यायाम का चमत्कार भी कहा जा सकता है जिसका अभिप्राय सभवत आगे आने वाले शिष्य-प्रशिष्यो को सूत्र के पक्ष, विपक्ष, गुण-दोष आदि सभी से सम्यक्तया परिचित कराना है। भाष्यकार के शब्दो मे—"अन्वाख्यानमेव तर्हि मन्दबुद्धि"। इस दृष्टि से "स्थानिवत्" सूत्र तथा "अद्रस्य" इत्यादि सूत्र द्रष्टव्य हैं। इसी प्रकार अनेकत्र दार्शनिक सिद्धातो के मतभेद के कारण भी भाष्यकारोक्तरकृत किसी सूत्र का प्रत्याख्यान विचारणीय हो जाता है। इस प्रसङ्ग में "अस्मदो द्वयोश्च" सूत्र को लिया जा सकता है। यहा साख्य न्याय वेदान्त एव वैयाकरण सिद्धान्तो के अनुसार तो इन्द्रियो के भी अहम्भाव वाली होने के कारण उनके कर्ता होने मे बहुवचन सिद्ध है। अत सूत्र प्रत्याख्येय बन जाता है। किन्तु वैशेषिक आदि दर्शनो के अनुसार इन्द्रियो में कर्तृत्व न होने से उनमे बहुवचन सिद्ध नही है। अत सूत्र प्रत्याख्येय नही बनता। ऐसी स्थिति में सही निर्णय सुकर नहीं रहता है ऐसे और भी अनेक स्थल हैं।

वास्तव मे सूत्रकार ने सूत्र रचना करते समय लाघव की अपेक्षा स्पष्ट प्रतिपत्ति को अधिक महत्त्व दिया लगता है। जिससे मन्द बुद्धियो को भी

सुगमतया बोध हो उसके। क्योंकि व्याकरण का उद्देश्य सन्देह की निवृत्ति करना है, न कि सन्देहयुक्त पदों का उपदेश करना—"दृश्यते च भ्रमकिवृत्त्येऽपि सूत्रवृत्तो यत्न"। इसी उद्देश्य की रक्षा के लिए सूत्रकार ने अनेक सूत्रों में सन्ध्यभाव आदि गौरवग्रस्त निर्देश किये हैं तथा जिन्हें सौत्र या आर्ष प्रयोग मानकर साधु ही माना जाता है। किन्तु बाद में प्रत्याख्यान करने वाले भाष्यवार्तिककार दोनों की प्रत्याख्यानदृष्टि "नैक प्रयोजन (उदाहरणम्) योगारम्भं प्रयोजयति" तथा 'अर्धमात्रालाघवे, पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणा" इस प्रकार के सिद्धान्तों को आधार मानकर आगे बढ़ी है। परिणामतः इन्होंने सूत्रकार सम्मत स्पष्ट प्रतिपत्ति वाली पद्धति का अनेकत्र परित्याग कर दिया, चाहे इस सरणि को त्यागने में कितना ही दूरारूढ क्लिष्ट कल्पनाओं का आश्रय ही क्यों न लेना पड़ा हो। किन्तु इस प्रक्रिया में 'प्रतिपत्तिगौरव' होने से व्याकरण सुगम न होकर बह्वायाससाध्य हो गया। इस प्रकार केवल सूत्रकार के सूत्र का प्रत्याख्यान करने के लिए किसी लम्बी कल्पना या गौरवग्रस्त प्रक्रिया को अपनाना स्पष्ट प्रतिपत्ति के दृष्टिकोण से दोषावह ही माना जा सकता है। इसे ही स्वयं भाष्यकार के शब्दों में कुछ इस तरह समझा जा सकता है—"सैषा महती वंशस्तम्बाल्लट्वानुकृष्यते" अर्थात् परिश्रम अधिक तथा लाभ अत्यन्त कम। हाँ, यदि ऐसे स्थलों को "शिष्याणां सुखावबोधाय" तथा "शिष्यबुद्धिव्युत्पादनाय" स्वीकार किया जाए तब वैसे प्रत्याख्यात स्थल नाम हो सकते हैं।

आलोचना तु शास्त्रे या यथामति कृता मया ।
सा सर्वथा शुद्धभावेन विहितेत्यवधार्यताम् ।।

परिशिष्ट

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थो की सूची

(क) सस्कृत ग्रन्थ

क्रम सख्या

१ **अथर्ववेद सहिता** (सायणभाष्यसहित), विश्वबन्धु विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध सस्थान, होशियारपुर, १९६१, ६२।

२ **अमरकोष** हरगोविन्द, चौखम्बा सस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, प्रथम स०, १९६०।

३ **अष्टाध्यायी** श्रीधरशास्त्री तथा सिद्धेश्वरशास्त्री, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, प्रथम स०, १९३५।

४ **अष्टाध्यायी भाष्यम** स्वामी दयानन्द, वैदिक पुस्तकालय, दयानन्द आश्रम, अजमेर, द्वितीय स०, वि० २०१८।

५ **उत्तररामचरितम्** ब्रह्मानन्द शुक्ल, साहित्य भण्डार, मेरठ, १९६१।

६ **ऋग्वेद-प्रातिशाख्य** डा० वीरेन्द्रकुमार वर्मा, काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय, वाराणसी, प्र० स०, १९६०।

७ **ऋग्वेदसहिता** विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध सस्थान, होशियारपुर, १९६४-६५।

८ **एकादशोपनिषद्** सत्यव्रत सिद्धातालकार, विद्याविहार देहरादून, प्रथम स०, १९७६।

९ **कपिष्ठलकठ सहिता** रघुवीर, लाहौर, १९३२।

१० **काठक सहिता** श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, भारत मुद्रणालय, आधनगर (सतारा प्रदेश), बम्बई।

११ **कालिदास ग्रन्थावली** रेवाप्रसाद द्विवेदी, काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय, वाराणसी, १९७६।

१२ **काव्यप्रकाश** श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ, द्वितीय स०, वि० २०३३।

१३ काव्यमीमांसा ('प्रकाश' हिन्दी व्याख्योपेता) डा० गंगासागर राय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम सं० १९६४ ।

१४ काव्यालंकारसूत्राणि डा० बेचन झा, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९७१ ।

१५ काशिकावृत्ति . (न्यासपदमञ्जरी सहिता) द्वारिकाप्रसाद शास्त्री तथा कालिकाप्रसाद शुक्ल, प्राच्य भारती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम सं०, १९६५ ।

१६ कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयब्राह्मण नारायण शास्त्री गोडबोले, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, १९३४ ।

१७ कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयसंहिता . श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी १९४१ ।

१८ कृष्णयजुर्वेदीय मैत्रायणीसंहिता श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, १९४१ ।

१९ गोपथ ब्राह्मण : राजेन्द्रलाल मित्र तथा हरचन्द विद्याभूषण, कलकत्ता, १९७२ ।

२० धातुव्याकरण (दो भाग) क्षितीशचन्द्र चटर्जी, डेक्कन कालेज, पूना, प्रथम सं०, १९५३, ६१ ।

२१ जैनेन्द्रमहावृत्ति पं० शम्भूनाथ त्रिपाठी तथा पं० महादेव चतुर्वेदी, भारतीय ज्ञान-पीठ, काशी, प्रथम सं० १९५६ ।

२२ जैमिनीय मीमांसादर्शन सुब्बा शास्त्री, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, १९३३ ।

२३ निरुक्त डा० लक्ष्मण स्वरूप, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, द्वितीय सं०, १९६७ ।

२४ न्यायदर्शन (वात्स्यायन भाष्यम्) दिगम्बर शास्त्री, आनन्दाश्रम, पूना, १९२२ ।

२५ न्यायसिद्धान्तमुक्तावली सी० शंकरराम शास्त्री, मैलापुर मद्रास, १९२३ ।

२६ परिभाषेन्दुशेखर के० वी० अभ्यङ्कर, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, १९६२ ।

२७ पाणिनीय शिक्षा मनमोहन घोष, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १६३८।

२८ पिंगल छन्दःसूत्रम् · रामगोविन्द शर्मा, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस, १६४७।

२६ प्रत्याख्यान विमर्श (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध) प्रस्तुतकर्ता—कोदण्डराम, निर्देशक—रामानुज आचार्य, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ तिरुपति (आन्ध्रप्रदेश) १६७४।

३० प्रौढ मनोरमा अव्ययीभाव समासान्त (बृहद्शब्दरत्न तथा लघु शब्द रत्न सहित) डा० सीताराम शास्त्री, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, प्रथम सं०, १६६४।

३१ प्रौढ मनोरमा, यङन्त पर्यन्त (शब्द रत्न सहित) गोपाल शास्त्री नेने, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस, १६६६।

३२ बुद्धचरित सूर्यनारायण चौधरी, संस्कृत भवन कठोतिया, बिहार तृतीय सं०, वि० २०११।

३३ बृहच्छब्देन्दुशेखर डा० सीताराम शास्त्री, वाराणसेय संस्कृत विश्व-विद्यालय, वाराणसी, प्रथम सं० १६६०।

३४ ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य विन्ध्येश्वरी प्रसाद, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस, १६२७।

३५ भट्टिकाव्य : शेषराज शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, बनारस, १६५२।

३६ महाभारत . (उद्योगपर्व) श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल पारडी, प्रथम सं०, १६६४।

३७ महाभाष्य (तीन भाग) कीलहार्न, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, तृतीय सं०, १६६२-७२।

३८ महाभाष्य : (प्रदीपोद्द्योत सहित) आचार्य देवव्रत, हरियाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल, झज्जर, प्रथम सं०, १६६२।

३६ महाभाष्य (प्रदीपोद्द्योत सहित) भार्गव शास्त्री, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, पंचम सं०, १६५१।

४० महाभाष्य शब्दकोश श्रीधर शास्त्री तथा सिद्धेश्वर शास्त्री, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १६२७ ।

४१ याज्ञवल्क्य स्मृति (मिताक्षराटीका सहित) नारायण राम आचार्य, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, पंचम सं०, १६४६ ।

४२ वर्णोच्चारण शिक्षा स्वामी दयानन्द, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, त्रयोदश० सं०, वि० २०२७ ।

४३ वाक्यपदीय के० वी० अभ्यङ्कर तथा वी० पी० लिमये, संस्कृत एण्ड प्राकृत सीरिज पूना विश्वविद्यालय, १६६५ ।

४४ वाचस्पत्यम् तारानाथ भट्टाचार्य, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, १६६२ ।

४५ वाजसनेयि माध्यन्दिन-शुक्लयजु संहिता श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल पारडी, द्वितीय सं०, १६७० ।

४६ विष्णुधर्मोत्तरपुराण श्री वेंकटेश्वर यन्त्रालय, बम्बई ।

४७ वैदिकपदानुक्रमकोष विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, १६६२ ।

४८ वैयाकरण भूषण सार बालकृष्ण पंचोली, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस, १६६६ ।

४६ वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (तत्त्वबोधिनी तथा बालमनोरमा सहित) गिरिधर शर्मा तथा परमेश्वरानन्द शर्मा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, तृतीय सं०, १६७५ ।

५० वैयाकरणसिद्धान्त-परमलघुमञ्जूषा, डा० कपिलदेव शास्त्री, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, प्रथम सं०, १६७५ ।

५१ व्याकरणवार्तिक—एक समीक्षात्मक अध्ययन डा० वेदपति मिश्र, पृथिवी प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम सं० १६७० ।

५२ व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि (तृतीयाध्याय पर्यन्त, दो भाग) माधव शास्त्री भण्डारी तथा दधिराम शर्मा, विद्याविलास प्रेस, बनारस, १६२०-२४ ।

५३ शतपथ-ब्राह्मण डा० अल्बर्ट वेबर, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, द्वितीय सं०, १६६४ ।

५४ **शब्दकल्पद्रुम** मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६१।

५५ **शब्दकौस्तुभ** (प्रथम दो भाग) गोपाल शास्त्री नेने, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस, १९३३।

५६ **शब्दकौस्तुभ** (अन्तिम दो भाग) विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी तथा गणपति शास्त्री मोक्ते, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस।

५७ **शाकटायन व्याकरण** प० शम्भूनाथ त्रिपाठी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन काशी प्रथम स० १९७१।

५८ **शिशुपालवध** रामप्रताप त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम स०, १९७१।

५९ **श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण** गीता प्रेस गोरखपुर, वि० २०१७।

६० **संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि** डा० कपिलदेव शास्त्री, प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अजमेर, प्रथम स०, वि० २०१८।

६१ **संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास** युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट सोनीपत, तृतीय स०, वि० २०३०।

६२ **सरस्वतीकण्ठाभरण** (हृदय हारिणी व्याख्या समेत) के० साम्बशिव शास्त्री, राजकीय मुद्रण मन्त्रालय, त्रिवेन्द्रम् १९३५।

६३ **सांख्यसूत्रम्** रामाशंकर भट्टाचार्य, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय स०, १९७७।

६४ **सिद्धहेमशब्दानुशासन** (स्वोपज्ञलघुवृत्ति) मुनि हिमांशु विजय, श्री आनन्दजी कल्याणजी द्वारा प्रकाशित, अहमदाबाद, १९५०।

६५ **सामवेद संहिता** (हिन्दी पद्यानुवाद) आचार्य विद्यानिधि शास्त्री, गौड क्षत्रिय महासभा, करनाल, १९७७।

६६ **सूत्रशैली और अपभ्रंश व्याकरण** परममित्र शास्त्री, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्रथम स०, वि० २०२४।

(ख) **हिन्दी ग्रन्थ**

१ **पतञ्जलिकालीन भारत** डा० प्रभुदयाल अग्निहोत्री, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, १९६३।

२ **पाणिनिकालीन भारतवर्ष** डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६८।

३ पाणिनि व्याकरण का अनुशीलन डा० रामशंकर भट्टाचार्य, इण्डोलोजिकल बुक हाउस, वाराणसी प्र० सं०, १९६६ ।

४ महाभाष्य (प्रथम नवाह्निक का हिन्दी अनुवाद तथा विवरण) प० चारुदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।

५ महाभाष्यम् (हिन्दी व्याख्यासहितम्) युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ (सोनीपत) प्रथम सं०, वि० २०२६, ३१ ।

अंग्रेजी ग्रन्थ

1 *A Dictionary of Sanskrit Grammar* K V Abhyankar, Oriental Research Institute, Baroda, Ist ed , 1961

2 *A Sanskrit English Dictionary* Monier William, Oxford University, Press, 1956

3 *Evolution of Sanskrit from Pānini to Patañjali* S D Laddu University of Poona, 1974

4 *Ganapātha ascribed to Pānini* Dr K D Shastri, Kurukshetra University, Ist ed , 1967

5 *Kātyāyana and Patañjali* F Keilhorn, Indological Book House, Benaras, 1963

6 *Lectures on Patañjali* by P S Subrahmanyam Shastri, the trichinopoly United Press, Tiruchirapally 2, 1960

7 *Pānini as a variationist* by Paulkiparsky, University of Poona, Ist ed 1979

8 *Pānini A Survey of Research* George Cardona, Motilal Banarasidass, Delhi, Ist Indian ed , 1980

9 *Pānini His Place in Sanskrit Literature* To Gold Stucker, Chaukhamba Sanskrit Series Office, Benaras, Ist Indian ed , 1965

10 *Patañjali s Vyākarana Mahābhāṣya* S D Joshi and J A F Roodbergen, Centre of Advance Study in Sanskrit, University of Poona class C, No 6, Ist ed , 1901

11 *Patañjali's Vyākarana Mahābhāṣya (Tatpurṣāhnika)* S D Joshi and J A F Roodbergen, C A S S, University of Poona, Class C No 7, Ist ed , 1973

12 *Patañjali's Vyākarana Mahābhāṣya* (Kārakāhnika)

S D and J A F Roodbergen, C A S S, University of Poona, Class C No 10, Ist ed, 1975

13 *Patañjali's Vyākarana Mahābhāṣya* (Anabhihitāhnika), S D Joshi and J A F Roodbergen, C A S S, University of Poona, Class C No 10, Ist ed 1976

14 *Practical Sanskrit English Dictionary,* P K Gode, Prasad Prakashana, Poona, 1959

15 *Studies in Pānini* H P Dwivedi Inter India Publication, Delhi, Ist ed, 1978

16 *Systems of Sanskrit Grammar* S K Belvelkar Bharatiya Vidya Prakashan, 2nd ed, 1976

17 *Technique and Technical Terms of Sanskrit Grammar* K C Chatterjee, Calcutta University, 2nd ed 1964

18 *The Development of Sanskrit from Pānini to Patañjali* A C Sarangi, Bharatiya Vidya Prakashana, Delhi, Ist ed, *1985*

पत्रिकायें

१ **गुरुकुल पत्रिका** (शिक्षाविशेषाङ्क) भगवद्दत्त वेदालंकार, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, १७, ८ मार्च-अप्रैल १९६५।

२ **भारती शोध सारसंग्रह** डा० सुधीरकुमार गुप्त, भारती मन्दिर अनुसंधान शाला, विश्वविद्यालय पुरी, जयपुर, वर्ष ७, अङ्क १-२, दिसम्बर १९८०।

३ **विश्वसंस्कृतम्** वेदप्रकाश विद्यावाचस्पति, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, १८-३, सितम्बर १९८१।

४ **स्वरमङ्गला** कलानाथ शास्त्री, राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर, सितम्बर, १९८४।

५ **सारस्वती सुषमा (प्रत्याख्यानसंग्रह)** मुख्य सम्पादक, डा० मङ्गलदेव शास्त्री, लघुग्रन्थ रत्नावली के अन्तर्गत "प्रत्याख्यानसंग्रह" के सम्पादक सूर्यनारायण शुक्ल तथा अनन्तशास्त्री फड़के, भूतपूर्व वाराणसेय राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, (वर्तमान सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय) द्वितीय वर्षाङ्क (पृ० १-२४) दिसम्बर १९४३।

६ सारस्वती सुषमा प्रत्याख्यानसग्रह) मुख्य सपादक डा० मगलदेव शास्त्री, रघुग्रन्थरत्नावली के अन्तर्गत प्रत्याख्यानसग्रह के सपादक सूर्यनारायण शुक्ल तथा अनन्तशास्त्री फडके, भूतपूर्व काशिक राजकीय सस्कृत महाविद्यालय (वर्तमान सम्पूर्णानन्द सस्कृत विश्व-विद्यालय, तृतीय वर्षाङ्क (पृ० २५ ५५) दिसम्बर १९४५।

७ Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, R N Dandekar, vol LXIV, 1983

८ *Language* Linguistic Society of America, Review of *Panini as a Variationist*, March, 1984

ग्रन्थ मे उद्धृत ग्रन्थ-पत्रिका तथा ग्रन्थकार

२३, २४, २५, २६, २८, २९,
३०, ३१, ३२, ३३, ३४, १, २,
४, ६, ७, ९, ११, १२, १३, १४,
१५, १६, १७, १८, १९, २०,
२१, २२, २४, २५, २६, २८,
३०, ३१, ३२, ३६, ३७, ३९,
४१, ४२, ४३, ४४, ४५, ४८,
४९, ५०, ५१, ५४, ५७, ६१,
६२, ६४, ६५, ६६, ६८, ६९,
७०, ७२, ७३, ७५, ७६, ७७,
७८, ७९, ८०, ८२, ८५, ८६,
८८, ८९, ९०, ९१, ९५, ९६,
९७, ९९, १००, १०३ ४, ५, ७,
१०, ११, १२, १३, १४, १५,
१७, १८, १९, २०, २२, २३,
२७, २८, २९, ३०, ३१, ३२,
३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८,
३९, ४१, ४२, ४४, ४५, ४६,
४७, ४८, ४९, ५०, ५३, ५४,
५५, ६०, ६१, ६२, ६३, ६६,
६७, ६८, ६९, ७०, ७१, ७२,
७३, ७५, ७७, ७८, ७९, ८०,
८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६,
८७, ८८, ८९, ९०, ९१, ९३,
९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९,
२००, २०१, २, ३, ४, ५, ७,
१०, ११, १२, १८, १९, २०,
२१, २२, २३, २४, २५, २६,
२७, २८, २९, ३०, ३१, ३२,
३५, ३६, ३८, ३९, ४०, ४२,
४६, ४७, ४८, ४९, ५०, ५२,

८३, ८७, ६०, ६७, ६६, २०१,
५, ७, १३, १८, २८, ३३, ३६,
४३, ५१, ५४, ५६, ५६, ६१,
६६, ७३, ७६, ८७, ६२, ६३,
६६, ३००, ३, ७, १४, २०, २५,
४६, ५८, ६०, ६३, ४०४, २७,
२६, ३३, ३८

ग्रन्थ मे विवेचित प्रत्याख्यात सूत्रो की सूचा

ग्रन्थ में उद्धृत अन्य सहायक सूत्र तथा प्रमुख वार्तिक

सूत्र स०	पृष्ठ स०
आद्यन्तवदेकस्मिन्	३०८
आद्युदात्तश्च	२५०, ३०६
आधारोधिकरणम्	८
आने मुक्	१२४, ३६८
आपो जुषाणो०	भू० १६, १७
आप्ज्ञप्यृधामीत्	३६३
आवन्तो वा (वा०)	१४६
आमन्त्रितस्य च	२६, ३०६
आयनेयीनीयियः	२२६, ३७
आर्धधातुकं शेषः	३३१
आर्धधातुकस्येड्	२७६, ३३१, ६०, ७५, ७६, ८०, ८२, ८३
इको गुणवृद्धी	१०६ ११
इको यणचि	८७, १२१, २२, २५, २६, २६, ३१७, ५८, ६०, ६७
इकृश्तिपौ धातु (वा०)	३८५
इगन्ताच्चलघुपूर्वात्	२६२, ६३, ६७
इजादेश्च गुरुमतो	३८६
इणः षीध्वं लुङ्	३०१, २
इणो यण्	२८४, ८५, ८६, ८७
इतश्च	२८२
इतश्चलोप परस्मैपदेषु	३८०
इदम इश्	१२५
इन्द्रवरुणभवश०	१६५
इन्धिभवतिभ्यां च	४४४
ई च गण	३६३
ईड्जनोर्ध्वे च	भू० १४
ईदास	१२४
ईश से	भू० १४
ई हल्यघो	२१४
उगितश्च	३३८
उगिदचां सर्वनामस्थाने	४०६, १०
उगिद्वर्णग्रहणवर्जम् (वा०)	३३८
उत्तरादिभ्यष्ठ	३५६
उद स्थास्तम्भो०	भू० १५
उदात्तादनुदात्तस्य	१३१
उदिकूलेरजि	३०६
उदितो वा	२६८
उदुपधाद् भावादि	२६०
उपजानूपकर्णोप०	२३७-३८
उपज्ञोपक्रमम्	भू० १२
उपसर्गा क्रियायोगे	भू० १४
उपसर्गात् सुनोति	१०७, ४२२
उपसर्गादृति धातौ	२८२
उपसर्गे घोः किः	४४
उपसर्जनं पूर्वम्	८८, ६३, ३०६
उभयप्राप्तौ कर्मणि	५८
उमोर्णयोर्वा	२४४, ४५
उरण् रपर	३६४, ४०५
उरत्	३३२, ६४, ६५
उष्ट्राद् वुञ्	२४४, ४५, ४८, ५०
उस्यपदान्तात्	२८३
उस्योमाङ्क्ष्वाट (वा०)	२८३
ऊदुपधाया गोह	१२१
ऋतश्चेयड्	१०२
ऋतोडिसर्वनाम०	३२१
ऋदुशनस् पुरुदंसो०	३२१
ऋदृशोऽङि गुण	४१४
ऋलृक्	३०, ८८
ऋहलोर्ण्यत्	२६६

सूत्र स०	पृष्ठ स०
स नपुसकम्	१४७, ४८, ४१६
सनाशसभिक्ष उ	३७७
सनिमीमाघु०	३६३
सनीवन्तर्ध	२७७
सन्तापादिभ्य	२६६
सधिवेलाद्यृतु	२३३, ३४, ३५, ३६
सन्यडो	३७६
सप्तम्यधिकरणे च	८, ७६
सप्तम्यास्त्रल्	२३
समर्थ पदविधि	३४६, ४८
समर्थाना प्रथमाद्वा	३७४
समानप्रत्ययविधौ (वा०)	३३७
समासस्य	८८, ८६
समाहार स्वरित	१३२
समुच्चयेऽन्यतस्याम्	२१८
समदोरज पशुपु	१६८
मम्पादिनि	२६६
मम्प्रसारणस्य	८१, ३४२
सम्प्रसारणाच्च	३६६
सयोगान्तस्यलोप	४१०
सर्वनामस्थाने च	३२१, ६३, ४०७, ६ १०
सर्वनाम्न स्मै	१५, २६३, ३४१
सर्वनाम्न स्याट्	२६२, ६४, ६५
सर्वप्रतिपादिकेभ्य क्विप् (वा०)	१०१
सर्वादीनि मर्वनामानि	१६, ३४० ४३
मर्वैकान्यत् कियत्	२३
मविशेषणस्यप्रतिषेधो	१४०
ससजुषोरु	२८२
सहयुक्तेऽप्रधाने	१८८
सहसुपा	८७, २७४
सख्यापूर्वो द्विगु	१४६
सख्याया अतिशदन्ताया	७, ८, १०, ११
सख्याया क्रियाभ्यावृत्ति	१०
सख्यायाविधार्थे	१०
मख्या वश्येन	११
सख्या विसाय	६३
सख्याव्ययासन्नाधिक	११
सख्यैकवचनाच्च	१०
सज्ञाया कन्	२३०
सज्ञाया समजनिषद	१६८
सज्ञोपमजन"तिषेध	१६, ३४०
सभूते	२३७, ४०
समृष्टे	२५५
सस्कृत भक्षा	३५८
सहितायाम्	८०, ८१
सात्पदाद्यो	४२२
साधकतम करणम्	८, ५०,
सोपक्षमसमर्थभवति (वा०)	३४५
सामआकम्	१३, ६७
सामान्ये नपुमकम्	१७७
मार्वधातुकमपित्	४१, ३३१, ७६, ८०, ८७, ६२
सार्वधातुकार्धधातुक्यो	१११, २६
सास्यदेवता	४४, ३०६
मित्तद्विशेषणानाम्	४८
सिद्ध तु अमम्प्राप्नवचनात	१६२
सुट्तियो	३८५
सुडनपुमकस्य	३२०

ग्रन्थ मे उद्धृत परिभापाएं तथा न्याय

क्रम० स०	परिभाषाए/न्याय	पृष्ठ० स०
५५	यथोत्तर मुनीना प्रामाण्यम् अथवा यथोत्तर हि मुनित्रयस्य प्रामाण्यम्	भू० २६, ३३, २०, २२६, ६५, ६८, ६६, ४०३, १७, ४०३, १७
५६	यथोद्देश सज्ञापरिमाणम्	भू० ३
५७	यावतामभिधान तावता प्रयोगो	१५४
५८	लक्षणप्रतिपदोक्तयो प्रतिपदोक्तस्यैव	८८, ६०
५६	वार्णादाङ्ग बलीय	२८६, ८७, ३४६
६०	वाऽसरूपन्याय	भू० ५
६१	विभाषामध्ये ये विधय	२६०, ६१
६२	विवक्षात (विवक्षाधीनानि) कारणानि भवन्ति	७८, १६५, ६६, ४४३
६३	विशेष्ये यल्लिङ्ग तद्विशेषणेऽपि	१६७
६४	व्यपदेशिवदेकस्मिन्	३१२, ७६
६५	व्यवस्थितविभाषयापि कार्याणि	१६६, २००, ४१६
६६	व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति	भू० ८, १२२, ६६, २४२
६७	शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन् विधि	२८०, ३८८, ६२
६८	शब्दान्तरात् प्राप्नुवत् विधि	२८१
६६	सज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे	६, १०३, ६
७०	सन्निपातलक्षणो विधि	भू० २०
७१	समुदायेषु प्रवृत्ता शब्दा	६६
७२	सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते	२३५, ३०७, ८७, ६८, ४२४, ४४
७३	सर्वे सवपदादेशा	१०७
७४	सहचरितासहचरितयो सहचरितस्यैव	३७७
७५	सूत्रलिङ्गवचनमतन्त्रम्	६४
७६	स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जनेन	३४२, ४३
७७	स्वल्पान्तर न दोषाय	१२६
७८	स्वार्थिका प्रत्यया प्रकृतित	१००

ग्रन्थ में उद्धृत मन्त्र, श्लोक तथा कारिका

क्रम० सं०	मन्त्रादि	पृष्ठ० सं०
१	अङ्गादङ्गात् सम्भवसि	६८
२	अजादीनामरासिद्धम्	२८१
३	अणव सर्वशक्तित्वात्	६७
४	अतिदेशोऽनुवादश्च	भू० २
५	अत्रा ते भद्रा रशना	८१
६	अथायमान्तरो ज्ञाता	६७
७	अदीधयुर्दाशराज्ञे वृताम	३८०
८	अदृशन्	४१४
९	अदृश्रम्	४१४
१०	अघा ममार	४०५
११.	अनर्वाणम्	४०९
१२	अनर्थीकृत स नियमानियम०	२२०
१३	अनृतात् सत्यमुपैमि	५१
१४	अन्यपाधोऽसमासानाम्	२१६
१५	अप्राप्ते प्रापण चापि	४३०
१६	अगाढया ए दिधिषु पतिम्	११८
१७	अवणश्च मघोनश्च	४१०
१८	अल्पाक्षरमसन्दिग्धम्	भू० १
१९	अस्माक तु मनोरथोपरचित	१४१
२०	अहमेव पशूनामीशे	३९९, ४००, १
२१	आसरेष्ठ	३६१
२२	आगनीगन्ति वर्णम्	२३५
२३	आज्येन जुहोति	३९५
२४	आमन्द्रैरिन्द्र याहि	३०५
२५	आयुतर्	२८४
२६	आरैक्	२८४
२७	इन्द्राय सोम मदिरा जुहोति	३९५

क्रम० स०	मन्त्रादि	पृष्ठ० सं०
१२१	शरीरस्य न चैतन्यम्	१४३
१२२	शश्वत्कृत्व	११
१२३	शैशिवान्मतुवर्थयात्	३५७
१२४	श्तिपा शपानुबन्धेन	३६१
१२५	श्रीणाम	४१७, १८, १६
१२६	सन्वयन्क्राम्यच् क्यङ्क्यष	१०१
१२७	समीधे दस्यु हन्तमम्	३८४, ८६, ६०, ६२, ६३
१२८	सज्ञा च परिभाषा च	भू० २
१२९	सज्ञिनी व्यक्तिमिच्छन्ति	४३
१३०	सयोगो विप्रयोगश्च	१८६
१३१	सहितैकपदे नित्या	८३, ३५६
१३२	सत्य वै देवाऽनृतम्	भू० ६
१३३	सरूपशेष तु पुमान्	१६५
१३४	सायेवमुर्वीमनिशम्	२०८
१३५	सामर्थ्यनौचितीदेश	१८६
१३६	सित सितिम्ना सुतराम्	१६३
१३७	सुपा कर्मादयोऽप्यर्था	३२८
१३८	सूतग्रामणीनाम्	४१७, १८, १६
१३९	सूत्रेष्वेव हि तत्सवम्	भू० ६, ३३
१४०	स्व रूपमिति कैश्चित्तु	४३
१४१	हविजक्षिति नि शङ्को	४१३
१४२	हविषा जुहोति	३६५
१४३	होत्राय वृत कृ..न दोधेत्	३८०
१४४	ह्रियं शल्यक	२१७

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध
अड्उण्	३१५	६	अइउण्
अग शास्त्र	३४६	२२	आङ्ग शास्त्र
अङ्गाधिकार	३३१	१६	अङ्गाधिकार
अगाधिकार	३३२	३	अङ्गाधिकार
अग्रण्यता	भू० १०	८७	अगण्यता
अङ्	२८२	६	अड्
अङ्गुलित	२३२	४	अङ्गुलि
अच् सदृशस्य	भू० २२	३०	अचसदृशस्य
अज् प्रत्यय	२४४	१७	अञ् प्रत्यय
अञ् समास	२६६	३	नञ् समास
अञादिसुप्	३१५	१७	यञादि सुप्
अटो मे	३१७	१	अटो म
अण्डिका	भू० ६	२४	कण्डिका
अनिदेशनाम	भू० ३	३०	अतिदेशो नाम
अतो गुण	१३१	७	अतोगुणे
अयात्	३६३	१४	अर्थात्
अयेदानी	३९१	२४	अथेदानी
अदीर्धत्	३८०	२	अदीधेत्
अदौ	३१६	४	अदो
अदडआदेश	३४०	२५	अद्ड् आदेश
" "	३४१	१	" "
अधिकारी नाम	भू० ४	१७	अधिकारोनाम
अनभिधानान्	२३१	२२	अनभिधानात
अनल्विद्यौ	३२०	६	अनल्विधौ
अनुअमवत् यहा इस	३५६	८,६	अनुअमवत् इस
अनुपनर्जन	३४०	२३	अनुपसर्जन
अनेक सूत्र	भू० ६	५	अनेकत्र
अन्त भी	भू० २२	५	अन्तर भी

अन्तरिक्ष	भू० १७	७	अन्तरिक्ष
अन्तर्घोविषये	५८	२७	अन्तर्घो विषये
अपार	६३	३	अपर
अपरिभाषिक	३३६	१८	अपारिभाषिक
अप्राप्तिस्यादशनात्	३२०	१	अप्राप्तिस्तस्यादर्शनात्
अभिगमत्स्याम	भू० २१	३	अभिनभत्स्याम
अभ्यवहर्रति	२१८	११	अभ्यवहर्रति
अमहत्वपूर्वा	३३८	२२	अमहत् पूर्वा
अयन्	२८४	१६	कायन्
अर्थवत्ता	३२४	३०	अर्थवत्ता
अर्घोवितादय	१०१	१५	अर्घोक्तादय
अल् विधि	२१६	८	अल विधि
अल्विद्यो	३२०	१	अल्विधौ
अविशेषेणेतद्	भू० २१	१६	अविशेषेणैतद्
,, ,,	भू० २८	१३	,, ,,
अशिष्योवा	भू० ३१	१७	अशिष्यो वा
अशुड् व्याप्ता	३२२	२६	अशुड्व्याप्तौ
अहङ्कार की	१४३	२१	अहङ्कार का
आकालाद् उश्च	४३८	२१	आकालाद् ठश्च
आक्षा	१५१	१२	अक्षा
आक्षेपोऽय	भू० ४	२८	आक्षेपोऽय
आद्युदात्त	२४६	२३	आद्युदात्त
आङ्ग	२८६	१६	आङ्ग
आदीर्घ्य	३७६	६	आदीर्घ्ये
आदेश	२८०	२३	लादेश
आदेजेवाघट	२८७	२७	आदेजेवाघट
आतर्य	१२६	१	आन्तर्य
आतोदात्त	१३२	७	अन्तोदात्त
आरण्यको	भू० ६	७	आरण्यको
आरम्यमाण	९६	४	आरम्यमाण
आर्द्रकशाला	३५६	२७	आर्द्रकशाला
आर्धधातुकस्येड्	३६१	१३	आर्धधातुकस्येड्

आर्धधातुक्स्यैड्	३७५	६	आधधातुक्स्यड्
" "	३७६	१३	" "
आर्धम्रातुक्स्य	३८१	६	आधधातुक्स्य
आर्धधातु के	४४१	१६	आधधातुके
ओलूखल	३५३	७	ओलूखल
आश्रित्येतत्	३८२	३२	आश्रित्यैतत्
आसन	३७२	२०	आसन्
इकारचवर्गो	१२०	११	चवर्गौ
इक्श्तिपो	३८५	२६	० श्तियौ
इडित्यवतते	३८३	२६	इडित्यनुवतते
इडेव	३८१	२८	इडेव
"	३८२	५	"
"	३८३	११	"
इड्वधौ	२८६	१४	इड्विधौ
इणादि	३७६	३	इडादि
इतना	भू० १०	१८	इनका
"इतिमतुप्" प्रत्यय	४०३	२	"इति मतुप्" इस मतुप्प्रत्यय
इति वा पुन	१७१	५	इति वा पुत्र
इनी	११६	२६	इति
इत्यमझोत्तर	१	२३	इत्यन्नोत्तर
इत्येवृशेषो	१६३	२८	इत्येक शेषो
इत्येशेषो	१६५	१३	इत्येकशेषो
इद	३६	१६	इह
इनिम्नौ	२२७	१७	इनिठनौ
इनि नंतन्	२५४	२१	इनिनंतन्
इद्रयो	१४२	२५	इन्द्रियो
इद्रो	१६४	१	इन्द्रो
इष्ठत्वात्	१७६	२३	इष्टत्वात्
इहारुयात	५२	२१	इहाख्यातु
इहि ह् दोप	३६१	२६	इह हि दोष
ईत्यादिषु	३७०	२३	इत्यादिषु
ईघि	३८६	४	ईघे
ईशौ	३६६	१८	ईशे

ईषादादय	३०७	७	ईषदादय
उद्	२८८	५	इद्
उणादि	३२७ २६८	२६	उणादि ३२०
उतरादिभ्य	३४१	५	इतरादिभ्य
उत्कन्द	भू० १५	२१, २२, २५	उत्कन्द
,,	भू० १६	१	,,
उत्थानम्	भू० १६	४	उत्थानम्
उत्पन्न	२७०	११	उपपन्न
,,	३३६	२३	,,
उत्सर्गंकृत	१०४	१	उत्सर्गकृत
उदकोदञ्चन	४२८	२२	उदकोदञ्चन
उदङ्को जले	४२६	२३	उदङ्कोऽजले
उदङ्हलो	१२१	१०	इदङ्हलो
उदाहरण तो	भू० २७	२६ ३०	उदाहरणभूत
उद्धोत	भू० २३	६	उद्द्योत
उधोतकार	३८२	३	उद्द्योतकार
उपधाया विडति	३८५	६	० विङति
,, ,,	३८७	१५	,, ,,
उपाग्निकमितो	३४	२४	उपाग्निकमित्यको
उपाधाया	१११	८	उपधाया
उलूखल	३५३	७	उलूखले
उवणन्तित्वादुक्	३६१	३०	उवर्णान्तित्वाद्वुक्
एवदेशयुक्ति	३८३	१४	एकदेशयुक्ति
एवशप	१६८	१	एकशेष
एकत्वादेवचनम्	१४८	१	एकत्वादेकवचनम्
एकाकिमि क्षुद्रके	३११	२६	एकाकिभि क्षुद्रकै
एवागारिक	४३४	१६	ऐवागारिक
एव शब्द	२३१	२८	एव शब्द
ऐकत्व	१५६	११	एकत्व
ओदेन	१६१	१५	ओदन
औरवाद्यच	२८७	२८	आरंवाद्यच
और्गुण	२४४	१६	ओर्गुण
,,	३४४	१७	,,

औश्वं	३५३	७	अश्वं
औष्ट्क्	२५१	२१	औष्ट्रक
औष्ट्का	२५१	१६	औष्ट्रिका
औ सुपि	३६०	३	ओ सुपि
कण्ठोप्ठ	१२०	१३	कण्ठौष्ठ
कथ स्मृति '	१४३	८	० स्मृति '
कनिन्नता	४१३	४	कनिन्नन्ता
कन्धा	४२६	२१	कन्धा
करति	३२२	१२	घरति
करन	भू० २२	१	करने
कर ही	१६२	२२	का ही
कात्यायन का	भू० ३२	१६	० को
कादीना	३५३	१६	घादीना
कारकाह्निके	६५	२४	कारकाह्निक
कारण भी	१६३	६	कारण थी
कार्य	३४६	१६	कार्यं
कार्यसम्प्रत्ययो	७	१०	० सम्प्रत्ययो
कितना ही	४४५	१०	कितनी ही
कित्वत्	३८५	४	किद्वत्
किद्धल्लिटि	३६३	२४	किद्वल्लिटि
किम् क	३१५	२६	किम क
किमशब्द प्रथमा	३१६	११	किम् शब्द के प्रथमा
किया जानेवाला था	२११	२०	वाला है।
कुड् शब्दे	३७८	३४	कुड् शब्दे
कुम्म	३४२	१८	कुम्भ
कुष्णसारङ्ग	८८	१६	कृष्णसारङ्ग
कूरस्य	३३	११	क्रूरस्य
कृत एव	१८५	४	कृत एव
कृतभोरनुवण	३६१	२४	कृतयोरनुवण
कृनातत्वात्	२३७	१६	कृतार्थत्वात्
कृति	भू० १२	१८	कृति
कृत्तद्धिन समामा	२५५	२२	कृत्तद्धितसमासा '
कृत्रिम	भू० १८	२५	कृत्रिम

कृत्वा	३१६	७	यत्वा
कृदधारा	२६८	१८	कृदाधारा
कृशा	१२७	१७	कृशा
के चि ए	२६८	२६	के लिए
केऽण	३६८	११	केऽण
को भी	१७३	१२	का भी
कोशेयमिति	२४०	२६	कौशेयमिति
क्ङित च	३८६	१६	क्ङति च
कित	२८८	११	कित्
कित्व	२८८	२०	रित्व
क्त्वो	२८८	११	क्त्वा
क्रय	१७४	८	क्रम
क्रियादिभ्य	२१४	७	क्र्यादिभ्य
क्रोष्टु	३२१	४	क्रोष्टृ
क्रोष्टुजो 'तच्'	३२१	२६	क्रोष्टृजो 'तृच्'
क्रोष्टे	३२५	१५	क्रोष्टृ
क्रोष्टृ	३२२	५	क्रोष्टृ
,,	३२४	६	,,
क्रोड्मादिपु	२२६	२६	क्रोड्यादिपु
श्विद्	२६२	२२	श्विदि
गया हो तो	४४३	२७	गया है जो
गार्ग्यो	१६२	५, ६	गार्ग्यौ
,,	१६३	७	,,
गुच	२६७	२४	गुचु
गुणा	३६३	१६	गुणो
गो विशति	४३१	३	गोविंशति
ग्रन्थित	१३६	१७	ग्रथित
ग्राह्य	भू० ६	६	गुह्य
घत्तो	२३७	७	घत्तो
घन्दसि	४१६	४	छन्दसि
घल्यवल्यचेनङ	१०६	१३	० चेलट्
घिष्यतो	२६६	१७	धिष्ण्यतो
,, ,,	४२७	१४	,,
घोड	३७७	११	धोड्

ङमि	२६२	११	ङसि
ङित विभक्तियाँ	२६३	२०	ङित् विभक्तियों
ङिस्	३८०	२५	ङित्
चतुर्थात्येव	१६७	१४	चतुर्थीत्येव
च न क्षेत्रे	३६४	२०	च नक्षत्रे
चाक्षुपादि	३५७	१६	चाक्षुषादि
चाचार्य	मू० ३१	१३	चाचाय
चात्रेकार	१	२६	चात्रेकार
चामहत्त्वपूर्वा	३३८	२२	चामहत्पूर्वा
चेतद्	३०२	२१	चैतद्
चेवा	२७	२६	च वा
चैतद्विशेयम्	३८६	२८	चैतद्विज्ञेयम्
चैद	३८२	२८	चेद
चैदेव	१५७	१	चेदेव
छन्दसि वनिपौ	४१०		छन्दसीवनिपौ
छान्दस्	३८४	१८	छान्दम
छेपाडाड्याभाजाल	३६८	५	ह्रेयाडाड्यायाजाल
छेरमो	२५७	७	छरसो
जरायौ	३२३	२६	जराया
जाए	४२६	१३	जाएगी
जागुपमिन्धे वा	३६०	२३	जाग्रुपमिन्धेर्न वा
जिह्वमूले भव	२३८	१५	जिह्वामूले भव
जे० मू०	४१	२६	जै सू
जैसा हि	मू० १६	७-८	जैसा कि
ञ्नित्यादिनित्यम्	२३०	२२	ञ्नित्यादिर्नित्यम्
टिड्ढाणाम्	३३७	३	टिड्ढाणञ्
टिढन्त	३३६	१२	टिदन्त
ट्लज्	२५१	३	ट्लञ्
ङित्वे	मू० २३	३	ङित्वे
ढञज्	२४०	१३	ढञ्
तत्पुरुप	२६२	१४	तत्पुरुष
तत्तेङ्ग्रहण प्रत्याख्यान	३८३	२६	तत्रेङ्ग्रहणप्रत्याख्यान
तदभिज्ञान	४४३	१५	तदभिज्ञान
तदाघनार्य	११३	२६	तद्बाधनाय

तदेव	३२८	२०	तदेव
तिकित	३१६	८	तिंकिति
तीयी	२६२	६	तीय
ते वाफी	भू० १०	३०	ने वाफी
ते लादि	४२७	१२	तैलादि
त्यादादियो	१७६	१५	त्यदादियो
त्रण्याय	१५	१८	त्रन्याय
त्वत्कपितष	२२	२६	त्वत्कपितृक
थकार भ जाता	भू० १५	२४	थकार हो जाता
दन्तु	३६	२०	इदन्तु
दम्भोनामगुणे	३६०	१५	दम्भीनामगुणे
दशतेचछ	५६	१०	दर्शनेच्छा
दा० महा० प्रवृत्त सूत्र'	३१६	२५	द० महा० भा० १ प्रवृत्तसूत्र
दातवै	१३२	२	दात् वै
दीड	३७७	११	दीङ्
दीधीपेवाटाम्	३८०	१४	दीधीवेवीटाम्
दीर्घो	३६३	१	दीर्घो
दृष्टव्य	३८४	२६	द्रष्टव्य
देगनाया	२०६	२५	देखता या
देखे, पृ० ५१८-२१	४४०	८	देखें, पृ० ४३६-३८
देवदत्या	२२१	१८	देवदत्या
देवयातूनामपत्यानि	३५४	१६	देवयानूनामपत्यानि
देशोऽग्राम	२१७	२६	देशोऽग्रामा
दोपम्	३२३	२५	दोपन्
द्वयात्	२५१	२६	द्रुवयात्
द्विविपुत्र	१७	१३	द्विपुत्र
द्व्चन्याय	१५	१८	द्व्यन्याय
द्वितीयामपि	११७	१८	द्वितीयापि
द्वित्रचतुर	१००	३०	द्वित्रिचतुर
धम्	२०१	१	धन्
धनभाक	१७४	२५	धनभाज्
धातुर्गह्यनाम्	३१८	२४	धातुरेव गृह्यताम्
धात्रो	२०६	२२	धात्र्यो
धिति	३००	२४	धिति

घीड	३७७	७	घीड्
धूव्रदितो	३६	२१	धूलृदितो
ध्येयम	६१	३०	ध्येयम्
नकार कालोप	१११	७	नकार का लोप'
न चामुगम	४३२	१२	न चानुगम
नञ्र्थापेक्ष	२६६	२	नञर्थापेक्ष
न द्विरद्ववय	२५१	२६	न द्विरद्रुवय
न द्विरद्ववय	२५१	२८	न द्विरद्रुवय
न पत्युरभाव	२६७	६	न पत्युर्भाव
न पुसक्पुसकेन	१७६	१७-१८	नपुसकमनपुसकेन
नपुसकलिङ्ग	१७७	६	नपुसकलिङ्ग
न हो पर	१५१	४	न होने पर
नानार्यकस्य	३६६	६	नानर्थकस्य
'नाम' का	३६६	१७	'नाम्' का
नियम श्रियम	३५५	२७	नियम क्रियते
नियमन सूत्रो	३०५	१	नियम सूत्रों
,, ,,	३०६	१	,, ,,
,, ,,	३०७	१	,, ,,
निर्दाॅश्यमान	१२३	२६	निर्दिश्यमान
निवृत्तम	३८३	२७	निवृत्तम्
नुक्तसशयेन	२३७	१७	मुक्तमशयेन
नैंनि	मू० २२	२०	नेति
नैंनिदस्ति	२६२	२४	नैतदस्ति
न्ययासिद्धि	६५	१६	अन्ययासिद्धि
न्याय	३१४	४	न्याय्य
न्यायेंन	४१५	१४	न्यायेन
पङ्गन्धवन्	४४२	.५	पङ्गव धवत्
पञ्चविशतिर्गण	१४३	१	पञ्चविशतिर्गण'
पमरतद्	१२४	६	परमतद्
परितुट	३७०	२५	परिहृत
परोक्षाविद्वत्	३६३	२६	परोक्षा क्विद्वत्
पा०	१६३	२३	पा० २३, ६५
पा० ७, २४६	२७७	३०	पा० ७, २, ४६

पाठेम	२५१	२४	पाठेन
पा० पृ० ५६	३८१	३४	वही पृ० ५६
पाण्डकम्बलिनो	२२७	३	पाण्डुकम्बलिनो
पा० भ०	२४६	२८	प० म
पा० म० सू०	३६१	३०	प० म० सू०
पारशेष	११८	३	परिशेष
पारि० ग	३७७	२८	परि० स०
पाराद् घरवौ	३५०	८	पाराद् घखौ
पित्	१३१	६	पित्
पिपठी	३८१	१८	पिपठी
पिपठीपि	३८१	२३	पिपठीपि
पुनपुसवतो	१८०	१	पुनपुसक्तो
पुयोगादाख्यायाम्	१४५	६	पुयोगादाख्यायाम्
पुमान् स्त्रियां	१६३	१२	पुमान् स्त्रिया
पुलिङ्ग चाम्मे	२०२	२२	परि लुङ चास्मे
पुवित	२८८	२१	पुवित
पुक्तिवान्	२८८	२१	पुवितवान्
पुस्तकेष	भू० २३	१०	पुस्तकेषु
पूङ वत्वाच	२८८	१८	पूङ वत्वा च
पूङ विनशोवा	२८२	२१	पूङ् विलशो वा
पूछते है	भू० २६	२१	पूछते हैं
पुष्टप्रतिवचनोऽइत्यणिष्यो	२०३	१५	वचनेत्यशिष्यो
पृ० ३६-४४	३३०	३०	पृ० १८-२३
पौत्रपभृति	१५७	८	पौत्रप्रभृति
पौपुव	१०६	१०	पोपुव
प्रकृतसूत्रस्य	३५०	१६	प्रकृत सूत्रस्य
प्रकृते सूत्र	२	२८	प्रकृत सूत्र
प्रतिपादित	भू० ११	२८	प्रतिपादिता
प्रतिसिद्ध	३२६	७	प्रतिषिद्ध
प्रतिपेध	३३७	१७	प्रतिषेध
प्रत्यऽङ्गम्	३७०	४	प्रत्ययेऽङ्गम्
प्रत्याखान	१३६	१	प्रत्याख्यान
प्रत्याख्यात	भू० २८	२५	प्रत्याख्यायत
प्रत्याख्यानेस्यानौचित्य	३८३	२६	प्रत्याख्यानस्यानौचित्य

प्रत्ययानमिह	३२४	३०	प्रत्ययानमिह
प्रयमानिर्दिष्ट	३४४	१५	प्रथमनिर्दिष्ट
प्रपञ्च एव	भू० ३१	४	प्रपञ्चश्च
प्रम्सारण	३७२	१२	सम्प्रसारण
प्रयत्नाम्यान	१३७	१	प्रत्याख्यान
प्रयुक्तसूत्र	३८२	१४	प्रस्तुत सूत्र
प्रयोजन व्यापार	३३३	१४	प्रयोजक व्यापार
प्रवृत	३५४	३	प्रवृत्त
प्रवृति	३५५	३	प्रवृत्ति
प्रवृत्तिविमेश	भू० २५	१२	प्रवृत्ति विशेष
प्रसिद्ध अनुरोध	२७१	१५	प्रसिद्धयनुरोध
प्रस्नुत	३८४	६	प्रस्तुत
प्राग्घातोस्ते	३०७	२८	प्राग्धोस्ते
प्राप्त	१७	१३	प्राप्त
प्रार्थने	१६५	८	प्रार्थन
प्रावृगष्ठम्	२३३	२	प्रावृपष्टप्
प्रै, परा	३०४	५	प्र, परा
प्रो० म०	१७६	२१	प्रो० म०
प्लावमिग्यन्ति	२०६	२२	प्लावयिष्यन्ति
,,	२१०	१	,, ,,
बन जाता	३८६	६	बन जाता है।
बलिवत्वात	३७७	३१	बलवत्वात
बहुवचनन्	१३८	१३	बहुवचनम्
बहुव्रीमि	१६	६	बहुव्रीहि
बहुव्रीहि ह्यर्थानि	१६	२५	बहुव्रीह्यर्थानि
बाघ	२८०	२५	बाध
,,	२८१	११	,,
,,	२८३	५	,,
,,	२८४	१८	,,
,,	२८७	२	,,
,,	४२६	२	,,
बाघक्र	१७३	२५	बाधक्र
,,	२४६	२१	,,
,,	२४८	१२	,,
,,	३२६	६	,,

"	३८६	१७	"
"	३८७	१	"
"	४१८	१५	"
वाधता है	३५३	२१	बाधता है
वाधने	२७५	४	बाधने
वाध लेना	३६१	२	बाध लेना
वैलवस्यविकार	२४६	१५	बैल्वस्य विकार
ब्राह्मणो	१६२	१५,१८	ब्राह्मणो
"	१६३	८	"
भग्रावर्षं	४२७	२६	भगावर्ष
भवतौ	२६५	३	भवतौ
भवितव्यम	२४८	२६	भवितव्यम्
भवौ	१६४	१	भवौ
भा० यजु	३८५	२८	मा० यजु
भाष्यकार को	भू० ३१	१३	भाष्यकार का
भाष्यकार विभिन्न	४४२	१०	भाष्यकार ने विभिन्न
भिक्षो इति	४३५	१२	भिक्षो इति
भूतानेडसिद्धि	३६२	४	भूतानड्सिद्धि
भूरिकृत्व	११	२४	भूरिकृत्व
भ्रात्य च	१७२	६	भ्राता च भ्राता च
मरवेषु	४१३	१	मखेषु
मघोनेश्च	४१०	१७	मघोनश्च
मद्वृत्तौ	भू० ९	१७	यद्वृत्तौ
मनुष्या	भू० ६	२४	मनुष्या
मन्दवुद्धि	४४४	२०	मन्दबुद्धे
भस्येति च	४१२	१४	यस्येति,च
महत्व	४३२	१६	महत्त्व
महा० प्र० भा० २	६८	२२	महा० प्र० उ०भा० २
महा० भा० १ प्र० उ०	३८२	२७	महा० प्र० उ०भा० १
महा० भा० ३ सु०	३६५	३४	महा० भा० ३ सू०
महा० सू०	३२	२४	महा० प्र० सू०
महा० भू० सू०	२४६	२७	महा० प्र० सू०
माक्षा	१७६	२२	माता
मानसी	१७५	१७	मातरौ
मीशार्थाना	४८	१७	भीत्रार्थाना

मुनित्रस्य	२२६	२३	मुनित्रयस्य
मृडो	१६४	२	मृडौ
मे	मू० ३	६	वही ये
भौखर्या	२२२	४	मौखर्या
भ्रुवाम्	२८८	२३	भ्रुवाम्
पड्लुको	३६३	१६	यङ्लुको
यजयाव	३४७	१७	यजयाच
यत्रादित्व	३१५	१८	यत्रादित्व
यजिभोश्च	१५८	२४	यजजोश्च
यण	३१७	१६	यण्
यत्र	मू० २६	६	यत्र तत्र
यथोत्तरे	४०३	२६	यथोत्तर
यदन्येत्	३८१	२६	यदन्यत्
यद्वत्तो	मू० ३३	१३	यद्वृत्तौ
यम्	१७६	२१	यद्
यल्लक्षणविशेप	१६१	५	तल्लक्षणविशेप
यवा वाग्निहोत्र	३६५	१७	यवाग्वाग्निहोत्र
,, ,,	३६५	१६	,,
याण्	३७५	१५	यण्
याणिनि	३०७	१	पाणिनि
यातु	१७४	२७	मातु
युवोरनाको	३७६	१	युवोरनाकौ
ये तादृशा	३४६	१७	यें तादृशा
योगे	मू० ३०	१	योगे
योपधाद्० वुञ्	२६३	२	योपधाद् वुञ्
रक्षार्य	मू० १२	२२	रक्षार्थं
रा	१५३	८	द्वारा
रिक्त रिक्त	१३२	७	रिक्त रिक्त
रुटो	१६३	२७	रुडौ
,,	१६५	११	,,
रुयो	२३५	१८	रुगो
रोरवीति	११०	१७	रोरवीति
लघूपधगुणस्यान्न	३७५	२४	लघूपधगुणस्यात्र

लङ्	२०६	१५	लङ्
"	२०७	२३	"
लङादि	२१२	१८	लङादि
लिङ्घ्य	४३०	११	विलङ्घ्य
लिङयेत्वे	३६५	२५	लिङ्येत्वे
"	३६६	२५	"
लिटिधातो	३१२	१३	लिटि धातो
लिट् कित् सामान्य	३८५	६	लिट् कित् से सामान्य
लिट्म्यासस्य	३६४	१७	लिट्यभ्यासस्य
लुङ्	२०५	३	लुङ्
लुङादिषु	३६७	८	लुङादिषु
लङ्यमाङाट्	२८७	२६	लङ्यमाङाट्
लो भी	३७१	१५	लोप भी
व आदि	३५१	१५	घ आदि
वचनार्थक्य	३४३	६	वचनानर्थक्य
वणष्वनेते	९१	२८	वर्णष्वनेते
वदतो व्याघात	३८३	२१	वदतो व्याघात
वमाना	२०७	२६	वर्तमाना
वरणौ	१६४	१	वरणौ
वर्णन के	२८५	१३	वर्ण के
वर्मानकालो	२०६	१३	वर्तमानकालो
वस्तुतस्न्वत्रयमिद	३८२	३०	वस्तुतस्त्वत्रत्यमिद
भू० वही०	२७७	२६	पू० पा० ७,२४६
वाक्येनान्मत्र	१	२६	वाक्येनात्र
वावमाने	भू० १६	२२	वावसाने
वाश्यात्	३४६	२६, ३०	वाऽयात्
वा भो	२००	१५	वा यो
वार्तविकार	४४	११	वार्तिकवार
विग्रमाय	१८५	५	विग्रयाय
विगृह्यो	१७४	२८	विग्रह्यो
विज्	११०	१३	विष्
विधिग्रहणस्यनुवृत्त्यर्थं	३२०	१०	विधिग्रहणस्यानुवृत्त्यर्थं
विधीयमानस्थानो	२६५	२१	विधीयमानस्थानो
विपय	३६	२५	विषय

विवृत्ति	[illegible]	१३	विकृति
विंशति विंश[illegible]गवि	३	३०	विंशतिगवा विंशतिगवि
विशिष्टलिङ्ग	२	२९	विशिष्टलिङ्गो
विश्राण्यतामुप[illegible]ह्वते	१६	३६	[illegible]
विश्वेश्वरसुधि	१७३	४	[illegible]
विषय प्रवेश	३३०	२९	भूमिका
वुक्न	३९१	२९	वुक् न
वुजति	२५१	१७	वुजिति
वृतज्ञ	भू० ६	७	वृत्तज्ञ
वृतिकार	३०२	७	वृत्तिकार
वृत्रिभादित्य	२५१	२२	वृत्तिमाश्रित्य
वृतिवर्तते	२७८	६	वृत्तिवर्तते
वृद्धिबाधते	३८६	५	वृद्धि बाधते
वेञ्	२००	३	वेञ
वेम्	३६६	६	वेञ्
वेम्	३७७		,,
वेरपृक्तस्य	११०	२९	वेरपृक्तस्य
वेवी	३७७	६	वेवी
,,	३७८	२७	,,
वोरुपघाया	३८१	१८	वोंरुपधाया
व्यक्ते सत्तोप	४३	२२	व्यक्ति सन्तोप
व्यवस्थित विषय	३२५	२	व्यवस्थितविषय
व्याकरण का तन्त्र	३९०	१५	व्याकरण कातन्त्र
व्याखा नन	भू० ४	२५	व्याख्यान
व्याप्ता	भू० ३	२३	व्याप्तता
व्या	३९१	२०	व्याम
व्यूरस्केन	३१६	२१	व्यूढोरस्केन
व्रश्र व्रश्च	३६४	२१	वृश्च व्रश्च
शत ब्राह्मणाम्	४३०	१७	शत ब्राह्मणानाम्
श० भा०	१२४	२७	श० कौ० भा०
शम्याटलज्	२४४	८	शम्याष्ट लच
शवॅ	१६४	१	शर्वो
,,	१६५	१५	,,
शक्नोति	३५८	२	शक्नोति
शा० कौ	९१	२७	श० कौ०

			लङ्
,,	३३४	१	,,
,,	३७८	[illegible]	,,
,,	३७९	१४	,, स्य
,,	३९२	२०	,,
,, पू० १,२,१३१,१३२,		१५	शा० सू० १,२,१३१, १३२, १३३
१३१	३२५	[illegible]	
शास्य	३०९	१६	शास्य
शाहो	३७१	२१	शा हो
शुक्नश्चशुक्लच	१७६	८	शुक्लश्च शुक्लाय शुक्लच
श्तिपूर्निदेश	३९१	३	श्तिपनिर्देश
श्रुयमाण	१५२	२१	श्रूयमाण
श्रे सम्प्रसारणम्	२९२	८	ग्रे सम्प्रसारणम्
श्युक किति	२८८	६	श्युकः किति
श्वनुक्षन्	४१२	४	श्वन्नुक्षन्
श्वास्मलकार	२३३	२५	श्वासयलकार
षित	२४९	१८	ञित्
ष्वादीना	१३०	६	प्वादीना
सू०	भू० ९	२१	स०
सज्ञापित	२७७	२४	सज्ञपित
सज्ञयोरेनुर्वातिष्यते	३३५	२३	सज्ञयोरनुवर्तिष्यते
सड्ग्रहणेन	२७८	४	सङ्ग्रहणेन
सत्रो	भू० ९	६	सूत्रो
समुतिक	३२५	८	सयुक्तिक
ससर्गेऽति	२५५	९	संसर्गोऽस्ति
ससृष्ठे'	२५५	२०	संसृष्टे
सकता है।	भू० १९	४	चुराने पर
स० क्रोष्टुर् सू०	३२५	१६	'क्रोष्टुर्' स०
सगत	२०८	२१	भारतीय
स च यश्च रम	१८१	१६	यश्च मो
सत्र	२८८	२	सूत्र
सनवी	भू० ६	१८	२०वीं
सप्तत्यशीत	४२९	११	सप्तत्यशीति
सव शक्ति	४३१	७	सव शब्दशक्ति
समयाय स्वास्थ	३५०	१७	समवाय एवास्
समाामसोऽभिधीयते	१५	३०	समास सोऽभिधीयते

समे शेर्धनवा	१००	१८	समेऽशेऽर्धेन वा
स विधि	४३०	२१	स विधि
सहपुक्ते प्रधाने	१८८	१६	सहयुक्तेऽप्रधाने
सहोपमुङ्क्ते	१६०	१८	सहोपभुङ्क्ते
सागहचयति	१४५	११	साहचर्यात्
साद्य	भू० १५	४	साम्य
सापेक	२६६	६	सापेक्ष
सापेक्षत समर्थ	३४५	६	सापेक्षमसमर्थं
सार्यवय	३६२	४	सार्यवय
सा० सू०	२६६	२६	स० सू०
मित्व	२८८	२३	कित्व
मिद्धि	२६०	१५	सिद्ध
सिद्धी	३१	१४	सिद्धि
सुपर्याप्नेश्चैव	भू० २३	४	सुपर्याप्तिश्चैव
सून	२७४	२७	सूत्रे
सूत्रकम	भू० १६	२३	सूत्रक्रम
सूत्रयमपि	३२५	४	सूत्रत्रयमपि
सूत्रवृतो यत्न	४४५	३	सूत्रकृतोयत्न
सूत्र से आने	२१५	१	सूत्र से आगे आने
सूत्रायवयमपि	भू० ११	३०	सूत्रार्थद्वयमपि
सूत्राश्च	४१८	३	सूताश्च
से	१५६	१२	जैसे
से आदेश	२६३	२४	से स्मै आदेश
से परे	३६६	२२	से परे
से सूत्र	६६	२०	सूत्र से
सैन्धवसप्तम	४१३	६	सैन्धवसप्तय
सोच	२२७	५	सो च
सोत्थिति	३४६	२७	सोत्थिति
स्त्रीप्रत्य	३३६	१	स्त्री प्रत्यय
स्त्रीप्रयये	३४३	६	स्त्रीप्रत्यये
स्यानोय	३१५	११	स्थानी
स्यानीवत्	१०४	६	स्थानिवत्
स्यापन	१७	१६	स्थापना
"स्पष्टप्रतिपत्यर्थपूड़श्च	२८६	१७	स्पष्टप्रतिपत्यर्थ "पूडश्च"
स्मे च नीयान्	२६६	२७-२८	स्मै चनीयात्

स्याङ्ह्रस्वश्च	२९२	१६	स्याड् ह्रस्वश्च
सघ्न	२३७	३	सुघ्न
सघ्ने	,,	१	सुघ्ने
स्वत प्राप्त	२४१,	२	स्वत प्राप्त
स्वरादिति	२६	१	स्वरादिगणपठित
हकार ज के	१२७	३	हकार के
हल	३६६	५	हल
हाल ट सेर	३५२	६	हाल , सेर
हुआ है कि	१३६	७	हुआ है।
हे० सू०	१६८	२६	है० सू०
,,	१७६	३०	,,
है	भू० १०	१५	हैं
,,	भू० ११	१२	,
,,	भू० २७	३०	,,
,	भू० ३१	१,७	,,
,,	३६०	१	,,
है	भू० ४	१६	हैं
हो तो तो	३७७	२२	होता तो
होने के	२८१	१०	होने से
ल्यप्रमेनार्या	३४५	२७	ह्यप्रथमेनार्या
ह्यपसगर्थानाम्	१२७	२९	ह्यसमर्थानाम्
Admireor	भू० ३२	२७	Admirer or
Appcent	भू० १९	१५	Apparent
Aștādhyāye	३९	२६	Aṣṭādyāyā
Citgue	११६	२९	critique
Crtique	३९	२६	critique
hc phrased p २ ३	३६८	२८-२९	he phrased P २ ३ ३
lips	भू० १९	२८	like
poor	११६	२९	Poona
This	६१	१६	his